इष्टोपदेश प्रवचन

भाग-२

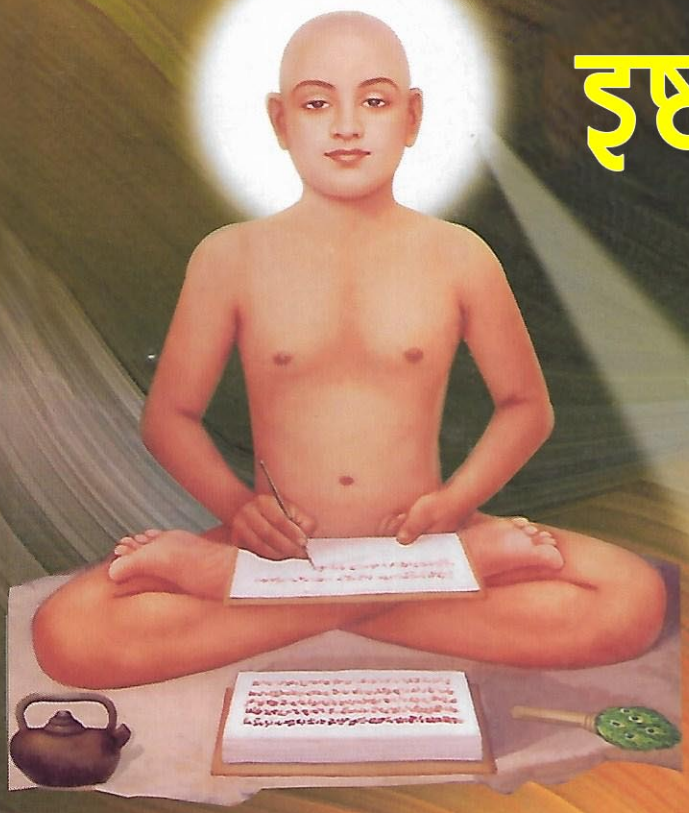

-: प्रकाशक :-
श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विले पार्ला, मुंबई

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

इष्टोपदेश प्रवचन

(भाग-२)

परम पूज्य श्रीमद् पूज्यपादस्वामी विरचित
इष्टोपदेश शास्त्र पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
गाथा २६ से ५१ पर धारावाहिक शब्दशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ परिचय

ग्रन्थकार श्री पूज्यपादस्वामी

प्रस्तुत ग्रन्थ 'इष्टोपदेश' के रचयिता श्री पूज्यपादस्वामी मूलसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के प्रधान आचार्य थे। वे सुप्रसिद्ध बहुप्रतिभाशाली, प्रखर, तार्किक विद्वान और महान तपस्वी थे।

समय - श्रवणबेलगोला शिलालेख नं. ४०(१०८) में उल्लेख है कि वे श्री समन्तभद्राचार्य के बाद हुए हैं और वे आचार्यश्री के मतानुयायी थे।

उन्होंने अपनी 'जैनेन्द्र व्याकरण' में '**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**' (५-४-१६८) — ऐसा उल्लेख किया है, जो यह बताता है कि समन्तभद्राचार्य उनके पूर्वगामी थे।

विद्वानों के मतानुसार समन्तभद्राचार्य, ईस्वी सन् २०० में हो गये हैं।

श्री भट्टाकलंकदेव ने (समय ईस्वी सन् ६२० से ६८०) अपनी तत्त्वार्थराजवार्तिक में तथा श्री विद्यानन्दि ने (समय ईस्वी सन् ७७५-८००) अपनी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक टीका में श्री पूज्यपाद द्वारा रचित सर्वार्थसिद्धि के वाक्यों का उल्लेख और अनुसरण किया है। इससे अनुमान होता है कि श्री पूज्यपादस्वामी, भट्टाकलंकदेव के पूर्व, अर्थात् सन् ६२० से पूर्व होने चाहिए।

इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वे सन् २०० से ६२० के मध्यकाल में हो गये हैं।

शिलालेख एवं उपलब्ध जैनसाहित्य से विद्वानों ने निश्चय किया है कि यह सुप्रसिद्ध आचार्य, विक्रम की पाँचवीं-छठवीं शताब्दी में हो गये हैं।

निवास स्थान और माता-पितादि - श्री पूज्यपादस्वामी कर्नाटक क्षेत्र के निवासी थे। उनके पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी उल्लिखित है। वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे।

देवसेनाचार्य कृत दर्शनसार में लिखा है कि उनके एक वज्रनन्दी शिष्य ने विक्रम संवत् ५२६ में द्रविड़ संघ की स्थापना की थी।

नाम - उनका दीक्षा नाम देवनन्दी था और बाद में वे पूज्यपाद, जिनेन्द्रबुद्धि आदि अपर नामों से लोक में प्रसिद्ध हुए।

इस सन्दर्भ में श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं. १०५ (२५४) शक संवत् १३२० द्रष्टव्य है।

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥
प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी, बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्राबुद्धि।
श्री पूज्यपाद इति चैव बुधैः प्रचख्ये, यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः॥

उपरोक्त लेखों से ज्ञात होता है कि आचार्यश्री तीन नाम — देवनन्दि, जिनेन्द्रबुद्धि, और पूज्यपाद — से प्रसिद्ध थे। 'देवनन्दि', यह उनका गुरु द्वारा प्रदत्त दीक्षा नाम है; बुद्धि की प्रकर्षता - विपुलता के कारण उन्होंने 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम प्राप्त किया और उनके चरणयुगल की देवताओं ने पूजा की थी, इसलिए बुधजनों ने उन्हें 'पूज्यपाद' नाम से विभूषित किया।

श्री पूज्यपादस्वामी ने धर्म-राज्य का उद्धार किया, देवों के अधिपतियों ने उनका पाद-पूजन किया; इसलिए वह पूज्यपाद कहलाये। उनके द्वारा उद्धार प्राप्त शास्त्र आज भी उनके विद्या विशारद गुणों का कीर्तिमान करते हैं। वे जिनवत् विश्वबुद्धि के धारक थे, अर्थात् समस्त शास्त्र विषयों में पारंगत थे, उन्होंने कामदेव को जीता था; इसलिए कृतकृत्य भावधारी उच्चकोटि के योगियों ने उनका 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम से वर्णन किया है।

तथा इस शिलालेख में ऐसा भी उल्लेख है कि —

(१) वे अद्वितीय औषधऋद्धि के धारक थे।

(२) विदेहक्षेत्र स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से पवित्र हुए थे।

(३) उनके चरणोदक के स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना बन गया था।

तदुपरान्त घोर तपश्चर्यादि से उनकी आँख का तेज नष्ट हो गया था, परन्तु शान्त्यष्टक के एकाग्रतापूर्वक पाठ से पुनः नेत्र तेज प्राप्त हुआ था।

महा योगियों के लिये ऐसी घटनाएँ असम्भवित नहीं हैं।

ग्रन्थ रचना -

श्री पूज्यपादस्वामी ने जिन ग्रन्थों के रचना की है, उनमें जैनेन्द्र व्याकरण, शब्दावतार, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि ग्रन्थ प्रमुख स्थान पर हैं। निम्न शिलालेख से उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का परिचय प्राप्त होता है —

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा,
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिषः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

जिनका 'जैनेन्द्र' व्याकरण शब्द शास्त्रों में अपने अनुपम स्थान को; 'सर्वार्थसिद्धि' सिद्धान्त में परम निपुणता को; 'जैनाभिषेक' उच्चतम काव्यता को; 'छन्द शास्त्र' बुद्धि की सूक्ष्मता (रचना चातुर्य) और 'समाधिशतक', स्वात्मस्थिति (स्थित प्रज्ञता) संसार में विद्वानों के प्रति प्रसिद्ध करते हैं, वे पूज्यपाद मुनिन्द्र, मुनिगणों से पूजनीय है।

१. जैनेन्द्र व्याकरण

यह संस्कृत व्याकरण का ग्रन्थ है, इसके सूत्रों के लाघवादी के कारण उसका महत्व बहुत है और इस कारण उसे लोक में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। भारत के आठ प्रमुख शाब्दिकों में इस व्याकरण के कर्ता श्री पूज्यपादस्वामी की अच्छी गणना है। सर्व व्याकरणयों में श्री पूज्यपादस्वामी, विद्वानों के अधिपति थे, अर्थात् सर्वव्याकरण पण्डितों में शिरोमणि थे।

२. शब्दावतार

यह भी व्याकरण का ग्रन्थ है, वह प्रख्यात वैयाकरण पाणिनी के व्याकरण पर लिखा हुआ शब्दावतार नाम का न्यास है। 'नगर' तालुका के शिलालेख में इसका उल्लेख है।

३. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र टीका)

यह श्री उमास्वामी रचित तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत टीकारूप ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्र की यह सर्व प्रथम टीका है। तत्पश्चात् श्री अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' और श्री विद्यानन्दि ने 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक' नामक टीकाएँ रची हैं। इन टीकाओं में सर्वार्थसिद्धि का अच्छा उपयोग किया गया है और उसका पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया गया है। सिद्धान्त ग्रन्थों में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रमाणभूत गिना जाता है, और जैन समाज में इसका अच्छा मूल्यांकन किया जाता है।

४-५. समाधितन्त्र और इष्टोपदेश

ये दोनों आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। समाधितन्त्र का अपर नाम समाधिशतक है। उसकी संस्कृत टीका श्री प्रभाचन्द्र ने की है और इष्टोपदेश की संस्कृत टीका पण्डित आशाधर ने की है। दोनों ग्रन्थ जैन समाज में सुप्रसिद्ध हैं।

समाधितन्त्र में आचार्यश्री ने कुन्दकुन्दाचार्य जैसे प्राचीन आचार्यों के आगम वाक्यों का सफलतापूर्वक अनुसरण किया है। तुलनात्मक दृष्टिवन्त को इस ग्रन्थ में मोक्षपाहुड़, समयसारादि ग्रन्थों की प्रतिध्वनि ज्ञात हुए बिना नहीं रहती।

शिलालेखों, उपलब्ध ग्रन्थों और ऐतिहासिक खोज से ज्ञात होता है कि पूज्यपादस्वामी एक सुप्रतिष्ठित जैन आचार्य, अद्वितीय वैयाकरण, महान दार्शनिक, धुरन्धर कवि, महान तपस्वी और युगप्रधान योगीन्द्र थे। उनके द्वारा महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखे ग्रन्थ उनकी अपार विद्वता के प्रतीक हैं।

उनके दिगन्तव्यापी यश और विद्वता से प्रभावित कर्नाटक के ई.स. ८, ९, १० वीं शताब्दी के प्राय: सभी विद्वान, कवियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उनको बहुत भक्तिभावपूर्ण, श्रद्धाञ्जली समर्पित करके मुक्तकण्ठ से बहुत प्रशंसा की है।

इष्टोपदेश

श्री पूज्यपादस्वामी द्वारा विरचित 'इष्टोपदेश' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ, भेदज्ञान एवं आत्मानुभव के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

ग्रन्थ के नाम की सार्थकता - 'जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो और दु:ख का विनाश हो, उस कार्य का नाम प्रयोजन है। उस प्रयोजन की सिद्धि जिससे हो, वही अपना इष्ट है। अब, इस अवसर में अपने को वीतराग विशेष ज्ञान का होना ही प्रयोजन है, क्योंकि उससे निराकुल सच्चे सुख की प्राप्ति होती है और सर्व आकुलतारूप दु:ख का अभाव होता है।' *(पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४)*

पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है कि —

'आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिए॥'

आत्मा का हित सुख है और वह सुख आकुलतारहित है। मोक्ष में आकुलता नहीं; इसलिए मोक्ष के मार्ग में-उसके उपाय में लगे रहना चाहिए।

मोक्ष और उसका उपाय - यह अपना इष्ट है। आचार्य ने उसका उपदेश यथावत् रूप से इस ग्रन्थ में किया है, इसलिए 'इष्टोपदेश' इस ग्रन्थ का सार्थक नाम है।

ग्रन्थ की उपयोगिता - आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक (५१) में कहा है कि — 'पूर्वोक्त प्रकार से 'इष्टोपदेश' का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करके, अच्छी तरह चिन्तवन करके, जो भव्य धीमान् पुरुष, आत्मज्ञान के बल से मान-अपमान में समताभाव धारण करके तथा बाह्य पदार्थों में विपरीताभिनिवेश का त्याग करके नगर अथवा वन में विधिपूर्वक बसते हैं, वे उपमारहित मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।'

ग्रन्थ की विशेषता - यह आध्यात्मिक ग्रन्थ संक्षिप्त होने पर भी, आचार्यदेव ने इसमें 'गागर में सागर' भर दिया है। इसमें भेदविज्ञानपूर्वक शुद्धात्मा की उपलब्धि कैसे हो — इसका मार्ग-उपाय प्रतिपादित किया गया है — यह इसकी विशेषता है। साथ ही इस ग्रन्थ में सारभूत सन्दर्भों का भी निर्देश किया गया है —

१. उपादान, वस्तु की सहज निजशक्ति है और निमित्त तो संयोगरूप कारण है। कार्य अपने उपादान से ही होता है; उस समय उसके अनुकुल निमित्त होता ही है। उसको खोजने अथवा मिलाने की व्यग्रता की आवश्यकता ही नहीं होती है। *(श्लोक-२)*

२. शुद्धात्मा की प्राप्ति-अनुभव न हो, तब तक पाप से बचने के लिए हेयबुद्धि से पुण्यभाव आता है परन्तु वह भी बन्ध का कारण है - ऐसा समझना चाहिए। *(श्लोक-३ तथा उसका भावार्थ)*

३. मोक्ष के लिए प्रवृत्ति करनेवाले को स्वर्गसुख सहज प्राप्त होता है। *(श्लोक-४)*

४. संसारी जीवों के सुख-दु:ख केवल वासनामात्र ही होते हैं। वे सुख-दु:खरूप भोग आपत्तिकाल में रोग के समान उद्वेगकारक हैं। *(श्लोक-६)* वस्तुत: कोई पदार्थ सुख-दु:खरूप नहीं है, परन्तु अज्ञानता के कारण उनमें इष्टानिष्ट की कल्पना करके जीव, राग-द्वेष करके सुख-दु:ख का अनुभव करता है।

५. मोह से आच्छादित ज्ञान, निजस्वभाव को प्राप्त नहीं होता। *(श्लोक-७)*

६. शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि आत्मा से अन्य (भिन्न) स्वभाववाले हैं और आत्मा से प्रत्यक्ष भिन्न हैं तो भी मूढ़जीव उनको अपना मानकर उनमें आत्मबुद्धि करता है। *(श्लोक-८)*

७. मिथ्यात्वयुक्त राग-द्वेष, संसार-समुद्र में सुदीर्घकाल तक भ्रमण का कारण है। *(श्लोक-२१)*

८. दावानल से प्रज्ज्वलित वन के मध्य में वृक्ष पर बैठे मनुष्य की तरह मूढ़जीव नहीं विचारता कि अन्य की तरह स्वयं पर भी विपत्ति आ पड़ेगी। *(श्लोक-२४)*

९. ममतावान संसार में बँधता और ममतारहित छूटता है। *(श्लोक-२६)*

१०. ज्ञानी को मृत्यु का, रोग का, बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था का भय नहीं होता, क्योंकि वह इन सबको पौद्गलिक समझता है। *(श्लोक-२९)*

११. मैंने सर्व पुद्गलों को मोहवश अनेक बार भोग-भोगकर छोड़ा है, अब इन उच्छिष्ट पदार्थों में मुझे कोई स्पृहा नहीं है — ऐसा ज्ञानी विचारता है। *(श्लोक-३०)*

१२. वस्तुतः आत्मा ही आत्मा का गुरु है। *(श्लोक-३४)*

१३. जो अज्ञानी है, वह किसी से ज्ञानी नहीं हो सकता और जो ज्ञानी है, वह किसी से अज्ञानी नहीं हो सकता; गुरु आदि तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। *(श्लोक-३५)*

१४. कार्य की उत्पत्ति स्वाभाविक गुण की (अपने उपादान की) अपेक्षा रखती है।

(श्लोक-३५ की टीका)

१५. जैसे-जैसे आत्मानुभव होता जाता है, वैसे-वैसे सुलभ विषय भी नहीं रुचते और जैसे-जैसे विषयों के प्रति अरुचि होती है, वैसे-वैसे आत्मानुभव की परिणति वृद्धिंगत होती जाती है।

(श्लोक-३७-३८)

१६. ध्यान-परायण योगी को अपनी देह का भी भान नहीं होता। *(श्लोक-४२)*

१७. पर, पर ही है; उसका आश्रय करने से दुःख होता है। आत्मा, आत्मा ही है, उससे सुख है; इसलिए महात्मा, आत्मा के लिए ही उद्यमवन्त होते हैं। *(श्लोक-४५)*

१८. जो अज्ञानी, पुद्गल का अभिनन्दन करता है, उसका पीछा चार गति में पुद्गल कभी नहीं छोड़ता। *(श्लोक-४६)*

१९. अविद्या को दूर करनेवाली महान उत्कृष्ट ज्ञानज्योति है। मुमुक्षुओं को उसके सम्बन्ध में ही पूछताछ, उसी की वाँछा और उसी का अनुभव करना चाहिए। *(श्लोक-४९)*

२०. जीव अन्य और पुद्गल अन्य है — यह तत्त्व-कथन का सार है; अन्य जो कुछ कहा गया है, वह इसी का विस्तार है। *(श्लोक-५०)*

इष्टोपदेश प्रवचन :—

इस प्रकार इस छोटे से इष्टोपदेश ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता ने आत्मभावना और तत्त्वदृष्टि की मूलभूत शिक्षा सचोटरूप से प्रस्तुत करके महान उपकार किया है।

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस काल में एक अद्वितीय योगावतार दिव्य पुरुष हुए हैं स्वयं के अजोड़ पुरुषार्थ द्वारा सत्य की खोज करके, आत्म साक्षात्कार करके अनन्त भव का छेद किया है। तदुपरान्त स्वयं की दिव्यदेशना द्वारा आपश्री ने अध्यात्म की पावन गंगा सम्पूर्ण भारतदेश एवं विदेशों में भी प्रवाहित की है। अनेक भव्य जीव इस पावन गंगा में स्नान करके अपने को धन्य अनुभव करते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के आत्मकल्याणकारी उपदेश को जीवन में अंगीकार करके मोक्षमार्ग में प्रयाण करने के लिए उद्यमवन्त हुए हैं। गाँव-गाँव में जिनमन्दिर और जिनबिम्बों की स्थापना करके पूज्य गुरुदेवश्री ने लुप्त प्राय: सनातन दिगम्बर जैनधर्म का उद्योत कर जिनशासन की विजय पताका फहरायी है।

पूज्य गुरुदेवश्री के जीवन में उनकी मुख्य प्रवृत्ति ज्ञान और ध्यान की रही है। उसमें आपश्री ने अनेक दिगम्बर जैनग्रन्थों का गहन अध्ययन करके उनके पावन मंगलकारी आशय को स्वयं की स्वानुभूतियुक्त वाणी से मुमुक्षु समाज को समझाया है। दिगम्बर आचार्यों के तीक्ष्ण वचनों का रहस्य उद्घाटित कर उनमें रहे हुए मर्म को प्रकाशित किया है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों में जो अध्यात्म का पावन प्रवाह आता है, उसमें छोटे बालक से लेकर विद्वान हो तो उसे भी उसके योग्य पर्याप्त प्रमेय उपलब्ध रहता है। ऐसा आपश्री की वाणी का सातिशय योग था। **पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन** के शब्दों में कहें तो 'पूज्य गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। श्रुत का समुद्र उछला है।'

पूज्य गुरुदेवश्री के विराट व्यक्तित्व और बेजोड़ गुणों को कलम में उतारना, वह बालचेष्टावत् प्रयास है तथापि आपश्री का असीम उपकार हृदयगत होने से वह चेष्टा सहज हो जाती है। पूज्य गुरुदेवश्री ने स्वयं के प्रवचनों में अनेक शास्त्रों पर प्रवचन किये हैं, जिसमें यह लघुकाय ग्रन्थ इष्टोपदेश भी समाहित होता है। अध्यात्म से ओतप्रोत पुरुषार्थ प्रधान मुमुक्षु जीव को आत्महित के प्रति प्रेरित करते हैं और इसी भव में आत्मकल्याण कर लेने तथा आत्मानुभव कर लेने की सतत् प्रेरणा प्रत्येक प्रवचन में उपलब्ध होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री के समस्त प्रवचन लिपिबद्ध कर अक्षरश: प्रकाशित करने की भावना के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ इष्टोपदेश प्रवचन भाग-१ प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्लोक २१ से २६ तक हुए २८ प्रवचनों का समावेश किया गया है। प्रवचन सम्पादन कार्य में जहाँ-जहाँ वाक्य रचना अधूरी लगती है, वहाँ कोष्ठक में वाक्य पूर्ण किया गया है। जहाँ शब्द बराबर सुनायी नहीं देते, वहाँ .... करके छोड़ दिया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का भाववाही प्रवाह यथावत् सुरक्षित रहे, तदर्थ पूर्ण सावधानी रखी गयी है। प्रस्तुत प्रवचनों को गुजराती भाषा में संकलित कर श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा मिलान किया गया है एवं राजकोट दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट द्वारा इनका गुजराती प्रकाशन किया गया है।

हिन्दी भाषी आत्मार्थी मुमुक्षु समाज को इन प्रवचनों का लाभ प्राप्त हो सके, तदर्थ हिन्दी भाषा में इन प्रवचनों का अनुवाद और सी.डी. से मिलाने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) द्वारा किया गया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए दिनेश जैन शास्त्री, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

सभी जीव आत्मानुभूतिप्रेरक इष्ट-उपदेश की प्राप्ति कर मोक्षमार्ग में प्रयाण करें, इसी भावना के साथ....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने

से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा

विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते

थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय,

आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा नं.	पृष्ठ संख्या
२९	१६-४-१९६६	२६	१
३०	१७-४-१९६६	२६-२७	१८
३१	१८-४-१९६६	२७-२८	३५
३२	१९-४-१९६६	२७-२८	५१
३३	२१-४-१९६६	२८-२९	६८
३४	२२-४-१९६६	२९-३०	८६
३५	२३-४-१९६६	३०-३२	१०४
३६	१०-५-१९६६	३२-३३	१२६
३७	११-५-१९६६	३३-३४	१४४
३८	१२-५-१९६६	३४-३५	१६४
३९	१३-५-१९६६	३५-३६	१८५
४०	१७-५-१९६६	३५-३६	२०५
४१	१८-५-१९६६	३६-३७	२२३
४२	१९-५-१९६६	३७	२४१
४३	२१-५-१९६६	३८-३९	२५९
४४	२२-५-१९६६	३९-४०	२७७
४५	२३-५-१९६६	४०-४१	२९७
४६	२४-५-१९६६	४१	३१७
४७	२५-५-१९६६	४२	३३८
४८	२६-५-१९६६	४३-४४	३५५
४९	२८-५-१९६६	४४-४५	३७४
५०	२९-५-१९६६	४५	३९३
५१	३०-५-१९६६	४६	४०९
५२	३१-५-१९६६	४६-४७	४२४
५३	०१-६-१९६६	४७-४९	४४०
५४	०२-६-१९६६	४९-५०	४५९
५५	०३-६-१९६६	५०	४७९
५६	०५-६-१९६६	५१	४९७

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः

इष्टोपदेश प्रवचन

(भाग - २)

श्रीमद् पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित
इष्टोपदेश शास्त्र पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के शब्दशः धारावाहिक प्रवचन

प्रवचन नं. २९ गाथा-२६ शनिवार, दिनाङ्क १६-०४-१९६६
चैत्र कृष्ण ११, वीर संवत् २४९२

'पूज्यपादस्वामी' कृत 'इष्टोपदेश' २६वाँ श्लोक है। इसका अर्थ-विशदार्थ है। देखो! जरा-सा आधार दिया है न? अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश में कहते हैं। ३३ वाँ पृष्ठ। पहले क्या अर्थ आया? देखो? विशदार्थ में है कि **'मम' इस अव्यय का अर्थ 'अभिनिवेश' है, इसलिये 'समम' कहिये 'मेरा यह है' इस प्रकार के अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मों से बँधता है।** अर्थात् क्या कहा? यह आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, इसे छोड़कर पुण्य-पाप का विकल्प-राग, वह अपने चैतन्य के स्वभाव में 'यह मेरे हैं' — ऐसा जो विपरीत अभिनिवेश, मिथ्या अभिप्राय, उससे आठों ही कर्म बँधते हैं। कहो... समझ में आया?

उपलक्षण से यह भी अर्थ लगा लेना कि 'मैं इसका हूँ' ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी बँधता है,.... यह तो पारस्परिक लिया है। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप, वह ऐसा माने कि राग, दया, दान, व्रत, शुभाशुभ परिणाम-वह मैं, उनका मैं और वे मेरे —ऐसा

जो मिथ्या अभिप्राय है, वही कर्मबन्ध का कारण है। कहो.. समझ में आया इसमें ? बहुत संक्षिप्त कहा।

मुमुक्षु : आप पहले मिथ्यात्व समझाओ।

उत्तर : यह कहते हैं और नीचे दृष्टान्त आयेगा। आत्मा एक समय में अत्यन्त चिद्घन ज्ञायकस्वभाव शुद्धभाव से भरपूर पदार्थ है। उसमें 'मैंपना' अन्तर में मानना और राग को अपना न मानना, यह तो भेदज्ञान (हुआ)। इससे तो कर्मबन्धन छूट जाता है। समझ में आया ? आत्मा ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य, वह मैं नहीं और शुभ-अशुभराग की क्रिया मलिन परिणाम — वह मैं.... **मेरा यह....** शुभ-अशुभभाव मेरे और मैं उनका समझ में आया ? यह मिथ्यादर्शन शल्य है। समझ में आया ?

अन्तर्मुख स्वभाव अत्यन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द — ऐसे त्रिकाली स्वभाव का लक्ष्य, रुचि और आश्रय छोड़कर, कृत्रिम वर्तमान पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव (होते हैं), वे शुभ-अशुभभाव मेरे और मैं उनका, बस ! यह अभिनिवेश... मम अर्थात् अभिनिवेश, विपरीत अभिप्राय, मिथ्यादर्शन शल्य; यह महाशल्य ही आठ कर्म के बन्धन का कारण है। समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु : समय-समय महाबन्ध का कारण है।

उत्तर : महाबन्धन का ही कारण है। आहाहा ! समझ में आया ?

जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है- देखो ! **'न कर्मबहुलं जगन्न०'**

अर्थ - न तो कर्मस्कन्धों से भरा हुआ यह जगत् बंध का कारण है,.... यह कर्म के स्कन्धों से भरा हुआ जगत है। कर्म होने के योग्य स्कन्ध के परमाणु के पिण्ड सम्पूर्ण जगत में भरे हैं। पूरी दुनिया में-चौदह ब्रह्माण्ड में कर्म होने योग्य (परमाणु भरे हुए हैं)। वे बन्ध का कारण नहीं, आत्मा को दोष का कारण नहीं। **और न हलन-चलनादिरूप क्रिया ही,....** यह देह आदि की हिलने-चलने की क्रिया, वह बन्ध का कारण नहीं। समझ में आया ? यह तो जड़ की पर्याय है; वह आत्मा को बन्ध का कारण नहीं। **न इन्द्रियाँ कारण हैं,....** ये इन्द्रियाँ हैं, वे बन्ध का कारण नहीं। **और न चेतन अचेतन पदार्थों का**

विनाश करना ही बन्ध का कारण है। जड़ और चेतन का घात हो, उसका आत्मा को बन्धन नहीं। समझ में आया? यह जीव मरे या जड़ के टुकड़े हों, वह आत्मा को बन्ध का कारण नहीं।

किन्तु जो उपयोगरूपी जमीन रागादिकों के साथ एकता को प्राप्त होती है,... बस! क्या कहते हैं? भगवान आत्मा ज्ञान उपयोग, दर्शन उपयोग, चैतन्य उपयोग— जानन-देखन उपयोगस्वभाव, उस उपयोग स्वभाव के साथ विकल्प अर्थात् दया, दान, व्रत आदि शुभाशुभ परिणाम की एकता को प्राप्त (होवे)... कहो, समझ में आता है कुछ? उपयोगमयी जीवों-चैतन्य भगवान जानन-देखन स्वभाव है, ऐसे जानन-देखन स्वभाव की भूमिका में-जमीन में-सत्ता में यह राग जो शुभ का या पुण्य का या पाप का उत्पन्न होता है; उस राग का इस उपयोग के साथ एकपना करना, एकपना करना, वही मिथ्यादर्शन है और वही बन्धन का कारण है। आहाहा! 'सेठी'! कहो, कहाँ इसमें बाहर की क्रिया का (कर्तापना रहे?) ऐ...राजमलजी! दाँत क्यों निकालते हैं? कुछ होगा अन्दर? यह वकील है न भाई! होशियार व्यक्ति है। बन्ध का कारण तो यह है।

मुमुक्षु : अभिनिवेश....

उत्तर : अभिनिवेश। कोई बाहर का त्याग कर दिया, बाहर का त्याग किया और यह ब्रह्मचर्य शरीर से पालन किया या यह हिंसा की बाहर की क्रिया कदाचित् नहीं करता - ऐसा दिखे परन्तु जिसके अन्तर अभिप्राय में इन दया, दान, व्रत के शुभभाव के साथ त्रिकाली चैतन्यस्वभाव को एकत्वबुद्धि करना, यह अभिनिवेश-मिथ्यात्वभाव, यही बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : कोई दया नहीं करे (करेगा)।

उत्तर : कौन करता है? 'सेठी' कहता है-कोई दया नहीं करेगा, परन्तु करता है कौन?

मुमुक्षु : जीव, दया करे, पुद्गल तो न करे।

उत्तर : जीव किसकी करे? परद्रव्य का करे? परद्रव्य की किया करे आत्मा? मूढ़ है।

मुमुक्षु : अपने भाव में करता है न ?

उत्तर : भाव में तो कहा न कि शुभभाव हुआ। किसी को नहीं मारने का शुभभाव हुआ; उस शुभभाव के साथ एकत्वबुद्धि (करना) कि यह शुभ मेरा है-ऐसा मानना, वह मिथ्यात्वभाव है। ऐ... सेठ! आहाहा! लोगों को, अन्तर वस्तु क्या है, परवस्तु क्या है, दो की विवेक दशा क्या है और दो का एकपना क्या है... आहाहा! इसमें पूरा मार्ग समाहित हो जाता है; इसकी इसे खबर नहीं है।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ देव, छह द्रव्य कहते हैं। छह द्रव्य में तो संख्या से तो अनन्त पदार्थ हैं। उनमें कोई पदार्थ किसी का करे-ऐसा तीन काल में होता नहीं, इसलिए यह प्रश्न यहाँ नहीं। अब, परप्राणी आदि के लिए या अपने लिए ऐसा शुभभाव हो कि यह दया (पालूँ), इस पर को न मारूँ; झूठ न बोलूँ, चोरी न करूँ — ऐसा राग, वह राग है। उस राग और त्रिकाली वीतरागस्वभाव-शुद्ध ज्ञायकस्वभाव, यह राग और चैतन्य शुद्धस्वभाव दोनों को एक मानना, (यह मिथ्यात्वभाव है।) इस राग से मुझे लाभ होगा — ऐसा माननेवाला स्वभाव को और राग को एक ही मानता है। समझ में आया ? लो! तुम भी सेठी! वृद्ध होकर कहते हो कि बहुत सूक्ष्म बात है! क्या कहा ?

मुमुक्षु : समझ में नहीं आता।

उत्तर : यह तो अपने आ गया न ? भाई! यह समयसार, (बन्ध अधिकार) की बात है। बन्ध अधिकार का पहला कलश है। बन्ध अधिकार की बात है, समयसार की बात है। समझ में आया ? आहाहा!

दूसरे प्रकार से इसमें अर्थ क्या हुआ ? कि भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु चैतन्य द्रव्यस्वभाव वस्तु है। ऐसी पवित्र पूरी चीज-वस्तु में-उसकी भूमि में अर्थात् उसकी सत्ता में पुण्य के विकल्प की सत्ता उसकी सत्ता में नहीं।

दूसरे प्रकार से कहें तो इस पुण्य अर्थात् आस्रवतत्त्व की सत्ता, ज्ञायकस्वभाव में नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो आस्रवतत्त्व में यह पर की दया आदि पालना, यह (पर की) पर्याय इस आस्रवतत्त्व में नहीं आती और इस आस्रवतत्त्व पर की दया पाले, ऐसी जो पर की पर्याय में नहीं जाती। समझ में आया ?

मुमुक्षु : फिर से कहिये।

उत्तर : अभी फिर से कहो... वन्स मोर... कहते हैं यह। ठण्डे व्यक्ति है न! बहुत समय से आये। इसलिए कहा था, यह भटकते आये। एक बार कहा था। अरे...! क्या समझ में आया कुछ?

यह भगवान आत्मा, यह तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि स्वभाव अरूपी निर्विकारी वीतरागीमूर्ति आत्मा है। उसमें होता राग — दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम - यह विकल्प है। उस विकल्प की पर्याय बाहर की शरीर आदि क्रिया में या परद्रव्य की क्रिया में वह पर्याय नहीं जाती। (यदि) जाती नहीं तो पर का पाल सके, यह राग में, राग के स्वरूप में नहीं है। समझ में आया? यह राग हुआ; यह राग की पर्याय, पर की पर्याय वहाँ आगे अपुण्य की स्थिति-देह और जीव की साथ रहने की है, उसका जो उत्पाद है; उसमें यह दया का रागभाव, उसके उत्पाद में प्रवेश नहीं होता अर्थात् यह उसका कार्य नहीं कर सकता और आत्मा ज्ञायक चैतन्यस्वरूप है, उसकी सत्ता में वह राग नहीं है। पर की पर्याय की सत्ता में यह राग नहीं है। ऐसे यह राग का विकल्प जो उठा, वह चैतन्यस्वभाव के अस्तित्व की सत्ता में नहीं है; नहीं तो वह राग, आत्मा के स्वभाव को लाभ करे - यह बात एकदम मिथ्यात्व श्रद्धा है। आहाहा! समझ में आया? एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व के साथ जुड़ान कर देना, यहाँ इस जुड़ान की-एकता की बात है। समझ में आया?

देखो! **उपयोगरूपी जमीन...** यह जमीन अर्थात् सत्ता। सत्ता — भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त ज्ञान-दर्शन आनन्द आदि स्वभाव की सत्ता की भूमि वस्तु है। इस सत्ता की जमीन में पुण्य-पाप के विकल्पों के साथ **एकता को प्राप्त...** (अर्थात् कि) यह रागादि, मैं; और मैं इनका। रागादि मैं और ये मेरे-ऐसी मिथ्याश्रद्धा को अभिनिवेश कहते हैं। यह अभिनिवेश मिथ्यादर्शन है और यह मिथ्यादर्शन, नये कर्म बँधें उनमें निमित्त है। इसमें समझ में आया या नहीं?

मुमुक्षु : नये कर्म बाँधने में निमित्त?

उत्तर : इसने नये कर्म बाँधे-ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में मिथ्यादर्शन के परिणाम भावकर्म को इसने बाँधा। आहाहा!

जो स्वरूप आत्मा का अबन्धस्वरूप है। भगवान आत्मा, राग से भी भिन्न है, कर्म से भिन्न है; विकल्प का शुभभाव—जिस भाव से दया, जिस भाव से दान, जिस भाव से भक्ति-पूजा — ऐसा भाव (उठे), उस भाव से भी भगवान आत्मा की भूमिका निर्लेप है। आहाहा! ऐसी स्वसत्ता में, शुद्ध सत्ता की भूमि में लेपपना नहीं अर्थात् विकल्प का राग उसमें नहीं। उसे यह राग मेरी भूमि का है, मेरी सत्ता का है, मुझे लाभदायक है (- ऐसी जो मान्यता है), उसका नाम मिथ्यादर्शन और अभिनिवेश-विपरीत अभिप्राय कहने में आता है। आहाहा!

अब इसका त्याग नहीं और बाहर का त्याग थोथा करके बैठे तो मिथ्यात्व की पुष्टि है। सेठ! परन्तु वहाँ सेठ और सेठी दोनों घुस जाएँ ऐसा है। समझ में आया? सेठ ने तो रात्रि में जरा रोनक की थी... मैं भी ऐसा। आहा...! वाह...रे!! भगवान! बापू! भाई! मार्ग, वह कोई अलग चीज है। यह वीतरागमार्ग है। यह कोई सगे-सम्बन्धी को मक्खन लगाकर मार्ग पसन्द करना, यह वह मार्ग नहीं है। मक्खन कहते हैं? क्या कहते हैं? मक्खन... मस्का... ऐ... सेठी!

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने 'बन्ध अधिकार' में फरमाया है, वह अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में, कलश में लिया है। इस कलश का आधार यहाँ टीकाकार पण्डित आशाधर ने लिया है। भाई! आशाधर पण्डित हुए हैं, गृहस्थाश्रम में पण्डित, उन्होंने यह आधार लेकर यह टीका की है, उसमें आधार लिया है कि इस गाथा में कहा जाता है कि **बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।** ऐसा है न? कि इसका अर्थ-मम से बँधे और निर्मम से छूटता है। इसकी व्याख्या क्या? ममता अर्थात् यह सब छोड़कर बैठे, यह ममता नहीं और यह सब स्त्री, पुत्र में पड़े हैं और यह ममता है — ऐसी इसकी व्याख्या ही नहीं है।

जिसके अभिप्राय में, भगवान निर्लेप अबन्धस्वरूप चैतन्य तत्त्व, वर्तमान भगवान आत्मा अबन्धस्वरूप वीतरागी आत्मतत्त्व के साथ शुभविकल्प का उस सत्ता के साथ मिलान करना-यह मुझे लाभदायक है, इसका अर्थ कि मैं उसका हूँ और वह मेरे हैं-ऐसे भाव को मिथ्यादर्शन अभिनिवेश कहने में आता है। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें?

देखो न! किन्तु सीधी बात है, देखो! उपयोगरूपी जमीन—सत्ता... भगवान आत्मा जानन-दर्शन उपयोगस्वरूप, यह आत्मा का अस्तित्व, यह आत्मा की जमीन। जमीन अर्थात् यह उसका क्षेत्र कि जिसके क्षेत्र में स्वयं अकेला जानन-देखन स्वभाव ही जिसमें पड़ा है। ऐसे भगवान जानन-देखन सत्ता में जो कोई जीव, रागादिक के साथ — इस शुभ-अशुभ विकल्प के साथ, इस चैतन्य के निर्मल उपयोग को राग के साथ एकत्व करता है, अर्थात् उसकी अंश बुद्धि पर दृष्टि होने से, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि नहीं गयी होने से, उस राग के विकल्प पर बुद्धि होने से वह मेरा है — ऐसी जो ममता / मिथ्यादर्शन करता है अर्थात् एकता को प्राप्त होता है। भगवान ज्ञानमूर्ति में राग की एकता को प्राप्त करता है। उस राग से एकतापने वह है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : अनादि से इसने यही धन्धा किया है।

उत्तर : इस मिथ्यात्व का ही इसने धन्धा किया है। त्यागी हुआ, बाबा हुआ, जैन का दिगम्बर साधु हुआ... समझ में आया? तो भी यह इसने अन्दर यह मिथ्यादर्शन माना है।

मुमुक्षु : कठिन काम है।

उत्तर : बाहर का धूल में कठिन था। क्या था? समझ में आया? नौवें ग्रैवेयक गया, (तब) शुक्ललेश्या का शुभभाव कितना था! ऐसी तो अभी क्रिया किसी की है ही नहीं। अभी तो द्रव्यलिंग भी सच्चा नहीं है। इसका जो द्रव्यलिंग था, उसका जो शुक्ललेश्या का भाव (था), उसके साथ भगवान आत्मा को एकत्व को प्राप्त करना, वही मिथ्यादर्शन है। समझ में आया? आहाहा!

सिर्फ वही अर्थात् जीवों का रागादिक सहित उपयोग ही बन्ध का कारण है। बस! यह एक ही बन्ध का कारण है। देह की क्रिया नहीं; जीव मरे, न मरे - उसके साथ सम्बन्ध बन्ध का कारण नहीं। कर्म से भरे हुए रजकण बन्ध का कारण नहीं। इन्द्रियाँ बन्ध का कारण नहीं। समझ में आया? **सिर्फ वही...** भगवान चैतन्य उपयोग, उसकी स्वभाव की सत्ता का स्वभाव की दृष्टि छोड़कर, इस पुण्य के, विकल्प के राग के साथ उस सत्ता को एकत्व मानना, एकत्व करना, अभेद करना; चैतन्य के उपयोग में उस रागभाव का

त्रिकाल अभाव स्वभाव है। उसके साथ राग को अभिप्राय में एकत्व करना, वही अनन्त संसार के कर्मबन्ध का कारण है। सेठ!

सिर्फ वही... यह एक ही कारण बन्ध का है, दूसरा कोई कारण है नहीं। रागादिक का अर्थ ऊपर किया वैसा लेना, हों! एक राग नहीं, राग के साथ एकता, वह बन्ध का कारण है-ऐसा लेना चाहिए। शब्द जरा बदल डाला है। मूल तो रागादि के साथ की एकता प्राप्त-ऐसा मूल शब्द है। रागादि शब्द का कारण नहीं। समझ में आया?

इसमें-समयसार में पण्डित जयचन्दजी ने अर्थ बहुत अच्छा किया है। अभ्यन्तर की अपेक्षा से तो समकिती अबन्ध ही है। साधु के समिति-गुप्ति लिया है न? भाई! आहाहा! और बाहर के चाहे जितने त्याग में रहने पर भी उसके अभिप्राय में, उस परद्रव्य का त्याग मैंने किया है और यह राग उठता है, वह मेरी चीज को लाभदायक है-ऐसी मान्यता, वह परम धर्म का त्यागी है। समझ में आया? और अकेला अधर्म का भोगी है। सेठ! यहाँ माखणकार नहीं होता कि दो भाई बैठकर फिर बातें करे, शोभालाल... आहाहा! यह ऐसा मार्ग है। यहाँ तो भई! वीतरागमार्ग है। इसमें किसी की सिफारिश चलती है? सिफारिश को क्या कहते हैं? सिफारिश कहते हैं।

मुमुक्षु : वकील काम नहीं करे?

उत्तर : नहीं काम करे। वकील-बकील भी नहीं काम करे। कोई काम नहीं करे वहाँ।

मुमुक्षु : सिफारिश भी नहीं करे, डॉक्टर भी नहीं करे, वकील भी काम नहीं करे।

उत्तर : कोई काम नहीं करे। हमको इतना बाँधते हैं, हमारी श्रद्धा इतनी सच्ची है, ऐसा मानते हैं तो हमारी श्रद्धा सच्ची है या नहीं? मानता है, नहीं मानता—इसकी संख्या के साथ क्या सम्बन्ध है? समझ में आया? श्लोक बहुत (सरस है।)

देखो! इसके साथ **सममो निर्ममः** साथ में यह रखा। आहाहा! भाई! भगवान चैतन्यज्योति ज्ञान की मूर्ति चैतन्यसूर्य है। इस चैतन्य के प्रकाश के नूर के तेज में शुभराग का विकल्प उठे, वह अन्धकार है। इस अन्धकार और चैतन्य के तेज के नूर में एकत्व करना, बस! यही मिथ्यात्व, अभिप्राय, अभिनिवेश संसार के परिभ्रमण का मूल है। 'सिर्फ

यही एक', दूसरा भी बन्ध का कारण है-ऐसा नहीं। यह एक ही बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

जीवों का रागादिक सहित उपयोग ही... अर्थात् जीव का राग की एकता के साथ का व्यापार ही **बन्ध का कारण है।** ऐसा लेना चाहिए। समझ में आया? कहो, समझ में आता है या नहीं इसमें? फावाभाई! यह तो समझ में आये ऐसा है, हों! है तो इतना, परन्तु सरल है। इसमें बहुत अटपटा नहीं है, ऐसा। आहाहा! **यदि वही जीव निर्ममरागादि रहित -उपयोगवाला हो जाय, तो कर्मों से छूट जाता है।** भगवान आत्मा, रागादि निर्मम अर्थात्? निर्मम की व्याख्या अर्थात्? यह तो स्वयं उस अनागार धर्मामृत में से लिखा है न? उसमें से थोड़ा-सा डालते हैं। **निर्ममत्वं विचिंतयेत्** है न, परन्तु इन्होंने तो स्वयं 'अनागर धर्मामृत' छठवें अधिकार का २०५ का कुछ डाला है। हाथ नहीं आया, वरना तो उसमें ही है। देखो! **यदैक्यमुपयोगभूसमुपरौ अतिरागादिभिः स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणम्। तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति....** इसका अर्थ किया है। यह हाथ नहीं आया, इसमें कुछ होगा। इसमें २०५ है। अभी दूसरी कोई पुस्तक होगी। मूल तो वह बड़ी पुस्तक है। संस्कृत में होगी न! लाओ न संस्कृत। यह पढ़ा था, हों! (संवत्) १९८६ में, १९८६ के साल में चीतल-चीतल। सागार धर्मामृत, अनगार धर्मामृत सब वहाँ पढ़े थे। संवत् १९८६, ३६ वर्श पहले चीतल में पढ़ा है, चीतल में। महाराज आवे, इसके लिए वे लोग पुस्तकें रखते। उसमें फिर ऐसा हुआ कि हाय! हाय!! हमने पुस्तकें रखी और यह तो पढ़-पढ़कर अपने में से निकल गये। २०५ लिया है। संस्कृत होगी, यह बात सत्य है, संस्कृत, हों! भाई! पाठ है न! नहीं तो श्लोक ही है। आधाररूप से श्लोक दिया है। दूसरा कोई नहीं। इस नाटक में तो यह कलश है।

वही जीव निर्मम अर्थात्... भगवान आत्मा ज्ञानानन्द उपयोग, उसके साथ राग की एकता करता नहीं; शुभराग-अशुभराग आदि को स्वभाव में एकता करता नहीं, इसका नाम अभिनिवेश रहित सम्यग्दर्शन सहित है। **उपयोगवाला हो जाय, तो कर्मों से छूट जाता है।** उसे कर्मबन्धन नहीं होता। कहो, समझ में आया?

कहा भी है कि - 'अकिंचनोऽह।' अब, यह श्लोक आया है। आकिंचन है न? आत्मानुशासन का है।

अकिंचनोऽहमित्यास्वस त्रैलोक्याधिपतिर्मवेः।
योगिगभ्यं न्नव प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः॥११०॥

श्लोक बहुत ऊँचा आया है। देखो! **मैं अकिंचन हूँ,...** ३४ पृष्ठ पर है, ३४ पृष्ठ, ३४ पृष्ठ, कहाँ है? समझ में आया? इतना तो ध्यान रखे। **मैं अकिंचन हूँ,...** इसका अर्थ कि किंचित्मात्र रागादि विकल्प मुझमें नहीं। आकिंचन - किंचन नहीं। मैं एक ज्ञानानन्द चैतन्य ज्योतिस्वरूप भगवान हूँ। मुझमें एक विकल्प—दया, दान, व्रत और जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव अकिंचिन है; वह किंचित् भी मेरे स्वरूप में नहीं है। **मैं अकिंचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं,...** मैं आकिंचन हूँ और मेरा कुछ भी नहीं। ये रागादि मेरे कुछ भी नहीं, जरा भी नहीं। मैं रागरहित हूँ - ऐसा पहले कहा। आकिंचन कहा न? मैं चैतन्य भगवान इस विकल्प से रहित हूँ और विकल्प मेरे कुछ भी नहीं, ऐसे पारस्परिक दो लिये। आहाहा! समझ में आया?

मैं अकिंचन हूँ,... मैं भगवान जानने-देखनेवाला प्रभु हूँ। मैं यह आत्मा-अकिंचन, विकल्प का किंचित् भी इसमें नहीं और यह राग मेरा कुछ भी नहीं, जरा भी नहीं। अब स्त्री-पुत्र, और शरीर मेरा और कर्म मेरा, कहीं रह गया।

मुमुक्षु : है ही ऐसा....

पूज्य गुरुदेवश्री : है, अर्थात् ये इसके थे, ऐसा? ऐसा कहते हैं, ये तो इसके है ही, ऐसा। धूल में भी नहीं अब। ये तो कहीं के कहीं भटकते द्रव्य हैं। इसे तो स्पर्श भी नहीं करते और साथ भी नहीं। यहाँ तो इसकी पर्याय में स्पर्शित राग विकल्प, एक समय की पर्याय में हुआ दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, हिंसा, झूठ, चोरी, विकल्प, राग वह **मैं अकिंचन हूँ,...** वे मुझमें जरा भी नहीं और **मेरा कुछ भी नहीं,...** जरा भी वे मेरे नहीं। आहाहा! **बस ऐसे होकर बैठे रहो...**

मुमुक्षु : बैठे रहना अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : बैठे रहना अर्थात् ऐसा करके अकेले अन्तर में स्थिर हो। बस! दूसरा कुछ करने का है नहीं। आहाहा! ऐ.. सेठ! सेठी आये हैं? समझ में आया? समझाय छे? यह तो गुजराती है। आहा!

मैं अकिंचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं,.. स्वभाव मैं आकिंचन निर्ममत्व हूँ। यह राग मेरा जरा भी नहीं। आस्रवतत्त्व उत्पन्न होता है। जिस भाव से बन्धन हो, वह भाव— महाव्रत के परिणाम आदि—मेरे कुछ नहीं। महाव्रत के परिणाम, वे मुझमें नहीं और मेरे वे कुछ भी लाभदायक मुझमें नहीं। आहाहा! गजब बात! लोगों ने यह सुना नहीं, इसकी खबर नहीं होती। बेखबर होकर हम धर्म करते हैं - ऐसा मानते हैं।

मुमुक्षु : बे....

पूज्य गुरुदेवश्री : बे अच्छा? अर्थात् एक की अपेक्षा बे खबरा (अच्छा), ऐसा न? बे खबरा अर्थात् दो का ज्ञान होगा? दो की खबर? दो का ज्ञान? बेखबर अर्थात् मूढ़ जीव, ऐसा कहते हैं। 'दोढ डाह्यो' - नहीं कहते? दोढ डाह्यो अर्थात् दोढ़ डाह्यो होगा? एक और ऊपर आधा चतुर - ऐसा होगा? दोढ़ डाह्यो अर्थात् पागल। आहाहा! समझ में आया?

बस ऐसे होकर... यह आत्मानुशासन है, हों! यह आत्मानुशासन है। देखा? '**अकिंचनोऽहमित्यास्व**' देखो! स्व है न? '**त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः**' देखो! '**अबहमित्यास्व**' बस! यह अन्दर करना है। एक ही बात। बस! इसमें से त्रिलोक अधिपति हो जाएगा। इसमें से तू तीर्थंकर और केवली हो जाएगा, जा।

मुमुक्षु : स्वामी क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वामी कहा। तीन काल का ज्ञान करनेवाला। केवलज्ञानप्रमाण पूरा लोक चलता है न? परिणमन करता है, पूरा लोक केवलज्ञानप्रमाण परिणमन करता है। स्वामी का अर्थ यह। वहाँ कहाँ स्वामी / मालिक था? यहाँ तो लोगों को ऐसा होता है कि, आहाहा!

कहते हैं कि भाई! भगवान आत्मा स्वभाव में मैं आकिंचन हूँ। मेरा कोई नहीं। मेरा कोई नहीं और मेरा कुछ भी, यह भी मेरा नहीं, वह मुझमें नहीं। बस! इतने अन्तर अभिप्राय करके स्वरूप की दृष्टि में स्थिर हो जाओ। त्रिलोकनाथ हो जाएगा। तो यह पूजा, भक्ति, यात्रा और यह सब बीच में कब करना? यह आता है, परन्तु यह कोई मोक्ष का कारण नहीं है। ऐई! सेठी! आहाहा! बीच में, जब तक स्थिर न हो सके तो ऐसा व्यवहार बीच में

(आता है)। वह निर्जरा का कारण नहीं, संवर का कारण नहीं, मोक्ष का कारण नहीं। यहाँ (स्वरूप में) स्थिर होओ तो मोक्ष का कारण है। समझ में आया?

बस! दृष्टि ही बदले। तेरी दृष्टि स्वभाव पर हो गयी, पूरा हो गया, जाओ! यहाँ स्थिर हुआ, वह क्रम-क्रम से स्थिर होकर केवलज्ञान पायेगा। केवलज्ञान पाने की दूसरी कोई क्रिया ही नहीं है। आहाहा! ऐसा यहाँ कहते हैं। केवलज्ञान का दूसरा कोई उपाय होगा? दूसरा कोई कारण (होगा)? - कि नहीं। भगवान ज्ञानानन्दस्वभाव में राग की एकता नहीं करके, राग से पृथक् अपने स्वभाव में एकत्व करके अन्दर में दृष्टि को स्थिर करना। बस! वह स्थिर होकर क्रम-क्रम से केवलज्ञान पायेगा। समझ में आया? अरे! इतनी सब बातें! मन्दिर, पूजा, यात्रा... ओहोहो! इस सेठ ने गत वर्ष कितना किया था मल्हारगढ़ में। धमाल.. धमाल.. धमाल। चाँदी का वह और चाँदी का स्थान और क्या कहलाते हैं वे सब? पुस्तक को कवर... यह तो यह बहुत संक्षिप्त कहते हैं, सेठ! वह तो बीच में उसकी क्रिया बनने की हो, वह बनती है। बीच में शुभभाव होवे परन्तु वह शुभभाव तो स्वभाव में एकत्व करनेयोग्य नहीं है। ठीक, सेठ?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इसकी मान्यता तो सरल है या नहीं? पक्की श्रद्धा तो करे कि ऐसे होगा, ऐसे होगा। धूल में भी नहीं होगा - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

बस ऐसे होकर बैठे रहो... लोग नहीं कहते? बस! अब बैठे रहना। परन्तु कहाँ बैठेगा तू? अन्तर में स्थिर होकर बैठे रहना है। क्योंकि तू चल तो सकता नहीं, वह तो जड़ की क्रिया है। इस शरीर का हिलना-चलना, वह तो जड़ की क्रिया है, वह कहाँ तेरी क्रिया थी? और उसमें कदाचित् कोई विकल्प उठे, वह तो विकार है। विकार में तुझे बैठना है? जड़ की क्रिया में दृष्टि रखकर वहाँ तुझे स्थिर होना है? आहाहा! राग और जड़ की क्रिया से पृथक् तेरे स्वभाव में वह राग और वह (जड़) नहीं है और मैं उनमें नहीं है। वह राग और देह की क्रिया मुझमें नहीं और मैं राग तथा देह की पर्याय में तीन काल में कभी आता ही नहीं। आहाहा! ज्ञायकभाव कहीं राग में आयेगा? भगवान आत्मा कहीं देह की पर्याय के उत्पाद में-क्रिया में आवे? कहीं नहीं आता। नहीं आता तो भी मानता है कि राग और

क्रिया मेरी है और मैं उनका हूँ। बस! यही एक मिथ्यादर्शन संसार का मूल है। समझ में आया?

बस ऐसे होकर बैठे रहो... ऐसा शब्द है न? है वह, क्या है वह? आत्मानुशासन है न? ११० श्लोक है न? आत्मानुशासन होगा उसमें। कल यहाँ लिया था। आत्मानुशासन ११० है न? यह रहा, देखो! **हे जीव! मैं अकिंचन हूँ अर्थात् मेरा कुछ भी नहीं है। ऐसी सम्यक् भावनापूर्वक तू निरन्तर रह।** '**आस्व**' का अर्थ किया है। बस इतना। '**आस्व**' निरन्तर रह। **क्योंकि इसी भावना में सतत् चिन्तवन से तू त्रैलोक्य का स्वामी होगा। यह बात मात्र श्रीयोगीश्वर ही जानते हैं, उन योगीश्वरों को गम्य ऐसा परमात्मतत्त्व का रहस्य मैंने तुझे संक्षेप में कहा है।** परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने का रहस्य यह थोड़े में संक्षिप्त शब्दों में कहा है। आत्मानुशासन का ११० श्लोक है। समझ में आया? आहाहा!

कविवर पण्डित बनारसीदास भी कहते हैं कि - 'पुद्गल पिण्ड भाव रागादि, इनसे नहीं तुम्हारो मेल।' यह डाला है।

मुमुक्षु : व्याख्यान हो गये हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मानुशासन पहले हो गया है। हीराभाई के मकान में। कहो, समझ में आया?

थोड़ा परन्तु सत्य ग्रहण करे तो वह थोड़े में अच्छा (पूरा) केवलज्ञान प्राप्त करने की ताकत है। सच्चा है, इसलिए ऐसा कहा। थोड़ा परन्तु सत्य बराबर ग्रहण करे (तो) उस थोड़े सच्चे में केवलज्ञान प्राप्त करने की ताकत है और थोड़ा भी विपरीत राग की मान्यता और ऐसी थोड़ी भी मान्यता करे, उसमें अनन्त निगोद के भव करने की ताकत है। कहो, समझ में आया?

यह तुम्हें बड़े योगियों के द्वारा जाने जा सकने लायक परमात्मा का रहस्य बतला दिया है। आत्मानुशासन। यह बड़े-बड़े धर्मात्मा सन्तों को भी जाननेयोग्य यह बात है। बस वह **लायक परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।** तुझे परमात्मा का रहस्य बतला दिया है। भगवान आत्मा, राग के विकल्प से भिन्न पड़ा हुआ मेरा तत्त्व है, ऐसे राग की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता में रहना, वही परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय है, यह सब

शास्त्रों का रहस्य बताया है। समझ में आया? गजब बात।

उत्साह उड़ जाए, उत्साह। ऐई! उत्साह उड़ जाए। रतिलाल डॉक्टर कहते थे न। इन महाराज का सुनने जाएँ तो यह व्यापार-धन्धा करने का उत्साह उड़ जाता है, अभी नहीं सुनना। राजकोट में आँख के एक सर्जन हैं। रतिभाई। यहाँ दो-तीन दिन (रहे), फिर (कहा) महाराज का सुनते हैं न तो... यह अभी नहीं, बाद की बात है। वृद्धावस्था हो (तब)। अब वृद्धावस्था हुई है। होगा? कमजोर हो गया। इन महाराज का सुने तो अपने किसी के रहें ऐसा नहीं है। दुकान में व्यापार-धन्धे का उत्साह उड़ जाए, ऐसा है। अभी नहीं सुनना। ऐई!

मुमुक्षु : उसमें भरोसा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : भरोसा था। धूल में वृद्धावस्था (हो गयी)। किसी समय आते हैं। कुर्सी पर बैठते हैं। आहाहा!

आत्मानुशासन का यह श्लोक बहुत ऊँचा, हों! परमात्मा को प्राप्त करने का.. परमात्मा अर्थात् केवलज्ञान होने का जो रहस्य था, वह इस एक श्लोक में बतला दिया है। समझ में आया? आत्मा राग से भिन्न पड़कर, अपने स्वरूप की दृष्टि करके, बस! उसमें स्थिर होना, बस! यह एक ही परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय है, बाकी कोई उपाय नहीं है। आहाहा! तो फिर यह मोक्षमार्ग दो और वह सब कहाँ गया इसमें? ऐई! आहाहा! चिल्लाहट मचाते हैं। भगवान! तुझे भारी व्यवधान होगा, बापू! कठिन पड़ेगा। देखो!

'**योगिगभ्यं तव प्रोक्तं**' आत्मा में इस राग की वृत्ति से भिन्न चैतन्य भगवान को देखता, योगी अर्थात् सम्यग्दृष्टि ज्ञानी अपने आत्मा को पर से भिन्न देखता हुआ, उसमें स्थिर होता हुआ केवलज्ञान को प्राप्त करता है, यह परमात्मा को पाने का रहस्य है। वह धर्मात्मा को गम्य है, वह रहस्य यह है। समझ में आया? यह सब व्यवहार-फ्यवहार नजदीक में कितना पहुँचावे?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो होवे, वह तो विरोध भी वह तो बाह्यलक्ष्यी वृत्ति उत्पन्न हुई। यह तो अन्तर्लक्ष्य की परिणति की धारा केवलज्ञान को प्राप्त कराती है, ऐसा यहाँ तो

कहते हैं। समझ में आया? अरे.. अरे..! मार्ग को ऐसा कुचल डाला है और नोंच डाला है। पहले मैं सम्प्रदाय में दृष्टान्त देता था। गद्दे होते हैं न? गद्दे, रजाईयाँ। उसमें साथ में गुड़ के रबा थे। उसमें गर्मी (आयी), इसलिए वे रबा पिघलने लगे और (गद्दे तथा) रजाईयाँ गुड़वाली हुई। फिर डाघा श्वान गुड़ खाने को एकत्रित हुए। सोने के लिए नहीं खाने को। अब वह गुड़ का रस तो उनमें घुस गया। गद्दे नोंच डाले।

मुमुक्षु : हिन्दी में कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हिन्दी में? तलाई होती है न, तलाई को क्या कहते हैं? सोने की। पाँच-पच्चीस तलाई (गद्दा-रजाई) पड़ी हुई। गुड़ का रबा समझते हो? क्या कहलाता है वह? कोल्हापुर। कोल्हापुर का रबा आता है न? उसमें आधे नम्बर का गुड़ आता है, बहुत बढ़िया, आधे नम्बर का बहुत बढ़िया गुड़, उस गुड़ के रबा पड़े हुए थे, गर्मी का मौसम था तो गुड़ पिघल गया। पिघलकर गद्दों में घुस गया, फिर धूप में सूखाने को डाले। उसमें आये कुत्ते, खाने के लिए नोंच डाला। सोने के गद्दे-रजाई तोड़ डाले। वह सुखशय्या आता है, भाई.. उसमें डालते हैं। वह सोने की सुखशय्या थी, उसे तोड़ डाली।

भगवान आत्मा सुख से शय्या आत्मा में करे, ऐसी दृष्टि ज्ञान को छोड़कर मार्ग को नोंच डाला। सोने के स्थान को तोड़कर टुकड़े कर डाले। समझ में आया? सुखशय्या और दुःखशय्या ऐसा उन लोगों में-श्वेताम्बर में ठाणांग में आता है। चौथे ठाणे में। चार प्रकार की सुखशय्या। आत्मा में आनन्द में अन्दर सुख है, उसके बदले मारकर यह सब नोंच डाला। वे कहें, ऐसे होता है और वह कहे, ऐसे होता है, और वह कहे ऐसे होता है। एक कहे-सम्मेदशिखर की पूजा करें तो भव टूट जाते हैं। दूसरा कहे कि अपने पाँच-पच्चीस लाख का मन्दिर बनावें तो भव छूट जाता है। दूसरा कहता है, पंच महाव्रत के परिणाम पालन करें तो भव छूट जाता है। सब बात गप्प-गप्प है। वह सब राग का पुण्य का परिणाम है। उससे तो बन्धन होता है, पुण्य बन्धन होता है, भव नहीं घटते। आहाहा! पोपटभाई! बहुत कठिन पड़े, हों! सोनगढ़वालों को लोग ऐसा कहे, ऐ.. सोनगढ़ (ऐसा कहते हैं)। सुन न अब! वीतरागमार्ग होवे तो यह एक ही मार्ग है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' दूसरा हो नहीं सकता। आहाहा! क्यों? शान्तिभाई! जँचता है या नहीं? समझ में आया या नहीं? संसार में तो बहुत चतुराई करते हो परन्तु यह ऐसा जँचता है या नहीं?

मुमुक्षु : मन्दिर बनाना, वह परम्परा मुक्ति का कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल-जरा भी नहीं।

मुमुक्षु : परम्परा से।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं।

मुमुक्षु : परम्परा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परम्परा बन्ध का कारण है। मन्दिर बनाना, तुम बना सकते हो ? इसे अभी वहाँ करना है न पाँच लाख का। वहाँ सब धूमधाम (करनी है न, इसलिए पूछते हैं)। वह तो उसके कारण से होता है। तुम्हारे और गोदिका के कारण से नहीं होता। सेठी! शुभभाव होवे, वह अलग बात, शुभ, परन्तु वह शुभराग बन्ध का कारण है। आत्मा की अन्तर की एकता ही परम्परा मुक्ति का कारण है। सेठी! जरा शिथिल होकर आये हो अभी। हिम्मतभाई दाँत निकालते हैं (हँसते हैं)। ऐ सेठी! हमारे पण्डित हैं। आहाहा! देखो! गजब बात, भाई!

मार्ग तो मार्ग प्रभु का, 'प्रभु का मारग है शूरों का नहीं कायर का काम।' भगवान आत्मा पूर्णानन्द की निधि प्रभु, उसकी तो अन्तर की-अन्तर की एकता द्वारा ही उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र, शुक्लध्यान और केवलज्ञान एक ही धारा से प्रगट होता है, दूसरा कोई मार्ग तीन काल में नहीं है। समझ में आया ? यह शास्त्र में परम्परा कहा है, हों! इसका अर्थ कि राग छोड़कर स्थिर होगा, तब मुक्ति होगी।

मुमुक्षु : वह तो व्यवहार से परम्परा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार की बात है न! निश्चय में कहाँ परम्परा धूल में थी ? राग आत्मा के मोक्ष का कारण होता है ? वीतरागभाव कहाँ रहा ? समझ में आया ? वीतरागमार्ग, वीतरागमार्ग से ही प्राप्त होता है। राग से प्राप्त वीतरागमार्ग प्राप्त होगा ? इन्द्र उपस्थित होकर सुनें, वह बात कैसी होगी ? अर्धलोक के स्वामी शकेन्द्र और ईशानइन्द्र, बत्तीस लाख (विमान का) स्वामी, भगवान के पास (सुनने जाता है)। इन्द्र अर्थात् ? यह तो अभी सब साधारण पुण्यहीन प्राणी हैं। समझ में आया ? भगवान महावीर की उपस्थिति में इन्द्र समवसरण में उपस्थित होते थे। अभी भी महाविदेह में भगवान विराजते हैं,

सीमन्धर भगवान हैं, वहाँ इन्द्र जाते हैं। वहाँ भगवान की वाणी में ऐसा (उपदेश) निकलता है। ओ प्रभु! त्वमेव सतसंग नाथ तुम्हारा मार्ग, वही सत्य है। समझ में आया?

और भी कहा है – देखो! यह रहस्य बता दिया, हों! रहस्य। सम्पूर्ण सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग शास्त्र का रहस्य यह है। अथवा आत्मा का मोक्षमार्ग अन्तरस्वरूप की एकता से होता है, यह रहस्य है। राग की पृथक्ता और स्वभाव की एकता—यह समयसार में आ गया। **'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।'** यह तो बात... उसकी यह बात है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग तीर्थंकरदेव परमात्मा अनन्त हुए, वर्तमान में विराजते हैं, अनन्त होंगे। सबका रहस्य यह है, भाई! राग से उपेक्षा कर, स्वभाव की अपेक्षा कर और स्थिर हो, बस! मुक्ति! दूसरा मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। कहो, समझ में आया? राग तो आस्रव है। सेठी! आस्रव परम्परा मोक्ष का कारण होता है? या संवर का कारण होता है? संवर तो निज स्वभाव की एकता है। ओहोहो!

और भी कहा है – 'रागी बध्नाति कर्माणि।' रागी जीव कर्मों को बाँधता है। रागी का अर्थ यह, हों! राग के साथ एकता (करता है)। वह रागी है। सम्यग्दृष्टि को राग है, परन्तु राग के साथ एकता नहीं है। राग होता है, सब होता है, युद्ध हो, भोग हो, (परन्तु) एकता नहीं है, एकता नहीं है। वह भिन्न पड़ा, वह एकता नहीं होती। आहाहा! **रागादि से रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है।** रागादि विकल्प से आत्मा पृथक् है, ऐसे भगवान आत्मा के अनुभव की दृष्टि से मुक्त होता है। **बस यही संक्षेप में बंध-मोक्ष विषयक जिनेन्द्र का उपदेश है।** लो! बस! **यही संक्षेप में...** संक्षिप्त में बन्ध और मोक्ष सम्बन्धी, विषयक (अर्थात्) सम्बन्धी, जिनेन्द्र का उपदेश है। तीन लोक के नाथ परमात्मा वीतरागी बिम्ब प्रभु! चाहे देह में विराजते हों, वाणी हो या न हो, परन्तु भगवान का उपदेश यह है। समझ में आया? लो! बहुत संक्षिप्त कहा। पश्चात् विशेष बात थोड़ी लेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३० गाथा-२६-२७ रविवार, दिनाङ्क १७-०४-१९६६
चैत्र कृष्ण १२, वीर संवत् २४९२

पूज्यपादस्वामी कृत इष्टोपदेश। गाथा २६ का अर्थ चलता है। देखो! यहाँ **और भी कहा है...** यहाँ से फिर से लो! पृष्ठ ३४, दूसरी लाईन। **'रागी बध्नाति कर्माणि।' रागी जीव कर्मों को बाँधता है।** क्या कहते हैं? भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप में जो रागी अर्थात् विकल्प आदि से सम्बन्ध करता है, वह कर्म से बँधता है। समझ में आया? जो असंग चैतन्य ज्ञानानन्दमूर्ति आत्मा जितना उस विकल्प से सम्बन्ध करता है, वही बँधता है। समझ में आया? रागी की व्याख्या इतनी है।

रागादि से रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। अपने स्वरूप के साथ सम्बन्ध करने पर, विकल्प के साथ सम्बन्ध छूटने से वह मुक्ति को पाता है। कहो, प्रवीणभाई! बहुत संक्षिप्त। भगवान आत्मा **रागी जीव कर्मों को बाँधता है।** ये शब्द (पड़े हैं)। रागी की व्याख्या—कि स्वरूप शुद्ध आनन्द वीतरागमूर्ति आत्मा है। वह राग अर्थात् जो शुभ-अशुभ विकल्प है, उसके सम्बन्ध को पाता जीव बन्धन को पाता है। समझ में आया? शशीभाई!

रागादि से रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। स्वभाव का सम्बन्ध (करनेवाला) और राग का सम्बन्ध नहीं करनेवाला, वह मुक्त होता है। वह मुक्ति को पाता है। बहुत संक्षिप्त। आत्मा सच्चिदानन्द ज्ञानानन्द शुद्ध परमानन्दमूर्ति है। यह पुण्य-पाप का विकल्प यदि सूक्ष्म भी हो, ऐसे राग के साथ सम+बन्ध के के सम्बन्ध को, संग को पाता है अर्थात् उसका सम्बन्ध पाने पर बन्धन होता है; और चैतन्य ज्ञानानन्द ज्योति, उस विकल्प का सम्बन्ध न पाकर, अपनी दशा से अपने शुद्धस्वरूप के असंग तत्त्व को पाकर, अन्तर में असंग का सम्बन्ध करने पर बन्ध से छूटता है। बहुत सूक्ष्म परन्तु.. कहो, पोपटभाई! समझ में आया इसमें? **बस यही संक्षेप में बंध-मोक्ष विषयक...** विषयक अर्थात् बन्ध और मोक्ष सम्बन्धी **जिनेन्द्र का उपदेश है।** सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक जानने की जो आत्मा की शक्ति थी, वह प्रगट हुई है, उन प्रगट हुए परमात्मा का संक्षिप्त में यह उपदेश है। समझ में आया?

मुमुक्षु : संक्षेप में भी पूरा आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : थोड़ा आवे, तब संक्षिप्त कहलावे न! नहीं तो विस्तार कहलावे।

जबकि ऐसा है, तब हरएक प्रयत्न से... जब यह स्थिति है, बन्ध और मुक्ति की यही स्थिति और मर्यादा है तो **हरएक प्रयत्न से व्रतादिकों में चित्त लगाकर...** व्रतादि के शुभविकल्प **अथवा मन, वचन, काय की सावधानता से निर्ममता का ही ख्याल रखना चाहिए...** और उससे रहित स्वभाव की सावधानीपूर्वक.. यहाँ तो वह व्यवहार व्रत और निश्चय सावधानी, दोनों लिया है। समझ में आया? **मन, वचन, काय की सावधानता से निर्ममता का ही ख्याल रखना चाहिए...** अपने स्वरूप में व्रतादि का एक विकल्प उठे, उससे भी निर्ममत्व सावधान होना। व्रत का विकल्प व्यवहाररूप होता है।

मुमुक्षु : प्रत्येक प्रयत्न करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह प्रयत्न स्वभावसन्मुख करना, ऐसा कहते हैं। चैतन्य आनन्दघन ज्ञायकमूर्ति भगवान की ओर एकाग्र होने का प्रयत्न करना।

मुमुक्षु : व्रतादि तो निमित्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आया, दोनों आये न! दो कहा न? दो कहा। क्या सुना? क्या कहा? दो कहा। क्या कहा? निश्चय के ख्याल सहित का वह विकल्प है अर्थात् व्रतधारी को यहाँ लिया है। दो बात कही थी।

मुमुक्षु : वजन तो यहाँ है...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, व्रती, हाँ उसमें और इसमें, ऐसा। दो में आया है। व्रतादिक में.. है न? **चित्त लगाकर...** वहाँ मन को लगाया है, शुभभाव और **मन, वचन, काय की सावधानता से निर्ममता का ही ख्याल रखना...** और अन्दर में स्वरूपसन्मुख ख्याल रखना। मन, वचन और काया की ओर से हटकर शुद्धस्वरूप का ख्याल रखना। अन्दर चिदानन्द ज्ञातादृष्टा की ओर का प्रयत्न करना, यही मुक्ति का उपाय है। भारी सूक्ष्म परन्तु... कहो सेठी! धीरे आया।

मुमुक्षु : स्पष्टीकरण करो।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी स्पष्टीकरण अन्दर करना है ?

कहते हैं, जब ऐसा ही स्वरूप है अर्थात् भगवान आत्मा का शुद्ध ज्ञानानन्दकन्द आत्मस्वभाव है। वह अनादि से पुण्य और पाप के विकल्प-राग के साथ सम्बन्ध करता है, वह सम्बन्ध ही बन्ध का कारण है और वह सम्बन्ध नहीं करना और स्वभाव ज्ञानानन्द अखण्डानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति अनन्त गुण का पिण्ड हूँ, ऐसे अपने स्वभाव के ध्येय में स्व का सम्बन्ध करना, राग का सम्बन्ध न करना, वह मुक्ति का उपाय है। इसलिए सर्व प्रयत्न से वह करना कि पंच महाव्रत... यहाँ मुनि की उत्कृष्ट बात ली है न! निर्ग्रन्थ दशा होने पर उन्हें पंच महाव्रत के विकल्प हैं, वह शुभ हैं, उनसे भी हटकर मन, वचन, काया की ओर से सावधानी छूटकर अन्दर स्वरूप की (सावधानी करना)। यहाँ भाषा यह है,... **काय की सावधानता से...** उसकी सावधानी नहीं। वास्तव में उससे छूटकर। निर्ममता का ख्याल करना चाहिए।

भाई! यह तो परमात्मा आत्मा स्वयं शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। अनन्त आनन्द का कन्द है। वस्तु है या नहीं ? आत्मा पदार्थ है या नहीं ? पदार्थ है तो उसका कोई स्वभाव शाश्वत् (होगा या नहीं) ? जैसे पदार्थ शाश्वत् है, वैसे उसका स्वभाव शाश्वत् है या नहीं ? शाश्वत् स्वभाव इसका आनन्द, शान्ति, श्रद्धा, ज्ञान, स्वच्छता, प्रभुता—ऐसे अनन्त स्वभाव शाश्वत् आत्मा के साथ जड़े हुए अविनाभाव हैं। जड़े अर्थात् ऐसे फूँक मारकर जड़े, ऐसा नहीं।

जैसे गुड़ में मिठास है, वैसे भगवान आत्मा में ऐसे ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि शक्तियाँ-गुण त्रिकाल हैं। वह आत्मा, राग स्वरूप में नहीं है, उसे विकल्प खड़ा करके उसका संग करे, सम्बन्ध करे, एकत्व करे, वह बन्ध को पाता है। वह संसार के परिभ्रमण के कारण को, आवरण को खड़ा करता है। और जो कोई भगवान आत्मा शुद्ध परमानन्द की मूर्ति सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसका अन्तर में संग करे, वर्तमान दशा सावधानी से अन्तर में संग करे और राग के सम्बन्ध की एकता टूटे, उसे मुक्ति होती है, उसे बन्ध का अभाव होकर आत्मा की शान्ति की पूर्णतारूप मुक्ति को प्राप्त होता है। आहाहा! समझ में आया ?

'मतः कायादयो भिन्नास्।' श्लोक है दूसरा। **शरीरादिक मुझसे भिन्न हैं,..**

अन्तर शरीर, कर्म, पुण्य-पाप के भाव, भगवान शुद्धस्वभाव अपना शुद्ध आनन्द ज्ञायक चैतन्य आनन्दस्वभाव से वे सब भिन्न हैं। **मैं भी परमार्थ से इनसे भिन्न हूँ,..** वे मुझसे भिन्न हैं और मैं भी उनसे भिन्न हूँ। मुझसे वे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ। क्या कहा? वस्तु भगवान आत्मा ज्ञान की ज्योति चैतन्य आनन्दसूर्य ऐसा आत्मा से शरीर, कर्म पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ भाव मुझसे भिन्न हैं। मुझसे अर्थात् इस स्वरूप से वे भिन्न हैं और इस स्वरूप से मैं भिन्न हूँ। इस स्वरूप से वे भिन्न हैं और उस स्वरूप से मैं भिन्न हूँ। समझ में आया?

शरीरादिक, मुझसे भिन्न हैं,.. मुझसे अर्थात् मेरा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उससे ये विकल्प राग, और मन, वाणी, शरीर भिन्न / पृथक् हैं। **मैं भी...** और मैं ज्ञायकस्वरूप मैं भी, मैं भी। वे जैसे मुझसे भिन्न हैं, वैसे मैं भी उनसे भिन्न हूँ। भारी बड़ी बातें, भाई! कहो, बराबर है या नहीं? प्रवीणभाई! ऐसे अन्तर में भेद पाड़ने का अभ्यास करना। मोक्ष के प्रार्थनावन्त जीव को, भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त शान्त आनन्दकन्द का स्वभाव, ऐसा मेरा स्वरूप है। मुझसे ये विकल्प आदि भिन्न हैं और इनसे, इनसे मैं भिन्न हूँ। समझ में आया? अब उन्हें मुक्ति की क्रिया (बताई)! गजब बात भाई! समझ में आया? उसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्णतारूपी मुक्ति की प्राप्ति की यह क्रिया (कही)। कहो, समझ में आया इसमें?

न मैं इनका कुछ हूँ,... न मैं; मैं अर्थात् मैं शुद्ध आनन्द ज्ञानस्वरूपी सत्ता अनादि-अनन्त ध्रुव... **मैं न इनका कुछ हूँ,...** इस विकल्प और शरीर का मैं जरा भी नहीं। पुण्य-पाप का विकल्प, दया-दान, व्रत या शरीर की क्रिया यह; **मैं न इनका कुछ हूँ,...** इनका मैं जरा भी नहीं। राग का, मन का, पुण्य के परिणाम का, मैं ज्ञायकस्वरूप भगवान (आत्मा) मैं न कुछ-जरा भी इनका नहीं। आहाहा! समझ में आया?

न मेरे ही ये कुछ हैं। मेरे ही न कुछ हैं। यह शुभ विकल्प उठे, दया, दान, व्रत, आदि काम-क्रोध विकल्प या शरीर-देह, वाणी की होती यह पर्याय / क्रिया आदि वे **न मेरे ही ये कुछ हैं।** मेरा इनमें कुछ नहीं। **न मेरे ही ये कुछ हैं।** मुझमें ये कुछ नहीं। इनमें मैं नहीं और मुझमें ये नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? **न मैं इनका कुछ हूँ,...** मैं इनका कुछ नहीं। जरा भी पुण्य और कर्म का हूँ? नहीं। **न मेरे ही ये कुछ हैं।**

ये मेरे जरा भी कुछ नहीं, ऐसा। मैं इनका कुछ नहीं, ये मेरे कुछ नहीं। समझ में आया? ये स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये उनके घर।

मुमुक्षु : उनके घर अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : उनकी सत्ता में, उनके अस्तित्व में। यह इसके-आत्मा के अस्तित्व के दो प्रकार। एक जरा-सा विकल्प उठता है, वह और एक त्रिकाली निर्विकल्प आनन्दकन्द भगवानस्वरूप। उसमें यहाँ कहते हैं कि मैं विकल्प का जरा भी नहीं और यह विकल्प मुझमें जरा भी नहीं।

मुमुक्षु : (विकल्प) आया तो करते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : आने की कहाँ बात है? है नहीं इसमें। व्यर्थ में खड़ा करता है। समझ में आया? जबरदस्ती खड़े करता है। आया करते हैं, अपने आप आते होंगे? ऐसा हो गया, मुझे ऐसा हो गया, अमुक (हो गया), परन्तु तू कौन कि तुझे हो? तू तो ज्ञानानन्द, सच्चिदानन्द चैतन्य ज्योति अनादि-अनन्त ध्रुव सत् सत्त्व है। अनादि-अनन्त अकृत्रिम, अकृत-अनाश-आदिरहित, नाशरहित ऐसा तत्त्व अनन्त गुण का पिण्ड शान्तरस का कन्द है, उसमें से खड़े करता है कि यह ऐसा हुआ और अमुक हुआ। खड़े करता है स्वयं और आ जाते हैं अपने आप- ऐसा मानता है।

मुमुक्षु : धरती में से भाला खड़ा करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : खड़ा करता है यह। धरती में से भाला क्या, बिच्छु खड़ा करता है अन्दर से। आहाहा! भगवान ज्ञानज्योति चैतन्यमूर्ति है। यह तो चैतन्यसूर्य का सत् है। अनादि-अनन्त भगवान आनन्द-ज्ञान आदि की ज्योति मूर्ति अरूपी है। अरूपी, परन्तु विज्ञानघन का दल है, अरूपी, परन्तु स्वरूप का दल है। स्वरूप है या नहीं? वस्तु है या नहीं? आहाहा! ऐसे स्वरूप अरूपी दल में अनन्त ज्ञान, आनन्द, शान्ति का रस है। उसमें विकल्प का मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? **न मैं इनका कुछ हूँ,..** जरा भी मैं इनका नहीं। **न मेरे ही ये कुछ हैं।** मेरे ये कोई नहीं। आहाहा! बस! यह एक भेदज्ञान ज्योति इसे केवलज्ञान प्राप्त करने का कारण है। समझ में आया?

मुमुक्षु : लाभ की बात होवे तो भिन्न करना आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, लाभ की बात है, परन्तु इसे लाभ दिखता कहाँ है ? कभी अभ्यास नहीं होता, सुनने को नहीं मिलता, क्या है, कैसे हैं और कैसे करना, (इसका पता नहीं होता)। अन्धाधुन्ध दौड़। सेठी ! बात आवे तब तो बराबर कहा जाए न। यह अन्धाधुन्ध दौड़। आँखें मींचकर अन्धा चला ही जाता है 'अन्धो अन्ध पलाय' अन्धा चलनेवाला और अन्धा दिखानेवाला।

मुमुक्षु : खड्डे में जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : खड्डे में जाएगा। खड्डे में ही है, भान कहाँ है ? आहाहा !

भगवान आत्मा सत्चिद्.. सत्चिद्.. सत्चिद्... सत् शाश्वत्, चिद्-ज्ञान और आनन्द का पूरा सत्त्व भण्डार है यह। उसमें धर्मी विचार करता है, अरे ! मैं इस राग के विकल्प का जरा भी नहीं और मुझमें यह जरा भी नहीं। वह मेरा नहीं, मैं उसका नहीं। यह अन्दर भेदज्ञान करना। यही राग और स्वभाव के बीच करवत् रखने की कला है। आहाहा ! कहो रतिभाई ! रतिभाई ! अभी जा नहीं आये ? डेढ़ महीने मुम्बई भटक आये। देखो ! यहाँ कहते हैं कि यह रहने का है। वह तो दूसरी बात है। आहाहा ! लो ! गजब संक्षिप्त में रखी, हों !

इत्यादिक श्रुतज्ञान की भावना से.. देखो समझ में आया ? इत्यादिक श्रुतज्ञान की भावना से। इत्यादिक देखो ! श्रुतज्ञान की भावना शब्द प्रयोग किया है। अन्दर भावश्रुतज्ञान, भावश्रुतज्ञान अर्थात् जो पुण्य-विकल्प को और स्वभाव को भिन्न पाड़ने की शुद्ध ज्ञानदशा, उस भावश्रुतज्ञान द्वारा। शब्द नहीं, शास्त्र नहीं, कुछ नहीं। **श्रुतज्ञान की भावना से..** भगवान आत्मा अपने ज्ञान की, अन्तर एकाग्रतारूपी श्रुतज्ञान की भावना से **मुमुक्षु को..** मुमुक्षु को-मोक्षार्थी को आत्मा की पवित्रता की पूर्णता के प्रार्थी को। **भावना करनी चाहिए।** यह भावना करनी चाहिए। आहाहा ! गजब परन्तु इसमें अता-पता हाथ नहीं आता। इसमें कुछ करना कहे न कि यह करना, यह करना... ऐ.. वजुभाई ! तो सूझ पड़े, लो ! दो-पाँच हजार खर्च करो, दस हजार खर्च करो तो सूझ भी पड़े कि यह दस हजार खर्च किये।

मुमुक्षु : आप इनकार करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : खर्च करे कौन ? धूल। वह तो मिट्टी है, वह तो परपदार्थ है। उसकी अवस्था होनी हो, वह होती है। आत्मा करता है कभी तीन काल में ? आहाहा!

मुमुक्षु : तीन काल में भले न करे परन्तु वर्तमान में तो करे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ले! तीन काल में वर्तमान काल आ जाता होगा या नहीं ? दो काल कहते होंगे ? ऐ.. वकील! यह वकील रहा, एल.एल.बी. पास हुआ है। तीन काल में वर्तमान का एक काल चला जाता होगा ? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! शरीर-फरीर तो कहीं रह गया। वह तो उसकी पर्याय उसके काल में (उसके) कारण से हुआ ही करती है। वह तो सत्त्व जगत के अजीवतत्त्व हैं। अजीव अस्ति है न! दिखता है न! यह अस्ति है या नास्ति खरगोश का सींग है ? अस्ति है। अस्ति तत्त्व है, तो उसके कारण से उसका पलटन होकर टिक रहे हैं। तुझे और उन्हें क्या सम्बन्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु : सम्बन्ध नहीं तो यहाँ चिपटे क्यों हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ चिपटे नहीं हैं। वहाँ आकर बन्धरूप से रहे हैं। उसका अपना उस पर्याय का धर्म अभी है। चिपटे किसके साथ हैं ? रजकणों के स्कन्धरूप से, स्कन्ध अर्थात् पिण्ड, पिण्ड होकर उस प्रकार से अवस्था होने के वर्तमान काल के स्वभाव के कारण रहे हैं। उसके अपने कारण से हैं, आत्मा के कारण से है ही नहीं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें व्यवहार की। कहो, समझ में आया ? आहाहा!

कहते हैं, अरे! आत्मार्थियों को, मुमुक्षुओं को, जिन्हें आनन्द पूर्ण आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्दरूपी प्राप्ति-मुक्ति (करनी हो)... मुक्ति का अर्थ यह है। दुःख की दशा से मुक्त होना और आनन्द की पूर्ण दशा को प्राप्त होना। वह आनन्द की पूर्ण दशा कहाँ से आती है ? कि अन्दर स्वभाव में पड़ी है। वह कहीं बाहर से आवे, ऐसा नहीं है। ऐसा भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है, उसकी पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को यह भावना करना चाहिए। राग और वीतराग दो स्वभाव के बीच विभाग करना। वीतराग अर्थात् आत्मस्वभाव। समझ में आया ?

आत्मानुशासन में गुणभद्रस्वामी ने कहा है। 'निवृत्तिं भावयेत्।' लो! आत्मानुशासन में गुणभद्रस्वामी कहते हैं।

जब तक मुक्ति नहीं हुई, तब तक परद्रव्यों से हटने की भावना करे। देखो! इसका आधार दिया है। अपनी बात की स्पष्टता के लिए दूसरे ग्रन्थ का आधार दिया है। समझ में आया? जहाँ तक आत्मा में पूर्ण आनन्द की वर्तमान दशा में प्राप्ति, अन्तर शक्ति में से व्यक्तता न हो, तब तक परद्रव्य... वह आता है न, भाई!

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥१३०॥

वह यह दूसरे शब्द से बात (की है) समयसार में संवर अधिकार में आता है न? यह दूसरी भाषा से कहा है। समझ में आया?

जब तक मुक्ति नहीं हुई... जब तक भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द की दशा को प्राप्त न हो। समझ में आया? **तब तक...** तब तक **परद्रव्यों से हटने की भावना करे।** व्यवहार से बात की। अर्थात् स्वभाव में एकत्व होने की भावना करे। अर्थात् परद्रव्य से हटने की भावना हो गयी। समझ में आया? अन्तर मोक्षस्वभाव की एकाग्रता की भावना करे अर्थात् पर के रागादि के सम्बन्ध से हटने की भावना करे, ऐसा कहने में आया है। अर्थात् ऐसा करे-वहाँ से हटे इसलिए यहाँ जाए। आहाहा! गजब बात भाई! कहो, रतिभाई! किसलिए कहते हैं इसमें? पढ़ना, पढ़ाना क्या करना इसमें? आहाहा!

एक जवाबदारी कही न? कि जिसे मोक्ष की भावना करना। मुमुक्षुओं को-जिन्हें आत्मा के आनन्द की प्राप्ति की प्रार्थना हो, उसे यह करना। जिसे दूसरी (भावना) होवे, वह तो अनादि से कर रहा है। मोहनभाई! आहाहा!

जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति ही न रहेगी। पश्चात् हटने की प्रवृत्ति नहीं रहेगी, ऐसा कहते हैं। उसमें यह शैली आती है न कि जहाँ पूर्ण हो गया, फिर कहाँ करना रहा? **तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते।** ज्ञान, ज्ञान में पूर्ण स्थिर हो जाए। बस! फिर कुछ करना रहता नहीं। फिर पूर्ण स्थिर हो गया, मुक्त हो गया। आहाहा! समझ में आया? **बस वही अविनाशी पद जानो।** इसका नाम अविनाशी आत्मा की

दशा है। वस्तु आत्मा तो अविनाशी है परन्तु उसे अनादि से राग और पुण्य का सम्बन्ध खड़ा करके उसमें उसकी दृष्टि का स्थापन किया है, इसलिए उसे संग नहीं छूटता और असंग नहीं होता। असंग होने में यह एक ही उपाय है। **वही अविनाशी पद जानो।** मुक्ति की दशा... वस्तु तो वस्तु है परमानन्द, उसमें एकाकार होने पर, पर से छूटने पर जहाँ पूर्ण एकाकार हुआ, पर का हटना सब पूरा हो गया, पूर्ण अविनाशी दशा प्रगट हुई, उसे अविनाशी पद कहो, या मोक्षपद कहने में आता है। समझ में आया?

मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पंथ।
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ॥

(श्रीमद् राजचन्द्र, आत्मसिद्धि)

दोहा – मोही बाँधत कर्म को, निर्मोही छुट जाय।
यातें गाढ़-प्रयत्न से, निर्ममता उपजाय।।२६।।

बहुत संक्षेप एक-एक श्लोक में इतना भर दिया है! बहुत! **मोही बाँधत कर्म को,...** बहुत संक्षिप्त भाषा। भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु शुद्ध आनन्द, वह राग के सम्बन्ध में मोह करे तो कर्म से बँधता है। **मोही बाँधत कर्म को,...** रागादि विकल्प में अभिनिवेश—यह मैं। शुभाशुभराग दया, दान, काम, क्रोध के विकल्प में यह मैं-ऐसा जो मोह / मिथ्यात्वभाव। **मोही बाँधत कर्म को, निर्मोही छुट जाय।** मैं तो एक ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य आनन्द हूँ। यह विकल्प जो उठा, वह भी राग है। मुझे और इसे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! **निर्मोही छुट जाय।** बहुत संक्षिप्त व्याख्या। भगवान अनन्त गुण का स्वामी सहजानन्दस्वरूप अनादि-अनन्त वस्तु है। वह राग के सम्बन्ध में यह मैं—(ऐसा करे, इसलिए) बस, कर्म बाँधता है। समझ में आया? **निर्मोही छुट जाय।** मात्र स्वभाव चैतन्य प्रभु, मैं ज्ञान आनन्द गुण का स्वरूप हूँ। यह भी एक विकल्प उठता है, उसे छोड़कर वस्तु स्वरूप जो निर्मोह है, उसमें एकाग्र होने पर राग का सम्बन्ध छूटने पर वह छूट जाता है। समझ में आया?

यातें गाढ़-प्रयत्न से,... यह वस्तु की स्थिति होने से, इस प्रकार वस्तु की मर्यादा होने के कारण से गाढ़-प्रयत्न से, सख्त प्रयत्न से, पुरुषार्थ से। समझ में आया? **निर्ममता उपजाय।** अपने स्वरूप में शुद्ध आनन्द के धाम में रहने का महा गाढ़ प्रयत्न करना। राग

के सम्बन्ध में रहना छोड़ (देना)। आहाहा! भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने आत्मा कहा, वह आनन्दकन्द ध्रुव स्वरूप शुद्ध चैतन्य असंख्यात प्रदेशी अस्तिवाला धाम है। उसमें स्थिरता करना। दृष्टि हुई, इसलिए स्थिरता करना। वह गाढ़ प्रयत्न कहा है न! सख्त प्रयत्न, सख्त प्रयत्न। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रयत्न में पोल नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पोल नहीं, अपूर्णता नहीं। गाढ़ (प्रयत्न)। अन्तर्मुख चैतन्य भगवान अन्तर्मुख में उग्र प्र—विशेष, यत्न—पुरुषार्थ। अन्दर में प्रयत्न—प्र-विशेष, यत्न-पुरुषार्थ से अन्तर्मुख में प्रयत्न करना।

निर्ममता उपजाय। निर्मम दशा अन्तर्मुख प्रयत्न करने से उत्पन्न होती है। लो! यह मोक्ष का मार्ग है। कहो, हीरालालजी! क्या करना इसमें? दुकान चलाना या यह करना? इसमें दो किस प्रकार चलते होंगे? नहीं चला सकते? दुकान चला नहीं सकता? आहाहा! भगवान! वह तो सबकी दुकान जड़ की जड़ से चल ही रही है। जड़ जो पदार्थ हैं, उनकी दुकान अर्थात् उनका अस्तित्व और अस्तित्व, वह बदलकर उसके कारण से टिक ही रहा है। तेरी आशा के कारण की उसे खबर नहीं। जगत के अजीव अचेतन तत्त्व अपनी अस्ति रखकर उनके पलटने के कार्यरूप से हो ही रहे हैं। उनकी दुकान के लिए तेरी कुछ आवश्यकता नहीं है। बराबर होगा? धीरुभाई! कारखाने की दुकान के लिए कुछ जरूरत नहीं? वहाँ होशियार व्यक्ति बैठा हो ऐसे ठीक से। होशियार होवे तो कदाचित् अधिक अभिमान करे। आहाहा!

यह प्रभु का पन्थ न्यारा है। आहाहा! तू परमेश्वर है न, प्रभु! तेरे परमेश्वर को परम प्रयत्न से तू जगा, जगा। अन्दर स्थिर हो, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? तू स्वयं परमेश्वर ही है। परम ईश्वर की शक्ति का पूर्ण सत्व ही तेरा तत्त्व है। आहाहा! वह पामरता के विकल्पों से सम्बन्ध छोड़ और परमेश्वर के निजपद के साथ सम्बन्ध जोड़। आहाहा! हिम्मतभाई! आहाहा! यह सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव का सन्देश है। लो! और भाई! वह आया। महावीर का सन्देश-जीओ और जीने दो। शोर मचाते हैं न? तुम सब इकट्ठे होकर बोलते होगे तब।

उन भगवान का यह सन्देश है। सर्वज्ञदशा पूर्ण हो गयी, विकल्प समाप्त हो गये। वाणी अपने आप निकली, ओमध्वनि (निकली)। उसमें यह सन्देश आया कि अरे आत्मा! तेरे पूर्ण स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ और राग के साथ सम्बन्ध तोड़। गाढ़ प्रयत्न से कहा। वह ऐसे का ऐसे नहीं होगा, कहते हैं। बहुत जागृति का प्रयत्न चाहिए। समझ में आया? अन्तर में अन्तर्मुख झुकने में बहिर्मुख की दशा से हटने में बहुत ही पुरुषार्थ चाहिए। पोपटभाई! ये पैसा-बैसा तो बिना प्रयत्न के चले आते हैं, बिना प्रयत्न के। वजुभाई! वहाँ क्या पुरुषार्थ काम करता था, धूल।

मुमुक्षु : मुफ्त में।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुफ्त का जाता है वह। यही कहते हैं न! बहुत मेहनत करे, बेचारे को पाँच सौ भी नहीं मिलते और बिना मेहनत के साधारण मनुष्य को करोड़ों रुपये की आमदनी होती है। आमदनी अर्थात् उसके पास दिखायी देते हैं। वहाँ आमदनी कहाँ घुस जाती थी अन्दर? दिखता है कि यह करोड़ हुए, दो करोड़ हुए। देखना है न! इसे कहाँ खाना है, पीना है।

मुमुक्षु : साथ ले जानेवाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : साथ ले जाना, खाने-पीने में कुछ काम आते हैं? ममता करने में काम आते हैं। 'वह मेरे' इतनी ममता में वह तो निमित्त हुआ। दूसरा धूल भी नहीं कुछ। मोहनभाई! आहाहा! भगवान! परन्तु तुझमें कहाँ कमी है कि तुझे पर की आवश्यकता पड़े। तू कहाँ अधूरा है कि तुझे पर की आशा रखनी पड़े! आहाहा!

'आशा औरन की क्या कीजै... आशा' आनन्दघनजी में आता है। **ज्ञानसुधारस पीजै, आशा औरन की क्या कीजै।** ज्ञानसुधारस पीजे—चैतन्यमूर्ति अतीन्द्रिय आनन्द का रस है, उसे अन्तर में प्रयत्न से उसके आनन्द को पी न! धूल में बाहर में कुछ नहीं है। आशा रखकर मर गया अनन्त काल से। **भटकत द्वार द्वारा लोकन के कूकर आशाधारि।** कुत्ते की तरह जहाँ-तहाँ भटका। यह टुकड़ा देगा.. टुकड़ा देगा.. टुकड़ा देगा.. ऐसे जहाँ तहाँ भटकता है। अरे! कोई मुझे बड़ा कहना, वह मुझे जरा पैसेवाला

कहना, कोई मैं ऐसा हूँ ऐसा कहना। तुम गजब व्यक्ति हो! ऐसा कहना। कुत्ते की तरह भिखारी माँगता है। क्या है ?

मुमुक्षु : दृष्टान्त से बराबर समझ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लो! दृष्टान्त से बराबर (समझ में आता है, कहते हैं)। प्रेमचन्दभाई ऐसा कहते हैं, दृष्टान्त होवे तब जरा कठिन पड़ जाता है। स्पष्ट करने का कि यह रजकण ऐसे नहीं होते। जो उनकी पर्याय ऐसी हो, उसकी पर्याय में दूसरा नहीं करता। दृष्टान्त तो यह।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : भिखारी.. भिखारी.. कोई मुझे ठीक कहता है ? क्या है परन्तु तुझे ? ठीक वह तू तुझे मान या दूसरा तुझे ठीक कहे ? और दूसरा कहे तो दूसरी नजर से जरा हीन नजर से देखे, यह मुझे पसन्द नहीं करता। परन्तु मूर्ख है न! तुझे उसका... लेना है वहाँ से ?

भटकत द्वार द्वार लोकन के कुकर आशाधारी,
आतम अनुभवरस के रसिया उतरे न कबहु खुमारी, आशा औरन की क्या कीजै।

यह यहाँ कहते हैं, देखो! ओहो! 'बस वही अविनाशी पद निर्मलता उपजाये' भगवान आत्मा अपने स्वभाव का सागर प्रभु स्वयं है, उसमें अन्तर गाढ़ प्रयत्न से नजर करने पर निर्ममत्व दशा उत्पन्न हो जाती है। फिर ममता-बमता नहीं रहती। अविनाशी पद को प्राप्त होता है। इसका नाम अपनी निर्मलता की पूर्ण प्राप्ति दशा में (हुई), इसका नाम मुक्ति। मुक्ति दूसरी कोई चीज़ नहीं है। अविनाशी आनन्द जो अन्दर में है, उसे वर्तमान दशा में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होना, इसका नाम मुक्ति है। समझ में आया ? यह २६ (गाथा पूरी हुई)।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि इसमें निर्ममता कैसे होवे? इसमें निर्ममता के चिंतवन करने के उपायों का सवाल किया गया है। अब आचार्य उसकी प्रक्रिया को 'एकोऽहं निर्मम:०' से प्रारम्भ कर 'मम विज्ञस्य का स्पृहा०' तक के श्लोकों द्वारा बतलाते हैं।

एकोऽहं निर्मम: शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचर:।
बाह्या: संयोगजा भावा मत्त: सर्वेऽपि सर्वथा।।२७।।

अर्थ – मैं एक, ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रों के द्वारा जानने लायक हूँ। संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं, वे मुझसे सर्वथा बाहिरी–भिन्न हैं।

विशदार्थ – मैं द्रव्यार्थिकनय से एक हूँ, पूर्वापर पर्यायों में अन्वित हूँ। निर्मम हूँ – 'मेरा यह' 'मैं इसका' ऐसे अभिनिवेश से रहित हूँ। शुद्ध हूँ, शुद्धनय की अपेक्षा से, द्रव्यकर्म भावकर्म से रहित हूँ, केवलियों के द्वारा तो अनन्त पर्याय सहित रूप से और श्रुतकेवलियों के द्वारा शुद्धोपयोगमात्ररूप से जानने में आ सकने लायक हूँ, ऐसा मैं आत्मा हूँ, और जो संयोग से–द्रव्यकर्मों के सम्बन्ध से प्राप्त हुए देहादिक पर्याय हैं, वे सभी मुझसे हर तरह से (द्रव्य से, गुण से, पर्याय से) बिल्कुल जुदे हैं।।२७।।

दोहा – मैं इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य।
कर्मोदय से भाव सब, मोतें पूर्ण अगम्य।।२७।।

गाथा - २७ पर प्रवचन

यहाँ पर शिष्य कहता है कि इसमें निर्ममता कैसे होवे? इसमें निर्ममता के चिंतवन करने के उपायों का सवाल किया गया है। शिष्य ने क्या पूछा है – ऐसा कहते हैं। निर्ममता के चिन्तवन करने के उपाय का प्रश्न किया है। आपने जब 'निर्ममता उपजाय' – ऐसा कहा तो वह निर्ममता होने का उपाय क्या है ? समम छोड़ना, निर्मम होना – ऐसा कहा तो निर्मम होने का उपाय क्या ? **अब आचार्य उसकी प्रक्रिया को 'एकोऽहं निर्मम:०' से प्रारम्भ कर 'मम विज्ञस्य का स्पृहा०' तक के श्लोकों द्वारा बतलाते**

हैं। श्लोक २७, २८, २९, ३० तक कहेंगे। ३० वाँ श्लोक है। '**मम विज्ञस्य**' है न? '**मम विज्ञस्य का स्पृहा०**'-३०वें में है। यहाँ से उस ३० तक, २७, २८, २९, (३०) चार श्लोकों में उसके उपाय की बात करेंगे।

अरे! 'भरे बर्तन घर में और चाटने जाए किसी के घर में।' दुनिया भी पागल कहेगी। नहीं कहते? ऐ घर में भरे बर्तन तू कहाँ भटकता है यह? आहाहा! ये लम्पटी होते हैं न कितने ही? विषय के लोलुपी, लम्पटी। घर में पद्मनी जैसी स्त्री हो परन्तु वे वहाँ भटकते हैं। उस पींगला के घर में भर्तृहरि जैसा राजा (होवे)। वृत्ति वह कैसी? बानवें लाख मालवा का अधिपति। मस्तिष्कवाला, मस्तिष्कवाली। तत्त्वदृष्टि अलग बात है, परन्तु मानधाता बड़ा बादशाह! भर्तृहरि की रानी पींगला एक अश्वपाल के साथ (प्रेम में पड़ी)। घोड़ा रखवाला के साथ। यह कोई गजब काल है। संसार तो देखो! फिर भेद खुल गया, फल लाकर दिया तब। नाटक में देखा है, हों! सब नाटक देखा है। यह भर्तृहरि का नाटक देखा है।

अरे! यह फल मेरे पास फिर से कैसे आया? मुझे जिस स्त्री ने दिया था, मैंने पींगला को दिया। यह क्या हुआ? वापस मेरे घर में कैसे आया? विचार में पड़ जाता है। चतुर बुद्धिशाली व्यक्ति राजा। अरे! यह क्या हुआ? जिसने दिया, उससे पूछा, तेरे पास कहाँ से? (वह कहे) एक अश्वपाल है, उसके पास से। अश्वपाल को पूछा - तेरे पास कहाँ से? मार डालेगा यह। हाय.. हाय..! अन्नदाता! प्रभु! त्रास पाता, पुकार करता हुआ (आता है)। अन्नदाता! क्या जवाब दूँ? पींगला के पास से (मिला है)। राजा छक्क हो जाता है। पींगला के पास से! अरे! मैंने पींगला को दिया, उसने यह? वहाँ गायन में आता है, हों! उस दिन सुनी हुई बात है। 'देखा नहीं कुछ सार, जगत में देखा नहीं कुछ सार..' राजा बोलता है।

देखा नहीं कुछ सार जगत में देखा नहीं कुछ सार।
पींगला म्हारी प्यारी स्त्री अश्वपाल की यार॥

यह क्या किया उसने? अरे! गजब संसार!!

इसी प्रकार यह भगवान आत्मा अपने स्वरूप की प्यारी रीति छोड़कर, अरे! इस

विकल्प में प्यार करे, वह व्यभिचार है, कहते हैं। समझ में आया? उस बानवे लाख मालवा के अधिपति की रानी अश्वपाल के साथ चले। क्या घोड़ा हार का सेवक। क्या कहलाता है वह? घोड़ा का पालक, रक्षक, उसके साथ चले। अरे! नाथ! चैतन्यप्रभु! तू तीन लोक का नाथ, तीन काल-तीन लोक को जानने के ज्ञान का धनी तू है। आहाहा! एक विकल्प साधारण, धूल जैसा विकल्प शुभ-अशुभ आदि के साथ तू सम्बन्ध करे, महाव्यभिचार है। हिम्मतभाई! आहाहा! यह उसका (तो) लगता है, परन्तु यह तू क्या करता है, वह देखा तूने? रानी ऐसा करती होगी? परन्तु किया, वह बाहर आया है दो हजार वर्ष से, खबर नहीं? जिसके नाटक मंचित होते हैं, खुल्लमखुल्ली बात है। आता है या नहीं? आहाहा!

(भर्तृहरि) बाबा होता है। गुरु हुकम करते हैं, जाओ! पींगला के घर आहार लेकर आओ। अन्नदाता राजा है, परन्तु फिर तो शिष्य हो गया न? गुरु कहते हैं - जाओ! रानी के पास बँगले पर, आहार लेकर आओ। बाबा जाकर (कहता है) माता! आहार (दे), गुरु ने आज्ञा की है। माता! अरे! मुझे माता मत कहो, रानी कहती है। पींगला कहती है— राजा! मुझे माँ मत कहो। माता! आहार लेने की आज्ञा दी है, नहीं तो मेरी जमात चली जाती है। रानी कहती है - नाथ! थोड़ी दूर खड़े रहो, थोड़ी देर। मैं थोड़ी खीर बनाऊँ। रसोई में तैयार हो, वह दे; नहीं तो मैं चला जाता हूँ। आहाहा! यह देखा है, भाई! नाटक में देखना होवे तो.. ओहो! तब तो हमको वापस वैराग्य भी बहुत था न अन्दर! वहाँ देखते-देखते हमारे रोम खड़े होते थे अन्दर से! समझ में आया? मानों हम ही इस दशा में आ जाएँ, ऐसा हो जाए अन्दर। उस समय, हों! आहाहा!

बात तो देखो! आता है न! 'रुको राजाजी रसोई करूँ जमता जाओ योगीराजजी।' माता! गुरु की आज्ञा है। जो तैयार हो, वह दे, मैं चला जाता हूँ। आहाहा! रोता है। यह देखने पर उस समय हमें अन्दर कुछ होता था। उस समय, हों! यह तो बहुत पुरानी बात है। कहा, वाह रे वाह! वैराग्य और त्याग। बानवें लाख का मालवा, जिसे रानी के साथ में पोढा हुआ वह कहता है कि माता! आहार दे तैयार होवे तो, नहीं तो मैं जाता हूँ। मैं चला जाता हूँ। अरे! राजन! थोड़ी दूर विलम्ब करो, खीर बनाती हूँ, खीर तुरन्त बनेगी। क्योंकि दूसरी चीज़ों में

तो देरी लगे न! दूध को गर्म करके चावल बनेंगे। नहीं; होवे वह ला; नहीं तो चला जाता हूँ। आहाहा!

यहाँ भगवान आत्मा अन्दर माँगता है, लाओ आनन्द। समझ में आया? विकल्प के साथ व्यभिचार मुझे नहीं चाहिए। हिम्मतभाई! यह हिम्मत / पुरुषार्थ का कार्य है। देखो! यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब समझने जैसा बाहर में धूल-धाणी है। सब देखा गया है या नहीं? आहाहा! कहते हैं, महाराज! प्रभु! आपने निर्मम होने की बात की, नाथ! परन्तु उसका उपाय क्या है? **एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।** यह उपाय।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।।२७।।

यह श्लोक वहाँ आता है न? भाई! नियमसार में। दूसरा शब्द है, थोड़ा फेरफार आता है।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।१०२।।

यह तो अपना श्लोक है न! **एकोऽहं निर्ममः** आहाहा! लो!

अर्थ – मैं एक,... मैं। यह ममता को मिटाने का उपाय अथवा निर्ममत्व होने का मार्ग। उपाय कहो, या मार्ग कहो। मैं एक हूँ। आत्मा मैं एक हूँ। सब होकर एक नहीं। मैं एक हूँ, मेरा स्वरूप एकरूप है। मैं एक हूँ। मेरे साथ राग और किसी का कुछ सम्बन्ध है ही नहीं।

ममता रहित,... पर मेरे, ऐसे विकल्प की जिसमें गन्ध नहीं। मेरे स्वभाव में राग का शुभभाव भी मेरा, ऐसा मेरे स्वभाव में ही नहीं, ऐसा कहते हैं। मैं तो ममतारहित ही हूँ। स्वरूप से ही मैं ऐसा हूँ। मैं एक हूँ। वस्तु अनन्त आनन्द ज्ञायकस्वरूप से एक हूँ और **ममता रहित हूँ।** यह एक हूँ। पर की ममतारहित मेरा स्वभाव है। क्या कहा? अस्ति-

नास्ति की है। मैं एक शुद्धज्ञानघन एक पर के सम्बन्धरहित हूँ। पर के ममत्वरहित हूँ। समझ में आया?

दो बातें, **शुद्ध,...** हूँ। अत्यन्त शुद्ध चैतन्यपिण्ड हूँ। **ज्ञानी,..** हूँ। मैं तो अकेला चैतन्यस्वभाव का भण्डार ज्ञान हूँ। **योगीन्द्रों के द्वारा जानने लायक हूँ।** केवलज्ञानी, केवलज्ञान द्वारा उसके द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननेयोग्य मैं हूँ अथवा **योगीन्द्रों के द्वारा जानने लायक हूँ।** मैं शुद्ध-उपयोग अकेला हूँ। योगी ही उसे जान सकते हैं। योगी अर्थात् स्वरूप में जुड़ान करनेवाला। योगी अर्थात् बाबा होकर बाहर त्यागी हो, वह कोई वस्तु नहीं। अन्तर भगवान आत्मा में योग—युज धातु है। स्वरूप में जुड़ान करे और राग से जुड़ान तोड़े, उसे योगी कहते हैं। आहाहा! योगीन्द्र-योग के जोड़नेवाले इन्द्र ऐसे केवली आदि और साधारण योगी मुझे शुद्ध उपयोगस्वरूप जानते हैं। मैं शुद्ध उपयोगस्वरूप हूँ, मुझसे ज्ञात हो, ऐसा मैं हूँ। आहाहा!

संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं,... संयोगजन्य—शरीर, वाणी, कर्म, पुण्य-पाप, विकल्प, दया, दान, व्रत, भक्ति की वृत्ति उठे, वे संयोगजन्य पदार्थ हैं। स्वभाव में चैतन्य के मूल पिण्ड में वे नहीं हैं। समझ में आया? आहाहा! मनुष्य देह पाकर करनेयोग्य तो यह है। इसके बदले कहाँ का कहाँ उलझ कर बैठ गया है। बाहर के त्याग के नाम से बेचारे फँस गये।

सब साधन बंधन हुए रहा न कोई उपाय
सत् साधन समझा नहीं वहाँ बन्धन क्या जाय॥

आहाहा! यह सत् साधन, भाई! यह उपाय कहा न, इसलिए आ गया। यह सत् साधन है। सत् साधन समझे नहीं और बाबा होकर यह हुए, स्त्री छोड़ी, क्या छोड़ा है? आत्मा का धर्म छोड़ा है। समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द का नाथ.. कहते हैं कि मैं शुद्ध उपयोगमयी, ऐसा योगी उसे जानते हैं, धर्मी उसे ऐसा जानते हैं। आहाहा! संयोग के जितने पदार्थ **वे मुझसे सर्वथा...** भाषा है न? **'सर्वेऽपी सर्वथा' 'सर्वेऽपी और सर्वथा।'** भगवान ज्ञानानन्द प्रभु शुद्ध-बुद्ध घन, ज्ञानघन, एक ममत्वरहित शुद्ध और ज्ञान हूँ। (इससे) भिन्न जितने

विकल्प आदि हैं, **वे मुझसे सर्वथा बाहिरी-भिन्न हैं।** सर्वथा मुझसे भिन्न हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कथंचित् नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें कथंचित् नहीं। कथंचित् क्या कहलाये? सर्वथा मुझसे भिन्न और मुझमें है नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। मैं एक चैतन्यमूर्ति वस्तु हूँ। एक शुद्ध ममतारहित ज्ञानमूर्ति हूँ और मुझसे जितने (पृथक्) विकल्प हैं, वे सब सर्वथा भिन्न हैं, बिल्कुल भिन्न हैं। जैसे परमाणु भिन्न हैं, वैसे उस विकल्प की गन्ध-पंच महाव्रत के विकल्प, पंच महाव्रत के, हों! अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, का विकल्प वृत्ति उठे, वह सर्वथा मेरे स्वरूप से बाहर है। समझ में आया? ऐसे निर्ममत्व होने का यह एक उपाय है, यह उसका साधन है। सत् को प्राप्त करने का यह साधन है, दूसरा कोई साधन नहीं है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३१ गाथा-२७-२८ सोमवार, दिनाङ्क १८-०४-१९६६
चैत्र कृष्ण १३, वीर संवत् २४९२

पूज्यपादस्वामी कृत (इष्टोपदेश की) गाथा २७ वीं चलती है। यह प्रश्न पूछा गया है कि आत्मा को पर से भिन्न करने अर्थात् निर्ममत्व होने में उसका उपाय क्या है? आत्मा पर से निर्ममत्व-ममतारहित - (होवे), उसका उपाय क्या है? किस उपाय से निर्ममत्वपना प्रगट होता है? - ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उसका उत्तर है।

विशदार्थ - अन्तिम शब्द था। **मैं द्रव्यार्थिकनय से एक हूँ,...** द्रव्यस्वरूप से शाश्वत् रहनेवाला-ऐसा मेरा तत्त्व है। उस द्रव्यस्वरूप से-सामान्य द्रव्यस्वरूप से एक हूँ। इसमें क्या समझ में आया? सेठी! इस वस्तुरूप से सामान्य चैतन्यमूर्ति ध्रुव है, उस प्रकार से मैं एक हूँ। एक समय में सामान्यरूप। जिसकी पर्याय नहीं, अवस्था नहीं। द्रव्य, द्रव्य अर्थात् यह प्रमाण का विषय द्रव्य - ऐसा नहीं; द्रव्यार्थिकनय का द्रव्य।

द्रव्य दो प्रकार का है। एक, कारण सामान्य द्रव्य और उसकी पर्याय दो मिलकर

भी द्रव्य कहा जाता है। वह प्रमाण का विषय द्रव्य। और द्रव्यार्थिकनय का द्रव्य जो सामान्य ध्रुव, उसे यहाँ द्रव्य कहा जाता है। समझ में आया? पूरा आत्मा पर से भिन्न है। ऐसा ध्रुवस्वरूप सामान्य द्रव्य और एक समय की अवस्था - ऐसा करके पूरा, यह प्रमाण का विषय, वह द्रव्य है। यह परद्रव्य से पृथक् पाड़ने की अपेक्षा से उसे सामान्य और विशेषरूप को द्रव्य प्रमाण का विषय कहा गया है। समझ में आया?

यह द्रव्यार्थिकनय अर्थात् सामान्य-विशेष जो दो भाग उसमें (होते हैं), (उनमें) सामान्य ध्रुव त्रिकाल ऐसा जो द्रव्यार्थिकनय से मैं एक हूँ। कहो, समझ में आया? कितने वर्ष से चलता है? इसमें धीरे-धीरे... समझ में आये या नहीं फिर? वजुभाई! बहुत वर्षों से सब आनेवाले हैं। एक सेकेण्ड के असंख्यातवें भाग में ध्रुवपना जो सामान्य अर्थात् एकरूप रहनेवाला वह। पर्याय में परिवर्तन / परिणमन होता है, वह नहीं। द्रव्यार्थिकनय से मैं एक हूँ। वस्तुदृष्टि से सामान्यदृष्टि से, ध्रुव के लक्ष्यवाली दृष्टि से मैं एक हूँ। कहो, बराबर है? शशीभाई!

पूर्वापर पर्यायों में अन्वित हूँ। यह तो इसका स्पष्टीकरण किया है। **एकोऽहं** की व्याख्या की है। पूर्वापर-पहले और बाद की पर्यायों में सदृशरूप से अन्वित सम्बन्धवाला हूँ। गयी अवस्थायें और होगी अवस्थायें, उनमें कायम सामान्यरूप से मैं सदृशरूप से पूर्व की पर्याय में सम्बन्धवाला हूँ। कहो, सेठी! समझ में आया? वस्तु ध्रुव और तब अब पर्याय के साथ मेल किया कि पूर्व की गयी अनन्त पर्यायें और वर्तमान पर्याय तथा भविष्य (की पर्याय), उन पर्यायों में मैं सामान्यरूप से त्रिकाल एकरूप रहनेवाला अन्वेक अनुस्युत हूँ। प्रत्येक पर्याय में धारावाही रहनेवाला मैं आत्मा हूँ। भाई! कितनाक तो अभ्यास होवे न (तो समझ में आये, ऐसा है)। यह तो मूल तत्त्व की बात है। सेठ! थोड़ा अभ्यास हुए बिना किस प्रकार समझ में आये? देखो!

मैं पर से निर्ममत्व होने की चिन्तवना का उपाय क्या? उसका उत्तर ऊपर में कहा कि मैं एक-द्रव्यस्वरूप से ध्रुव हूँ। दूसरे की बात तो कहाँ रहीं, परन्तु पर्याय की यहाँ बात नहीं है। ध्रुवस्वरूप से मैं और वह वस्तु, गयी (भूत) और भविष्य की पर्याय में सम्बन्धवाला मैं; उसे अनुस्युतसम्बन्ध करनेवाला मैं (हूँ)। कहो, समझ में आया इसमें? पहला

व्याख्यान पूरा करने के बाद बात, आगे-पीछे नहीं। बाद में होवे वह दूसरी बात।

मुमुक्षु : व्याख्यान के बाद करने की छूट है।

पूज्य गुरुदेवश्री : छूट की बात नहीं, परन्तु पहले यह चाहिए, ऐसा। क्यों, मलूकचन्दभाई! क्या कहा?

यह आत्मा, पर से भिन्न करने का उपाय क्या? और भिन्न करे, उसे अन्तर शान्ति और समाधान होवे, इसके बिना शान्ति और समाधान नहीं होता। नहीं, हीरालालजी, पुस्तक नहीं? दो पुस्तक। है या नहीं दूसरे का? एक है वहाँ? दूसरी नहीं? हो रहा? आहाहा! एक-**एकोऽहं** की इतनी व्याख्या की है। एक हूँ, मैं एक हूँ अर्थात मेरा स्वरूप ध्रुवस्वरूप से, सामान्य स्वरूप से, एकरूप रहनेवाले सदृश स्वभाव की अपेक्षा से मैं एक हूँ और वह एक मैं गत काल की पर्यायें-अवस्थायें बीती, और है तथा बीतेंगी (होंगी), उन सब पर्यायों में मेरा धारावाहीपना है। जैसे मोती में डोरा पिया हुआ धारावाही है, प्रत्येक मोती में डोरा पिरोया हुआ धारावाही है; उसी प्रकार प्रत्येक अवस्था में मैं सामान्यरूप से धारावाही हूँ। आहाहा! मैं उसमें-पर में हूँ और पर से हूँ - यह कुछ है नहीं। समझ में आया?

इतनी बात करके अब निर्मम हूँ- यह शब्द रखते हैं। **निर्मम हूँ-...** मेरा स्वभाव ध्रुव एकरूप रहनेवाला, प्रत्येक अवस्था में सदृशरूप धारावाही टिकनेवाला, वह मैं निर्मम हूँ। अर्थात् **'मेरा यह'..** यह राग, शरीर, कर्म - ये मेरे और **'मैं इसका'..** और मैं इनका। **ऐसे अभिनिवेश से रहित हूँ।** समझ में आया? यह मेरे पुण्य-पाप का विकल्प, राग, शरीर, कर्म - ये मेरे और मैं इनका - मैं ध्रुवस्वरूप इस राग का, शरीर का (हूँ)—ऐसे मिथ्या अभिप्राय से रहित हूँ। समझ में आया? कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? लो! हमारे फावाभाई को पूछते हैं, इसलिए फिर ठीक न? आहाहा! पर से पृथक् है, उसे पर से पृथक् यथार्थरूप से (करने का) उपाय चिन्तवन में क्या (है)? वह यह बात चलती है।

मैं वस्तुरूप से ध्रुव हूँ। प्रत्येक पर्याय में धारावाही रहनेवाला वह का वही मैं हूँ; तथा ये मेरे और मैं इनका - ऐसे मिथ्या-अभिप्राय से रहित हूँ। अब कर्म हैं या नहीं आत्मा के? यहाँ तो कहते हैं कि भाई! पुण्य और पाप का विकल्प जो राग उठता है, वह मेरा और मैं उसका, यह मिथ्यादर्शन / मिथ्या अभिप्राय है। समझ में आया? अर्थात् यह मेरी देह, वाणी

की क्रिया इसमें आ गयी। देह की अवस्था, वह मैं और वह मेरी - ऐसे अभिनिवेश से रहित हूँ। इसमें नहीं आया इसमें ? यह जड़ की अवस्था नहीं करता, इसमें आया या नहीं ? आया इसमें ? कर्ता नहीं, ऐसा कहाँ आया ? कहो, परन्तु इसका अर्थ हुआ या नहीं ? - कि मैं उसरूप नहीं, वे मुझ स्वरूप नहीं। इसलिए उनके कार्य मुझ स्वरूप नहीं और मेरा स्वरूप उनके कार्यों में जाता नहीं। आहाहा ! ऐसा है न ? भाई ! मलूकचन्दभाई ! यह सब काम कौन करता होगा ? पूछो वहाँ तुम्हारे लड़के को। आहाहा !

भाई ! जैसी चीज़ स्व से एकत्व है और पर से भिन्न है, उस प्रकार से पर से भिन्न और स्व से एकत्व को अन्तर में एकाग्र होने में उपाय कि मेरा यह नहीं, मैं इसका नहीं। मेरा यह नहीं, मैं इसका नहीं। ऐसा जो मेरा वह मैं और मैं वह यह—ऐसा अभिप्राय मिथ्यादर्शन, मिथ्या शल्य है। अभिनिवेश कहा है न ? मिथ्या अभिप्राय झूठा है, भाई ! तेरा हो, वह तुझसे पृथक् नहीं पड़ता और तुझसे पृथक् पड़े, वह प्रभु ! तेरा नहीं होता। आहाहा ! समझ में आया ? इसका अर्थ यह कि मेरे अतिरिक्त जितनी ये दूसरी चीज़ें हैं, उनमें मुझे मजा पड़ता है, ठीक पड़ता है—ऐसा मुझमें है नहीं। आहाहा ! अनन्त परपदार्थों में मुझे कहीं मजा पड़ता है, (ऐसा है नहीं) क्योंकि वह मैं नहीं, इसलिए मुझे मजा पड़े, ऐसी कोई चीज़ मेरे अतिरिक्त पर में है ही नहीं। मनसुखभाई ! समझ में आया ? आहाहा !

निर्मम **'मेरा यह'**.. यह शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, राग, कर्म, यह होवे तो मुझे ठीक पड़ता है। इसका अर्थ यह कि ये मेरे हैं। इसका अर्थ यह कि मैं इनका हूँ। यह मिथ्यादर्शन शल्य-अभिप्राय मिथ्या है। समझ में आया ? **'मेरा यह' 'मैं इसका'**.. इसका अर्थ (यह कि) ये सब चीज़ें ऐसे देखने से मुझे मजा आता है, उल्लास होता है, आनन्द होता है। हर्ष होकर मुझे ठीक पड़ता है।

मुमुक्षु : मुझे उत्साह आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्साह आता है, लो ! हूंफ लो न। ये तो ऐसे देखकर ऐसा प्रमोद (होता है) कोई रूपवान शरीर, कोई पैसा, धूल ऐसा देखकर वहाँ अटकता है, इसका अर्थ कि वे मेरे हैं, वे मुझे मजा देते हैं, इसका नाम मिथ्यादर्शन शल्य है। आहाहा ! समझ में आया ? और मैं उनका, इसका अर्थ कि उसे अनुकूलता में मैं मदद करनेवाला हूँ। दूसरे

पदार्थ को अनुकूलता में, उसके मजा में, उसकी सुविधा में मेरा अधिकार है, ऐसा माननेवाला मैं वहाँ हूँ—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि मूढ़ता के अभिप्राय का सेवन करता है। आहाहा! समझ में आया?

दो अर्थ हो गये। दो बोल, देखो! निर्मम में से दो निकाले, **'मेरा यह'**.. यह मेरा इसका अर्थ कि इसके कार्य मेरे अथवा इसके कार्यों में मुझे मजा (आता है), देहादि की अवस्था, दाल, भात, लड्डू की, स्त्री के शरीर की, उसकी अवस्था से मुझे ठीक है, इसका अर्थ यह कि ये मेरे हैं। वे मेरे नहीं हैं, उन्हें यह मेरे मानता है, यही मिथ्या अभिप्राय इसका आग्रह-विपरीत आग्रह है। वह वस्तु ही मुझमें नहीं है। वे मेरे और मैं उनका, यह मेरी चीज़ में ही नहीं है। समझ में आया? आहाहा! पच्चीस वर्ष का लड़का पाँच लाख-दस लाख, पच्चीस लाख हों, उसे पचास लाख कमाकर लाया हो। बापूजी! वहाँ तो ऐसे हृदय फटता है! भगवान! तू कहाँ है, यह तुझे ऐसा होता है? भाई! तू कहाँ है, यह तुझे ऐसा होता है? वहाँ तू है? उसमें कोई तेरा अंश है कि उससे तुझे उत्साह और मजा का अभिप्राय की वृत्ति कहाँ से आयी तुझे? शशीभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : कहाँ से आयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टे भाव में से। कहाँ से क्या आवे? उठाईगीर विपरीत अभिप्राय उठाता है। आहाहा!

मैं इसका हूँ। इसकी सभी क्रियाएँ, इसे सुख चाहिए हो, उसमें मैं पूरा करूँ, ऐसा हूँ। दूसरे पदार्थ को मेरी सुविधा देकर मैं उसकी सुविधा पूरी करूँ, ऐसा हूँ। मूढ़ है कहते हैं, भाई! ऐई! आहाहा! मोहनभाई! आहाहा! **'मैं इसका'**.. मैं इसका। अर्थात् कि इसे सुख-दुःख का देनेवाला हूँ। ऐसा मूढ़ अभिप्राय, धर्मी को विचार में है कि इस अभिप्राय से रहित मैं हूँ। मुझमें यह अभिप्राय नहीं है। समझ में आया? वजुभाई! फिर यह पिता और माँ और सब मकान को कहाँ डालना?

मुमुक्षु : कोई सेवा नहीं करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेवा नहीं करे, लो, भाई! ऐई! सेवा तो सब नहीं करते? रामजीभाई का लड़का वहाँ घूमता है। वहाँ कितना पढ़ाया है? दस हजार का वेतन। यहाँ

पैर टूटे तो यहाँ अकेले को रहना पड़ता है। वहाँ वह सामने नहीं आता। ऐई.. मोहनभाई! नहीं तो लिखे, बापूजी! तुम्हें कैसा है? हमें चिन्ता होती है। इतना न! परन्तु हम यहाँ क्या कैसे मरते हैं और क्या होता है (उसकी कहाँ खबर है) क्यों, मलूकचन्दभाई! ये लड़के तुम्हारे कहाँ पड़े हैं, देखो! है कोई यहाँ? सबको पैसा खर्च करके पढ़ाया-गुनाया - ऐसा मानते हो। आहाहा! परन्तु गजब यह भ्रमणा कहाँ से खड़ी की?

भाई! तेरे सत्त्व में परतत्त्व का लेश लेप नहीं है और परतत्त्व में तेरा लेश लेप-सम्बन्ध नहीं है, तथापि यह अभिप्राय खड़ा किया है। (कहते हैं कि) धर्मी इस अभिप्राय से रहित है। अरे! मुझमें मेरा वह तेरा नहीं और जो पर का वह मुझमें नहीं। आहाहा! मेरा आनन्द मेरे पास है, मेरा आनन्द मेरे पास है। मेरा आनन्द किसी चीज़ को देखने से, आह्लाद उपजाने से, सम्बन्ध से वह आनन्द मेरा नहीं है। समझ में आया? मेरा आनन्द मेरे पास है और परपदार्थ में उसकी स्वतन्त्र दशायें (होती हैं वे) उसके पास है। ऐसा धर्मी अन्तर में अपने विपरीत अभिनिवेश रहित हूँ, ऐसा मानता है, देखो! यह धर्मी के लक्षण! धर्मी अर्थात् यह किया और वह किया, ऐसा नहीं। आहाहा!

शुद्ध हूँ,.. अब तीसरा शब्द आया। **एकोऽहं निर्ममः** दो हो गये। **शुद्ध हूँ, शुद्धनय की अपेक्षा से, द्रव्यकर्म-भावकर्म से रहित हूँ,..** लो! रहित हूँ—ऐसी इसकी व्याख्या, शुद्ध की व्याख्या है। शुद्धनय की अपेक्षा से मेरा भगवान स्वभाव, भगवान अर्थात् महिमावन्त त्रिकाली आनन्दस्वभाव को देखनेवाले नय से, उसे देखनेवाले ज्ञान की आँख से मैं जड़कर्म, भाव अर्थात् पुण्य-पाप के रागभाव से मैं रहित हूँ। समझ में आया? यह व्यवहार के रत्नत्रय के विकल्प से रहित हूँ—ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा! मैं तो ज्ञानस्वरूपी भगवान, अनाकुल आनन्द का धाम, यह शुद्धनय से मैं अत्यन्त राग, निमित्त कर्म से रहित हूँ। समझ में आया? गजब संक्षिप्त शब्द रचे हैं!

केवलियों के द्वारा.. अब **ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः** इसकी व्याख्या है। **ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः** समझ में आया? **केवलियों के द्वारा तो अनन्त पर्यायसहितरूप से और श्रुतकेवलियों के द्वारा शुद्धोपयोगमात्ररूप से जानने में आ सकने लायक हूँ,..** मैं कैसा हूँ? कि केवलियों द्वारा, सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा तो **अनन्त पर्यायसहितरूप से...**

मेरी अनन्त पर्यायोंसहित रूप से **जानने में आ सकने लायक हूँ,..** आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर के ज्ञान द्वारा मैं अनन्त पर्यायसहित **जानने में आ सकने लायक हूँ,..** वाह! केवलज्ञानी को रखा, देखो न! आहाहा! गजब काम किया है! गजब बात है। मैं जो यह आत्मा, वह सर्वज्ञ परमेश्वर मेरी पर्यायसहित, सब पर्यायसहित को उन्हें **जानने में आ सकने लायक हूँ,..** आहाहा! समझ में आया? बहुत बात, गजब बात। केवली मुझे इस प्रकार जान सकें, ऐसा मैं हूँ - ऐसा वापस। ऐसा मैं हूँ। सेठ!

मुमुक्षु : बराबर।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बात करते हैं कि जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसे ऐसा समझना और मानना चाहिए। बाकी तो संसार चलता ही है। तुम्हारे कहाँ पड़ी है किसी की? तुम्हें कौन पूछे ऐसा है वहाँ। वे कहते हैं कि तारणस्वामीवाले हैं, जाओ निकाल दो। यह सोनगढ़वाले करो अब। ऐसी दरकार रखी हो तो आवे कैसे यहाँ। कहते हैं यह बात सत्य है। ये सोनगढ़वाले हैं या आत्मावाले हैं? भाई! सुन न अब। आहाहा! कहो, हीरालालजी! वाह! टीका भी डाली है न!

ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः यह मैं मुझे गम्य और केवली को गम्य, दोनों डालना है। आहा! मैं ध्रुव, पूर्व पर्याय, पूर्व-अपर पर्याय के सम्बन्धवाला हूँ। यह मेरा, मैं उससे रहित शुद्धनय की अपेक्षा से राग और कर्मरहित शुद्ध हूँ। ऐसा मैं, ऐसा मैं अनन्त पर्यायसहित रूप हूँ, वापस ऐसा। मेरा तत्त्व केवलज्ञानी के ज्ञान में **अनन्त पर्यायसहितरूप से जानने में आ सकने लायक हूँ,...** भाई! ऐसा है न उसके साथ सम्बन्ध? वह शब्द है, उसके साथ सम्बन्ध है न? **जानने में आ सकने लायक हूँ,... केवलियों के द्वारा तो अनन्त पर्याय रूप से जानने में आ सकने लायक हूँ,..** मेरी, **श्रुतकेवलियों के द्वारा शुद्धोपयोगमात्ररूप से जानने में आ सकने लायक हूँ,..** मेरा स्वरूप ही श्रुतकेवलियों द्वारा (ज्ञात हो), ऐसा मैं शुद्धोपयोगमात्ररूप, शुद्ध उपयोगमात्ररूप मैं। ऐसा ज्ञात होने के योग्य हूँ। **ऐसा मैं आत्मा हूँ,..** पश्चात् कहते हैं ऐसा मैं आत्मा हूँ। समझ में आया? मैं ऐसा हूँ, ऐसा कहा न?

ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः.. ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः.. कौन? मैं। मैं **ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः..** योगीन्द्र गोचर के दो अर्थ किये। मैं केवलज्ञानी को अनन्त पर्यायसहित

जानने के योग्य हूँ, वे मुझे ऐसा जानें—ऐसा मैं हूँ और श्रुतकेवलियों द्वारा शुद्धोपयोगमात्ररूप से। भले उसका भेद विशेष नहीं जाने। मैं भी श्रुतकेवली द्वारा अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा शुद्धोपयोगमात्र हूँ, ऐसा मैं जानता हूँ, ऐसा कहते हैं। शुद्धोपयोगमात्र हूँ, शुद्धोपयोगमात्र हूँ, ऐसा मैं हूँ। समझ में आया?

शुद्धोपयोगमात्ररूप से जानने में आ सकने लायक हूँ,.. मुझे भी मैं मेरे शुद्धोपयोग द्वारा, वह शुद्धोपयोग यहाँ नहीं, यहाँ शुद्ध उपयोगमात्र मैं मुझे जानने के योग्य हूँ। समझ में आया? मेरा अस्तित्व इतना है, ऐसा मैं जानता हूँ। मैं तो शुद्ध उपयोगमात्र हूँ, ऐसा मैं जानता हूँ। ऐसा मैं आत्मा हूँ। समझ में आया?

मुमुक्षु : अशुद्ध उपयोग नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुद्ध-बशुद्ध है नहीं। वह तो यहाँ शुद्ध में निकाल डाला न! आहाहा! समझ में आया?

'**स्वपरप्रकाशकस्वभावो योगीन्द्रगोचरोऽनन्तपर्यायविशिष्टतया केवलिनां शुद्धोपयोगमात्रममत्वेन श्रुतकेवलिनां**' ऐसा मैं हूँ। मैं इस प्रकार मुझे जानूँ, ऐसा मैं हूँ, इस प्रकार मैं जानूँ-ऐसा मैं हूँ। लो! समझ में आया? जानने का क्या कहा है? जानने का क्या कहा इसमें? '**अनन्तपर्यायविशिष्टतया**' ऐसा कहा न? क्या? '**अनन्तपर्याय-विशिष्टतया**' कौन? केवली। बस! अपना आत्मा हुआ न? केवली ऐसा जाने, कहा न? केवली ऐसा जानते हैं। अनन्त पर्यायसहित केवली जानते हैं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु केवली हैं, वे ऐसा जानते हैं और मैं केवली होऊँ तो मैं ऐसा जानूँ। वह तो यह का यह हुआ न? केवली हैं, वे ऐसा जानते हैं और मैं केवली होऊँगा तो भी ऐसा जानूँगा, वह तो एक की एक बात हुई। भाई! समझ में आया न? केवलज्ञान हो, तो केवलज्ञान तो अभी है नहीं। केवलज्ञानी भी आत्मा को ऐसा जानते हैं। और मैं भी केवलज्ञानी होऊँगा तो आत्मा को ऐसा जानूँगा। पर्यायसहित जानूँगा। अभी श्रुतकेवली में नहीं। अभी तो श्रुतकेवल द्वारा शुद्धोपयोगमात्ररूप से जाननेयोग्य हूँ। मुझे वर्तमान में भी शुद्धोपयोगमात्र हूँ, ऐसा जानने के योग्य हूँ। दूसरा मुझमें कुछ है ही नहीं। कहो, समझ में आया?

ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः.. केवलियों के द्वारा तो अनन्त पर्यायसहितरूप से और श्रुतकेवलियों के द्वारा शुद्धोपयोगमात्ररूप से जानने में आ सकने लायक हूँ,... परन्तु मैं हूँ न। स्वयं जाननेवाला हूँ और ऐसा मैं हूँ। केवली जाने ऐसा और श्रुतकेवली जाने ऐसा, मैं जाननेवाला हूँ। मेरा स्वरूप ही ऐसा है। **ऐसा मैं आत्मा हूँ,..** ऐसा केवलज्ञानी द्वारा ज्ञात हो या केवलज्ञान मेरे केवलज्ञान द्वारा जाने। केवलज्ञान अभी तो कहाँ है। समझ में आया? केवलज्ञान में तो अनन्त पर्यायसहित मेरा आत्मा ज्ञात होता है और श्रुतकेवली में, श्रुतकेवली अर्थात् नीचे शुद्धोपयोगमात्र हूँ, ऐसा जाने। शुद्धोपयोगमात्र अर्थात् पर्यायरूप तो न जाने। शुद्धोपयोगमात्र आत्मा हूँ।

मुमुक्षु : निर्ममत्व का उपाय कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्ममत्व अर्थात् पर से भेद पाड़ने का और स्व से एकत्व होने का यह उपाय, दूसरी भाषा में कहें तो (ऐसा है)। पर से निर्ममत्व अर्थात् विभक्त, स्व से एकत्व (होने का) यह उपाय है। समझ में आया? मम, वह एकत्व है, निर्मम वह पृथक् है -विभक्त है। एकत्व-विभक्तं। समझ में आया? मैं ऐसा हूँ, पर से विभक्त हूँ, निर्ममत्व हूँ, पर से निर्ममत्व हूँ। तब अब मैं कैसा हूँ? तो पहले कहा, ध्रुव हूँ-ऐसा हूँ। मैं मुझे भी जनवाने के योग्य केवलज्ञान की पर्याय में ऐसा हूँ। अभी कहाँ केवलज्ञान पर्याय है। केवलज्ञानी भी जाने तो ऐसा मैं अभी हूँ। केवलज्ञानी मेरी अनन्त पर्यायों को जाने, ऐसा मैं हूँ—ऐसा मैं मुझे जानता हूँ, ऐसा मैं मुझे जानता हूँ और श्रुतकेवली मुझे ऐसा जाने, ऐसा मैं संवेद्य हूँ। संवेद्य डाला है न वापस इसके अन्दर? '**संवेद्योहम**' ऐसा लिखा है न? है न? '**संवेद्योहमात्मास्मि**' ऐसा मैं संवेद्य मुझसे ज्ञात होऊँ, ऐसा मैं हूँ। समझ में आया? आहाहा!

मेरी पर्याय अकेली कैवल्य होवे तो मैं इस प्रकार अनन्त पर्यायसहित जान सकता हूँ। श्रुतपर्याय होवे तो शुद्ध उपयोगमात्र हूँ, ऐसा मैं जानूँ। इस प्रकार मैं संवेद्य हो सकता हूँ। समझ में आया? **ऐसा मैं आत्मा हूँ,..** ऐसा मैं अथवा मेरा आत्मा है। ऐसा मेरा आत्मा है कि अनन्त पर्यायसहित ज्ञात हो और शुद्ध उपयोगमात्र ज्ञात हो, ऐसा मैं आत्मा हूँ। कहो, समझ में आया इसमें?

अब अन्तिम (पद)। '**बाह्याः संयोगजा भावा**' **और जो संयोग से-द्रव्यकर्मों**

के सम्बन्ध से प्राप्त हुए देहादिक पर्याय हैं, वे सभी मुझसे हर तरह से... देखो! स्पष्टीकरण किया है वहाँ। द्रव्य-गुण-पर्याय ली है। समझ में आया? **हर तरह से...** शब्द में ऐसा लिया।... '**द्रव्यकर्मसम्बन्धाद्याता मया सह संबान्धं प्राप्ता भावा देहादयस्ते सर्वेऽपि मत्तो मत्सकाशात्सर्वथा सर्वेण**' किसका अर्थ किया यह? सर्वथा ऐसा न?

मुमुक्षु : हर तरह से।

पूज्य गुरुदेवश्री : हर तरह से। बस! मुझे यह निकालना था इसमें। हर तरह से कहाँ से निकाला?

मुमुक्षु : 'सर्वथा सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण'

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वथा कहाँ आया? इसमें दिखा नहीं।

मुमुक्षु : अन्त में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तिम।

मुमुक्षु : अन्तिम से पहले, अन्तिम से दूसरी।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वेण ठीक हाँ, आया। **सर्वेऽपि मत्तो मत्सकाशात्सर्वथा सर्वेण**' बस, यह आया। देखा? '**सर्वथा सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण**' यहाँ तो.. **संयोग से- द्रव्यकर्मों के सम्बन्ध से प्राप्त हुए देहादिक पर्याय हैं, वे सभी मुझसे हर तरह से...** सर्वथा प्रकार। इसका अर्थ किया न? सर्वथा प्रकार शब्द डालने का प्रकार ठीक था। सर्वथा प्रकार से मुझसे वह सब भिन्न है। सर्वथा प्रकार, कथंचित् प्रकार नहीं। कहो, समझ में आया? मुझसे सब पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय से सर्वथा भिन्न है।

'**सर्वेऽपि**' एक '**सर्वथा**' दो, '**सर्वेण**' तीन-अन्दर तीन शब्द हैं, भाई! '**सर्वेऽपि**' मेरे अतिरिक्त सब, '**सर्वथा**' और '**सर्वेण**'। '**सर्वेण**' का अर्थ 'हर तरह' किया? इसका दो अर्थ नहीं किया इनने, दो करना चाहिए न, '**सर्वथा**' और '**सर्वेण**'। '**सर्वथा**' और '**सर्वेण**' चाहिए न? इस शब्द का अर्थ थोड़ा पड़ा रहा, नहीं?

मेरा स्वरूप तो अखण्ड आनन्द ज्ञायकमूर्ति है। केवलज्ञान में अनन्त पर्यायसहित जानने में आवे और शुद्ध उपयोगमात्र हूँ, उस ज्ञान में नीचे ज्ञात हो। कहो, समझ में आया?

भारी सूक्ष्म, भाई! पर की दया पालना, व्रत पालना, रात्रिभोजन नहीं (करना)। सीधासट (था)। भगवानभाई! कभी यह (सुना नहीं था)। पिचहत्तर वर्ष हुए सुन-सुनकर, यह सूझ नहीं पड़ी उसमें। कहते हैं कि, प्रभु! तेरी चीज़ ही ऐसी है कि अनन्त पर्यायसहित ज्ञान में ज्ञात हो, ऐसी चीज़ है और शुद्ध उपयोगमात्र ज्ञात हो, ऐसी भी तू चीज़ है। कहो, समझ में आया? तेरे वेदन में इस प्रकार आवे, ऐसा तू है।

मुमुक्षु : ऐसा सुना हुआ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुना हुआ नहीं, था नहीं, था नहीं। बाहर की सिरपच्ची में लोगों की जिन्दगी गयी। अन्दर योग्यता बिना, पात्रता बिना सुने कहाँ से, मिले कहाँ से?

मैं ऐसा हूँ—ऐसा कहा न? मैं **'ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः'** ऐसा है न? मैं ऐसा हूँ, मैं आत्मा ऐसा हूँ। केवलज्ञानी अनन्त पर्यायसहित जाने और नीचे श्रुत सामान्य ज्ञानी, ज्ञानी को गोचर शुद्ध उपयोगमात्र ज्ञानी गोचर हूँ, शुद्ध उपयोगमात्र इतना हूँ। कहो, समझ में आया?

बाकी जितने **संयोग से-द्रव्यकर्मों के सम्बन्ध से..** ऐसे संयोग की व्याख्या की। प्राप्त हुए यह देहादिक, विकार आदि बाह्य सब। **सभी मुझसे हर तरह से..** सर्वथा प्रकार से **(द्रव्य से, गुण से, पर्याय से) बिल्कुल जुदे हैं।** शरीर, कर्म, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, देश, परिवार, महावीर भगवान तीर्थंकर, उनका सम्मेदशिखर, समवसरण, वह सब आता होगा या नहीं इसमें? वे सब सर्वथा प्रकार से सर्व द्रव्यों के जितने प्रकार हैं, सब **'सर्वेऽपि' बिल्कुल जुदे हैं।** मुझसे जुदे हैं। ऐसे अन्दर भावना उपाय है, भावना का यह उपाय है। कहो, समझ में आया इसमें? इस उपाय से उपेय-मोक्ष प्राप्त होता है।

मुमुक्षु : इसमें तो मिष्ठान्न का ही माल परोसा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रीतिभोज में तो जीमण ही होता है न! वहाँ रोटी परोसते होंगे कभी! हरख जीमण को क्या कहते हैं? तुम्हारे कुछ होगा न! विवाह के बाद हरख जमण नहीं करते। प्रीतिभोजन। प्रीति कहो या हरख कहो, उसमें क्या है?

ऐसा मैं मुझे ज्ञात होऊँ ऐसा हूँ, ऐसा मैं मुझे ज्ञात होऊँ ऐसा हूँ। आहाहा! वे कहते हैं कि वह ज्ञात नहीं होता, वह अपने को खबर नहीं पड़ती। ऐसा हूँ, यह अपने को खबर

नहीं पड़ती। यहाँ क्या कहते हैं ? समझ में आया या नहीं ? श्रुतकेवली शुद्ध उपयोगमात्र (जानते हैं)। श्रुतकेवलियों द्वारा (ऐसा जानने में आता हूँ), केवलज्ञान (द्वारा अनन्त पर्यायसहित ज्ञात होता है।) वह सब ऐसा मैं स्वयं हूँ, ऐसा मुझे ज्ञात होता है, ऐसा मैं। ऐसा मैं हूँ, ऐसा मुझे ज्ञात होता है, ऐसा मैं, ऐसे कहते हैं। समझ में आया ? लो! २७ (गाथा पूरी) हुई। भाई! उत्कृष्ट गाथा है! जरा मस्तिष्क में न समझ में आये, उसे उकताहट आ जाए, हों! परन्तु शरियात डाली न। न समझ में आये उसे, कहा। इसकी अपेक्षा पाँच हजार का दान देना, दया पालना, शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, जाओ.. समझ में आये झट। कहो वजुभाई! ऐसा वहाँ सुनने में भी नहीं मिलता मुम्बई में। वहाँ कहाँ कलकत्ता में भी। आहाहा! लो! यह पूरा हुआ, २७ (गाथा) पूरी हुई।

दोहा – मैं इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य।
कर्मोदय से भाव सब, मोतें पूर्ण अगम्य।।२७।।

ज्ञानीगम्य (हूँ) परन्तु मैं मुझे भी गम्य हूँ न! यह क्यों कहा ? पूर्ण अगम्य, अगम्य अर्थात् भिन्न। **'मोतें पूर्ण अगम्य'**.. डाला।

मुमुक्षु : अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग। थोड़ा अलग है, ऐसा कहते हैं। गम्य हूँ, ज्ञान मैं हूँ, वह ज्ञान में है परन्तु अगम्य अर्थात् पृथक् है।

मैं एक निर्मम शुद्ध हूँ। **मैं इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य**.. योगीगम्य में ज्ञानी मैं भी स्वयं योगी हूँ, उसमें गम्य हूँ, इसमें शामिल आ जाता है। **कर्मोदय से भाव सब,**.. जितने कर्म के उदय से हुए भाव व्यवहार शुभ-अशुभराग, विकल्प, शरीर, वाणी, कर्म, ये सब बाहर के फल। **मोतें पूर्ण अगम्य** वे मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। मुझे और उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे अभिप्रायसहित आत्मा को जानना, यह इसका नाम सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है। ओहोहो!

सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त ऐसा कहीं नहीं हो सकता। किसी जगह तीन काल-तीन लोक में। एक तो अशुद्धनय और फिर द्रव्य के सम्बन्ध से भाव और वह मैं नहीं और दूसरी चीज़ ही माने नहीं, वहाँ फिर यह मैं नहीं और यह मैं कहाँ से आवे ? शशीभाई!

वेदान्त में यह नहीं आता। वस्तुस्वरूप ऐसा है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने देखा हुआ, कहा हुआ, जाना हुआ है।

ऐसा मैं भगवान आत्मा मेरे ज्ञान से गम्य (हूँ)। अनन्त पर्यायसहित गम्य और या शुद्धउपयोगमात्र गम्य हूँ। ऐसा मैं मुझसे योग्य हूँ।

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को क्या होता है? क्या फल मिलता है? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि –

दुःखसन्दोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः।।२८।।

अर्थ – इस संसार में देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को दुःख–समूह भोगना पड़ता है–अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं, इसलिए इस समस्त सम्बन्ध को जो कि मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं, मन से, वचन से, काय से छोड़ता हूँ। अभिप्राय यह है कि मन, वचन, काय का आलम्बन होकर चंचल होनेवाले आत्मा के प्रदेशों को भावों से रोकता हूँ। 'आत्मा मन, वचन, काय से भिन्न है', इस प्रकार के अभ्यास से सुखरूप एक फलवाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और मन, वचन, काय से आत्मा अभिन्न है, इस प्रकार के अभ्यास से दुःखरूप एक फलवाले संसार की प्राप्ति होती है, जैसा पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक में कहा है – 'स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्०'

''जब तक शरीर, वाणी और मन इन तीनों को ये 'स्व हैं–अपने हैं' इस रूप में ग्रहण करता रहता है। तब तक संसार होता है और जब इनसे भेद–बुद्धि करने का अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति हो जाती है।''।।२८।।

दोहा – प्राणी जा संयोगते, दुःख समूह लहात।
याते मन वच काय युत, हूँ तो सर्व तजात।।२८।।

गाथा - २८ पर प्रवचन

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को क्या होता है? अब यह प्रश्न आया है। जैचन्दभाई! कहते हैं कि यह रोग होता है और उसका लक्ष्य करे तो क्या होता है? ऐसा कहते हैं। **देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को क्या होता है? क्या फल मिलता है? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि –** धर्मी है न? इसलिए होता है और उसका समाधान भी करता है।

दुःखसन्दोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः।।२८।।

अर्थ–इस संसार में देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को दुःख–समूह भोगना पड़ता है... लो! अर्थात् कि स्वभाव का सम्बन्ध छोड़कर जितना ऐसा (पर) लक्ष्य का सम्बन्ध करता है, उतना उसे दुःख भोगना पड़ता है, ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा ज्ञानानन्द है, उसका सम्बन्ध छोड़कर जितना पर का सम्बन्ध लक्ष्य में लेता है, ऐसे देहादिक के संयोग से। देखो! देह का संयोग, उसके रोग का संयोग का लक्ष्य जाए और यह मुझे.. यह मुझे.. यह मुझे.. यह स्त्री का संयोग, यह पैसे का संयोग, इज्जत का संयोग, कहो इनके सम्बन्ध से तो प्राणियों को दुःख का ढेर भोगना पड़ता है। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है, उसके सम्बन्ध से आनन्द की प्राप्ति होती है और यहाँ जहाँ सम्बन्ध में जुड़ा, वह सम्बन्ध में जुड़ा, हों! इसलिए तब वहाँ सम्बन्ध हुआ न!

देहादिक के सम्बन्ध से.. देह, रोग, वाणी **दुःख–समूह भोगना पड़ता है...** दुःख का ढ़ेर भोगना पड़ता है। क्या कहा? शरीर के रोग के कारण या शरीर के कारण, ऐसा नहीं। ऐसा सम्बन्ध करने से दुःख का समूह भोगना पड़ता है। यह मुझे (हुआ)। तुझमें कहाँ था? यह मुझे (हुआ) मैं आनन्द में हूँ, ऐसे अन्तर के स्व-स्वभावसम्बन्ध को छोड़कर जिस चीज़ का इसे सम्बन्ध नहीं है, उसके सम्बन्ध में लक्ष्य करके, उसके सम्बन्ध से अनन्त दुःख के पोटले ढोना पड़ते हैं। बराबर होगा, हीरालालजी! यह दुकान-

बुकान धन्धे में पाँच-पाँच लाख की आमदनी हो, दो-दो लाख की आमदनी हो तो भी? सेठ! तुम्हें तो बहुत सब सुखी कहते हैं, बहुत पैसेवाला कहते हैं। बुलन्दशहर के.. क्या कहलाता है? बुन्देलखण्ड के राजा। धूल में भी नहीं। कहते हैं, कहीं किसी का...

देहादिक के सम्बन्ध से.. देह, मन, वाणी, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, बाह्य कोई भी (चीज़), उसका ऐसा सम्बन्ध किया, वहाँ राग उत्पन्न हुआ; राग उत्पन्न हुआ, वह दुःख का समूह है, कहते हैं। आहाहा! पर के सम्बन्ध में कहाँ वहाँ शान्ति थी? अपना स्वभाव अन्तर के स्वभाव के सम्बन्ध से शान्ति (होती है), तब पर के सम्बन्ध से अशान्ति-दुःख का ढ़ेर (भोगता है), ऐसा कहते हैं। आहाहा! सब एल.एल.बी. पढ़े और बी.ए. और ऐसे सब बड़े पूंछड़े (डिग्रियाँ) लगावे। एल.एल.बी. तो यह बैठे हमारे, परन्तु दूसरे बहुत होते हैं न! बड़ा-बड़ा वेतन पाँच हजार, दस-दस हजार। लो! कुछ सम्बन्ध में कुछ होगा या नहीं? यहाँ तो दुःख का समूह है। इन सुमनभाई को दस हजार वेतन मिले तो उसमें दुःख होगा?

मुमुक्षु : पूरी दुनिया को ऐसा है, किसी का अपवाद नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो स्पष्ट करने के लिए तो यहाँ है। मलिन रखने की बात यहाँ कहाँ है? लाख रुपये महीने मिले तो भी धूल के दुःखी, दुःखी और दुःखी हैं सब। आहाहा! ऐसा चैतन्य भगवान अनाकुल आनन्द का कन्द है, उसका सम्बन्ध करता नहीं और यहाँ सम्बन्ध में जाए तो उसे वहाँ कहाँ सुख था। धूल। आहाहा! बहुत गजब बात, भाई! यह तो। कहो, अमूलखभाई! क्या होगा यह? ये सब गोदाम का पैसा पैदा हो लाखों, बड़ी लकड़ियाँ दो-तीन लाख की (आती हों).. आहाहा! भगवान! तेरी चीज़ में क्या कमी है कि तुझे पर का संग करना पड़ता है? ऐसा कहते हैं।

अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं,.. लो! आहाहा! अपना राग से रहित असंग तत्त्व भावकर्म-विकल्प राग और जड़कर्म से भिन्न असंग तत्त्व, उस असंग के संग को छोड़कर बाहर के सम्बन्ध में जुड़े, उतना अनन्त क्लेश और दुःख है, कहते हैं। आहाहा! **इसलिए इस समस्त सम्बन्ध को जो कि मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं,..** देखो! मन, वचन और काया में होवे न सम्बन्ध में? ऐसा कहते हैं। **मन से, वचन से,**

काय से छोड़ता हूँ। लो! जहाँ मन-वचन से सम्बन्ध होता है, वहाँ उसे छोड़ता हूँ, ऐसा कहते हैं। मन-वचन-काया से ऐसे सम्बन्ध होता है, उसे मैं छोड़ता हूँ। उस ओर का लक्ष्य छोड़ता हूँ, ऐसा कहते हैं। मन की ओर का लक्ष्य, वाणी की ओर का लक्ष्य, देह की ओर के लक्ष्य से ऐसा जो सम्बन्ध होता है, आहाहा! गुलाँट खाता है। मन, वचन और काया से वह सम्बन्ध छोड़ता हूँ। मेरे स्वभाव के सम्बन्ध को करता हूँ। कहो, समझ में आया? स्वयं ही स्वयं समाधान करता है न? ऐसा है न इसमें? **उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है...** ऐसा है न। समझ में आया?

अभिप्राय यह है कि मन, वचन, काय का आलम्बन होकर चंचल होनेवाले आत्मा के प्रदेशों.. ऐसा कहते हैं। समझ में आया? निमित्त है, मन-वचन-काया तो निमित्त है परन्तु वे प्रदेश कँपते हैं न? **आलम्बन होकर चंचल होनेवाले आत्मा के प्रदेशों को भावों से रोकता हूँ।** देखो! उनकी ओर का सम्बन्ध ही छोड़ दूँ। कम्पन आदि का सम्बन्ध नहीं। मन से, वचन से, काया के निमित्त सम्बन्ध से जो प्रदेश कँपते हैं, उन्हें मैं वहाँ सम्बन्ध में जाने से रोककर यहाँ सम्बन्ध में जोड़ता हूँ। ओहोहो! **आलम्बन होकर चंचल होनेवाले आत्मा के प्रदेशों को..** योग को लिया है, भाई! कम्पन छोड़ना तो ठीक, परन्तु उसके भाव की ओर लक्ष्य जाता है। कम्पन उसे कहा जाता है। अशुद्धभाव को बाहर से सम्बन्ध है न? ऐसे भाव को रोकता हूँ। इसका अर्थ कि मैं मेरे स्वभाव में सम्बन्ध करता हूँ, स्वभाव में.. स्वभाव में.. स्वभाव में.. ऐसा धर्मी समाधान (करता है)। सम्बन्ध में न जुड़कर, विमुख होकर स्वयं अपने सम्बन्ध में जाता है, ऐसा समाधान करता है। वहाँ आगे, शान्ति और आनन्द है, उसका नाम आत्मा का धर्म कहा जाता है। विशेष कहेंगे...　　(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३२ गाथा-२७ से २८ मंगलवार, दिनाङ्क १९-०४-१९६६
चैत्र कृष्ण १४, वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश, पूज्यपादस्वामी का बनाया हुआ है। यह २७वीं गाथा फिर से थोड़ी लेते हैं। २७ है न? २७, क्या कहते हैं? देखो! विशदार्थ है, इसका शब्दार्थ है (उसमें) थोड़ा-सा अन्तर है। धर्मी अपने आत्मा को कैसा वेदता है, कैसा जानता है - यह बात इसमें है। समझ में आया? धर्मी जीव-सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी अपने आत्मा को कैसा जानता है और कैसा वेदता है, उसका स्वरूप है।

द्रव्यार्थिकनय से एक हूँ। मैं वस्तुरूप से कायम रहनेवाला हूँ। द्रव्य अर्थात् वस्तु। इस अपेक्षा से मैं एक हूँ अर्थात् पूर्वा पर पर्याय में मैं अन्वयरूप हूँ, गत अवस्था में और वर्तमान वर्तती या होगी, सब में मेरा-स्वभाव का अन्वय सम्बन्ध है। प्रत्येक पर्याय में मैं धारावाही रहा हुआ तत्त्व हूँ। समझ में आया?

यह आत्मा द्रव्यार्थिक (नय से) द्रव्य से एक अर्थात् गत अवस्था भूतकाल की हुई, भविष्य की (होगी), वर्तमान में (है, उन) सब में मैं ध्रुवरूप से सदृश अन्वय कायम रहनेवाला हूँ - ऐसा धर्मी अपने आत्मा को अन्तर में जानता है। कहो, समझ में आया इसमें?

निर्मम हूँ। यह मेरा और मैं इसका, ऐसे अभिनिवेश से शून्य हूँ। ये पुण्य-पाप रागादि या देहादि मेरे और इन पुण्य-पाप और देह का मैं, ऐसे अभिप्राय से शून्य हूँ। ऐसे आग्रह से मैं खाली हूँ। कहो, समझ में आया इसमें?

भगवान आत्मा... यहाँ पहले अस्ति से लिया, अस्ति-द्रव्यरूप से नित्य एक (हूँ)। प्रत्येक अवस्था में मैं ही स्वयं धारावाही रहनेवाला हूँ। तब यह पुण्य-पाप के विकल्प, राग, शरीर, वाणी आदि, ये मेरे और मैं इनका, ये मेरे और मैं इनका—यह मिथ्या अभिप्राय है। ऐसे मिथ्या अभिनिवेश से शून्य हूँ। समझ में आया?

मुमुक्षु : 'यह' का वजन कितना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मेरा कहा न! यह पुण्य-पाप, विकल्प, देह, वाणी, यह सब बड़ा झुण्ड। यह मैं, यह मेरा और मैं इसका (-यह मिथ्या अभिप्राय है)। मैं एक अखण्ड

द्रव्यार्थिकनय से एक, वस्तु पूर्वापर पर्याय में धारावाही रहनेवाला वह; मुझसे भिन्न जो राग-द्वेष, शरीर आदि वे मेरे और मैं उनका, यह मेरे स्वरूप में नहीं है। ऐसे (मेरेपने के) अभिप्राय से रहित हूँ।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं, राग-द्वेष, शरीरादि से सहित हूँ और मेरे स्वभाव से रहित हूँ। कहो, समझ में आया? अज्ञानी ऐसा मानता है कि क्षण-क्षण में पलटता इतना मैं, शरीर आदि मैं, पुण्य-पाप आदि मैं; और पूरा त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति अखण्ड आनन्द शुद्ध ध्रुव को भूल जाता है और ये राग-द्वेष, शरीर, वाणी मैं; ये मेरे और मैं पूरा तत्त्व इनका; यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की मिथ्यात्व अभिप्राय से है। कहो, समझ में आया? ऐसे अभिप्राय से मैं शून्य हूँ, इसका नाम धर्मदृष्टि है। आहाहा!

शुद्धनय के कथन से... आदि शब्द है न? और मैं शुद्धस्वरूप के कथन से शुद्धदृष्टि से देखें तो जड़कर्म और पुण्य-पाप के भावकर्म से मुक्त ही हूँ। मैं अभी जड़कर्म के रजकणों और पुण्य-पाप के भावकर्म से मुक्त हूँ। समझ में आया? अज्ञानी मानता है कि जड़कर्म और विकार से बँधा हुआ हूँ। समझ में आया? यह मुद्दे की रकम की बात है। आहाहा!

मैं शुद्धनय के आदेश से जड़कर्म के रजकणों और पुण्य-पाप के विकारी भाव से मुक्त हूँ, मुक्त हूँ। यहाँ ऐसा शब्द प्रयोग किया है, देखा? कब? वे दूसरे पुकार करते हैं। परन्तु पर्याय में भले हो, वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर उसमें (वस्तु में) नहीं है, उसकी यहाँ बात चलती है। पर्याय में सम्बन्ध है। समझ में आया? पर्याय पलटती है, उसके साथ यह मेरा, वह भले मानता हो। द्रव्यकर्म और नोकर्म के साथ निमित्त सम्बन्ध है। वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से (कोई सम्बन्ध नहीं है)। धर्मी की दृष्टि वस्तु पर होती है। चैतन्य अनन्त गुण का पिण्ड, भगवान सर्वज्ञ ने देखा हुआ, कहा हुआ आत्मा, वह मैं - ऐसी दृष्टि में कर्म और नोकर्म का सम्बन्ध मुझे नहीं है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : धर्मी की दृष्टि वस्तु के ऊपर होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु के ऊपर होती है। वस्तु एक समय का ध्रुव, अनादि-अनन्त चैतन्यमूर्ति है। भले अवस्थाएँ हों, परन्तु उनमें धारावाही रहनेवाला मैं हूँ, शाश्वत्

रहनेवाला मैं हूँ और शुद्ध हूँ। वस्तु द्रव्यकर्म-भावकर्म से रहित हूँ तथा वे मेरे और मैं उनका - (इस) अभिप्राय से शून्य हूँ। आहाहा! समझ में आया?

'ज्ञानी' इतना शब्द कल नहीं आया था। संस्कृत में एक शब्द पड़ा है। मैं ज्ञानी अर्थात् स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला मैं ज्ञानी हूँ, ऐसा। मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ। स्व को प्रकाशित करने के प्रकाशस्वभाववाला मैं हूँ। स्व और पर दोनों के प्रकाश के स्वभाववाला मैं हूँ। ओहोहो! कहो, इस दुकान के धन्धे-बन्धे का मैं प्रकाशक-जाननेवाला हूँ, ऐसा कहते हैं। करनेवाला नहीं - ऐसा नहीं आया। उसमें आता होगा? करनेवाला नहीं, ऐसा आता होगा इसमें?

स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला हूँ। मैं मेरे पूर्णानन्दस्वरूप को प्रकाशित करनेवाला और यह रागादि सब है, उन्हें जाननेवाला-प्रकाशित करने के स्वभाववाला हूँ। उन्हें है, ऐसा जानने के स्वभाववाला हूँ परन्तु उसका कोई काम करनेवाला मैं स्वभाववाला नहीं हूँ। इन पण्डितजी को पूछो, ये रहे। बैठे हैं न पण्डित यहाँ। कहो, इसमें से निकलता है या नहीं?

मुमुक्षु : स्व-परप्रकाशक में आ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आ जाता है? लो! हमारे पोपटभाई तो बोले। इनके मित्र बोले, लो!

स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला हूँ, ऐसा कहा है। क्या कहा? स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला मैं हूँ। मैं स्व को करनेवाला और पर को करनेवाला, ऐसा यहाँ नहीं है। स्व को जाननेवाला शुद्ध चैतन्यमूर्ति। पर को जाननेवाला कि यह राग है, यह शरीर है, यह जड़ है, यह होता है, यह हुआ है, यह होगा, उसे मैं जाननेवाला हूँ। स्व और पर के प्रकाश के स्वभाववाला हूँ। आहाहा! समझ में आया? देखो! यह धर्मी की दृष्टि! ओहोहो!

धर्मदृष्टि और धर्मी जैसा आत्मा, ऐसा दृष्टि में आने से धर्मी ऐसा जानता, मानता और वेदन करता है। आहाहा! मैं तो एक स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला ज्ञानी हूँ। स्व को, पर को जाननेवाला, प्रकाशित करनेवाला आत्मा हूँ। पर का कुछ कर दूँ, शरीर, मन, वाणी, स्त्री, पुत्र, देह, देश, उन्हें मैं कुछ मदद होकर कर दूँ, ऐसा मेरे स्वरूप में नहीं है। हिम्मतभाई! नहीं। यह सब कैसा लड़के के लिए बारम्बार आना पड़ता है। वह तो भाव राग है, राग है वह तो। परन्तु अन्दर कुछ पर का कर सकता नहीं। समझ में आया? आहाहा! कहो, इस जवाबदारी का अर्थ, उसका स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा!

देखो न! जहाँ हो वहाँ एक ही बात डालते हैं। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। चारों ओर से सब एक ही डालते हैं। आहाहा! मैं तो स्व और पर के प्रकाशकस्वभाववाला हूँ। तीन काल में कोई एक राग को, रजकण को रखूँ या छोड़ूँ, ऐसा मेरे स्वरूप में नहीं है। कहो, मनसुख! इस दुकान-बुकान का क्या करना यह सब? कितनी व्यवस्था, कितना ध्यान रखे तब मुश्किल से चलती है, लो! ऐ.. सेठ! नहीं? कैसे तुम्हारे दीपचन्दजी आये नहीं? पीछे (बैठे हैं)। समझ में आया? आहाहा! गजब बात। समझ में आया इसमें?

मैं एक स्व-परप्रकाशक जाननस्वभाववाला हूँ। आत्मा अर्थात् मैं शाश्वत् रहनेवाला, पर मेरा और मैं उसका, ऐसे अभिप्राय से शून्यवाला और द्रव्य तथा भावकर्म से मुक्त हूँ। समझ में आया? और ज्ञानी हूँ। स्व और पर को जानने के स्वभाववाला हूँ। पूरी दुनिया मुझसे जो भिन्न है, यह आगे कहेंगे, उन सबका मैं प्रकाशक / जानने के स्वभाववाला हूँ, परन्तु पर के करने के स्वभाववाला स्वरूप ही मुझमें नहीं है। मेरा स्वरूप ही वह नहीं है, ऐसा कहते हैं। भगवान ने ऐसा कहा है और धर्मी अपने को ऐसा जानता है। कहो, समझ में आया? आहाहा! मैं तो एक ज्ञानी हूँ। ज्ञानी अर्थात् जाननेवाला हूँ। आहाहा! जाननेवाला अर्थात् कि स्व-पर को जानने के स्वभाववाला हूँ, परन्तु पर को कुछ बदलना-बदलना - आगे-पीछे करूँ ऐसा मेरे स्वरूप में मैं ऐसा नहीं हूँ। कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हुआ है कहाँ? अज्ञानी ने माना है, होवे कहाँ? धूल। मानता है मूढ़ होकर। भ्रमणा में पागल होकर इसे भूत लगा है विपरीत अभिप्राय का।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहेंगे, अभी कहेंगे, सब कहेंगे। रोग का और देह का सब कहेंगे। एक-एक कहेंगे। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा!

अब अस्ति के अन्दर में अन्तिम शब्द रहा, नास्ति से बाद में लिया। '**योगीन्द्रगोचरः**' अनन्त पर्याययुक्तरूप से। वहाँ ऐसा आया था कि अनन्त पर्यायसहितरूप से। वह तो सब एक ही है। अनन्त पर्यायसहितरूप से, अनन्त पर्यायसहितरूप से केवलियों द्वारा संवेद्य हूँ। मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा हूँ कि अनन्त पर्यायसहितरूप से, अनन्त पर्यायसहितपने, अनन्त

अवस्थासहितरूप से केवलियों द्वारा तो संवेद्य-वेदनयोग्य अनन्त पर्यायसहित हूँ। मैं ऐसा हूँ, ऐसा कहते हैं। केवलियों द्वारा तो अनन्त पर्यायसहित वेदनेयोग्य हूँ। यह मैं भी केवलज्ञानी होऊँ, तब अनन्त पर्यायसहित वेदने योग्य हूँ। समझ में आया? आहाहा!

अनन्त पर्यायसहित, अनन्त पर्यायसहितरूप से, अनन्त पर्यायसहित अर्थात् यहाँ ऐसा आया था, अनन्त पर्यायसहितरूप से अर्थात् अनन्त पर्याययुक्तरूप से, युक्तपने। अनन्त पर्यायें आत्मा की हैं, उनके सहितरूप से केवलज्ञानी द्वारा जानने के योग्य आत्मा हूँ। आत्मा केवलज्ञान द्वारा अनन्त पर्यायसहित ज्ञात हो, ऐसा मैं हूँ। मेरी अनन्त पर्यायें जो हैं, उन सहित केवली उन्हें जानते हैं, वेदते हैं—ऐसा मैं हूँ। समझ में आया? आहाहा!

शुद्धोपयोगमात्रमयपने से शुद्धोपयोगमात्रमयरूप से-अकेला शुद्धोपयोगमात्र हूँ। द्रव्य, द्रव्य -वस्तु शुद्धउपयोगपरिणमन शुद्ध आत्मस्वभाव है। शुद्धोपयोगमात्रमयरूप से अर्थात् राग नहीं, विकार नहीं, शरीर नहीं। श्रुतकेवलियों द्वारा संवेद्य है। श्रुतकेवलियों द्वारा शुद्धोपयोगमात्ररूप से वेदन में आवे ऐसा है। अर्थात् मैं भी मेरे श्रुतज्ञान द्वारा शुद्धोपयोगमात्र वेदनयोग्य मैं हूँ। समझ में आया? गजब सूक्ष्म बातें।

यह आत्मा है न, वस्तु अन्दर, अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु! अनादि-अनन्त ध्रुव। उस आत्मा को अनन्त दशासहित केवलियों द्वारा वेदन में आवे ऐसा हूँ और शुद्धोपयोगमात्ररूप से मैं श्रुतज्ञान द्वारा वेदन में आवे ऐसा हूँ। समझ में आया? आहाहा!

यह तो सब ऐसा अभिमान जैसा हो जाए, लो! दया पालने का कहे, व्रत का कहे, अपवास का कहे, यह कर, यह कर तो कुछ न कुछ करें (वह समझ में तो आये) इसमें यह है ही नहीं, सुन न अब। यह विकल्प जो उठता है, वह मेरे स्वरूप में नहीं और बाहर का छोड़ना-रखना तो स्वरूप में है ही नहीं। आहा! मात्र वह जाए, होवे, आवे, उसे जाननेवाला मैं हूँ। समझ में आया? यह किस प्रकार का धर्म? वीतराग का धर्म ऐसा होगा? वीतराग में तो सब एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया, चौइन्द्रिया, पंचेन्द्रिया... यहाँ तो आया। वे अनन्त जीव हैं, वे हैं उन्हें मैं जाननेवाला हूँ। उन्हें पालनेवाला और टालनेवाला मैं नहीं हूँ। पालनेवाला अर्थात् दया, और टालनेवाला अर्थात् मारनेवाला। समझ में आया? आहाहा! गजब भाई!

मुमुक्षु : ऐसा भाव करे, वह भी भूल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भाव करे कि ऐसा कर दूँ, यह भूल है। उसे मैं कर दूँ और उसे यह करूँ, वह तो ऐसा होता नहीं, वह तो पर है। समझ में आया? कहो, वजुभाई! समझ में आया इसमें? इस बात में, उस गयी बात में नहीं, गयी बात तो बहुत सुनी होगी न! आहाहा!

शुद्धोपयोगमात्रमयरूप से-अकेला शुद्धपरिणतिरूप से शुद्धउपयोगमात्र व्यापाररूप से श्रुतकेवली, श्रुतज्ञान द्वारा संवेद्य हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह अस्ति से बात की है। ऐसा आत्मा मैं हूँ। लो! ऐसा आत्मा मैं हूँ, ऐसा आत्मा मैं हूँ। यह तो एक विकल्प से, समझावे तो किस प्रकार समझावे? समझ में आया?

कितने विशेषण आये! देखो! मैं एक द्रव्यस्वरूप से अनन्त पर्यायों में धारावाहीरूप से रहनेवाला, वह एक हूँ। यह शरीर, रागादि मेरे और मैं उनका, ऐसे विपरीत अभिप्राय से शून्य / खाली हूँ, वह विपरीत अभिप्राय मुझमें नहीं है। समझ में आया? शुद्धनय से जड़कर्म और विकारी परिणाम से तो मैं मुक्त हूँ और मैं स्वयं स्व और पर को जानने के स्वभाववाला ही हूँ। इसमें बहुत आ गया, और केवलज्ञानी द्वारा पूर्ण अनन्त पर्यायसहित वेदन में आने योग्य हूँ, श्रुतज्ञानी द्वारा शुद्धोपयोगमात्रमयरूप से वेदन में आने योग्य हूँ। सेठी! बहुत कठिन आया। बहुत अच्छा है। कहो, समझ में आया? आहाहा! एक ही गाथा सार.. सार.. अकेला मक्खन बताती है।

मुमुक्षु : वस्तु की थाह आवे तो काम का न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह थाह, यह थाह की तो बात है। थाह इसे लेना है या नहीं? लो! वस्तु की थाह समझते हो? कुएँ में गिरे और फिर नीचे से थाह लेते हैं। नहाने को गिरे न?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह। थाह.. थाह.. न? थाह अर्थात् उसका पता। यहाँ हमारे (गुजराती भाषा में) ताग कहते हैं। लड़के हाथ के बल पड़ते हैं। उभोकोशिये अर्थात् समझ में आता है? यह हमारी लड़कों की सब भाषा है। ऐसे हाथ के बल, हाथ के बल पड़े न? ऐसे पड़े। उसे उभोकोशियो कहते हैं। लड़कों में सुना था या नहीं? वहाँ हमारे यहाँ दरबारी कुआँ था, बाहर नदी में। वहाँ सब खड़े कूदते थे। चारों ओर अन्दर सर्प हों! वापस। गोखले में सर्प हों परन्तु काटे नहीं। दरबारी है न? यह दरबार का है। सीढ़ियों की इस ओर

एक कुआँ है। यह खड्डा और इस ओर सीढ़ियाँ बीच में कुआँ। वहाँ लोग बहुत कूदते हैं, लड़के बहुत नहाते हैं। बड़े सर्प पड़े हों परन्तु अन्दर आवे नहीं, काटने आवे नहीं। यह क्या कहें? कि यह थाह ले आया। फिर सिर बहुत बाहर न पहुँच सके तो हाथ ऊँचा करे। देखो! यह ले आया। नीचे से रेत ले आया, रेत। ऐसा कहते हैं कि यह थाह। वस्तु की यह थाह।

भगवान आत्मा स्वयं अपने से ज्ञात हो ऐसा हूँ, ऐसा मेरा स्वरूप है - ऐसा कहते हैं और जो संयोग से अब दूसरी भिन्न चीज़ ली। ऐसा हूँ, यह लिया। अब भिन्न (संयोग की बात करते हैं)। द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से। संयोग से अर्थात् द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से हुए अर्थात् मेरे साथ सम्बन्ध प्राप्त भाव। द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से हुए अर्थात् मेरे साथ सम्बन्ध प्राप्त। स्वरूप में नहीं, ऐसे सम्बन्ध संयोग में आये हुए। सम्बन्ध प्राप्त हुए भाव। यह देहादि, यह देह, कर्म, शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, यह सब बाह्य। सब मुझसे सर्वथा सर्व प्रकार से -उनके द्रव्य-गुण-पर्याय, उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रकार से मुझसे भिन्न हैं। जाओ! कहो, समझ में आया? यह तो थोड़ा वेदन में अन्तर था, बाकी सब बात तो कल आ गयी थी। समझ में आया? कहो, कल सवेरे था या नहीं? मनसुख! था सवेरे, परसों सवेरे। समझ में आया? वजुभाई! जिज्ञासु जीवों को यह सब समझनेयोग्य है। फिर व्यर्थ का ढोंग करके मर जाना है।

मुमुक्षु : उसे ढोंग कहा जाता होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : ढोंग अर्थात् विकार। दूसरा क्या करे वहाँ? बाहर का कौन करता है? वह तो यहाँ बात है ही नहीं। संकल्प-विकल्प की जाल।

मुमुक्षु : उत्पात।

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्पात। संकल्प-विकल्प का जाल किया करता है, बाकी बाहर का तो छिलका कब बदल सकता है? वह तो बात यहाँ है। आहाहा!

और जड़ द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से हुए, पाये हुए, आये हुए, रहे हुए। मेरे साथ सम्बन्ध में हुए, प्राप्त हुए। ऐसे साथ में हैं न, नजदीक में? यह देहादिक और सब देश, राग आदि। कर्म, बाह्य संयोग, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, मकान, इज्जत इत्यादि सब। ये सब सामने की चीज़ें पूरी ली है। मुझसे सर्वथा और सर्व द्रव्य आदि प्रकार से। सर्वथा अर्थात् सर्वथा

की यह व्याख्या। सर्व द्रव्य आदि प्रकार से - उनका द्रव्य, उनका क्षेत्र, उनका काल, उनका भाव, उनका गुण, उनकी पर्याय मुझसे अत्यन्त बाह्य अर्थात् भिन्न है। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा! लो! यह २७वीं गाथा (कही)।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी सुनानी है? अभी इसे लोभ लगा, अभी इसके वे जयपुरवाले आवे, उन्हें सुनाना है, ऐसा यह कहते हैं। अभी आवे तब न! अभी आने के कोई समाचार आये हैं?

मुमुक्षु : समाचार तो पहले आये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मीठा व्यक्ति, (इसलिए) अस्ति से बात करता है। देखा? यह **कहते हैं, नहीं आवे, ऐसा नहीं। कहो, यह** २७ हो गयी। अब २८।*

गाथा - २८ पर प्रवचन

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को क्या होता है? अब वह सम्बन्ध भिन्न है न? ऐसे देहादि के सम्बन्ध से जीव को क्या होता है, क्या फल मिलता है वह स्वयं समाधान करते हैं।

अर्थ - इस संसार में देहादिक के सम्बन्ध से... जो पहले भिन्न कहा था न बाह्य? शरीर, वाणी, मन ये बाह्य स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान, इज्जत, कीर्ति, धूल, धमाल, यह पाँच-पचास लाख रुपये और बँगला और महल-मकान, वस्त्र और कपड़े, गहने और लड़कों को ऐसा सब शृंगार किया हुआ सब होता है न अन्दर में बाहर को सब? बँगला। बँगले को यहाँ हजीरा बोलते हैं। बँगला क्या है, वहाँ अन्दर बड़ी धूल की उस गुफा में जैसे लट पड़ी हो, वैसे पड़ी है, दूसरा क्या है। तीन-तीन लाख का बँगला, चार-चार लाख का संगमरमर का मकान, उसे क्यों हजीरा कहते हो, ऐसा कहते हैं। ऐई! ऐसा कहते हैं। सेठ को चार-चार, पाँच लाख का बँगला है वहाँ। इसे जयपुर में है। गोदिका को तीन लाख

** नोट : मूल गाथा २८, अर्थ और विशदार्थ इससे पहले के प्रवचन में दी जा चुकी है।*

का संगमरमर का बँगला है। अरे.. अरे..! गजब! उसको दस-दस लाख का बँगला। गोआ (में) दस-दस लाख के दो बँगले।

मुमुक्षु : बँगले न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल का ढ़ेर, बँगला अर्थात् धूल का ढ़ेर। सेठी!

इस **सम्बन्ध से प्राणियों को दुःख-समूह भोगना पड़ता है...** ऐसा कहते हैं। यह सम्बन्ध भगवान आत्मा भिन्न, उससे बाह्य चीज़ का सम्बन्ध (अर्थात्) जितना लक्ष्य करे, उतनी उसे आकुलता और दुःख का भोगना होता है। पोपटभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : आनन्दनिकेतन।

पूज्य गुरुदेवश्री : मकान का नाम आनन्दनिकेतन है न?

मुमुक्षु : उसका सम्बन्ध करे तो दुःख होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो सम्बन्ध की बात है। बाह्य है, यहाँ सम्बन्ध नहीं, ऐसा कहा था परन्तु ऐसा सम्बन्ध करे, सम्बन्ध बाह्य है। वे द्रव्यकर्म से हुए, प्राप्त, आये हुए, रहे हुए, जुड़े हुए, ये सब बाह्य हैं, परन्तु यदि उनका सम्बन्ध करे (तो) दुःख का कारण है—ऐसा कहते हैं। यदि भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप का सम्बन्ध करे तो अनाकुल और आनन्द का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : सब जगह दुःख खड़ा किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र दुःख खड़ा किया है। सब जगह कहाँ दुःख खड़ा किया है? अपना आनन्दसागर है, उसे छोड़कर बाहर का लक्ष्य करता है, इसलिए आकुलता -दुःख होता है। वहाँ कोई बाहर के कारण नहीं होता। बाहर में है नहीं और बाहर के कारण नहीं है। समझ में आया?

कहते हैं कि जितना बाहर में ये बीड़ियों का और... समझे न? तम्बाकू का और जीप का... भरो जीप, डालो यहाँ लड़के, डालो यहाँ डालो, यहाँ इतनी बोरी डालो, इतना यह डालो, इतना यह डालो। लोहे के व्यापार और लोहेवाले का होता है न! तुम्हारे फिर टाईल्स का (इसलिए) ढ़ेर टाईल्स के (होते हैं) मिट्टी। कहते हैं कि जितना भगवान आत्मा अपने अनाकुल आनन्दस्वरूप का आश्रय छोड़कर, जितना परसंयोग में ऐसे लक्ष्य

करता है, सम्बन्ध करता है, उतना दुःख का भोक्ता होता है। दुःख के समूह का ढ़ेर भोगता है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

पाँच, दस लाख, बीस लाख... अब दस-बीस लाख का कुछ (नहीं रहा)। दो करोड़ लो न, तीन करोड़, यह चालीस करोड़। वे सब ऐसा माने कि आहा! लाख-लाख की मोटरें, सवा-सवा लाख की मोटरें आती हैं न? क्या अमुक नाम की कुछ? ऐ.. पोपटभाई! क्या नाम आता है? क्या नाम? ऐ.. पोपटभाई! क्या है? तुम्हारे साले को मोटर है न बड़ी ऊँची? क्या नाम उसका? परन्तु नाम क्या? तुम्हें नहीं आता होगा, ठीक! लाख रुपये की मोटर लेकर आया था न तब! हम बेलगाँव थे वहाँ। मणिभाई आये थे। उनका कुछ नाम कहते थे अपने को नाम भी याद नहीं आता। ऐसे रास्ते में पड़ी थी बड़ी लाख की! ओहोहो! मलूकचन्दभाई को तो वहाँ लेकर आया था। वहाँ भीमड़ी लेकर नहीं आया था? दो व्यक्ति दो लाये थे। एक यह लेकर आया था और एक वह लेकर आया था, नहीं? धीरुभाई की। दोनों लाये थे न सामने (बैठाया) बैठो यहाँ। बैठ न! छोड़ने दे न अब। वहाँ पूनमचन्द लेकर आया था। अब यहाँ बैठे, वहाँ कहाँ (बैठना)। ठीक है जहाँ-तहाँ।

मुमुक्षु : मुम्बई में....

पूज्य गुरुदेवश्री : मुम्बई में जलजन्तु खाया, वह तो यह उसे साफ करने दी थी इसलिए। उसमें कुछ नहीं, धूल-धाणी है।

जितना भगवान आत्मा.. अपना आनन्दस्वरूप अनाकुल शान्तरस का कन्द प्रभु है, यह आत्मा ऐसा है, उसका लक्ष्य छोड़कर जितना परद्रव्य का सम्बन्ध करे, उतने दुःख के पुंज-ढ़ेर को अनुभव करता है। आकुलता.. आकुलता.. आकुलता.. आहाहा! गजब भाई! स्त्री, पुत्र और सब (आ गया), हों! बाहर का जितना सम्बन्ध है, उतनी आकुलता है।

मुमुक्षु : मोटर से मुसाफिरी जल्दी हो जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जल्दी मुसाफिरी हो जाती है, ऐसा कहते हैं। इतनी सुविधा होवे न! ऐसा सेठ कहते हैं। यह आकुलता है वहाँ सब।

अपना स्वभाव शान्त, निवृत्तस्वभाव भगवान के संग को, उसके सम्बन्ध को, उसके आश्रय को छोड़कर जितना अपने अतिरिक्त के परपदार्थ में ऐसा सम्बन्ध किया,

उतना दु:ख और आकुलता है। समझ में आया? धूल में भी सुख नहीं, मूढ़ मानकर बैठा है वहाँ। पाँच करोड़ और पचास करोड़ और होवे न ऐसे पाँच लाख और दस लाख के बँगले और... ओहोहो!

मुमुक्षु : महिमा सुनते हुए जीव वहाँ चिपट जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ चिपट जाता है। तुम्हारे मामा का लड़का है वहाँ। वहाँ चिपट जाता है?

मुमुक्षु : अपने आप उत्साह से....

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्साह से हैरान होने जाता है। इस कफ में उड़ती हुई मक्खी गिरे एकदम, वह फिर पंख चिपकने से छूटती नहीं एकदम। आहाहा! चिकना कफ ऐसा हो और अच्छा लगा, दिखने में अच्छा (लगे) मानो कोई मिश्री होगी। जहाँ देखने जाए, वहाँ उसे एकदम पंख चिपक जाते हैं, उसमें कफ बहुत रोगवाला हो, ठीक सा ऐसा बड़ा (कफ) निकाला हो, बड़ा एकदम! पीला और ऐसा। वह मानो कि क्या होगा? शक्कर होगी पीली? उसमें मक्खी जाती है। ऐसे स्वाद लेने जाती है, ऐसे जोर से स्वाद लेने जाती है, जोर से बैठती है ऐसे। झट उड़ना नहीं। वहाँ वे पंख जोर से वहाँ चिपक जाते हैं। यह सब कर्म के निमित्त से प्राप्त सब संयोग कफ जैसे हैं, चिकने कफ जैसे हैं। वहाँ सम्बन्ध जितना करे, उतना आकुलता से चिपक जाएगा, दु:खी होगा—ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा!

अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं,... लो! उसे तो अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं। मूढ़ मानता है कि हम सुखी हैं। मूढ़ वहाँ सुखी कहाँ से था? धूल में? सुख तो प्रभु आत्मा में है, आनन्द तो आत्मा में है। आनन्द का घर और नित्यानन्द प्रभु है। स्वयं सच्चिदानन्द नित्यानन्द है, उसकी नजर न करके, उसका सम्बन्ध न जोड़कर ऐसा करके यदि सम्बन्ध जोड़ने जाए (तो) आकुलता अनन्त क्लेश को भोगना पड़ता है। सेठ हो या राजा हो अथवा भिखारी हो, सब अनन्त क्लेश को भोगना पड़ता है। कहो, सेठ!

मुमुक्षु : सबको भोगना ही पड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके परिणाम की उग्रता के, मन्दता के प्रमाण में (भोगना

पड़ता है) परन्तु सम्बन्ध जितना करे वह आकुलता, आकुलता और आकुलता। एक बात। वहाँ परपदार्थ का सम्बन्ध करे और अनाकुलता प्रगट हो, (ऐसा नहीं होता)। गजब बात करते हैं। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए इस समस्त सम्बन्ध को जो कि... ये सम्बन्ध कैसे हैं कि **मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं,...** यह सम्बन्ध मन, वचन की क्रिया से **हुआ करते हैं, इसलिए मन से, वचन से, काय से छोड़ता हूँ।** परसम्बन्ध में मन, वाणी और देह जाए, वह छोड़ देता (हूँ) मेरे स्वभाव का सम्बन्ध करके उस सम्बन्ध को छोड़ता हूँ। आहाहा! भाई! यह तो पूरी दुनिया से अलग प्रकार का मार्ग है। यहाँ तो वहाँ तक कहा, परद्रव्य का सम्बन्ध करे, यह देव-शास्त्र-गुरु का सम्बन्ध करे तो भी आकुलता उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं, लो!

मुमुक्षु : इतना तो अपवाद होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपवाद-फपवाद जरा भी नहीं होता। जितना स्वद्रव्य का सम्बन्ध छोड़कर ऐसा परद्रव्य के ऊपर जितना सम्बन्ध जाए, (उतनी) आकुलता उत्पन्न होती है। भले पुण्य की हो या पाप की (हो) परन्तु है आकुलता। समझ में आया?

अभिप्राय यह है कि मन, वचन, काय का आलम्बन होकर.. छोड़ता हूँ अर्थात् क्या छोड़ना है, ऐसा कहते हैं। समझे न? **सम्बन्ध को जो कि मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं,...** सम्बन्ध मन से, वचन से हो और ऐसा लक्ष्य जाए तब? बोलने का उसका होता है। काया से लक्ष्य जाए, काम करना और ऐसा करना। उसे **छोड़ता हूँ।** छोड़ता हूँ अर्थात् क्या? ऐसा कहते हैं। **मन, वचन, काय का आलम्बन होकर चंचल होनेवाले आत्मा के प्रदेशों को भावों से रोकता हूँ।** लो! यह छोड़ता हूँ, ऐसा। मेरा अकम्पस्वरूप भगवान आत्मा, उससे विरुद्ध जो कम्पन की ओर में भाव होता है, उस भाव को रोकता हूँ और स्वभाव की ओर आता हूँ, ऐसा कहते हैं। एकदम मन, वचन और काया से रोककर ऐसे ऐसा यह मेरा स्वरूप है। समझ में आया?

वीतराग की बात ऐसी कठिन लगती है। कुछ न कुछ थोड़ा-थोड़ा बाहर का रखकर कहते हों तो (खबर तो पड़े)। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक

समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए, उन भगवान के मुख में से वाणी इच्छा बिना आयी, उसे शास्त्र कहते हैं। उन शास्त्र में ऐसा स्वरूप वर्णन किया जाता है। वह इष्टोपदेश। उसका नाम इष्टोपदेश है। तेरे सम्बन्ध को-आनन्दकन्द को छोड़कर जितना मन, वचन, काया से पर का सम्बन्ध करने जाए, उतना तुझे दुःख का भाव है। यह इष्टोपदेश का स्वरूप है। पर के सम्बन्ध को छोड़कर, रोककर, अस्ति से बात करते हैं, यह स्वभाव का सम्बन्ध करता हूँ, इसलिए उसे रोकता हूँ, ऐसा स्वरूप वह आत्मा को हितकर है। ऐसा उपदेश भी हितकर है। इसके अतिरिक्त किसी का उपदेश ऐसा आवे (कि) परपदार्थ के सम्बन्ध से आत्मा को कुछ धर्म होता है तो वह इष्टोपदेश नहीं परन्तु अहितकर उपदेश है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : दूसरों को जिलाने का....

पूज्य गुरुदेवश्री : जिलाने का क्या; यहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव भी आकुलता है। ऐसा यह इष्टोपदेश है। दूसरों को जिलाने का, दूसरों को मारने का भाव, वह सब आकुलता है, वह लक्ष्य परद्रव्य के सम्बन्ध में जाता है। आहाहा!

एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। एक ओर भगवान आत्मा। अनन्त आनन्द का पिण्ड प्रभु आत्मा, वस्तु अनादि-अनन्त महान पदार्थ का सम्बन्ध / संग, वह सुखदायक है। स्वपदार्थ का संग / सम्बनध सुखदायक है। अपने पदार्थ के अतिरिक्त परपदार्थ के, मन -वचन-काया के झुकाववाला भाव, वह सब दुःखदायक है। इसलिए धर्मी भावना में आता है कि मैं मेरे स्वभाव का सम्बन्ध करके उस सम्बन्ध को रोकता हूँ। कहो, उत्तमचन्दभाई! गजब बातें, भाई! यह।

यह इष्ट उपदेश-प्रियकर उपदेश, हितकर उपदेश। सर्वज्ञ परमात्मा का कहा हुआ सन्त कहते हैं, वह हितकर यह उपदेश है। दूसरे प्रकार से कोई आत्मा के, द्रव्य के, संग के स्वभाव को छोड़कर पर के संग से कुछ लाभ मनवावे, माने, वह उपदेश अहितकर और भाव भी अहितकर है। आहाहा! ये वीतरागमार्ग की लहरें...! समझ में आया?

भगवान आत्मा पूर्ण स्वयप से परमात्मा स्वयं ही आनन्द का कन्द है। उसका जितना सम्बन्ध, ऐसा आनन्द का कन्द, उसका जितना सम्बन्ध; राग और कर्म रहित के

असंग तत्त्व का संग (करे), उतना सुखदायक है और इन बाहर के संगों का जितना संग, झुकाव, विकल्प.. विकल्प.. विकल्प.. विकल्प.. वह सब दुःख का सम्बन्ध है।

वीतराग कहते हैं कि हमारी ओर का तेरा झुकाव भी दुःख है, हों! आहा! यह तो गजब बात करते हैं न! आहाहा! बापू! तेरे हिसाब से हम परद्रव्य हैं, हों! हम परद्रव्य हैं। आहाहा! यह तो वीतराग को यह वाणी निकले। भाई! तेरा तत्त्व ही निराला है न, प्रभु! द्रव्यकर्म के उदय से प्राप्त सम्बन्ध रहित तेरा तत्त्व है। तेरा तत्त्व तो अनन्त स्वभाव की शान्ति आदि सागर के संगवाला तत्त्व है, सम्बन्धवाला तत्त्व है। ऐसे तत्त्व का आश्रय कर, सम्बन्ध कर, उसमें लिपट जा। इसके अतिरिक्त जितना ऐसे परसंग में जाए, भाई! उसमें तुझे आकुलता है। **स दव्वादो सुग्गई परदव्वादो दुग्गई**—ऐसा शब्द कुन्दकुन्दाचार्य का मोक्षपाहुड (गाथा-१६) में है। समझ में आया?

भगवान आत्मा स्वद्रव्य से सुगति है। अपना आनन्द शुद्ध चैतन्यस्वभाव, उसके आश्रय से होनेवाली दशा, वह सुगति है। जितना परद्रव्य के आश्रय से होनेवाला भाव (है, वह) दुर्गति है। आहाहा! समझ में आया? बीच में ऐसा शुभभाव होता अवश्य है। स्वरूप में स्थिर न हो, तब ऐसा भक्ति का, पूजा का शुभभाव (होता अवश्य है), परन्तु वह परसंग के झुकाववाला भाव दुःखरूप है, हेय है। आहाहा! गजब की बात है न! कहो, अमुलखभाई! सबने मन्दिर बना लिये, अब दिक्कत नहीं, ऐसा कहते हैं। कौन बनावे? बापू! भाई! उस समय में उन रजकणों के ही परावर्तन की पर्याय के स्वकाल में कार्य हो रहे हैं। भाई! दूसरा कौन करे? इस जीव के साथ यदि होवे (तो) इसका शुभभाव होता है। शुभभाव होवे कि यह ठीक (बने) इत्यादि। तथापि वह शुभभाव; स्वभाव के संग को छोड़े, तब पर के संग में जाता है। समझ में आया? वह तो तीव्र हो—स्त्री, कुटुम्ब-परिवार धन्धे के पाप के परिणाम वहाँ के संग से उत्पन्न हो, उनसे छूटने को इनके संग में ऐसा अपना भाव वहाँ होता है; इसलिए यह बात व्यवहार से कहने में आयी है। परमार्थदृष्टि के और स्वद्रव्य के संग में परद्रव्य के संग का निश्चय में तो निषेध ही है। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं? ऐई! देवानुप्रिया! इन पण्डितजी ने कितने शास्त्रों

का सब सरल सादी गुजराती भाषा में कैसा कर दिया है, कहो! कहो, यह नहीं होता तो ऐसा सब यह कितना सरल.. सरल किया। देखो!.. देखो! ऐसा अर्थ करना पड़ा, देखो!

मुमुक्षु : ये तो कहते हैं, आपकी कृपा का फल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई किसी की कृपा कहीं लागू नहीं पड़ती, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! यह कृपा का सागर भगवान (आत्मा) है न! यह कृपा का सागर भगवान है। उसे बाहर से कहाँ कृपा खोजना पड़े, ऐसा है। आहा! 'करुणा हम पावत है तुमकी, वह बात रही गुरुगम की' भगवान की करुणा हो गयी, कहते हैं, लो! भाई! तेरा असंग तत्त्व तीनों काल असंग तत्त्व राग और कर्म के संगरहित है। ऐसी दृष्टि में स्वभाव के संग में ही शान्ति है। जितना परसंग में लक्ष्य जाता है, सम्बन्ध खड़ा होता है, विकार का, हों! (वह) दुःखदायी है।

'आत्मा मन, वचन, काय से भिन्न है',... देखो! भगवान आत्मा तो मन-वचन और काया से भिन्न है न! **इस प्रकार के अभ्यास से सुखरूप एक फलवाले मोक्ष की प्राप्ति होती है...** देखो! संक्षिप्त में बहुत थोड़ा (कहते हैं)। भगवान आत्मा, मन-वचन और काया से भिन्न है। उसमें बाहर की बात तो कहीं रह गयी। इस प्रकार के अभ्यास से सुखरूप एक फलवाले मोक्ष की प्राप्ति (होती है)। दोनों में इतना कहेंगे, हों! यह भगवान आत्मा, मन-वचन और काया के विकल्प और यह, उनसे अत्यन्त भिन्न है। उसका जो अन्तर अभ्यास, (वह) एक ही मोक्ष के सुखरूप के फल की प्राप्ति करानेवाला है। समझ में आया?

इस प्रकार के अभ्यास से... किस प्रकार के? मन-वचन और काया से तो भगवान भिन्न है। फिर मन-वचन-काया का सम्बन्ध करना, वह तो दुःखरूप है। आहाहा! ऐसा कहते हैं। वाह रे वाह! इष्टोपदेश... इष्टोपदेश। देखो! मन-वचन और काया से भगवान आत्मा भिन्न है। **इस प्रकार के अभ्यास से सुखरूप एक फलवाले मोक्ष की प्राप्ति होती है...** देखा! ऐसे अभ्यास से सुखरूप एक फलवाला; उसमें भी एक फलवाला लेंगे। दोनों में एक फलवाला; परनतु वह अकेला दुःखरूप और यह अकेला सुख, ऐसा यहाँ कहना है। ऐसा सिद्धांत सिद्ध करना है। अपना शुद्धस्वभाव भगवान आत्मा, मन-वचन और काया से भी जहाँ भिन्न (है); ऐसा जो आत्मा का स्वभाव, उसे पर से भिन्नता

का और स्व से अभेद का अभ्यास (होने से) सुखरूप, अतीन्द्रिय आनन्दरूप एक फलवाले मोक्ष की प्राप्ति होती है।

और मन, वचन, काय से आत्मा अभिन्न है,... मन-वचन और काया से आत्मा एक है, सम्बन्ध है.. सम्बन्ध है.. सम्बन्ध है.. सम्बन्ध है.. ऐसा माने। **इस प्रकार के अभ्यास से...** भगवान आत्मा को मन, वचन और काया का सम्बन्ध है, ऐसे अभेद अभ्यास से **दुःखरूप एक फलवाले संसार की प्राप्ति होती है,...** ओहोहो! समझ में आया? यह तो स्थिर होकर सुने ऐसा है। यह सब हमारे (बाहर का) करना है और अब तुमने ऐस सब (रट) लगायी, उसका क्या करना? कहो, यह दुकान लगाकर बैठे हो घिसकर, अब उसका क्या करना? स्त्री विवाहकर बैठे हो, उसका क्या करना? लड़के हुए दो-चार, उनका क्या करना हमारे? कहो, ऐ..! पोपटभाई! छह-छह लड़के, छह-छह विवाहित हों, स्त्री लेकर आये हों, उनका सबका क्या करना? भाई! कहते हैं कि, इस काया का कुछ नहीं कर सकता और तू किसका करने दौड़ा है?... वह मुझमें है नहीं, वह मुझे है ही नहीं। रोग ही मुझे नहीं है। तीन काल में आत्मा को रोग नहीं है।

मुमुक्षु : आत्मा को रोग होवे किसका?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल को है। अभी कहेंगे, हों! इस पुद्गल को रोग है और अपना चाहा होता नहीं है, वह तो मूढ़ है; ऐसा कहते हैं। दुःखी होता है, सम्बन्ध करता है - यह अभी कहेंगे, हों! सब कहेंगे। एक-एक शब्द का कहेंगे। **न मे मृत्युः कुतो भीर्तिर्नेमें व्याधिः कुतो व्यथा।** समझ में आया? परन्तु मुझे रोग, मुझे रोग है, मूढ़ है। रोग जड़ को है। आत्मा को रोग है? यह तो शरीर को रोग, इसलिए चाहा हुआ होता नहीं, यह बात ही मिथ्या है। ऐ... मलूकचन्दभाई!

मुमुक्षु : विचार हुआ नहीं होता, यह बात तो सत्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्या विचारा हुआ नहीं होता? पर है, उसमें विचारा हुआ होने का प्रश्न ही क्या है? यह प्रश्न क्या? पर जड़ की वस्तु है। जड़ में रोग, जड़ की मृत्यु, जड़ का संयोग, जड़ का वियोग - यह सब पुद्गल (की दशा है)। कहेंगे। रोग पुद्गल की दशा है। आत्मा में है नहीं और आत्मा को हैरान करती नहीं और आत्मा ने उत्पन्न की

हुई नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? पोपटभाई! उड़ता है मुफ्त का। इस रोग के कारण दुःखी हूँ, पैर फिरता नहीं, इसलिए दुःखी हूँ - यह बड़ी भ्रमणा है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : सब भ्रमणा निकाल डाले तो पैर मिट जाए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मिटने का कहाँ... ? मिटने-विटने का काम क्या है यहाँ? पर में क्या होता है, उसका काम क्या है इसे? पर में क्या होता है, उसका यहाँ क्या काम है? कहो! समझ में आया? अपने बँगले में कुछ सुलगता हो तो जाए, परन्तु किसी का कहीं अब कहीं झोंपड़ी सुलगती हो, वह भी वापस खाली हो, जंगल में खाली झोंपड़ा छोड़कर चले जाते हैं न? खाली झोंपड़ा छोड़कर चले जाते हैं। फिर (बोले), सुलगा-सुलगा.. परन्तु क्या है तुझे? वह ऐसा है यह। आत्मा के बिना खाली झोपड़ा, उसमें कुछ होता है और कहता है, मुझे होता है। अब उसका तो रोग किस प्रकार मिटे? पोपटभाई!

मुमुक्षु : .....सब दवायें होती हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दवा कही न! मुझे रोग नहीं है, यह कहेंगे। यह दवा है। मुझे रोग ही नहीं है, फिर दुःख क्या? मुझे शरीर ही नहीं है, दुःख क्या? मैं किसका सम्बन्ध करूँ? मुझमें नहीं है, उसका मैं सम्बन्ध करूँ? सम्बन्ध करे तो वह दुःख है। वह रोग दुःख नहीं है। यह मुझे रोग है, ऐसा सम्बन्ध करता है, वह दुःख है। आहाहा! समझ में आया?

गजब बात की। दो ही बातें की। मैं मन-वचन और काया के सम्बन्धवाला हूँ, बस इसके फलरूप में संसार के दुःख की प्राप्ति है। मन-वचन-काया से भिन्न भगवान है, इसका अभ्यास यह अकेला मोक्ष के-आनन्द के फल का दायक है। अब तुझे ठीक पड़े, वैसा कर। ले! फिर इसका दृष्टान्त देंगे।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३३ गाथा-२८-२९ गुरुवार, दिनाङ्क २१-०४-१९६६
चैत्र शुक्ल १, वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश पूज्यपादस्वामीकृत है। इसका २८ वाँ श्लोक चलता है। उसके आधार में नीचे समाधिशतक का दृष्टान्त दिया है। देखो! क्या कहते हैं? **'जब तक शरीर, वाणी और मन इन तीनों को ये 'स्व हैं-अपने हैं' इस रूप में ग्रहण करता रहता है। तब तक संसार होता है और जब इनसे भेद-बुद्धि करने का अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति हो जाती है।'** इसका अर्थ जरा सूक्ष्म है, थोड़ा सूक्ष्म है।

जब तक शरीर, वाणी और मन इन तीनों को ये स्व हैं-.. भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्द-सहजानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति अमूर्त स्वरूप है। उसे छोड़कर यहाँ निकट की वस्तुएँ ली हैं। दूर की चीज़ तो कहीं रह गयी। मन, वाणी और देह, वह मेरे ज्ञान का अंश है अथवा वह मेरी चीज़ है। मन से मैं काम ले सकता हूँ, वाणी से काम ले सकता हूँ, देह से काम ले सकता है—जब तक ऐसी बुद्धि है, तब तक मिथ्यादर्शन संसार है। समझ में आया? स्पष्ट करते हैं।

मुमुक्षु : आँख है तो पढ़ा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आँख से बिल्कुल नहीं पढ़ा जाता। ज्ञान से आत्मा जानता है, यह कहते हैं। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द शुद्ध ज्ञायक चैतन्य ज्योतिस्वरूप है, उसका अपना अस्तित्व शुद्ध है, पवित्र है—ऐसी अन्तर की दृष्टि करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-प्रथम धर्म है। इसके अतिरिक्त यह मन, वाणी, देह मेरे हैं, मैं मन से ज्ञान में काम ले सकता हूँ, वाणी बोल सकता हूँ और वाणी द्वारा दूसरों को समझा सकता हूँ - ऐसा जब तक वाणी और मन में अपनापन मानता है, तब तक मिथ्यादर्शन संसार है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है। अनन्त काल से अपना अस्तित्व, एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में (पूर्ण है, उसे कभी जाना नहीं)।...

अपना स्वरूप देह, वाणी, मन की पर्याय से अत्यन्त भिन्न है। दूसरे पदार्थ से तो भिन्न है। वह तो बाह्य क्षेत्रावगाही भिन्न रहे हैं। अपने क्षेत्र में अवगाहन करके रहनेवाली चीज़, वह भी अपने चैतन्य से भिन्न है।

मुमुक्षु : कब ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी। कब क्या ? अपना आत्मा अरूपी ज्ञानघन आनन्दकन्द सत् है। महा अस्ति है, पदार्थ है, जिसमें अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि भरपूर है, ऐसे अस्तित्व में अपनी दृष्टि रखनेवाला; मन-वचन-काया से क्रिया होती है, वह मेरी नहीं। मुझमें वह नहीं और मेरे से वह (क्रिया) होती नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। ये तीनों स्व अर्थात् मेरे हैं, अर्थात् क्या कहते हैं ? अपनी ज्ञायक चैतन्य ज्योति महाचैतन्य आनन्दकन्द ध्रुव धातु, ऐसी अपनी चीज़ की जिसे दृष्टि नहीं है, उसे मन-वचन-काया, यही मेरा अंश है, मेरा भाग है, मेरी चीज़ है, उससे मैं काम लेनेवाला हूँ - ऐसी पर में स्व बुद्धि है, तब तक मिथ्यादर्शन शल्य है और मिथ्यादर्शन शल्य ही संसार है।

मुमुक्षु : दया पालने में शरीर की....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर की दया कौन पाले ? ऐई! सेठी! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! यहाँ तो अन्तर्मुख में चैतन्यसत्ता भगवान एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त बेहद चैतन्य आनन्दकन्द अनादि-अनन्त आनन्दकन्द शुद्धचैतन्य धातु आत्मा है। उसका लक्ष्य, दृष्टि, पक्ष किये बिना मन, वाणी, देह जो नजदीक में एक जगह रहनेवाली चीज़ है, उसके अंश से मैं काम ले सकता हूँ और वह चीज़ मुझे सहायक और मददरूप है, ऐसा माननेवाला पर को ही स्व-रूप से मानता है। ओहोहो! बहुत सूक्ष्म। समझ में आया ?

भगवान आत्मा रजकण-रजकण के पिण्ड से भिन्न प्रभु अरूपी चैतन्यघन आनन्दकन्द है। उसमें जो पुण्य-पाप के विकल्प जो राग उठता है, उससे भी चैतन्यधातु भगवान आत्मा भिन्न-निराला है। ऐसे अपने निजस्वरूप की दृष्टि नहीं रखनेवाला और पर स्वरूप धन, वाणी, देह के अस्तित्व में मन और देह के अस्तित्व में मैं हूँ अर्थात् मैं उनसे काम लेता हूँ अर्थात् उनकी जो दशा-पर्याय होती है, वह मुझसे होती है, ऐसा माननेवाला पर को अपना मानता है। कहो, लालचन्दभाई! बहुत सूक्ष्म। भारी विवाद।

मुमुक्षु : बोलना या नहीं बोलना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बोले ? बोले कौन ? वह तो जड़ की दशा है। आहाहा! मौन

कौन रहे ? मैं मौन रहूँ। भाषा कहाँ तेरी थी, (कि) वह तू मौन रह सके ? भाषा जड़ की पर्याय, रजकण की अवस्था है। जड़ अस्ति है, नहीं है—ऐसा नहीं परन्तु उस चीज़ को अपनी वस्तु से अत्यन्त भिन्न भाव है। ऐसा अन्तर में नहीं मानकर वे तीनों स्व हैं, अपने हैं अर्थात्.. सूक्ष्म बात ली है। अपना शुद्ध चैतन्यप्रभु मन, वचन और काया के लक्ष्य से पार मन, वचन और काया का अस्तित्व है, मौजूदगी है, उनके अस्तित्व में जो लक्ष्य जाता है, उससे भी भिन्न हूँ। समझ में आया ? तो मन, वचन, काया से मैं पर की दया पाल सकता हूँ या पर की हिंसा कर सकता हूँ या पर की रक्षा कर सकता हूँ या पर की सेवा कर सकता हूँ। कहते हैं कि भगवन्त! तेरी चीज़ से भिन्न चीज़ से तू काम ले सकता है, ऐसा माननेवाला पर को ही अपना मानता है। आहाहा! भारी सूक्ष्म बात। समझ में आया ?

अनादि काल से चैतन्य हीरा, अनन्त शान्तरस का कन्द, उसका निर्मलानन्द शुद्ध-बुद्ध-घन है, उसकी अन्तर्दृष्टि किये बिना बाहर के राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया (मैं करता हूँ, ऐसा मानता है)। मैं जाप करता हूँ—णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं..। वह तो वाणी की क्रिया हुई और अन्दर मन में संकल्प हुआ, वह भी मन के संग से हुआ है, वह अपना स्वभाव नहीं है।

मुमुक्षु : तो क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करना, कहते हैं न! मन-वचन-काया के अस्तित्व में मैं नहीं हूँ। उनकी वर्तमान प्रवर्तित दशा मैं नहीं हूँ। मैं मेरा शुद्धचिदानन्दस्वरूप हूँ, ज्ञायक हूँ, ऐसी अन्तर्दृष्टि करना और अपने राग से और देह से भिन्न अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन और मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! समझ में आया ?

अस्ति है, परवस्तु है, नहीं है - ऐसा नहीं है। एक ही है और दूसरे नहीं हैं, ऐसा नहीं है। ऐसा होवे तो पर से भिन्न और पर मेरे हैं—ऐसा कहाँ से होता है। कहो, लालचन्दभाई! समझ में आया ? समझाय छे काँई ? गुजराती है न थोड़ी ?

कहते हैं कि ये मन-वाणी-शरीर, वाणी और मन नजदीक में पड़े हुए तीन (पदार्थ) तो जड़ हैं, मूर्त हैं, पुद्गल हैं, अजीव हैं, रूपी हैं। भगवान अरूपी है, चैतन्य है, आनन्द है, शुद्ध है, ज्ञायक है। समझ में आया ? **इन तीनों को ये 'स्व हैं-अपने हैं' इस**

रूप में ग्रहण करता रहता है। इस रूप में, ऐसा। जाननेवाला जाने कि ये हैं, मैं इनका जाननेवाला हूँ। मैं इनसे काम लेनेवाला नहीं। मेरे अस्तित्व में, मेरी मौजूदगी में मन, वचन और काया है ही नहीं। पोपटभाई! कहो, ये स्त्री, पुत्र, पैसा से आत्मा कितना काम ले सकता है? दूर रह गये? समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : शरीर का और वचन का सदुपयोग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सदुपयोग कौन कर सकता है? यह प्रश्न यहाँ एक बार किया था। ढेबरभाई आये थे न? ढेबरभाई। हैं न यहाँ के बड़े प्रधान? पहले यहाँ आये थे। यहाँ तो बहुत बार आते हैं। व्याख्यान में आते हैं। एक बार प्रश्न किया। सब बैठे थे, रामजीभाई, नानालालभाई (भी थे) वे कहें-इस शरीर का सदुपयोग किस प्रकार करना? शरीर का सदुपयोग आत्मा से हो सकता है? यह तो मिट्टी है, जड़ है। जड़ का द्रव्य, जड़ के गुण और जड़ की अवस्था, जड़ से होती है। अपने आत्मा से शरीर का सदुपयोग करना है, ऐसा माननेवाला शरीर को अपना मानता है।

मुमुक्षु : शरीर से दया पलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं पलती। क्या पलती है? समझ में आया? पर के देह और आयुष्य की स्थिति हो तो वहाँ रह सकता है। दूसरा कोई उसे बचा सकता है? शरीर की और वाणी की मदद देकर बचा सकता है? वाणी और शरीर इसका नहीं है, वहाँ पर की पर्याय कहाँ कर सकता है? सेठ!

मुमुक्षु : पण्डित लोग इसमें तो भड़क जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम क्यों भड़के? उसमें तुम्हारी भूल थी। सेठ! भूल तो तुम्हारी थी, तुम्हें समझना चाहिए।

मुमुक्षु : भड़कनेवाले थे, उसने भड़काया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भड़काया। सेठ! नवनीतभाई ठीक कहते हैं न? भड़कनेवाले थे, उसने भड़काया है। कोई दूसरे से भड़का नहीं।

भगवान आत्मा सत्.. सत्.. सत्.. सत्.. अनादि सत्, अन्तरहित सत्, स्वभाव से

खाली नहीं है। धीरुभाई! समझ में आया कुछ? थोड़ा-थोड़ा। इसे रस था तो दूसरी बार आया न वापस? कहो, समझ में आया? यह देह, रजकण, मिट्टी भिन्न है। मिट्टी के रजकण रजकण की पर्याय। पर्याय अर्थात् अवस्था, अवस्था अर्थात् हालत; जो रजकण है, वह तत्त्व है, अस्ति है और उस रजकण की ऐसी अवस्था होती है, वह सब रजकण से होती है; आत्मा से नहीं होती।

मुमुक्षु : आत्मा ने की है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कहता है? कौन आत्मा करता है? आत्मा जानता है कि पर में होता है, मुझमें नहीं, मुझसे नहीं, मेरे आधार से नहीं। आहाहा! आत्मा है तो शरीर चलता है, आत्मा है तो वाणी बोली जाती है, ऐसा तीन काल-तीन लोक में है ही नहीं। समझ में आया?

यहाँ यह तो बहुत संक्षिप्त शब्द पड़े हैं। यहाँ तो कहा है और समाधिशतक, पूज्यपादस्वामी का यहाँ आधार दिया है। अस्ति है। यह... यह दिखता है न? यह.. यह। यह क्या बतलाता है? विद्यमानपना। शरीर, वाणी, मन, विद्यमान, अस्ति, मौजूदगी है, तथापि उस अस्ति से-उससे अपनी पर्याय काम करती है, ऐसा नहीं है और वह अस्ति है, उसकी पर्याय अपने से वहाँ होती है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

चैतन्य भगवान, जैसे श्रीफल-नारियल (होता है), नारियल होता है न? क्या कहते हैं? नारियल। जैसे नारियल में सफेद खोपरा होता है, सफेद और मीठा खोपरा जैसे भिन्न है और ऊपर के जो छाल हैं, छाल—ऐसा शरीर है। उसमें कार्माणशरीर जड़ है। जैसे काँचली होती है न नारियल में? कठोर काँचली। वैसे अन्दर कर्म रजकण हैं। अन्दर बारीक धूल है और पुण्य-पाप के भाव जो विकल्प उठते हैं, वे काँचली की ओर की लालिमा है। लाल, लाल, लालिमा है, वह श्रीफल नहीं है।

भगवान आत्मा इस काँचली से भिन्न है। इसकी क्रिया आत्मा की है ही नहीं। ऐसा करना और वैसा और ऐसा करना... वह सब क्रिया आत्मा की नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह शरीर छाल है, अन्दर आठ कर्म काँचली है, काँचली जैसा और पुण्य तथा पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव वे छिलका है, छिलका हैं। उनसे भिन्न

भगवान शुद्ध निर्मलानन्द आनन्दकन्द वह आत्मा है ऐसा अनन्त काल में एक समय भी अपने स्वभाव की दृष्टि इसने नहीं की है। पर्याय में बुद्धि रखी है। कहाँ (रखी है) ? पर की अवस्था मैं कर सकता हूँ या अपनी पर्याय में राग और अल्पज्ञ अवस्था है, उतना मैं हूँ, रागादि उत्पन्न होते हैं और राग को जाननेवाला वर्तमान क्षयोपशम के विकास का अंश क्षणिक है, उतना मैं हूँ, ऐसा माननेवाला त्रिकाल चैतन्य द्रव्यस्वभाव को नहीं मानता। नहीं मानता उसे यहाँ मिथ्यादर्शन कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

इस रूप में ग्रहण करता रहता है। देखो! **तब तक संसार होता है...** तब तक 'संसरण इति संसारः' (होता है)। भगवान आत्मा अपने आनन्दकन्द शुद्ध (स्वभाव) में से संसरण-हट जाता है। अपने शुद्ध आनन्दकन्द में से हट जाता है और मन-वाणी-देह से मैं काम लेता हूँ, ऐसा मानता है, इसका नाम मिथ्यादर्शन और संसार है। ओहोहो! संसार बाहर नहीं रहता। आत्मा का संसार बाहर नहीं रहता।

संसार एक दोष है, संसार एक विपरीत बुद्धि है, संसार विपरीत श्रद्धा है, वह आत्मा की पर्याय-अवस्था से दूर नहीं रहता। समझ में आया ? आहाहा! स्त्री, पुत्र, छोड़ दिये, सब छोड़ दिया; (इसलिए) संसार छूट गया। क्या धूल में छूटे ? संसार कहाँ रहता था ? संसार, तेरी चीज़ अनन्त आनन्दकन्द प्रभु निर्मलानन्द का नाथ शरीरप्रमाण भिन्न पदार्थ है, शरीर -प्रमाण भिन्न पदार्थ है, ऐसी अपनी मौजूदगी की प्रतीति नहीं करके, यह राग और शरीर, वाणी, मन को अपना मानता है, उसे कहते हैं कि यह मान्यता ही संसार है। समझ में आया ? यह संसार। स्त्री, पुत्र, संसार नहीं; कर्म, संसार नहीं। कर्म जड़ मिट्टी धूल है। शरीर, संसार नहीं है। वाणी, संसार नहीं है। संसार, आत्मा की एक विपरीत दशा के भाव का नाम संसार है। आहाहा! यह विपरीत भाव वह है कि अपनी चीज़ से (भिन्न ऐसी) परचीज़ को अपनी मानना और अपना काम पर से लेता है, अपना ज्ञान-दर्शन जानना, वह चीज़ है तो होता है, ऐसा मानना, वही मिथ्यादर्शन संसार कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया ? परन्तु बहुत सूक्ष्म।

मुमुक्षु : स्त्री-पुत्र ने गुनाह किया है ? आरोप किस पर ?.....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्त्री-पुत्र कहाँ ? वे तो बाहर पड़े हैं, यहाँ वे कहाँ घुस गये हैं ?

गरी गया को क्या कहते हैं ? घुस कहाँ गये हैं ? यहाँ घुस गये हैं ? वे तो उनके अस्तित्व में हैं, उनकी मौजूदगी में वे हैं। स्त्री का, परिवार का आत्मा, उनका शरीर तो उनके अस्तित्व में, उनकी मौजूदगी में है। एक समयमात्र भी अपनी अस्ति में वे नहीं आते। यह शरीर, वाणी, मन की पर्याय भी एक समयमात्र अपनी पर्याय में नहीं आती। आहाहा! परन्तु ऐसी अपनी निज सत्ता-अनन्त आनन्दकन्द, अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, निर्मलानन्द की दृष्टि नहीं करके इन शरीर, वाणी, मन की क्रिया मैं करता हूँ और मैं इनसे काम ले सकता हूँ, मन से जानता हूँ, वाणी से बोलता हूँ, काया से मैं गमन करता हूँ—ऐसी मान्यता है, इसका नाम मिथ्यादर्शन संसार है। आहाहा! गजब भाई यह! समझ में आया? यह मिथ्यादर्शन संसार छूटे बिना इसकी मुक्ति कभी होनेवाली नहीं है।

और जब इनसे भेद-बुद्धि करने का अभ्यास हो जाता है,... देखो! **जब इनसे भेद-बुद्धि करने का अभ्यास हो जाता है,...** भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानघन अन्तर्मुख चैतन्यपिण्ड है और शरीर, वाणी, मन से मैं बिल्कुल काम नहीं ले सकता और शरीर, वाणी, मन मेरे किसी एक अंश में भी नहीं है और मेरा अंश जो ज्ञानांश है, वह ज्ञानांश शरीर, वाणी, मन की सहायता से काम लेता है—ऐसा भी नहीं है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है। यह गाथा ही ऐसी आयी है। अस्ति है, दोनों की अस्ति है, हों! आत्मा की अस्ति भी है, और जगत भी है, जड़ भी है, मन-वाणी भी है, उनकी उल्टी मान्यता करता है, वह मान्यता भी है। है, नहीं है-ऐसा नहीं है। समझ में आया? पर्याय में-अवस्था में-हालत में यह शरीर, वाणी, मन के अस्तित्व से मैं हूँ (ऐसा जो मानता है), उसकी दृष्टि पर के ऊपर है। अपना चिदानन्द भगवान आत्मा अखण्डानन्द शुद्धचैतन्य गोला भिन्न है। शुद्ध और आनन्द को धरनेवाला भगवान अस्ति है। उसकी प्रतीति अन्तर्दृष्टि किये बिना, पर से भेद अभ्यास नहीं होता। समझ में आया?

पर से भेदबुद्धि करने का अभ्यास। शरीर, वाणी, मन की अवस्था होती है, वह मुझसे नहीं होती। मुझमें उनसे कुछ नहीं होता और मन, वाणी, देह का लक्ष्य करके विकल्प जो शुभ-अशुभराग उठता है, वह भी परलक्ष्यी विकल्प है, वह मेरी चीज़ में नहीं है। जो वृत्ति उठती है, शुभाशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वे भी परलक्ष्य के आश्रय से उठती हैं,

वे स्व में नहीं हैं। समझ में आया? ऐसा 'भेदविज्ञान वह ज्ञान है, बाकी बुरौ अज्ञान'। भेदज्ञान, वह ज्ञान है।

भेदज्ञान का अर्थ - उसमें दो वस्तुएँ आ गयीं। एक आत्मा, एक विकार, एक शरीर, वाणी, मन और एक पर। सब हैं अवश्य, परन्तु वे हैं, उनमें मेरी अस्ति नहीं और मेरी अस्ति में उनकी अस्ति नहीं। मैं चिदानन्द भगवान आत्मा वाणी, मन की क्रिया से, देह से पार हूँ। मन से पार हूँ, वाणी से भिन्न हूँ, पुण्य-पाप के विकल्प से भी भिन्न शुद्ध तत्त्व हूँ। ऐसा अन्तर में पर से एकत्वबुद्धि का नाश करके भेदज्ञान का अभ्यास करना। **तब मुक्ति हो जाती है।** बहुत संक्षिप्त (बात है)।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१३१॥

भगवान अमृतचन्द्राचार्य समयसार में ढ़िढोरा पीटकर (घोषित करते हैं)। दिगम्बर सन्त मुनि जंगल में बसनेवाले थे। कुन्दकुन्दाचार्य के (ग्रन्थों की) टीका करनेवाले। **भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।** जो कोई अभी तक अनन्त काल के प्रवाह में अनन्त आत्माएँ मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, वे भेदविज्ञान से **सिद्धाः** (सिद्ध हुए हैं)।

भेदविज्ञान में दो बातें आयीं। परचीज़ है, अपनी चीज़ है। परचीज़ को अपनी मानता था, (अब) अपना स्वरूप माना, (वह) पर्याय पलट गयी, तो पर्याय भी है। समझ में आया? पर्याय पलटती है, द्रव्य-गुण कायम रहते हैं। आहाहा! अन्तर में ऐसा बोध-अभ्यास हुए बिना अपने आत्मा में मिथ्यात्व से भी मुक्ति नहीं होती। मिथ्यात्व से मुक्ति का अर्थ-देह, वाणी, मन की मौजूदगी में जब तक लक्ष्य रहता है, और राग के विकल्प में अपने अस्तित्व का लक्ष्य रहता है, तब मिथ्यादर्शन का अस्तित्व है और मिथ्यादर्शन के अस्तित्व का नाश, (तब होता है कि मैं) शुद्धज्ञायकभगवान हूँ, देह-वाणी की क्रिया मैं नहीं, किसी का भला-बुरा करने की मुझमें सामर्थ्य ही नहीं। मैं पर का भला कर सकता हूँ, बुरा कर सकता हूँ, और पर से मुझमें भला-बुरा हो सकता है, ऐसी मेरी वस्तु ही नहीं है। समझ में आया? इस प्रकार पर से भेदज्ञान करना, वही मिथ्यात्व के नाश करने का उपाय है। इतनी मिथ्यात्व की मुक्ति हुई। आहाहा! समझ में आया?

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन... किल निश्चय से अभी तक जिस किसी ने आत्मा में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति की, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति की अथवा केवलज्ञान की प्राप्ति की, वह भेदज्ञान से की है। पर से निराला हूँ। कहाँ है ? यहाँ है। पर्याय बदलती है, अवस्था बदलती है। बदले बिना दोष का नाश और निर्दोषता की उत्पत्ति ही नहीं होती। वस्तु है, त्रिकाल तत्त्व है, उसमें अनन्त-अनन्त शक्तियोंरूपी गुण-स्वभाव है और उनकी वर्तमान अवस्था पलटती है। वह पलटती है, उसे पर्याय कहते हैं। उस पलटती चीज़ में पर को अपना मानना और अपने को चूक जाना, इसका नाम मिथ्यादर्शन पर्याय, वह संसार है। आहाहा! समझ में आया ? कोई ऐसा माने कि आत्मा कूटस्थ है। उसे दोष है और दोष निकालना है, यह बात नहीं रहती। दोष था ही नहीं तो दोष का नाश करने का उपाय भी रहा ही नहीं।

(यहाँ) यह कहते हैं, जब भेदज्ञान का अभ्यास करता है। अभ्यास, यह पर्याय हुई। समझ में आया ? भेदविज्ञान। पर से भिन्न **अस्यैवाभावतो बद्धा** जिसने अभी तक विकार, शरीर, वाणी, मन की मौजूदगी से मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान नहीं किया, भेदज्ञान नहीं किया, **अस्यैवाभावतो बद्धा** इससे बन्धन में-मिथ्यात्व में पड़ा है।

मुमुक्षु : .....करने जाने पर रूखापना लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रूखापना। रूखेपने का अर्थ क्या ? अकेला चैतन्यभगवान है, ज्ञायकज्योति है। अन्तर्मुख में विचार करने से भिन्न तत्त्व का भास होता है (तो) रूखा होता है या वीतरागता होती है ? आहाहा! अत्यन्त निवृत्त... निवृत्त.. निवृत्त है। पर से निवृत्ति, हों! स्व में तो प्रवृत्त है। परिणमता है, परिणमता है, परिणमता है, बदलता है।

यह द्रव्य-गुण और पर्याय का ऐसा अस्तित्व है, ऐसा निर्णय करके परपदार्थ के भी द्रव्य-गुण-पर्याय पलट सकते हैं। ऐसा निर्णय करके पर से भेद अभ्यास करना, यही मुक्ति का मार्ग अर्थात् मिथ्यादर्शन के नाश का उपाय है। उसका भेद नहीं करना और एकपने का अभ्यास रखना, यही बन्धन का उपाय अनादिकाल से करता आया है। आहाहा! समझ में आया ? **अस्पेभावता...** वहाँ अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप से राग और शरीर की, मन की क्रिया से भेद नहीं करके दोनों तत्त्व का

एकपना मानकर अनादि से बन्धन में पड़ा है। यही बन्ध का कारण है। समझ में आया?

तब मुक्ति हो जाती है। बहुत संक्षिप्त, एक श्लोक संक्षिप्त में कह दिया, लो! सवा दो लाईन है। सवा दो पंक्ति। आहाहा! पहले निर्णय करना पड़ेगा। मैं किसी दोष में हूँ या नहीं? दोष में हूँ तो दोष निकल सकता है या नहीं? और दोष है तो वह त्रिकाल स्वभाव में है या नहीं? दोष है तो किसी दूसरे को लक्ष्य में लिया तो दूसरी चीज़ का लक्ष्य किया तो दोष हुआ, अतः दूसरी चीज़ है या नहीं? इतना निर्णय किये बिना पर से भेदज्ञान का अभ्यास कभी नहीं होता। भले ध्यान करे ऐसे-ऐसे ॐ.. ॐ.. ॐ.. हो, मूढ़ हो जाएगा, जड़ हो जाएगा, जड़। समझ में आया? बस, विकल्प छोड़ दो, विकल्प छोड़ दो। परन्तु विकल्प तोड़ने की वस्तु क्या है? वस्तु कौन है और विकल्प टूटने का अर्थ क्या? कौन से विकल्प थे तो टूट गये? क्या कोई फल लगा था, वह टूट गया? क्या है? समझ में आया?

अस्तित्व, एक समय में पूर्णानन्द शरीर प्रमाण आत्मा है। यह आ गया, भाई! २१ (श्लोक से) शुरु हुआ है। वहाँ से मुद्दा शुरु हुआ है। २१ गाथा है? देखो! २१ गाथा है।

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः।।२१।।

परमार्थदृष्टि वहाँ से शुरु हुई है। एक तो भगवान आत्मा लोकालोक को जाननेवाला है। यह एक आत्मा, हों! एक। आहाहा! लोकालोक को जाननेवाला मैं अकेला आत्मा हूँ, तो लोकालोक है, मैं जाननेवाला मुझसे हूँ। समझ में आया? और शरीर **तनुमात्रो** शरीर -प्रमाण हूँ। व्यापक नहीं - सर्व व्यापक नहीं। शरीरप्रमाण हूँ, ऐसा मेरा क्षेत्र से अस्तित्व है। क्षेत्र से सबमें व्यापक नहीं क्योंकि जब ध्यान करता है, तब अन्तर में एकाग्र होता है, तो जितने में है, उसमें एकाग्र होता है। जितने क्षेत्र में है, उसमें एकाग्र होता है। समझ में आया?

तनुमात्रो कहा। ऐसा क्यों कहा? अपने में एकाग्र होने में कोई पर ऊपर ऐसे लम्बे लक्ष्य नहीं जाता। उसका अर्थ है कि आत्मा इतने प्रमाण में, जितने प्रमाण में है, उतने में एकाग्र होने का प्रयास होता है, अतः शरीरप्रमाण ही आत्मा है और वह नित्य है। लिखा है न? नित्य है, अत्यन्त सौख्यवान है। दो बोल लिये। लोकालोक है, लोक है, अलोक

भी है, सबको मैं जाननेवाला अकेला तत्त्व हूँ और मैं अनन्त सौख्यवान, अनन्त आनन्दवान हूँ। अनन्त आनन्द जिसका स्वभाव है, उसके आनन्द का माप क्या? अत्यन्त अनन्त आनन्दमय मैं अकेला आत्मा हूँ। शरीर प्रमाण हूँ, नित्य हूँ, लोकालोक है उसका जाननेवाला हूँ, अनन्त आनन्दमय हूँ और स्वसंवेदन। मैं ही मुझसे वेदन करनेयोग्य हूँ। समझ में आया? राग से नहीं, पर से नहीं, देव-गुरु-शास्त्र से भी नहीं। आहाहा! स्वसंवेदन। इसमें सब बोल लिखे हैं। यहाँ से शुरु हुआ है।

एक-एक आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर हो सकता है, ऐसा सिद्ध किया है। एक आत्मा सर्वज्ञ न हो सके तो वह आत्मा ही नहीं है। समझ में आया? क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप की विकास शक्ति होने पर लोकालोक जगत, तीन काल-तीन लोक, आकाश का अमाप आकाश, अमाप.. अमाप.. अमाप.. अमाप.. कहीं अन्त नहीं आता। आकाश का कहीं अन्त है? कहाँ अन्त होगा? कहाँ? पश्चात् क्या? अमाप। जिसका माप नहीं, उसका भी ज्ञान-आत्मा माप ले लेता है। ऐसा अपना ज्ञान-आत्मा लोकालोक को जाननेवाला है। एक-एक आत्मा सर्वज्ञ शक्ति धारक है और एक-एक आत्मा में अनन्त आनन्द भरा है। है शरीरप्रमाण, क्षेत्र की विशेषता नहीं। समझ में आया? क्षेत्र बड़ा हो तो बड़ा गुण रहे, ऐसा नहीं है। क्षेत्र इतना है, गुण अनन्त है। सामर्थ्य अनन्त है, शक्ति अनन्त है। लोकालोक जानने की सामर्थ्य है और शाश्वत रहनेवाला है तथा पर्याय पलटती है। स्वसंवेदन आया न? भाई!

स्वसंवेदन का अर्थ—जो अनादि काल से विकार, पुण्य-पाप का वेदन करता था, पर का वेदन तो कोई करता ही नहीं; शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब, जड़ का-धूल का-माँस का वेदन तो कोई कर सकता ही नहीं, वह तो मिट्टी-धूल है। उसका लक्ष्य करके राग का वेदन करता था। राग का वेदन करता था, वह विकार और दुःख और संसार था। उस राग से हटकर मैं चिदानन्द हूँ, ऐसे पर्याय में अवस्था में स्वसंवेदन स्व से होना, पर्याय में आनन्द का भान होना, इसका नाम मोक्ष का मार्ग कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? वहाँ से-२१ (श्लोक से) शुरु किया है, लो! यहाँ तक आया। यह सब वही विस्तार है। २८ (गाथा) पूरी हुई।

इसका हिन्दी दोहा। **प्राणी जा संयोगते, दुःख समूह लहात।** हिन्दी है, हिन्दी।

दोहा – प्राणी जा संयोगते, दुःख समूह लहात।
याते मन वच काय युत, हूँ तो सर्व तजात।।२८।।

प्राणी जा संयोगते, जो मन-वचन-काया आदि परसंयोग का लक्ष्य करता है, उसे **दुःख समूह लहात।** दुःख का समूह प्राप्त होता है। अपना-भगवान आत्मा का शुद्धस्वभाव का सम्बन्ध छोड़कर जितना परपदार्थ का संयोग / सम्बन्ध / लक्ष्य करता है, उतने दुःख का समुद्र अनुभव करने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

प्राणी जा संयोगते, दुःख समूह लहात। जो पर के संयोग से जीव को-आत्मा को दुःख, दुःख, दुःख, आकुलता उत्पन्न होती है। पर के संयोग से कहीं भी अनाकुलता हो, ऐसा स्वरूप में है ही नहीं। जितना अपना निजानन्द भगवान आत्मा, पर से पृथक् असंग तत्त्व का अन्तर संग छोड़कर जितना परपदार्थ की अस्ति में अपना संग अर्थात् लक्ष्य करता है, आश्रय करता है, उसे दुःख का समूह वेदन करने में आता है। दुःख है, दुःख का वेदन है, इसका नाम संसार है। जगत में दुःख है ही नहीं, ऐसा नहीं है। दुःख न हो तो दुःख का नाश करने का उपाय भी नहीं रहता। पर के संग से, पर के लक्ष्य से, पर के संयोग से अज्ञानी को अनादि काल से दुःख-वेदन है।

याते मन वच काय युत, हूँ तो सर्व तजात। पहले अभिप्राय में मन, वचन और काया से सबसे मैं छूट जाता हूँ। मेरी चीज़ अयोगी, अकम्प, योग से भिन्न, मन-वचन-काया की अस्ति से भिन्न मेरी चीज़ है, तो मेरी चीज़ के आश्रय से पर को—मन, वचन, काया को छोड़ देता हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह २८ हुई।

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्गल-शरीरादिक रूपी मूर्तद्रव्य के साथ जैसा कि आगम में सुना जाता है, जीव का सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध के कारण ही जीव का मरण व रोगादिक होते हैं, तथा मरणादि सम्बन्धी बाधायें भी होती हैं। तब इन्हें कैसे व किस भावना से हटाया जावे? यह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि –

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।२९।।

अर्थ – मेरी मृत्यु नहीं, तब डर किसका? मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे? न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ। ये सब बातें (दशाएं) पुद्गल में ही पायी जाती हैं।

विशदार्थ – 'एकोहं निर्ममः शुद्धः' इत्यादिरूप से जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ, उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चित्शक्तिरूप भावप्राणों का कभी भी विछोह नहीं हो सकता। जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरण के कारणभूत काले नाग आदिकों से मुझे भय क्यों? अर्थात् मैं किसी से भी नहीं डरता हूँ। इसी प्रकार वात, पित्त, कफ आदि की विषमता को व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि वात आदिक मूर्तपदार्थ से ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं। जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा तकलीफ कैसी? उसी तरह मैं बाल–वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ। तब बाल–वृद्ध आदि अवस्थाओं से पैदा होनेवाले दुःखों–क्लेशों से मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ? अच्छा, यदि मृत्यु वगैरह आत्मा में नहीं होते, तो किसमें होते हैं? इसका जवाब यह है कि 'एतानि पुद्गले' ये मृत्यु–व्याधि और बाल–वृद्ध आदि दशाएँ पुद्गल–मूर्त शरीर आदिकों में ही हो सकती हैं। कारण कि ये सब मूर्तिमान पदार्थों के धर्म हैं। मैं तो अमूर्त हूँ, मुझमें वे कदापि नहीं हो सकतीं।

दोहा –　मरण रोग मोमें नहीं, तातें सदा निशंक।
बाल तरुण नहिं वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक।।२९।।

गाथा - २९ पर प्रवचन

अब २९। **फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्गल–शरीरादिकरूपी मूर्तद्रव्य के साथ जैसा कि आगम में सुना जाता है, जीव का सम्बन्ध है।** निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। सम्बन्ध न हो तो सम्बन्ध तोड़ने का रहता नहीं। **उस सम्बन्ध के कारण ही जीव का मरण व रोगादिक होते हैं,..** शिष्य का प्रश्न (है, उसका) समाधान वहीं का वहीं करेंगे। वह तो स्वयं का स्वयं समाधान करेगा। पोते अर्थात् खुद। **सम्बन्ध**

के कारण ही जीव का मरण व रोगादिक होते हैं, तथा मरणादि सम्बन्धी बाधायें भी होती हैं। तब इन्हें कैसे व किस भावना से हटाया जावे? यह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि – आहाहा!

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।२९।।

वापस है अवश्य यह। यह पुद्गल है, भाई! मरण पुद्गल को है, जन्म पुद्गल को है, रोग पुद्गल को है। समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है। आनन्दघनजी कहते हैं न?

अब हम अमर भये न मरेंगे, या कारण मिथ्यात्व तज्यो हम,
हम क्यों कर देह धरेंगे? अब हम अमर भये न मरेंगे।

आहाहा! अमर तो हैं। भये, ऐसा कहा। शरीर की पर्याय को अपनी मानता था तो शरीर की मृत्यु से अपनी मृत्यु हुई, ऐसा अज्ञानी मानता था। शरीर के संयोग से जन्म हुआ, ऐसा अज्ञानी अपनी चीज़ को भिन्न नहीं मानकर शरीर के संयोग से मैं जन्मा, ऐसा मानता था। शरीर में व्याधि आयी तो मुझे व्याधि आयी, ऐसा मूढ़ अज्ञानी आत्मा की दृष्टि छोड़कर, शरीर की पर्याय में-पुद्गल में व्याधि हुई, वह मुझे हुई, (ऐसा मानता है)। अस्तित्व है पुद्गल में और माना अपने में, बस! यही संसार और मिथ्यादर्शन है। यह मिथ्यादर्शन तजने से अमर हुए। आत्मा अमर (हुआ), मृत्यु है नहीं, जन्म-मरण भी नहीं, परन्तु ऐसा अपना आत्मा पर से भिन्न, वीतरागस्वभावस्वरूप आनन्द का अनुभव होना चाहिए, तब राग की एकता और वाणी की एकता टूटकर मिथ्यादर्शन का नाश होता है। आहाहा! समझ में आया?

अर्थ—**मेरी मृत्यु नहीं तब डर किसका?** प्राणंउच्छेद, आता है न? भाई! समयसार। श्वास, आयुष्य, इन्द्रिय और बल। है, पाँच इन्द्रियाँ हैं, मन, वचन, काय, बल है, जड़ है, आयुष्य है, श्वास है, उसे प्राण कहते हैं और उन प्राण के उच्छेद को मरण कहते हैं। मुझमें वह प्राण ही नहीं तो उच्छेद कहाँ से आया? आहाहा! समझ में आया? यह

सम्यग्दृष्टि का ध्येय और सम्यग्दृष्टि का अभिप्राय ! आहाहा ! प्राण भी हैं अवश्य, हों ! प्राण नहीं है, ऐसा नहीं है। जड़रूप से है। मनप्राण, वचनप्राण, कायप्राण, श्वासोच्छ्वासप्राण, देह की आयुष्य की स्थिति और पाँच इन्द्रियाँ हैं। मुझमें नहीं हैं। प्राण का अस्तित्व है तो प्राण का छेद होता है। वह प्राण मुझमें नहीं है तो मुझमें छेद नहीं होता, तो मेरी मृत्यु नहीं होती। समझ में आया ? क्योंकि मेरे प्राण तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता है। मेरे प्राण ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता है। कायम रहनेवाली चीज़ और ज्ञान-दर्शन-आनन्द, वे मेरे प्राण हैं। उन प्राणों का तो मुझे कभी भी वियोग नहीं होता। समझ में आया ? ऐसे अपने चैतन्यभावप्राण हैं।

सैंतालीस शक्तियों में पहली शक्ति में लिया है न ? अपना जीवन। जीवत्वशक्ति। भगवान आत्मा, अपना ज्ञानस्वरूपी जानन-दर्शनस्वरूपी, आनन्दमूर्ति और सत्ता / अस्तित्ववाला तत्त्व, ऐसे स्वभाव के प्राण का जीवन मैं शाश्वत रखनेवाला हूँ। मेरा जीवन उनसे है। आयुष्य से, पुण्य-पाप से, कर्म से मेरा जीवन नहीं है। आहाहा ! इन्द्रियों से जीवन नहीं है, श्वास से जीवन नहीं है। श्वास भिन्न वस्तु है। श्वास चलती है, वह जड़ है-मिट्टी है-धूल है। वह तो जड़ है और श्वास का रुकना भी जड़ का है। आत्मा में रुकना -फुकना है नहीं। भगवान आत्मा चैतन्य, आनन्द, ज्ञान, दर्शन, भावप्राण का धारक, ऐसे मेरे प्राण का विच्छेद / वियोग अनन्त काल में कभी भी नहीं होता। समझ में आया ? पर प्राण का वियोग होवे तो वह तो पुद्गल है। पुद्गल के हैं तो पुद्गल से चले जाते हैं। ऐसे पुद्गल की अस्ति मानता है, अपने चैतन्य भावप्राण को मानता है और अपने भावप्राण का सम्बन्ध करके इस प्राण का वियोग होवे तो मेरी मृत्यु हुई, ऐसा नहीं मानता। समझ में आया ?

मेरी मृत्यु नहीं तब डर किसका ? अन्दर स्पष्टीकरण करेंगे, हों ! **मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे ?** लो ! जैचन्दभाई ! यह तुम्हारा आया, देखो ! कहो, समझ में आया इसमें ? समझाणु आमाँ ? अर्थात् उसमें समझ में आता है ? भगवान चैतन्य ज्योति आनन्दप्राण को धरनेवाला और ज्ञानज्योति चैतन्यसूर्य अनादि-अनन्त भिन्न है। ऐसा मेरा अस्तित्व मैं रखता हूँ। ऐसी दृष्टि में धर्मी को, मुझे व्याधि नहीं (ऐसा अनुभव में आता है)। व्याधि तो

जड़ की पर्याय है, मिट्टी-धूल की है। रोग की अवस्था तो जड़ की है, आत्मा को रोग अवस्था होती है ? समझ में आया ? पीड़ा किसे ? कहो, जैचन्दभाई ! आहाहा !

भगवान आत्मा आरोग्य बोहि लाभम्। आरोग्य अर्थात् रागरहित मैं आरोग्य चीज़ हूँ। मैं विकार और शरीर के प्राणरहित मैं आरोग्य-चैतन्यरत्न हूँ। ऐसा बोहिलाभ। अपने ज्ञान का लाभ होना, उसका नाम निरोगता है। शरीर की रोग अवस्था भगवान आत्मा को स्पर्श नहीं करती।

मुमुक्षु : आत्मा को तो आपने अमार बना दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनाया नहीं, है। बनावे क्या ? ऐसा है। ऐसा है—ऐसा बताया जाता है। मर जाता होगा आत्मा ? सूरज कब मरता है ? सूरज किस दिन मरता है ? सूरज का स्नान किसने किया ? शाम को सूरज अस्त होता है या नहीं ? तो स्नान करते हैं कि सूरज मर गया ? और सवेरे उगे तो जन्मा, ऐसा कहते हैं ? सूरज तो है, वह है ही। है, वह है ही। उसके मरने का कोई स्नान नहीं करता। भगवान चैतन्य आनन्दकन्द शुद्ध आनन्द है, उसका भान हुआ तो है, वह है। आत्मा मरे, उसका स्नान-वान कोई नहीं करता। आहाहा ! समझ में आया ? यह चला था, भाई ! नहीं ? सम्यग्ज्ञानदीपिका। दो व्यक्ति बातें करते थे। एक कहता है, यह सूरज मर जाएगा तो क्या करेंगे ? (तो दूसरा कहता है), चन्द्रमा तो है या नहीं ? चन्द्रमा मर जाए तो क्या करेंगे ? तो तारा तो है या नहीं ? तारा मर जाएंगे तो क्या करेंगे ? तो बहुत तेजस्वी बत्ती तो है या नहीं ? बत्ती मर जाएगी तो क्या करेंगे ? तो छोटे-छोटे प्रकाश तो है या नहीं ? छोटे-छोटे प्रकाश मर जाएँगे तो क्या करेंगे ? ऐसा कभी होता ही नहीं, जाओ। भगवान आत्मा में प्रकाश के विकास का उसे कभी अभाव नहीं होता। मरे कौन ? आहाहा !

देखो न ! कल बेचारा एक ३५ वर्ष का... परसों शाम को मास्टर गुजर गया, नहीं ? पैंतीस वर्ष की उम्र। पाँच मिनिट। स्थिति ऐसी है, देह की स्थिति ऐसी है, उसमें कहाँ एक समय बढ़ता-घटता है ? चैतन्य भिन्न, देह भिन्न। भिन्न तो है ही परन्तु क्षेत्र से भिन्न पड़े, उसे लोग मरण कहते हैं। एक क्षेत्र में संयोग हुआ, उसे जन्म कहते हैं। जन्म-मरण भगवान आत्मा में है नहीं। आहाहा !

न मैं बालक हूँ,.. लो! बालक नहीं कि जिससे बालक की अवस्था में दुःख भोगना पड़े। मैं बालक ही नहीं। मैं तो आत्मा हूँ। आत्मा बालक नहीं। **न बूढ़ा हूँ,..** यह वृद्धावस्था जड़, पुद्गल, देह की है। बालकपना जड़ का है। शरीर की कोमलता के अवयव को बालक कहते हैं। शरीर की कठिन मजबूत अवस्था को युवा कहते हैं और हड्डियों की नरमायी, निर्बलता हो जाने को वृद्धावस्था कहते हैं। वह तो पुद्गल की-जड़ की (अवस्था) है। भगवान अरूपी सूर्य चैतन्यघन अस्ति अपने में पूर्णानन्द रखनेवाला मैं आत्मा बालक नहीं हूँ, तो बालक की व्यथा मुझे नहीं है। मैं युवक नहीं हूँ तो युवक का विकार मुझे नहीं है। मैं वृद्धावस्था नहीं तो मुझमें निर्बलता नहीं है। मेरी वृद्धावस्था हो गयी, ऐसा कहते हैं या नहीं? सेठ! आहाहा!

ये सब बातें (दशाएं) पुद्गल में ही पायी जाती हैं। देखो! अस्तित्व है अवश्य, मौजूदगी है अवश्य। जवान, बाल, वृद्ध, मृत्यु और वेदना ये सब हैं अवश्य, अस्तित्व है अवश्य; नहीं है - ऐसा नहीं है। जड़ में है। यह पुद्गल, मिट्टी, धूल की अवस्था है। भगवान आत्मा चैतन्य सूर्य प्रभु, वह अस्ति जैसी है, वैसी दशा पलटकर अपने स्वरूप की मौजूदगी की अन्तर में प्रतीति, अनुभव करना। उस पुद्गल की पर्याय से मुझे सुख-दुःख है ही नहीं। कहो, समझ में आया?

विशदार्थ - 'एकोहं निर्ममः शुद्धः' इत्यादिरूप से जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है,.. देखो! निश्चित हो गया है, ऐसा कहते हैं। वहाँ से आया है न? **'एकोहं निर्ममः शुद्धः'** यह स्पष्टीकरण अपने किया था। २७ न? अपने सुधारा है। गुजराती, पण्डितजी से कराया वह। लो! सेठी! सेठी कहे - जयपुरवाले आवें तो पढ़ना। जयपुरवालों का तार में आया कि नहीं आनेवाले हैं। इनने कहा था, कल पढ़ना, कल पढ़ना। यहाँ तो एक वचन होवे, वह याद तो आवे या नहीं? सेठी!

यहाँ कहते हैं, उसमें लिया है, क्या है? देखो, २७ है न?

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।।२७।।

ऐसा निश्चय हुआ है, वह कहता है कि मुझे मृत्यु नहीं है। ऐसा यहाँ कहना है, भाई!

ऐसे अन्तर में निर्णय हो गया है, वह जानता है कि मृत्यु, बाल अवस्था मुझमें नहीं है। किस प्रकार है ? देखो! थोड़ा फिर से लेते हैं। **एकोऽहं** द्रव्यार्थिकनय से एक, पूर्वापर पर्याय में अन्वयरूप। देखो! यह वस्तु। भगवान आत्मा मैं एक हूँ और भूत पर्याय / गत पर्याय अवस्था होती है, भविष्य की पर्याय (होती है) अवस्था बदलती है न ? सभी अवस्थाओं में सदृशरूप अन्वयरूप से मैं एक हूँ।

मैं भगवान आत्मा द्रव्य अर्थात् वस्तुदृष्टिरूप से एक हूँ और वस्तुरूप से गत काल की अनेक अवस्थाएँ व्यतीत हो गयी और भविष्य की अनेक अवस्थाएँ होंगी, उन सभी अवस्थाओं में मैं अन्वयरूप से, सदृशरूप से, ध्रुवरूप से धारावाही एक रहनेवाला हूँ, इस कारण मैं एक हूँ।

निर्मम—यह मेरा और मैं इसका, ऐसे अभिनिवेश से शून्य हूँ। पुण्य-पाप के भाव और शरीरादि की क्रिया मेरी है, वे मेरे हैं.. समझ में आया ? वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ, मैं उनका हूँ—ऐसा जो अभिनिवेश, ऐसा आग्रह, मिथ्यात्व का भाव, उनसे धर्मी कहता है मैं शून्य हूँ। पर मेरा नहीं और मैं पर का नहीं। मैं मेरा हूँ और पर पर का है। ऐसा अन्तर चिदानन्द का बोध हुआ, वह कैसा विचार करता है, उसकी यह गाथा चलती है।

शुद्ध अर्थात् शुद्धनय के कथन से द्रव्यकर्म, भावकर्म से मुक्त हूँ। मैं शुद्धचैतन्यमूर्ति स्वभाव की दृष्टि से देखूँ तो जड़कर्म रजकण जो ज्ञानावरणीय आदि हैं, उनसे मैं मुक्त हूँ और पुण्य-पाप के विकल्प, राग है, उससे भी मुक्त हूँ।

ज्ञानी हूँ। स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला हूँ। मैं अकेले स्व के प्रकाशवाला नहीं हूँ। अकेले पर का (प्रकाशक) नहीं। मेरा स्वभाव ही स्व-परप्रकाश करनेवाला मेरा स्वभाव है, तो परचीज़ है, परन्तु उसका प्रकाश करनेवाला - जाननेवाला मैं हूँ। कुछ करनेवाला नहीं। आहाहा! स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला मैं हूँ। योगीन्द्र गोचर अनन्त पर्याययुक्त रूप से केवलियों द्वारा स्वसंवेद्य। अनन्त अवस्थासहित केवलज्ञानी भगवान उसे वेदते हैं। अनन्त अवस्थासहित भगवान उसे वेदते हैं और शुद्धउपयोगमात्रमयरूप से श्रुतकेवली वेदते हैं। अनन्त पर्यायसहित केवली जानते हैं। शुद्धउपयोगमात्र मैं हूँ। ऐसे श्रुतकेवली अर्थात् ऐसा आत्मा हूँ। समझ में आया ? संयोग से, द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ

मेरे साथ का सम्बन्ध, जानने का भाव, देहादिक सब सर्वथा मुझसे सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भिन्न हैं।

ऐसा अन्तर में निर्णय और अभिप्राय हुआ है, वह... विचार करता है। समझ में आया? वे सब मेरे नहीं हैं। मैं ज्ञानानन्द हूँ। समझने जैसी बात करते हैं। यह विकल्प की पर्याय तथा मैं हूँ यह भी एक विकल्प है, वह भी नहीं। मैं तो मात्र जाननेवाला-देखनेवाला अनन्त-अनन्त बेहद स्वभाव का सूर्य हूँ और रागादि पर है। ऐसा भेद हुआ है, यह २९ में विचार करते हैं कि मेरे... देखो! **उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता,..** देखो! **ऐसा जो मैं हूँ, उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता,..** मेरे प्राण का त्याग हो, ऐसा मैं नहीं हूँ। आहाहा! मेरे प्राण तो चैतन्य आनन्दकन्द प्राण है। वह तो मैं अनादि-अनन्तसहित हूँ। जो बाह्य प्राण का छेद होता है, वह प्राण तो पुद्गल का है। उसके साथ मुझे सम्बन्ध नहीं है।

कारण कि चित्शक्तिरूप भावप्राणों का कभी भी विछोह नहीं हो सकता। देखो! ज्ञानशक्ति भगवान के प्राण का विच्छेद तो कभी भी होता नहीं; इस कारण मेरा मरण नहीं है। इस प्रकार धर्मात्मा अपने स्वरूप की दृष्टि रखकर मृत्यु का समाधान करता है। मुझमें मृत्यु नहीं है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४ गाथा-२९-३० शुक्रवार, दिनाङ्क २२-०४-१९६६
वैशाख शुक्ल २, वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश शास्त्र है। पूज्यपादस्वामी दिगम्बर मुनि हुए हैं, उनका बनाया हुआ इष्टोपदेश (अर्थात्) आत्मा को हितकर उपदेश (शास्त्र है)। २९वीं गाथा चलती है। देखो!

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।२९।।

क्या कहते हैं? कि धर्मात्मा अपना स्वरूप अन्तर में देह और पुण्य-पाप के राग

से भिन्न समझता है। मैं शुद्ध चैतन्य ज्ञायक आनन्द शुद्ध ध्रुव अजर-अमर अनादि-अनन्त चैतन्य हूँ। ऐसी दृष्टि रखनेवाला सम्यग्दृष्टि अपनी मृत्यु नहीं मानता। मृत्यु-जन्म आदि तो शरीर के धर्म हैं। पुद्गल की पर्याय, पुद्गल का धर्म है; वह आत्मा का धर्म नहीं है। शुद्ध अन्तर्मुख दृष्टि का विषय आत्मा आनन्दकन्द ज्ञानानन्द अपना निजस्वरूप है, ऐसी जिसे अन्तर में दृष्टि हुई है, वह कहता है कि **'एकोहं निर्ममः शुद्धः'**

टीका, विशदार्थ है। मैं एक हूँ। मैं एक हूँ अर्थात् सब मिलकर एक नहीं। मेरा स्वरूप ही एक है। अनन्त ज्ञान, दर्शन से भरपूर **'एकोहं निर्ममः शुद्धः'** मेरी चीज़ पर के ममत्व के आग्रह से रहित है। रागादि शुभभाव या अशुभभाव और शरीर की जड़ आदि की जो क्रिया होती है, उससे **ममः...** ममः अर्थात् अभिनिवेश। अभिनिवेश अर्थात् अभिप्राय (कि) यह मेरा है और मैं इसका हूँ, ऐसे अभिप्राय से धर्मात्मा अन्तर में पर से शून्य है। समझ में आया? ममः नहीं। यह राग, विकल्प, शरीर, वाणी मेरे नहीं हैं तो उनका मृत्यु अथवा देह छूटे तो मेरी मृत्यु हुई, ऐसा धर्मी नहीं मानता है।

मैं शुद्ध हूँ। मैं ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप एक समय में निर्मल पर्यायसहित मेरा स्वभाव शुद्ध है। मैं अनादि-अनन्त अमर हूँ। मेरे स्वरूप में मृत्यु नहीं। यह मृत्यु का अर्थ है। **न मे मृत्युः** समझ में आया? आनन्दघनजी कहते हैं न? कल आया था 'अब हम अमर भये न मरेंगे, या कारण मिथ्यात्व तज्यो हम, या कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यों कर देह धरेंगे, अब हम अमर भये न मरेंगे, अब हम अमर भये न मरेंगे, अब हम अमर भये न मरेंगे, या कारण...' यह **ममः** शब्द का अर्थ है। 'या कारण मिथ्यात्व दियो तज,' यह **निर्ममः** का अर्थ है। राग, विकल्प, शरीरादि पर्याय मुझमें त्रिकाल में नहीं है, ऐसा जो अभिप्राय कि पुण्य-पाप के भाव, शरीर और वाणी मेरे हैं, ऐसे अभिप्राय को भगवान अभिनिवेश-मिथ्या अभिप्राय-मिथ्यादर्शन कहते हैं। धर्मी को ऐसे मिथ्यादर्शन का (अभाव है), शून्य है, ऐसा पहले आया है। शून्य है-मुझमें नहीं। मैं तो शुद्ध अमर चिदानन्दस्वरूप हूँ।

'या कारण मिथ्यात्व तज्यो हम, क्यों कर देह धरेंगे,' देह धरने का ही नहीं। देह का जन्म वह तो संयोगी चीज़ है। मेरे स्वरूप में देह धरना नहीं है-ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को शुद्ध अखण्ड आत्मा मानता है तो कहते हैं कि **जिसका स्वस्वरूप निश्चित**

हो गया है,.. समझ में आया ? बालक हो या वृद्ध हो, नारकी हो या पशु हो, सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप में संयोगी चीज़ का लेप-सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता। मैं तो एक अखण्ड ज्ञानानन्द शुद्धचैतन्य हूँ। ऐसा **जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ,.. ऐसा जो मैं हूँ,..** मैं हूँ। अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द—ऐसा मेरा स्वरूप है। **उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता,..** इन्द्रियप्राण, श्वासप्राण, आयुष्यप्राण, शरीरप्राण, वे जड़ के प्राण हैं, मेरे प्राण ही नहीं हैं।

मेरे प्राण तो आनन्द, शान्ति, ज्ञान और सत्ता, सत्ता ऐसे मेरे प्राण हैं। अनादि-अनन्त मैं चैतन्यस्वरूप से जीनेवाला, मैं जीवत्वशक्ति से सम्पन्न भगवान आत्मा हूँ। आहाहा! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को / सत्यदृष्टि को, मेरे शुद्धस्वरूप में पर के प्राण ही नहीं है तो प्राण के विच्छेद को मरण कहते हैं, मुझमें जड़ के प्राण ही नहीं हैं तो उनका उच्छेद ऐसा मरण मुझे कैसे होगा ? कहो, समझ में आया ?

उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चित्शक्तिरूप भावप्राणों का कभी भी विछोह नहीं हो सकता। अहो! मैं तो ज्ञान-दर्शन-आनन्द ऐसी शक्ति, ऐसा मेरा स्वभाव, उसका आत्मा से कभी विछोह-वियोग-अभाव कभी तीन काल में नहीं होता। ऐसा मेरा स्वभाव है, ऐसा अपना स्वभाव का निश्चय किया है। **जबकि मेरा मरण नहीं, तब मरण के कारणभूत..** जब मुझे मरण नहीं, भय नहीं, (तो फिर) किसका डर ? मैं एक शुद्धध्रुव चैतन्यधातु हूँ। मेरे ज्ञान आनन्द प्राण मेरे पास हैं। जो शरीर आदि प्राण है, उनके त्याग से मेरा मरण नहीं है। समझ में आया ?

मृत्यु काल में भी धर्मी को... 'संसारी प्राणी को मरण का भय है, मेरे मन आनन्द की लहर है' समझ में आया ? देह छूटने के काल में अपना स्वभाव पहले से भिन्न समझ लिया है, अनुभव कर लिया है। दुनिया को मरण का त्रास है, मेरे मन-आनन्द की लहर है। आहाहा! समझ में आया ? 'संसारी को मरण का त्रास है, संसारी को मरण का त्रास है, मेरे मन आनन्द की लहर है...' मैं तो आत्मा आनन्द शुद्धचैतन्य हूँ। मेरे स्वभाव का वियोग कभी नहीं होता। शरीर का वियोग होवे तो पुद्गल की पर्याय है। उसका वियोग तो, संयोग है तो वियोग होनेवाला ही है। उसमें मेरा जन्म और मरण नहीं है। जन्म-मरण मुझमें है ही

नहीं, ऐसा धर्मी अपने चैतन्यस्वभाव को जन्म-मरणरहित असंग अपना जानता है और अपने में ऐसा अनुभव करता है।

कहते हैं, मुझे मरण नहीं तो **मरण के कारणभूत काले नाग आदिकों से मुझे भय क्यों?** आहाहा! काला नाग, बाघ और सिंह खाने आवे तो क्या है? कौन खाये? किसे खाये? मैं तो अरूपी आनन्दघन हूँ। मेरा भक्षण करनेवाला जगत में कोई चीज़ नहीं है। ऐसा मेरा (स्वरूप है)। बड़ा सिंह आ जाए, खाओ! आहाहा! समझ में आया? और काले नाग की यहाँ कठोर उपमा दी है, भाई! कठोर काला नाग होवे ऐसा, लोग उससे डरते हैं। किसका डर? प्रभु! तू तो चैतन्यधातु है न! अनादि-अनन्त शाश्वत् वस्तु है न! शाश्वत् वस्तु का खण्ड, छेद, भंग कभी तीन काल में नहीं होता। ऐसे काले नाग से भी **मुझे भय क्यों?** समझ में आया?

श्रीमद् भी अपूर्व अवसर में कहते हैं न

एकाकी विचरूँगा कब शमशान में,
एकाकी विचरूँगा कब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥

श्रीमद् राजचन्द्र का तैंतीस वर्ष में देह छूट गया। उससे पहले अपूर्व अवसर की भावना में ऐसा लिया है। सात वर्ष की उम्र से जातिस्मरणज्ञान था। पश्चात् आत्मज्ञान हुआ। तैंतीस वर्ष में देह छूट गया। समझ में आया? पहले भावना करते थे। गृहस्थाश्रम में थे, लाखों रुपयों का मोती का व्यापार था। व्यापार, व्यापार के घर रहा। अखिल!

अपना आत्मा देह से भिन्न, राग से भिन्न, चैतन्य प्रभु का अन्तर में भान, प्रबोध, बोध, शान्ति हुई है, तो कहते हैं कि अहो! 'एकाकी विचरूँगा कब शमशान में,' मैं शमशान में अकेला विचरण करूँ और बाघ तथा पर्वत के संयोग में, पर्वत के-जंगल के संयोग में बाघ और सिंह का संयोग हो। अडोल आसन-मेरी मृत्यु नहीं। मुझे भय किसका? समझ

में आया ? अडोल आसन। वह तो जड़ की पर्याय है, परन्तु मन में क्षोभ नहीं। मैं चैतन्य धातु आनन्दकन्द अनाकुल शान्तरस का पिण्ड हूँ। मुझे कौन खायेगा ? और मेरा नाश कौन करेगा ? ऐसे अन्तर के स्वभाव की दृष्टिवन्त धर्मात्मा कहता है कि बाघ और सिंह के संयोग में... यहाँ कहते हैं न ? नाग के संयोग में भय नहीं। समझ में आया ?

अपने शुद्धस्वरूप की श्रद्धा, अभिप्राय में अखण्डानन्द का अनुभव हुआ है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। सम्यग्दृष्टि काला नाग देखे तो भी उसे भय नहीं है। 'जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब ॥' आहा ! देह मेरी नहीं और जिसे देह चाहिए है, वह ले जाओ, ले जाओ ! आहाहा ! चिमनभाई ! इसका नाम सम्यग्दर्शन है। मैं देह की कोई क्रिया कर सकता हूँ; दया, दान के परिणाम मेरे हैं, उनसे मुझे लाभ है, वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति, चैतन्यस्वभावी सूर्य, सम्यक्स्वभाव सूर्य वस्तु आत्मा हूँ, ऐसा अन्तर में भान हुआ तो कहते हैं, काले नाग आदि से... आदि अर्थात् सिंह, बाघ (खाने आवे तो भी) मुझे भय किसका ? आहाहा ! यह निर्भय.. निःशंक... निःशंक ! समझ में आया ? निःशंकता है, निडर है, देह से भिन्न आत्मा को देख लिया है। देह से भिन्न ध्रुवतारा को देख लिया है। देह से भिन्न शाश्वत् चीज़, सम्यग्दृष्टि को जानने में, ज्ञान में, अनुभव में आ गयी है। उन्हें भव का डर और मृत्यु का डर नहीं है। भव-भव है नहीं।

अर्थात् मैं किसी से भी नहीं डरता हूँ। समझ में आया ? मेरे शुद्धस्वरूप में किसी परपदार्थ का प्रवेश नहीं है और मैं कभी परपदार्थ में प्रवेश नहीं करता। निर्जरा अधिकार में आता है न ? भाई ! प्राण उच्छेदन, मरण का, नहीं ? निर्जरा अधिकार में आता है, वही बात यहाँ दूसरे प्रकार से ली है। प्राण का नाश होवे तो मुझे क्या ? मेरे चैतन्य जीवन प्राण ज्ञान से, आनन्द से भरपूर चैतन्य प्रभु, उस वस्तु में किसी का (प्रवेश नहीं) विकल्प, पुण्य -पाप का राग है, उसका भी अन्तर ध्रुव चैतन्य में प्रवेश नहीं है। प्रवेश नहीं तो दूसरा उसे क्या खा जाए और काट डाले ? ऐसे धर्मी को अपने स्वरूप का निडर भाव होता है। समझ में आया ?

इसी प्रकार वात, पित्त, कफ आदि की विषमता को व्याधि कहते हैं,... देखो ! **कुतो भीतिर्न मे व्याधिः** मुझे व्याधि नहीं है। अहो ! व्याधि वह जड़ की-पुद्गल की पर्याय है। सेठ ! यह मिट्टी है-धूल है। इसकी व्याधि-रोग जड़ की दशा है। वह दशा

पुद्गल की है, मुझमें व्याधि नहीं है। आहाहा! समझ में आया? मुझमें पुद्गल की पर्याय की व्याधि का अत्यन्त अभाव है। मैं किसी से (भयभीत नहीं हूँ)।

वात,... यह वायु होती है न? वायु। चल नहीं सकता। ऐसे-ऐसे करे। ऐसे चिल्लाहट मचाये। यह तो वात अर्थात् यह जोड़ों का दर्द होता है न? वा.. वा..। क्या है? ऊं.. हूं.. क्या करता है? वह जड़ की पर्याय तुझे स्पर्श नहीं हुई है। शरीर की वायु, जड़ की अवस्था आत्मा को कभी स्पर्श नहीं हुई है। आत्मा जड़ की पर्याय को कभी तीन काल-तीन लोक में स्पर्श नहीं हुआ है। समझ में आया? सेठी! अरे.. यह! अरे..! मर गये रे..! कौन मर जाता है? कौन मरे? देह मरे? आत्मा मरे? कौन मरे? देह के रजकण भी शाश्वत् हैं, त्रिकाल हैं, उनकी पर्याय पलटती है। तू भी शाश्वत् है। तेरी अवस्था पलटती है परन्तु अन्तरस्वभाव सन्मुख हो तो तेरी दशा आनन्दमय होती है। पर के ऊपर, संयोग के ऊपर लक्ष्य होवे तो आकुलता के, दुःख के ढ़ेर हैं। समझ में आया?

पहले यह आ गया है, भाई! अपने शुद्ध चैतन्य भगवान पर दृष्टि देने से, स्वभाव का संग करने से शान्ति, आनन्द मिलता है। जितना परसंयोग में लक्ष्य जाता है, उतनी आकुलता, दुःख का समूह भोगना पड़ता है। आहाहा! यह पहले आ गया है। आहाहा! यह कैसे (जँचे)? जगत को यहाँ पैसे में, धूल में, शरीर में मजा आता है। धर्मी को आत्मा में मजा है, पर में आनन्द नहीं मानते। करोड़, अरबों या पाँच-पचास लाख या करोड़ हो, धूल है। शरीर धूल है, वह मेरा नहीं है। वहाँ वे चीज़ें मेरी कहाँ से हुई?

कहते हैं कि वात की पीड़ा मुझे नहीं है। कब? अभी। आत्मा में वात पीड़ा है ही नहीं न, भगवान! वह तो देह की पर्याय है न! यह बोला जाता है, वह जड़ की अवस्था है। आत्मा बोलता ही नहीं। आत्मा में कहाँ रजकण पड़े हैं? अन्दर आवाज उठती है, वह आत्मा में है कि आवाज उठे? आहाहा! वह तो जड़ की ध्वनि, शब्द की ध्वनि उठती है। वह आत्मा में नहीं है। मुझमें वात नहीं है।

पित्त नहीं है। पित्त का प्रकोप होता है न गर्मी में? बहुत पित्त हुआ है। भगवान! तू तो अरूपी है न! प्रभु! तुझमें तो शान्ति पड़ी है न! शान्ति में पित्त का प्रकोप कहाँ से आया? शान्ति में पित्त का प्रकोप कहाँ से आया? भगवान आत्मा शान्ति का सरोवर, सागर है-ऐसी

दृष्टि में, अपने में पित्त हुआ है, ऐसा धर्मी नहीं मानता है। समझ में आया? शरीर से भिन्न मेरी चीज़ है तो शरीर की जितनी पर्याय है, वह सब पुद्गल की है, मुझमें नहीं।

कफ, लो! श्वास जड़ है, मिट्टी है। उसके कारण वह गति करता है। ऊँचा-नीचा होता है। आत्मा श्वास को नहीं हिलाता। आत्मा श्वास नहीं लेता, आत्मा श्वास नहीं छोड़ता, आत्मा श्वास बन्द नहीं करता। वह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा! यह पित्त और कफ श्वास में (कफ) अटकता है न? क्या है? वह कहीं चैतन्य में नहीं है, वह तो पुद्गल की पर्याय है। धर्मी सम्यक् सत्दृष्टिवन्त जड़ की किसी भी पर्याय को अपनी पर्याय में नहीं मानता। अपने में नहीं मानता तो उसका दुःख मुझे है, ऐसा कभी नहीं होता।

कफ आदि.. आदि में यह कैंसर होता है। समझे? भगन्दर होता है, कण्ठमाल होता है। ऐसे-ऐसे रोग होते हैं। एकदम रग टूट जाती है। रक्त निकलता है। रक्त... खून। अभी गुजर गये न परसों? हेमरेज। केशूभा! परसों। पैंतीस वर्ष का जवान। मास्टर, पैंतीस वर्ष का, दो मिनिट में (गुजर गया)। यह देह की अवस्था है, भगवान! देह की अवस्था जब पूरी होनेवाली है, तब पूरी हुए बिना रहेगी नहीं। इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र, आवे तो भी रोक नहीं सकते। कहते हैं कि कफ आदि की पीड़ा मुझमें नहीं है। समझ में आया?

कफ आदि की विषमता को व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि वात आदिक मूर्तपदार्थ से ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं। उनका रजकण के साथ सम्बन्ध है। आहाहा! उस रोग का सं-बन्ध, सं-बन्ध रजकण के साथ है। मेरे साथ सं-बन्ध है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? **जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा/तकलीफ कैसी?** दूसरा शब्द डाला। बुखार.. बुखार..। १०५ डिग्री, ६ डिग्री होवे तो... आहाहा! ऐसे धाणी फूटे ऐसा बुखार आवे, ऐसा अपने कहते हैं न? धाणी फूटे ऐसा बुखार। भाई! वह तो जड़ की पर्याय है। प्रभु! तुझे आत्मा की खबर नहीं है। समझ में आया? वह सब जड़ की दशा है। भगवान आत्मा पर से भिन्न है, ऐसा भान किये बिना उसके जन्म-मरण का अन्त कभी नहीं आयेगा। तीन काल-तीन लोक में आत्मा पर से भिन्न, विकल्प से भिन्न शान्त-आनन्दस्वरूप है, ऐसी दृष्टि किये बिना, आत्मज्ञान बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आता और आत्मज्ञान हुआ, तो फिर मुझे व्याधि नहीं है; वह पुद्गल की है, मुझमें है ही नहीं। आहाहा!

पाँच डिग्री बुखार हो और सामायिक करना हो, ध्यान करना हो तो नहीं हो सकता। क्या वह जड़ की पर्याय तुझे रोकती है ? समझ में आया ? सातवें नरक का नारकी, उसे इतनी पीड़ा है, इतनी पीड़ा है कि उसे भगवान जाने और वह भोगे। उसमें अन्दर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। आहाहा! क्योंकि वह तो संयोगी चीज़ है। बाहर की पीड़ा संयोग में है। इतनी पीड़ा कि जन्म से सोलह रोग। सातवें नरक का नारकी अन्दर है, हों! कल्पना नहीं है। आत्मा ने अनन्त बार ऐसे भाव किये और अनन्त बार नरक में गया है।

भगवान आत्मा, उस समय में पूर्व में राजा आदि था, सुना था परन्तु ध्यान नहीं दिया। आत्मज्ञान नहीं किया तो नरक में गया। वहाँ याद आया, आहाहा! यह ? क्या है यह ? यह जीवन ही ऐसा होगा ? यह चीज़ ऐसी ही होगी ? इसमें से निकलने का कोई स्थान, कोई काल, कोई मर्यादा है या नहीं ? क्या है यह ? ऐसे विचारते हुए पूर्व में सन्त के पास सुना था कि अरे.. प्रभु! तू तो शुद्ध आनन्द है न! वह उसे स्मृति में आया। ऐसी पीड़ा में अन्दर में स्मृति हुई। जैसे बिजली ताँबे के तार में ऊपर से गिरकर नीचे उतर जाती है; इसी प्रकार भगवान आत्मा सातवें नरक के नारकी के पीड़ा के संयोग में (पड़ा हुआ ऐसा देखता है), अहो! यह पीड़ा जड़ की है, मुझमें नहीं। मैं तो ज्ञाता चैतन्यसूर्य अनादि शाश्वत् धातु, चिद्घन शाश्वत् तत्त्व हूँ, ऐसी अन्तर्दृष्टि लगायी तो स्वभाव के अन्दर वीर्य (पुरुषार्थ) उतर गया और अनुभव हो गया। आहाहा! इतनी पीड़ा में! यहाँ तो थोड़ी पीड़ा होवे तो ऐं.. ऐं.. शोर मचाता है। समझ में आया ?

अरे! भगवान! धर्म किसे कहें ? आहाहा! मेरे आत्मा में शरीर का स्पर्श भी नहीं है, ऐसे सातवें नरक के नारकी का निजचैतन्य का अनुभव करता है, समझ में आया ? तो इस मनुष्य देह में इतनी पीड़ा है ही नहीं, ऐसे संयोग हैं ही नहीं। अज्ञानी पुकार-पुकार करता है। अपनी चैतन्यवस्तु की भात पाड़े बिना, यह जड़ की पर्याय मेरी है, उसका अस्तित्व टिकाकर रखूँ, ऐसी वहाँ बुद्धि पड़ी है। यहाँ अन्तरबुद्धि नहीं। अन्दर चैतन्य में क्या है, उसकी बुद्धि तो है नहीं, बाहर में है।

कहते हैं, धर्मी जीव (ऐसा भाता है कि) **ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा तकलीफ कैसी? उसी तरह मैं बाल-वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ।** बाल अवस्था, वह शरीर की कोमल परमाणु की पर्याय को बाल अवस्था कहते हैं। मुझमें बाल

अवस्था नहीं है। आहाहा! भगवान! बाल अवस्था तो मिट्टी की, इस चमड़े की, हड्डियों की अवस्था है। वह पुद्गल की पर्याय है। अन्त में लिया न? **'एतानि पुद्गले'** यह बाल अवस्था पुद्गल की पर्याय है, आत्मा की नहीं। देखो, सिद्ध करते हैं, हों! पुद्गल है, उसकी पर्याय है। अकेला चैतन्य है और जड़ नहीं - ऐसा नहीं है। सिद्ध करते जाते हैं। शरीर की अवस्था भी है, जन्म, मृत्यु आदि शरीर में हैं, ऐसी चीज़ है, परन्तु उससे मेरी वस्तु भिन्न है। जगत में अकेला आत्मा ही है और दूसरी कोई चीज़ नहीं, ऐसा नहीं है।

कहते हैं **ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा तकलीफ कैसी? उसी तरह मैं बाल-वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ।** युवावस्था नहीं। बत्तीस वर्ष का युवक। किसे जवान कहें? भगवान! वह तो पुद्गल की पर्याय है, तेरी वस्तु तो उससे भिन्न है। ज्ञानानन्द भगवान में युवकपना क्या? भगवान आत्मा में बाल अवस्था कैसी? प्रभु आत्मा में वृद्धावस्था कैसी? ये तीनों अवस्थाएँ जड़ की जड़ में पुद्गल की पर्याय है। वह पुद्गल की पर्याय में होती है, उसे मुझमें होती है—ऐसा मानना, उसका नाम मिथ्यादर्शन शल्य है। आहाहा! समझ में आया? उसका नाम मिथ्यात्व है। अजीव में होनेवाली वस्तु मुझमें होती है, उसका नाम अजीव को जीव मानता है। ऐसा उसका विपरीत अभिप्राय है। उसे जड़ चैतन्य का भिन्न ज्ञान नहीं है।

कहते हैं, अरे! बाल, वृद्ध आदि अवस्थावाला नहीं। **तब बाल-वृद्ध आदि अवस्थाओं से पैदा होनेवाले दुःखों-क्लेशों से मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ?** आहाहा! बाल अवस्था, युवा अवस्था, वृद्धावस्था, वह अवस्था ही मेरी नहीं है तो उस अवस्था के कारण क्लेश और दुःख मुझे किस प्रकार होंगे? जो मेरी चीज़ में नहीं और परचीज़ में वह बाल, युवक, वृद्ध अवस्था है। वृद्धावस्था हो जाए तो कहते हैं न? दुःखी हो गया, वृद्धावस्था हो गयी, आँख में से पानी निकलता है, नाक में से पानी निकलता है, यह कान से सुनायी नहीं देता, कान बहरा हो गया, दाँत गिर गये। महा दुःखी वृद्धावस्था। मूढ़ है। कहते हैं, वृद्धावस्था तो जड़ की है। तुझे कहाँ से आयी? नवनीतभाई! आहाहा! वास्तव में वृद्ध तो ज्ञान में वृद्ध हो, उसे वृद्ध कहते हैं। समझ में आया?

श्रीमद् ने एक पत्र लिखा है न? 'त्रिवेदी' कोई था और ज्ञानार्णव में श्लोक है।

ज्ञानार्णव है न? शुभचन्द्राचार्य का (बनाया हुआ है) उसमें एक श्लोक है कि वृद्ध शरीर की अवस्था, वह वृद्ध नहीं। ज्ञान की अवस्था में आठ वर्ष में केवलज्ञान हो जाए तो वह ज्ञान में वृद्ध है। आहाहा! यह श्रीमद् ने पत्र लिखा था। कोई था न? सूर्यराम त्रिपाठी। उसके प्रति पत्र लिखा था। वह बड़ी उम्र का होगा और स्वयं छोटी उम्र के, वे वेदान्त के अभ्यासी थे। ज्ञान में वृद्ध है, उसे ज्ञानी वृद्ध मानते हैं। मेरी उम्र छोटी है तो मुझे बालक नहीं मानना। ऐसा श्रीमद् ने लिखा था। वे ही शब्द ज्ञानार्णव में हैं, भाई! ज्ञानार्णव शास्त्र है। ज्ञान का समुद्र / सागर, बहुत श्लोक है। शुभचन्द्राचार्य ने बनाया है, उसमें यह श्लोक है कि वृद्धावस्था-वास्तव में वृद्ध किसे कहना? आत्मा राग से भिन्न होकर अपनी चैतन्यशक्ति की सम्हाल करे, उसे वृद्ध कहते हैं। समझ में आया?

भाई ने कल पढ़ा था न? पुस्तक नहीं था। सेठिया का, उसमें लिखा है। अपनी सम्हाल करे वह सेठ, बाकी दूसरे अनुचर। यह पुस्तक है या नहीं? यहाँ नहीं होगी, कहाँ रखी है? यह सेठिया है न? दीपचन्दजी सेठिया। उन्होंने गीत बनाया है, उसमें एक गायन ऐसा बनाया है। अपने आता है न? 'अपने साथ अपने को सम्हाले सो सेठ, बाकी सब अनुचर है' अनुचर है न? अनुचर समझे? नौकर, भिखारी, चाकर है। आहाहा! पोपटभाई! अपने चैतन्यस्वरूप को सम्हाले, वह सेठ। सेठ.. सेठ कहते हैं न? सेठिया है न? सेठिया। अभी भी पाँच-सात लाख रुपये हैं। चालीस वर्ष पहले उसके मामा साठ लाख देते थे। साठ लाख। नहीं लिए, नहीं लिए। मुझे साठ लाख को क्या करना है। अभी आ गये। समझ में आया? फाल्गुन शुक्ल दूज पर यहाँ थे। सेठिया और वे करोड़पति व्यक्ति हैं न? वे भी थे। उनके मामा साठ लाख देते थे, उनके सगे मामा। रोकड़। क्या करना है मामा? साठ लाख को क्या करना है? केशूभा दरबार! साठ लाख। यहाँ तो पाँच हजार, दस हजार के लिए मर जाए। ऐई! काला बाजार! काला बाजार और कपट और कुटिलता (करे)। साठ लाख रोकड़, हों! लो, भाई! हम तुम्हारे घर में आये हैं। उत्तराधिकार लेनेवाला तो हमारे घर में आवे परन्तु हम तुम्हारे घर में आये हैं। तुम हमारी आजीवन सेवा करना और साठ लाख लो। मामा! सेवा करूँगा, परन्तु पैसा नहीं चाहिए। समझ में आया? उन्होंने गायन बनाया है। कल आया था। 'गुणीजन अन्तर ध्यान, चैतन्यसूर्य उग्यो जी।' ऐसा बनाया है न?

मुमुक्षु : म्हारा ज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह बाद में। यह तो खबर है। अभी तो यहाँ तक बोले हैं, वह कहाँ बोले हैं ? समझ में आया ? म्हारा ज्ञान कहा, वह तो लड़का मरता है न ? पश्चात् रोते हैं न, मेरा लड़का, मेरा बाप। उसकी जगह उन्होंने दो बार कहा है 'चेतन अन्तः अरिहन्त ध्याय, समकित सूर्य उग्यो जी, म्हारा ज्ञान... म्हारा ज्ञान।' दो बार लिया है, यह लोग रोते हैं न ? दरबार ! मेरा लड़का। ढाई वर्ष का लड़का मर गया। पाँच-सात लाख रुपये (थे)। उसके लड़के की बहू को कहते हैं, रोना है ? तो कहे, नहीं। गायन गा, मैं बोलता हूँ, वैसे बोल। यह गायन बनाया। बड़ा गृहस्थ व्यक्ति। ऐसे मुर्दा पड़ा है। 'गुणीजन चैतन्य सूर्य नाथ, चैतन्य सूर्य उग्यो जी, म्हारा ज्ञान.. म्हारा ज्ञान।' मैं तो ज्ञान चैतन्यसूर्य हूँ। मेरी चीज़ में दूसरे किसी का सम्बन्ध नहीं है। आहाहा ! सेठ ! आहाहा ! यह तो गृहस्थाश्रम में रहे और धर्मी कहलावे, एक प्रतिकूलता का अंश आवे, वहाँ शोर मचावे। हम धर्मी हैं, ऐसा माने। प्रतिकूलता का एक अंश आवे, वहाँ शोर मचावे। मूढ़ है। धर्मी कहाँ से हुआ। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं बाल, वृद्ध, आदि अवस्था **क्लेशों से मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ ?** वृद्धावस्था में खाने-पीने का मिले नहीं, दाँत रहे नहीं, बैठ सके नहीं, चल सके नहीं, आँखें देख सके नहीं। वह तो जड़ की दशा है। मैं तो चैतन्यसूर्य उससे भिन्न हूँ। शरीर की अवस्था मेरी नहीं तो मुझे तकलीफ कैसी ? मैं बाल, वृद्ध आदि अवस्था भी नहीं तो उसमें पैदा होनेवाला दुःख और क्लेश मैं किस प्रकार दुःखी होऊँ ? मैं उनसे दुःखी नहीं हो सकता। आहाहा ! कहो, रतिभाई ! आहाहा ! मैं पैसेवाला हूँ, निर्धन हूँ, वह तो जड़ की दशा है। मैं युवक हूँ, वृद्ध हूँ, वह तो जड़ की दशा है। मेरी चीज़ उससे भिन्न ज्ञानानन्द है। ऐसे भान में मैं किस प्रकार दुःखी होऊँ ?

अच्छा, यदि मृत्यु वगैरह आत्मा में नहीं होते, तो किसमें होते हैं ? प्रश्न हुआ। आप इनकार करते हो तो कहीं है या नहीं ? किसी चीज़ में है या नहीं ? मृत्यु नहीं, वेदना नहीं, बाल नहीं, युवक नहीं, वृद्धावस्था नहीं। वह तो कल पुस्तक भाई नागरभाई लाये थे न ? वे लाये थे। यह है, देखो 'गुणीजन अन्तः अरिहन्त ध्याय, सम्यक् सूर्य उगशे जी मारा ज्ञान, गुणीजन सिद्ध प्रभु नित ध्याय, चेतन सूर्य उगशे जी, गुणीजन अर्थग्राही उपयोग।' उपयोग तो स्व को, पर को जाननेवाला है। अर्थग्राही शब्द का अर्थ इतना है।

भगवान आत्मा स्व और पर में होता है ? अर्थग्राही उपयोग। पर में क्या होता है ? उसका अर्थग्राही उपयोग-जाननेवाला है। परचीज़ ग्रहण करनेवाला नहीं। 'गुणीजन अर्थ ग्राही उपयोग, चेतन निज प्राण है...' यह आया न। आत्मा का चेतन प्राण है; राग और शरीर प्राण, वह आत्मा में नहीं है। देखो! यह अभी गृहस्थाश्रम में है, यहाँ गायन बनाकर मुर्दे के निकट बोलते थे। मेरा लड़का मर गया (ऐसे रोवे)। लड़का कैसा तेरा ? सुन न अब। तेरा होवे तो जाए कैसे ? और जावे, वह तेरा कैसा ? आहाहा! मुर्दा था। दरबार! मुर्दा था, उस समय बोले थे, हों! घर में बड़े गृहस्थ। बड़े गृहस्थ हैं। अपने यहाँ आते हैं। 'गुणीजन जड़ सुख छै जी जंजाल, गुणीजन जड़ सुख छै जी जंजाल, आनन्दघन आप छै जी'।

आनन्दघन भगवान आत्मा है। तुझे पर से क्या क्लेश और दुःख है ? समझ में आया ? इस कसौटी के काल में शान्ति है या नहीं, उसकी उस समय खबर पड़ती है। ऐसे तो बोल जाए कि आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है। भाई! कसौटी के काल में क्या कस आता है ? सोने का कस है या पीतल का, उसकी उस समय खबर पड़ जाती है। ऐसा प्रतिकूल संयोग के काल में, समझ में आया ? मैं आत्मा हूँ। मेरी चीज में प्रतिकूलता है ही नहीं। मैं शान्ति में.. शान्ति में झूलनेवाला आत्मा हूँ। पूरा जगत पलट जाओ, मेरी चीज़ में वह है ही नहीं। ऐसा सम्यग्दर्शन आत्मा के भान में ऐसी वस्तु होती है। बहुत लिया है। समझे न! देखो!

'गुणीजन द्रव्य पराया अपनाय, फसीया कर तू मोह में जी।' गुणीजन द्रव्य परवस्तु है, भाई! शरीर, वाणी, स्त्री, पुत्र सब (परवस्तु है)। 'गुणीजन द्रव्य पराया अपनाय,' अपनाय अर्थात् अपना मानना 'फसीया कर तू मोह में' तू मोह में फँसकर पड़ा है। मूढ़! मूलचन्दजी! यह देखो! गृहस्थाश्रम में है तो भी (ऐसा कहते हैं)। घर में बड़े, तीस व्यक्ति हैं, पूरे घर में ऐसा वातावरण है, उनके पूरे घर में ऐसा वातावरण है। हिन्दुस्तान में उनका घर ही दूसरे प्रकार का है। समझ में आया ? आहाहा! 'गुणीजन नियति वर्तमान' नियति वर्तमान अर्थात् निश्चय। 'भोला ने इष्ट कर्म छै जी..' मूर्ख को कर्म इष्ट है 'गुणीजन कर्म नोकर्मवत् जान, ज्ञाता ने इष्ट आत्मा जी' मैं तो आत्मा हूँ, मेरे स्वरूप में (पर का) कुछ नहीं है। आहाहा! सेठ! यह गृहस्थाश्रम में ऐसे रह सकते हैं या नहीं ? आहाहा!

भगवान आत्मा गृहस्थाश्रम में ही नहीं है। आश्रम कैसा ? आहाहा! भगवान

गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम, त्यागाश्रम और यह आत्मा में है ही नहीं। आत्मा तो अखण्डानन्द चिदानन्दमूर्ति की दृष्टि में पर की अवस्था, मूर्ख की, पण्डित की लागू नहीं पड़ती। समझ में आया? तो कहते हैं, यह है किसकी? इसका है नहीं। जन्म-मरण कहते हैं, रोग व्याधि, बाल अवस्था, युवावस्था कहते हैं न?

'एतानि पुद्गले' 'एतानि पुद्गले' यह अन्तिम शब्द है। **ये मृत्यु-व्याधि और बाल-वृद्ध आदि दशाएँ पुद्गल-मूर्त शरीर आदिकों में ही हो सकती हैं।** पुद्गल में है, भाई! मुझमें नहीं। आहाहा! ऐसा निश्चय करना और निश्चय करके अपना अनुभव करना, इसका नाम धर्म है। समझ में आया? **कारण कि ये सब मूर्तिमान पदार्थों के धर्म हैं।** वह तो जड़ का स्वभाव / धर्म है। व्याधि, बाल, युवा, वृद्धावस्था वह जड़ की अवस्था अपने आत्मा में मानना, पर की अवस्था अपने में मानना, वही मिथ्यात्व शल्य है। समझ में आया? वही मिथ्यादर्शन है, अज्ञान है। पर की अवस्था अपने में मानना; है पर की और अपने में मानना, वही मिथ्यात्व है। पर की पर में है, मेरी मुझमें है - ऐसे स्व-पर का ज्ञायक रहना, इसका नाम धर्म है। आहाहा! **मुझमें वे कदापि नहीं हो सकतीं।** यह इष्ट उपदेश। पूज्यपादस्वामी का इष्ट उपदेश। आहाहा!

दोहा - मरण रोग मोमें नहीं, तातें सदा निशंक।
बाल तरुण नहिं वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक।।२९।।

हिन्दी में श्लोक बनाया है। **मरण रोग मोमें नहीं,..** मरण और रोग भगवान आत्मा में नहीं है, ऐसा निर्णय तो कर। समझ में आया? जहाँ-तहाँ अभिमान करता है। जड़ का रोग हुआ, मृत्यु हुई, वह तो पर का अभिमान है। पर का अभिमान, वह तो मिथ्यात्व है। अज्ञान, आत्मा पर पर्दा डाल देता है। भगवान अखण्डानन्द प्रभु में मिथ्यात्व का पर्दा डालकर अपने चैतन्य की जागृति रोक देता है। समझ में आया? **मरण रोग मोमें नहीं, तातें सदा निशंक।** निर्भय हूँ। निशंक का अर्थ निर्भय। **बाल तरुण नहिं वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक।** यह पुद्गल का लक्षण। अंक अर्थात् यह पुद्गल की निशानी है, जड़ की है, मेरी नहीं।

फिर भी भावना करनेवाला खुद शंका करता है, कि यदि कही हुई नीति के अनुसार मुझे भय आदि न होवे, न सही, परन्तु जो जन्म से लगाकर अपनायी गयी थी और भले ही जिन्हें मैंने भेद-भावना के बल से छोड़ दिया है; ऐसी देहादिक वस्तुएँ चिरकाल के अभ्यस्त-अभेद संस्कार के वश से पश्चात्ताप करनेवाली हो सकती हैं, कि 'अपनी इन चीजों को मैंने क्यों छोड़ दिया?'

भावक-भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि-

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा?।।३०।।

अर्थ - मोह से मैंने समस्त ही पुद्गलों को बार-बार भोगा और छोड़ा। भोग-भोगकर छोड़ दिया। अब जूठन के लिए (मानिन्द) उन पदार्थों में मेरी क्या पहचान हो सकती है? अर्थात् उन भोगों के प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है।

विशदार्थ - अविद्या के आवेश के वश से अनादिकाल से ही मुझ संसारी जीव को कर्म आदि के रूप में समस्त पुद्गलों को बार-बार पहिले भोगा, और पीछा उन्हें नीरस (कर्मत्वादि रहित) कर-करके छोड़ दिया। जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूँठन-उच्छिष्ट भोजन, गन्ध, मालादिकों में जैसे लोगों को फिर भोगने की स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञान से विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्गलों में क्या अभिलाषा हो सकती है? नहीं नहीं, हरगिज नहीं। भैया! जब कि तुम मोक्षार्थी हो, तब तुम्हें निर्ममत्व की ही भावना करनी चाहिए (ऐसा स्वयं को संबोधन करते हैं)।।३०।।

दोहा - सब पुद्गल को मोह से, भोग भोगकर त्याग।
मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिष्ट में राग।।३०।।

गाथा - ३० पर प्रवचन

फिर भी भावना करनेवाला खुद शंका करता है,... सम्यग्दृष्टि। **यदि कही हुई नीति के अनुसार मुझे भय आदि न होवे न सही, परन्तु जो जन्म से लगाकर अपनायी गयी थी और भले ही जिन्हें मैंने भेद-भावना के बल से छोड़ दिया है; ऐसी देहादिक वस्तुएँ चिरकाल के अभ्यस्त-अभेद संस्कार के वश से पश्चात्ताप करनेवाली हो सकती हैं, कि 'अपनी इन चीजों को मैंने क्यों छोड़ दिया?'** भाई! यह तो अनन्त बार छूटी और गयी, वह मेरी चीज़ है ही नहीं।

भावक-भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है,.. क्या?

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा?।।३०।।

अर्थ - मोह से मैंने समस्त ही पुद्गलों को बार-बार भोगा... आहाहा! पुद्गलों को भोगा, यह तो शब्द है, हों! उनकी ओर लक्ष्य करके अनन्त बार राग (किया) उच्छिष्ठ-उच्छिष्ठ सब अनन्त बार (भोगा)। स्वप्न समान, आता है न? श्रीमद् में नहीं आता? 'सकल जगत छे ऐंठवत् अथवा स्वप्न समान।' सकल जगत छे ऐंठवत्—ऐंठ (अर्थात्) उल्टी अथवा स्वप्न समान, ते कईये ज्ञानी दशा, बाकी वाचा ज्ञान। कहते हैं, भगवान! तू तो सच्चिदानन्द प्रभु है न! तेरी चीज़ तो शाश्वत् है न! तो शाश्वत् वस्तु में...

मोह से मैंने समस्त ही पुद्गलों को बार-बार भोगा.. विचार करता है। ओहो! अनन्त बार स्त्री का देह, शरीर के पुद्गल, कर्म के पुद्गल, वाणी के पुद्गल मेरे पास अनन्त बार आ गये हैं। ये नये नहीं हैं। ऐसे-ऐसे पुद्गल वाणी, शरीर, स्त्री का देह, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, मकान मेरे पास अनन्त बार आ गये हैं। मैंने उन्हें भोगा है। भोगने का अर्थ—उस ओर लक्ष्य करके राग का अनुभव किया है। उस वस्तु को तो अनुभव होता नहीं। परवस्तु का अनुभव आत्मा में कभी नहीं होता। जड़ का अनुभव कर नहीं सकता। आत्मा अपने विकार का अनुभव करता है।

कहते हैं, **मोह से मैंने समस्त ही पुद्गलों को बार-बार भोगा और छोड़ा।** आहा! संयोग आया। मैं तो शाश्वत् वस्तु हूँ। ज्ञानानन्द ध्रुवचैतन्य हूँ। यह वस्तु अनन्त बार आयी, अनन्त बार छूट गयी। **भोग-भोगकर छोड़ दिया। अब जूठन के लिए..** यह तो जूठन है-उल्टी है, उल्टी, वमन। आहाहा! वमन श्वान खाता है, कहते हैं। **अब जूठन के लिए (मानिन्द) उन पदार्थों में मेरी क्या पहचान हो सकती है?** देह छूटा तो मेरी क्या चाहना रही? अनादि से ऐसा देह तो अनन्त बार आयी थी और अनन्त बार यह देह आकर छूट गयी, मैं तो ऐसा का ऐसा आत्मा उसमें धारावाही हूँ। समझ में आया?

जैसे मार्ग पर एक व्यक्ति चलता है और वृक्ष की छाया होती है, छाया। मनुष्य तो वह का वह है, चलता है। एक छाया छूटती है, दूसरी छूटती है, तीसरी छूटती है। इसी प्रकार आत्मा तो अनादि से ऐसा का ऐसा है। शरीर की छाया एक, दो, तीन ऐसे अनन्त बार आयी। आत्मा तो ऐसा का ऐसा शाश्वत् दीपक की भाँति अन्दर विराजमान है। ऐसे शरीर को भोगने का मैंने अनन्त बार किया और उसे छोड़ भी दिया।

अब जूठन के लिए (मानिन्द) उन पदार्थों में मेरी क्या पहचान हो सकती है? क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात करते हैं, हों! शरीर में कुछ भी मिठास आना, वह मूढ़ की मान्यता है। आहाहा! शरीर में प्रतिकूलता होने से, शरीर में खेद, दुःख होने से मुझे दुःख हुआ, यह, मिथ्यादृष्टि का लक्षण है-ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? बात सूक्ष्म पड़ती है। शरीर में कुछ होवे तो कहता है, मैंने भोगा और मैंने छोड़ दिया। **मेरी क्या पहचान हो सकती है?** यह जड़ की पर्याय ऐसे हो, यह दृष्टि मिथ्या है। रहे, न रहे, वह उसकी स्वतन्त्र पर्याय है। वह छूट जाओ, प्रतिकूल होओ तो जल्दी छूट जाओ, यह भी पर के साथ एकत्वबुद्धि है। एकत्वबुद्धि बिना, यह छूटे - ऐसी भावना नहीं हो सकती।

कहते हैं **अर्थात् उन भोगों के प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है।** ओहो! यहाँ तो कहते हैं, अपने आनन्दस्वरूप की जहाँ भावना है, शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा, अनाकुल आनन्द जहाँ अन्तर में पड़ा है, ऐसा सम्यग्दृष्टि-धर्मी अपने आनन्द को चाहता है, भावना करता है, एकाग्र होकर अनुभव करता है, ऐसे धर्मी को भोग और शरीर की भावना कैसे होगी? ऐसा कहते हैं। **इच्छा ही नहीं है।** ओहो! छियानवें हजार स्त्रियों के बीच में रहा

हुआ चक्रवर्ती, छियानवें हजार स्त्रियाँ, इच्छा ही नहीं – ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! अन्दर में इच्छा नहीं है, छूट गयी है, कट गयी है। आत्मा और राग के बीच एकत्व टूट गया है।

बिल्ली होती है न? बिल्ली, बिल्ली। लकड़ी पड़े और जैसे कमर टूट जाए, फिर ऐसे-ऐसे घिसटकर चलती है। उसी प्रकार धर्मी जीव को शरीर, राग और आत्मा के बीच (सांध) टूट गयी है। मिथ्यादर्शन शल्य का नाश हो गया है। सम्यग्दर्शन की पर्याय से कमर टूट गयी है। फिर जरा राग होता है तो उस राग का राग नहीं है। राग का राग नहीं, भोग का राग नहीं। आत्मा के ज्ञानानन्द की भावना है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यह ऐसा होता है, वह अनन्त परमाणु के पिण्ड की पर्याय है। आहाहा! आत्मा तो अत्यन्त ज्ञानवस्तु है। ज्ञान अ..हं करे, ऐसा कहाँ से आया? आत्मा बोलता है? आत्मा खकार खाता है आत्मा? चिमनभाई! यह वकील तो कोर्ट में बहुत शीघ्रता करते हैं। कहो, समझ में आया?

यहाँ कहते हैं मैं देह से भिन्न हूँ, ऐसा जाना था तो अब देह की इच्छा कैसी? ऐसा कहते हैं? मैंने आत्मा को देह से भिन्न जाना तो देह की चाहना कि इतना काल निरोग रहे, इतना काल रहे, ऐसी इच्छा कैसी? हो, न हो वह उसके कारण से है। मेरी इच्छा से देह नहीं रहती और मेरी इच्छा से देह का नाश नहीं होता। वह तो देह की स्थिति प्रमाण रहती है। मेरी स्थिति उससे भिन्न है। मैं सच्चिदानन्द भगवान आत्मा हूँ, ऐसे अपनी दृष्टि से मेरी चाहना, इच्छा शरीर में कैसे होगी?

उन भोगों के प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को भोग का त्याग दिखता नहीं, परन्तु अन्तर में भोग का त्याग है। मिथ्यादृष्टि बाह्य स्त्री का त्याग करता है और अन्दर में राग तथा शरीर की पर्याय अपनी मानता है तो भोग का जरा भी त्याग नहीं है। आहाहा! कहो, चन्दुभाई! अकेला नग्न मुनि हो, परन्तु अन्दर में देह और राग (मेरा है, ऐसा मानत है)। देह की क्रिया मुझसे होती है और राग मुझे लाभदायक है, ऐसी दृष्टि पड़ी है तो वह भोगी है। धर्मी ने देह और राग से भिन्न अपने

आत्मा को जान लिया है तो छियानवे हजार (रानियों का) भोग होने पर भी वह भोगी नहीं है। वह भोग की वांछारहित है। आहाहा! ऐसे आत्मा के आनन्द की भावना करनेवाले को भोग के प्रति इच्छा ही नहीं है। समझ में आया?

विशदार्थ – अविद्या के आवेश के वश से अनादिकाल से ही मुझ संसारी जीव को कर्म आदि के रूप में समस्त पुद्गलों को बार-बार पहिले भोगा,.. देखो! भाषा क्या है? **अविद्या के आवेश के वश से..** देखो! इसमें कोई कर्म का दोष नहीं है। **अविद्या के आवेश..** भगवान आत्मा ज्ञान और चैतन्य आनन्दकन्द का प्रभु, उसका आश्रय नहीं लेकर अविद्या का आश्रय लिया। अज्ञान के आवेश में अनादि काल से संसारी जीव ने **कर्म आदि के रूप में समस्त पुद्गलों को बार-बार पहिले भोगा, और पीछा उन्हें नीरस (कर्मत्वादि रहित) कर-करके छोड़ दिया।** रस पूरा हो गया तो छूट गया, ऐसा कहते हैं।

जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूँठन-उच्छिष्ट भोजन, गन्ध, मालादिकों में जैसे लोगों को फिर भोगने की स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञान से विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्गलों में क्या अभिलाषा हो सकती है? देखो! **छिनकी हुई रेंट...** नाक में से निकालते हैं न? मैं भगवान आत्मा हूँ और राग तथा रोग तो जूठन है, जूठन। मैंने जूठन छोड़ दी है तो उसके प्रति मेरी भावना कैसी? मैं तो चिदानन्दमूर्ति त्रिकाल शाश्वत् पर से भिन्न हूँ, ऐसी भावनावाले को भोगने की स्पृहा नहीं होती। समझ में आया? **नहीं नहीं, हरगिज नहीं।** आहाहा! मैं तो आत्मा हूँ। मुझे भोग और शरीर की इच्छा अन्तर में कभी नहीं होती। **भैया! जब कि तुम मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्व की ही भावना करनी चाहिए..** यदि तू आत्मार्थी हो, तब तो पर का अभिनिवेश छोड़कर, पर की ममता छोड़कर स्व में समता करने का अभ्यास करना चाहिए। यह तेरा अभ्यास-धर्म है। समझ में आया? दूसरा बाहर बोलना, चलना, वह आत्मा की क्रिया है ही नहीं। आहाहा! बोलने से आत्मा को लाभ है नहीं। दुनिया समझे, ऐसा बोलूँ तो समझे तो आत्मा को लाभ होगा, ऐसा कुछ है ही नहीं।

मुमुक्षु : वकील को बोलना या नहीं बोलना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले कौन ? वकील कहाँ बोलता है ? भाषा होती है। ये रहे वकील। ये बैठे, ये बैठे, बहुत वकील हैं। समझ में आया ?

भगवान आत्मा, एक रजकण के साथ भी मुझे सम्बन्ध नहीं है, ऐसी मेरी वस्तु है तो राग का सम्बन्ध तादात्म्यस्वरूप में आत्मा में तीन काल में नहीं है। ऐसी दृष्टिवन्त धर्मात्मा पर की जूठन छोड़ने में उसकी भावना नहीं होती कि वह फिर से आवे। मैंने छोड़ी, वह वस्तु फिर से आवे, ऐसी भावना धर्मी को नहीं होती। अन्दर ज्ञानानन्द में एकाग्र होने की भावना होती है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ३५ गाथा-३०-३२ शनिवार, दिनाङ्क २३-०४-१९६६
वैशाख शुक्ल ३, वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश चलता है। इसकी ३० वीं गाथा चली। देखा ! इसक अन्तिम हिन्दी श्लोक।

दोहा – सब पुद्गल को मोह से, भोग भोगकर त्याग।
मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिष्ट में राग।।३०।।

यह ३०वें श्लोक का हिन्दी है। धर्मी जीव अपने शुद्ध आत्मा के आनन्द के स्वरूप की रुचि के कारण, अपना आत्मा आनन्द और अतीन्द्रिय शान्तरस से भरपूर है, ऐसी अपनी चीज़ का विश्वास, प्रतीति और अपने शुद्धस्वभाव का अनुभव करके ऐसी विचारणा करता है कि **सब पुद्गल को मोह से,..** मैंने अभी तक मेरे अतिरिक्त परपदार्थ के मोह से, स्वरूप के भान बिना **भोग भोगकर त्याग।** अनन्त बार अनन्त पदार्थों का लक्ष्य करके ममता का भोग किया और वस्तु को छोड़ा।

अब **मैं ज्ञानी करता नहीं,..** मैं भोग की क्रिया का और भोग में राग होता है, वह भी मेरी क्रिया नहीं। वह क्रिया मेरी नहीं, मैं कर्ता नहीं। आहाहा ! मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। भोग

तो परपदार्थ है, उसका अनन्त बार वमन किया। संयोग मिला और अनन्त बार उस उच्छिष्ट का त्याग किया। वमन.. वमन..। नाक के रेंट का दृष्टान्त दिया था। जैसे नाक में से छिनक निकाल डालते हैं, इसी प्रकार अनन्त बार परपदार्थ का संयोग मुझे मिला और मैंने छोड़ा। **मैं ज्ञानी करता नहीं,...** अब मैं भोग के भाव का भी कर्ता नहीं और भोग की क्रिया तो जड़ है।....कहो, समझ में आया?

आत्मा अपने शुद्ध आनन्द के भान बिना अनन्त काल में अज्ञानरूप परवस्तु, शरीर, कर्म स्त्री का शरीर आदि, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, दाल, भात, मौसम्बी, लड्डू इत्यादि पदार्थ का संग मैंने अनन्त बार किया, उस संग में मैंने मोह से मोह किया, मोह से मोह किया। समझ में आया? वह मैंने भोगा और अनन्त बार मैंने छोड़ा। मेरी वस्तु में तो आनन्द का भाव था, उसे मैं भूल गया था। ऐसी वस्तु अनन्त बार भोगने में आ गयी और छोड़ने में भी अनन्त बार आ गयी। अब **मैं ज्ञानी करता नहीं,...** अब तो मैं ज्ञानानन्द शुद्धचैतन्य हूँ। मेरे ज्ञानस्वरूप का, आनन्दस्वरूप का रचनेवाला हूँ। मेरे वीर्य से-आत्मबल से मैं मेरी शान्ति, सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि शान्ति का रचनेवाला हूँ। मैं भोग का कर्ता नहीं हूँ। समझ में आया?

उस उच्छिष्ट में राग... वह छोड़ा हुआ राग अब मुझे नहीं। अनन्त बार छोड़ा। यह बात पहले आ गयी। अब यह गाथा जरा कठिन है- ऐसी आयी है। ३१

यहाँ पर शिष्य कहता है कि वे पुद्गल क्यों बँध जाते हैं? अर्थात् जीव के द्वारा पुद्गल क्यों और किस प्रकार से हमेशा बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं?

आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं-

कर्म कर्महिताऽऽबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्व-स्वप्रभाव-भूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति।।३१।।

अर्थ - कर्म, कर्म का हित चाहते हैं। जीव, जीव का हित चाहता है। सो ठीक ही है, अपने-अपने प्रभाव के बढ़ने पर कौन अपने स्वार्थ को नहीं चाहता। अर्थात् सब अपना प्रभाव बढ़ाते ही रहते हैं।

विशदार्थ – कभी जीव बलवान होता है तो कभी कर्म बलवान हो जाते हैं। इस तरह जीव और कर्मों का पहिले से (अनादि से) ही बैर चला आ रहा है। ऐसा कहने से मतलब यह निकला कि पूर्वोपार्जित बलवान द्रव्यकर्म, अपना यानि द्रव्यकर्म का हित करता है अर्थात् द्रव्यकर्म, जीव में औदयिक आदि भावों को पैदा कर नये द्रव्यकर्मों को ग्रहण कर अपनी संतान को पुष्ट किया करता है, जैसा कि अमृतचंद्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा है–

'जीवकृतं परिणामं०' 'परिणममानस्य०'

जीव के द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र हैं, प्राप्त करके जीव से विभिन्न पुद्गल खुद ब खुद कर्मरूप परिणम जाते हैं। और अपने चेतनात्मक परिणामों से स्वयं ही परिणमनेवाले जीव के लिए वह पौद्गलिक कर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है। तथा कालादि लब्धि से बलवान हुआ जीव अपने हित को अनन्त सुख का कारण होने से उपकार करनेवाले स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष को चाहता है। यहाँ पर एक स्वभावोक्ति कही जाती है कि 'अपने–अपने माहात्म्य के प्रभाव के बढ़ने पर स्वार्थ को अपनी –अपनी उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता?' सभी चाहते हैं।।३१।।

दोहा – कर्म कर्महितकार है, जीव जीवहितकार।
निज प्रभाव बल देखकर, को न स्वार्थ करतार।।३१।।

गाथा - ३१ पर प्रवचन

यहाँ पर शिष्य कहता है.. देखो! यहाँ उपोद्घात में सब स्वतन्त्र बात है। **पुद्गल क्यों बँध जाते हैं?** शिष्य का प्रश्न है कि भगवन्त! यह कर्मबन्धन का बन्धन जो आत्मा को होता है, वह किस प्रकार से होता है? (अर्थात्) उसका स्पष्टीकरण किया। **जीव के द्वारा पुद्गल क्यों.. जीव के द्वारा पुद्गल क्यों..** यह प्रश्न है। समझ में आया? वजुभाई! इस गाथा में अज्ञानी का बड़ा विवाद है। अज्ञानी विवाद करता है (कहता है) देखो! जीवो वलियो, कच्छवि कम्मो। भाई! यह आत्मा **जीव के द्वारा पुद्गल क्यों..** ऐसा प्रश्न है। भगवान आत्मा अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप का आश्रय, स्वीकार, सत्कार

छोड़कर परकर्म के उदय का स्वीकार, सत्कार, सम्बन्ध करता है तो वह कर्म का आत्मा उपकार करता है, ऐसा कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? नवनीतभाई! कर्म का उपकार करता है। आहाहा! **जीव के द्वारा पुद्गल क्यों और किस प्रकार से हमेशा बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं?** भगवान आत्मा द्वारा कर्म के सम्बन्धरूपी बन्ध किस प्रकार से और किस रीति से होता है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उसके उत्तर में गाथा है।

कर्म कर्महिताऽऽबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्व-स्वप्रभाव-भूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति।।३१।।

आहाहा! क्या कहते हैं? **कर्म, कर्म का हित चाहते हैं।** भाषा यहाँ गड़बड़वाली (अटपटी) है। **कर्म, कर्म का हित चाहते हैं।** इसका अर्थ कि भगवान आत्मा अपने स्वरूप का माहात्म्य और अपने स्वरूप की सावधानी छोड़कर, कर्म के निमित्त में सावधानी और उसका आदर करता है। कर्म का उदय आया तो अपने स्वभाव का आदर छोड़कर, सत्कार छोड़कर उसका सत्कार करता है। कर्म के उदय में जुड़ान होता है। राग, द्वेष और अज्ञानभाव अनादि से अज्ञानी करता है। वह अज्ञानी कर्म का ही उपकार करता है, ऐसा कहा गया है। कर्म का उपकार करता है तो कर्म स्वयं का हित करता है। कर्म स्वयं से आत्मा को बाँधता है। समझ में आया? भाषा जरा अटपटी है।

कर्म, कर्म का हित चाहते हैं। इसका अर्थ यह है। पश्चात् भी लिया है। अपना स्वरूप शरीर, कर्म आदि नहीं है। कर्म, शरीर आदि का अज्ञान अथवा मोहवश उपकार किया जाता है। यह ३२ गाथा में है। समझ में आया? अपना स्वरूप ज्ञानानन्द चिदानन्दमूर्ति अनाकुल आनन्दस्वरूप है। ऐसा अपना स्वीकार, सावधानी और अपना सत्कार-आदर नहीं करके अज्ञानी अनादि काल से अपनी पर्याय में कर्म का आदर करता है। यहाँ आदर नहीं करता तो कर्म का आदर करता है। अच्छा आया, अच्छा उदय आया। समझ में आया? उससे जुड़ान होकर राग और द्वेष और मिथ्यात्वभाव अज्ञानी उत्पन्न करता है। उससे कर्म बँधता है तो कर्म का उपकार किया, तो कर्म अपना हित क्यों छोड़े? समझ में आया?

दुश्मन को थाप मारे कि तू बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। मनुष्य दुश्मन को कहे कि तू बहुत अच्छा है तो वह कैसे मारने का छोड़े? इसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव की

शुद्धता छोड़कर मैं ज्ञानानन्द सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, उसका अन्तर्मुख का आदर छोड़कर बहिर्मुख कर्म के उदय में भाव में आदर करता है तो कर्म का ही उपकार करता है, तो कर्म अपना हित चाहता है। बहुत अच्छा, भाई! .....तो जड़ है, उसे इच्छा कैसी? परन्तु भाषा ऐसी है। **कर्म कर्महिताऽऽबन्धि** हित की इच्छा करनेवाला। उसका अर्थ कि जो कोई कर्म का आदर करता है तो कर्म बँधता है और कर्म की वृद्धि होती है और कर्म की पुष्टि होती है, तो कर्म ने हित चाहा, ऐसा कहने में आया है। आहाहा! समझ में आया? इस गाथा में बहुत गड़बड़ (अटपटापन है) बहुत दृष्टान्त देते हैं कि देखो! यहाँ भी ऐसा आया है। किसी समय कर्म जोर करता है। एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी प्राणी जब तक न हो, तब तक असंज्ञी तक कर्म का जोर है और जब संज्ञी होता है, मनवाला होता है, तब कर्म का जोर नहीं है, तब आत्मा का जोर है, ऐसा कहकर दो भाग करता है। (परन्तु) ऐसा नहीं है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, अपना शुद्ध भगवान आत्मा, पूर्णानन्द निर्वाणनाथ सच्चिदानन्द प्रभु, निर्वाणनाथ आत्मा है। अपना निजस्वरूप परमेश्वर है। तेरे परमेश्वर को तू दूर न देख। समझ में आया? तेरे परमेश्वर-ईश्वर को दूर न देख। अपने परमेश्वर की ईश्वरता नहीं देखकर पर में ईश्वरता की महत्ता देता है तो वह कर्म का उपकार करता है। पोपटभाई!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : आदर करता है, वह कर्म का उपकार करता है। क्या कहते हैं? समझ में आया? इसलिए प्रश्न किया न? **जीव के द्वारा पुद्गल क्यों**... पहले प्रश्न है न? भगवान आत्मा... ओहो! मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया? मेरी वस्तु क्या है? उसके स्वरूप का भान नहीं तो अपनी मौजूदगी-अस्तित्व कहीं तो मानना पड़ेगा। अपना अस्तित्व कहीं तो मानना पड़ेगा। अपना स्वरूप ज्ञान, आनन्द, त्रिकाल ध्रुव शुद्ध है, उस सत्ता की श्रद्धा नहीं तो अपनापना कहीं तो मानना पड़ेगा, तो राग-द्वेष, पुण्य-पाप भावकर्म के निमित्त के संग से होते हैं, वे मेरे (ऐसा मानता है)। ऐसे आत्मा अपना हित छोड़कर कर्म का हित करता है। कहो, समझ में आया? यह देखो न! संसार में भी ऐसा करते हैं न? भले मेरा चाहे जो हो परन्तु स्त्री, पुत्र, परिवार का मैं रक्षण, पोषण कर दूँ। मेरा भले चाहे जो हो।

मर जाता है न अज्ञान के लिये ? वह अपना मोह पर के प्रति है तो पर के प्रति उपकार करता है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वररूप साक्षात् है। चैतन्य परमेश्वर 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसे स्वरूप का सत्कार, आश्रय, अवलम्बन, स्वावलम्बी, सावधानी छोड़कर, कर्म के उदय में सावधानी, आश्रय, आलम्बन, सत्कार (करता है)। तू बहुत अच्छा उदय में आया, उसमें जुड़कर मैं राग-द्वेष-मोह करता हूँ। ऐसे अज्ञानी अपना हित छोड़कर कर्म का हित करता है। नवनीतभाई ! आहाहा !

जीव जीव का हित चाहता है। लो ! अपने स्वरूप की सावधानी करता है तो जीव अपना हित चाहता है। पर की सावधानी छोड़ देता है कि मैं तो ज्ञान हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्य हूँ, मैं ही मेरा सत्कारकर्ता हूँ। मैंने अनादि से पर का सत्कार किया, अब मैं ही मेरा सत्कार करता हूँ कि मैं चैतन्य हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, आनन्द हूँ, मेरी चीज़ में पवित्रता का धाम है। सम्पूर्ण असंख्य प्रदेश पवित्रता की शक्ति से भरपूर हैं। ऐसे आत्मा अपना हित चाहता है। **सो ठीक ही है,...** क्यों ?

अपने अपने प्रभाव के बढ़ने पर कौन अपने स्वार्थ को नहीं चाहता। जिसका जोर हो, उस समय अपना प्रभाव डालना कौन नहीं चाहता ? समझ में आया ? जिसका प्रभाव बढ़ जाए और अपना हित न चाहे, ऐसा कौन होगा ? आहाहा ! चिमनलालभाई ! कर्म का जोर नहीं, हों ! इसमें से कर्म का जोर निकालते हैं। नहीं, वह जड़ है। जड़ को कहाँ **कर्महिताऽऽबन्धि** हित चाहता है ? कर्म को कहीं हित की इच्छा है ? तो 'चाहता है', ऐसा शब्द लिया है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कारण लिखा है। पीछे लिखा है न ? पश्चात् उत्तर भी देंगे कि जैसे आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर परिणाम.. नीचे है, देखो ! **चेतनात्मक परिणामों से स्वयं ही परिणमनेवाले जीव के लिए वह पौद्गलिक कर्म सिर्फ निमित्तमात्र बन जाता है।** नीचे है, नीचे। नीचे है, देखो ! अन्तिम पैराग्राफ है न ? दो पंक्ति। **जीव के द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र हैं,..** देखो ! **प्राप्त करके जीव से विभिन्न पुद्गल**

खुद ब खुद कर्मरूप परिणम जाते हैं। भगवान आत्मा अज्ञान से राग-द्वेष करता है तो उस राग-द्वेष के निमित्तमात्र परिणाम नये पुद्गलबंध में निमित्तमात्र हैं। पुद्गल स्वयं अपने से बँध जाता है। **और अपने चेतनात्मक परिणामों से स्वयं ही परिणमनेवाले...** देखो! आत्मा, अपना शुद्ध भगवान, शुद्ध आनन्द को छोड़कर अपने चेतनात्मक परिणाम। है न? चेतनारूप परिणाम। जड़ के परिणाम आत्मा नहीं करता।

आत्मा अपने शुद्ध आनन्द को छोड़कर राग-द्वेष, पुण्य-पाप, जंजाल, संकल्प, विकल्प—ऐसे चेतनस्वरूप विकारी परिणाम को करनेवाला आत्मा होता है। तब **स्वयं ही परिणमनेवाले जीव के लिए वह पौद्गलिक कर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है।** पूर्व कर्म का उदय, आत्मा विकार करता है तो पूर्व कर्म निमित्तमात्र होता है। समझ में आया? आत्मा के विकार और मोह को निमित्तमात्र करके पौद्गलिक कर्म अपने से बँध जाता है, एक बात। और पौद्गलिक कर्म का निमित्तमात्र होने पर आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को छोड़कर मिथ्यात्व और राग-द्वेष (करता है)। पुण्य में मिठास है, भोग में सुख है, स्त्री में मजा है, इज्जत में ठीक है-ऐसी मिथ्या भ्रमणा अज्ञानी करता है। वह परिणाम चेतनात्मक परिणाम है। जीव के किये हुए जीव के भाव हैं। उन जीव के भाव में पूर्व के कर्म का उदय निमित्तमात्र है। समझ में आया? भाई! उसके आधार में पुरुषार्थसिद्धियुपाय का उद्धरण दिया है न? कि मैं कहता हूँ, उसका आधार यह है। आहाहा! समझ में आया? उद्धरण दिया है और वापस स्पष्टीकरण भी ३२ वीं गाथा में किया है। समझ में आया?

अपने अपने प्रभाव के बढ़ने पर कौन अपने स्वार्थ को नहीं चाहता। अपना जहाँ प्रभाव बढ़ गया तो अपना प्रभाव पर के ऊपर कैसे नहीं डाले? ऐसा व्यवहार कहने में आता है। **अर्थात् सब अपना प्रभाव बढ़ाते ही रहते हैं।** कर्म का प्रभाव बढ़े तो कर्म बढ़ते हैं, आत्मा का प्रभाव बढ़े तो आत्मा बढ़ता है। कर्म और शरीर दोनों लिये हैं। कर्म और शरीर ३२वीं गाथा में लिये हैं। कर्म और शरीर, वाणी, कुटुम्ब, देश आदि इनके अविद्या, अज्ञान, अथवा मोह के वश, ये मेरे हैं—ऐसा मानकर, अपना स्वरूप शुद्ध है उसे छोड़कर अज्ञानी अनादिकाल से अविद्या और अज्ञान में अथवा मोहवश उपकार किये जाता है। वह पर का उपकार करता है। आहाहा! शरीर का उपकार करता है, स्त्री का, परिवार का, देश

का, (उपकार करता है), अपना भले अपकार हो। यह लिखा है। कितना किया? अभी तक कितना किया? बीड़ी, तम्बाकू के लिए... क्या कहलाता है?

मुमुक्षु : लोगों को बीड़ी पीने का लाभ मिले न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन लाभ मिले? यह तो मोह के लिए करते थे।

यहाँ कहते हैं, कर्म और शरीर आदि। यह बात सिद्ध करते हैं, कर्म है, शरीर है, दूसरे द्रव्य हैं, परिवार है, अनन्त आत्मा हैं, अनन्त रजकण के पिण्ड भी हैं, ऐसा सिद्ध करते हैं। अपने स्वरूप के अज्ञान से, अविद्या से, चिदानन्द की सावधानी के अभाव में अज्ञानी मोह के वश होकर शरीर, वाणी, स्त्री, पुत्र, परिवार का उपकार करता है। तेरा अच्छा होओ, (ऐसा) भाव, भाव (करता है), हों! भाव में मानता है कि तुम्हारा ठीक होओ, मेरा भले बिगड़ जाए। समझ में आया? ऐसे अज्ञानी अनादि काल से ऐसा करता है, उसे कहते हैं कि कर्म का हित कर्म करता है, ऐसा कहने में आया है। समझ में आया?

अब यह एक गाथा आधार की है। मूल श्लोक अन्दर संस्कृत में है और समयसार नाटक में भी बनारसीदासजी ने यह श्लोक रखा है। जहाँ क्षयोपशम समकित की व्याख्या की है, वहाँ यह रखा है।

कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियचाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वविरुद्धाइ वहराइ।

पूर्व का वैर अनादि से चला आता है। दोनों को पूर्व का वैर अनादि से चला आता है। यहाँ (संवत्) १९९३ के वर्ष में व्याख्यान हुआ था 'पटणी' आया था। पटणी था न? प्रभाशंकर पटणी, दीवान था न? वह आया था। यही बोला था। प्रभाशंकर पटणी था न? (संवत्) १९९३ के श्रावण कृष्ण अमावस्या। अपना पर्यूषण चलता था न? तो गुरुकुल में व्याख्यान चलता था। बहुत लोग आये थे। तुम्हारा वह वैरिस्टर आया था। पोपटलाल चुड़गर आया था। बड़ी सभा थी। कोर्ट है न? कोर्ट। वह पूरी कोर्ट व्याख्यान सुनने आयी थी। पूरा स्टाफ व्याख्यान सुनने आया था। व्याख्यान सुना। प्रभाशंकर पटणी था न? वह सुनकर ऐसा बोला, महाराज! कर्म और आत्मा का मल्लयुद्ध है। मल्ल से मल्ल का युद्ध है। किसी समय कर्म मल्लयुद्ध जीत जाता है, किसी समय आत्मा जीत जाता है, ऐसा

कहा था। अभी कर्म का जोर है, ये कहते थे। मैंने कहा, एक घण्टे सुना परन्तु पानी ढोला, शून्य। समझ में आया? वह बड़ा पण्डित कहलाये। क्या कहलाये? दीवान.. दीवान! भावनगर दरबार का। अन्त में शून्य लगाया। यह मल्ल से मल्ल का युद्ध-लड़ाई है। किसी समय कर्म जीत जाता है, किसी समय आत्मा जीतता है। जिसका जोर (होवे वह जीते)। यह यहाँ कहते हैं, लो! वे कहते हैं, ऐसा नहीं है, हों!

कर्म के जोर का अर्थ—जो कोई अपने स्वरूप की सावधानी नहीं करता, उसे पर में सावधानी का भाव आये बिना नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो जीव द्वारा कहा न? जीव द्वारा। जीव द्वारा उसे जोर मिले अर्थात् वह कर्म बाँधता है, दूसरा क्या? समझ में आया? अपना शुद्ध चैतन्य ज्ञायकमूर्ति को छोड़कर, मैं राग हूँ, मैं राग हूँ, पुण्य मैं हूँ, पाप मैं हूँ (ऐसा मानता है) अभी पुण्य का बहुत चलता है। देखो! भाई! तुम पुण्य का ऐसा ज़हर कहते हो और पुण्य को हेय कहते हो, तो पुण्य से खाने-पीने का मिलता है, निरोगता मिलती है, शरीर अच्छा रहता है, यह सब होवे तो धर्म होता है, ऐसे सब लेख समाचार-पत्र में बहुत आते हैं - जैनगजट और जैनदर्शन (पत्र)। मैं बहुत आते हैं।

मुमुक्षु : ऐसा ही मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कहाँ से मानते हैं? धूल में। शरीर में ऐसा हो तो उसमें आत्मा को क्या है? शरीर निरोग हो तो आत्मा को क्या? और शरीर सरोग हो तो आत्मा को क्या? वह तो परचीज़ है। यह तो आ गया नहीं? समझ में आया?

जड़ की अवस्था से अपनी सुविधा मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है और जड़ की प्रतिकूलता से मुझे प्रतिकूलता है—ऐसा मानता है, वह चैतन्य के स्वभाव की श्रद्धा का अभाव मानता है। पर का जोर है, भाई! कल आया नहीं था? कल नारकी का दृष्टान्त नहीं दिया था? समझे? नारकी का दृष्टान्त दिया था। सातवाँ नरक, रौरव नरक सातवाँ पाताल, इतनी पीड़ा की भगवान जाने और वह (नारकी) भोगे। उसमें कोई राजा और राजकुमार मरकर वहाँ गया हो, पूर्व में सुना हो। पहले याद नहीं किया था। वहाँ जाकर पीड़ा हुई। अरे! पीड़ा.. पीड़ा.. पीड़ा.. वह सातवें नरक का वेदन। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन जितना गुलाँट खाता है, उतनी आकुलता और विकार का वेदन करना

पड़ता है। उतनी आकुलता वहाँ है। अनन्तानुबन्धी। राजकुमार बड़ा पच्चीस-पच्चीस वर्ष का युवक और लड़ाई में चढ़ा हो। बहुत खार खुमार (हो) परन्तु अपना राज्य रखने को मनुष्यों का संहार कर डाले। ऐसे मिथ्या अभिमानी जब मरकर नरक में जाता है और नरक की प्रतिकूलता देखता है। आहा! अनादि का आत्मा है या नया है? अनन्त बार ऐसे भाव किये थे और ये भाव करके अनन्त बार नरक में गया है। ऐसे नरक की वेदना में भी विचार आता है कि अरे! क्या है? इससे कोई छुटकारा है? बन्धन से छूटकारा होता है या नहीं? या यह ऐसी ही चीज है। ऐसे विचार करके राग और शरीर से पृथक् अपने आत्मा का अनुभव कर लेता है। समझ में आया? सातवें नरक का नारकी जीव। अभी है, अभी है, हों! यह सब कल्पना नहीं है। आहाहा! सातवें नरक का नारकी। पीड़ा... उस पीड़ा का एक क्षण..

मनुष्य को यहाँ पीड़ा होती है न? पीड़ा होती है तो कहता है, रात्रि बड़ी लम्बी हो गयी। रात्रि तो है, वह है। रात्रि कहीं लम्बी नहीं होती परन्तु ऐसा कहता है। आज रात्रि बहुत लम्बी हो गयी। रात्रि तो है, वह है, परन्तु दुःख.. दुःख.. दुःख। सातवें नरक में इसकी अपेक्षा तो अनन्तगुणा दुःख है। यह किस हिसाब में है? भाई! यह वेदन की बात वीतराग जाने और वह भोगे।

भगवान आत्मा के भान बिना, मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा परमेश्वर हूँ। मेरी परमेश्वरता बाहर से कभी नहीं आती। मेरे श्रद्धा-ज्ञान में मैं परमात्मा ही हूँ-ऐसा माने बिना पर की परमेश्वरता स्वीकार करता है तो पर की अधिकाई में उसे दुःख भोगना पड़ता है। अनन्त बार त्यागी हुआ, मुनि हुआ। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ।' चिमनलालभाई! आता है? लो, बोलते अवश्य हैं परन्तु वहाँ वापस रखते हैं। कहो, समझ में आया?

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायौ।'

आत्मा के भान बिना आंशिक आनन्द बाहर में तीन काल में नहीं है। साधुपना पाले, क्रिया करे, पंच महाव्रत पालन करे, वह सब राग है, सब दुःख है, सब दुःख है। अपने आनन्द के भान बिना, सुख का वेदन सम्यग्दर्शन बिना कभी नहीं होता। सातवें नरक में

इतनी पीड़ा में अनुभव करता है और आनन्द का स्वाद ले लेता है। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं? मूलचन्दजी! कहाँ गये डॉक्टर? वह स्तवन में आता है, 'बाहिर नारकी कृत दुःख भोगे अन्तर सुख रस गटागटी।' यह स्तवन है। हुकमीचन्दजी सेठ आवे तब बोलते हैं। भागचन्दजी का है न 'बाहिर नारकी कृत दुःख भोगे अन्तर सुख रस गटागटी।' नारकी जीव को भी पूर्व के पाप के कारण से प्रतिकूल संयोग में जन्म लेना पड़ा परन्तु जहाँ भेदज्ञान किया... ओहो! मेरी स्थिति तो शुद्ध चिदानन्द है न! मैं भूला, मैं भटका। मेरा भगवान मेरे समीप है परन्तु मैं बाहर ढूंढ़ने गया किन्तु बाहर में तो मिला नहीं। ऐसा विचार कर अन्तर में जाता है तो आनन्द का स्वाद सम्यग्दृष्टि, नारक के इतने प्रतिकूल संयोग में भी वेदन करता है। कोई संयोग दुःख का कारण नहीं है। समझ में आया?

लाख सुविधाएँ हों, पाँच-पच्चीस लाख हो, धूल हो, स्त्री, कुटुम्ब सब सुविधाएँ हों परन्तु अन्दर होली सुलगती हो। अरे! इसका कैसे करना और क्यों करना? कैसे निभाना? इसे कैसे निभाना? लोग ऐसा मानते हैं कि इसके पास इतनी पूँजी है। इसकी पूँजी छाती पर चढ़ी हो। किसका निभाव करना? (वह छाती में बैठा हो) समझ में आया? बैठा हो मोटर में और मोटर उसके कलेजे पर बैठी हो कि किस प्रकार निभाव करना? इज्जत बड़ी है, पचास लाख की इज्जत है, पूँजी पाँच लाख की है, पैंतालीस लाख की न्यूनता है। कैसे करना? ऐसे दुःख का वेदन, इतनी सुविधा में भी अपनी कल्पना के जाल से दुःखी है, पर के कारण नहीं।

यहाँ कहते हैं **कभी जीव बलवान होता है तो कभी कर्म बलवान हो जाते हैं।** उसका अर्थ क्या? किसी समय अपना शुद्ध वीर्य के स्फुरण की जागृति छोड़कर कर्म की शक्ति का बहुमान किया। पुण्य-पाप, राग-द्वेष आये, उनका बहुमान किया, वह कर्म का बहुमान किया। समझ में आया? कर्म के संग से जो विकार, शुभ-अशुभरागादि होते हैं, उनका बहुमान किया, वह कर्म का ही बहुमान किया। क्योंकि कर्म का भाव है, आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! समझ में आया? गजब भाई! यह गाथा ऐसी आयी है, देखो!

कभी जीव बलवान होता है... भगवान आत्मा पुरुषार्थ की जागृति से एक रणकार करता है कि मैं ही आत्मा हूँ। मेरा ही जोर है, मेरा ही बल है। जगत में कोई दूसरी चीज़

मुझसे बलवान नहीं है। समझ में आया? मैं ही मेरे पुरुषार्थ की जागृति से अल्प काल में केवलज्ञान लेनेवाला हूँ। ऐसे आत्मा अपने पुरुषार्थ की जागृति करता है तो आत्मा का हित होता है।

कभी कर्म बलवान हो जाता है। कहो, हुकमचन्दजी! उसके साथ मित्रता की। पर के साथ मित्रता की। सम्बन्ध किया। अच्छा, अच्छा। कर्म आया, जुड़ान हुआ। दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, पुण्य-पाप के भाव हुए (तो मानता है) बहुत अच्छा हुआ। यह कर्म का हित किया, कर्म का उपकार किया, नये कर्म का बन्धन हुआ। कर्म के भाव को अपना मानकर नया कर्म बन्धन हुआ तो कर्म ने हित किया। कर्म ने अपना पक्ष सिद्ध किया, कर्म ने अपनी पुष्टि की। आत्मा को छोड़ दिया। लालचन्दभाई! इसमें उदाहरण... देखो! इसमें लिखा है। बहुत से इसका दृष्टान्त देते हैं। रतनचन्दजी आदि। समझ में आया? गजट में आता है। **कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियचाइ।** इसका बहुत उद्धरण देते हैं। अरे! भगवान! तू पामर है? पर की महत्ता करता है और अपनी महत्ता छोड़ देता है, यह दोष तेरा है या पर का है? समझ में आया? आहाहा!

हम दृष्टान्त देते हैं न? एक छोटा लड़का था। आठ वर्ष की उम्र का था और एक बारह वर्ष की उम्र का था। बारह वर्ष की उम्र वाले लड़के को छोटे लड़के ने मारा, तो छोटे लड़के ने बड़े को मारा... तड़ाक! हाय.. हाय.. छोटे को मारने तो गया, फिर घर में गया। उसकी माँ को कहे, माँ! मुझे इसने मारा। माँ कहती है - इसकी कितनी उम्र है? आठ वर्ष की। तेरी? बारह वर्ष की। गधेड़ा... गधेड़ा समझते हो? मूढ़, मूर्ख। बारह वर्ष का बड़ा होकर छोटा लड़का तुझे मार गया? ऐसी शिकायत करते हुए तुझे शर्म नहीं आती कि इसने मुझे मारा। किसने? वह छगनियो.. छगनियो कितने वर्ष का? आठ वर्ष का। तू बारह वर्ष का... बारह वर्ष के को आठ वर्ष का मार जाए। गधेड़ा! ऐसी शिकायत लेकर तू आया, शर्म नहीं आती।

भगवान कहते हैं... समझ में आया? अरे! मुझे कर्म ने मार डाला, मुझे कर्म ने मार डाला। मूरख! बड़ा! पर के प्रति जोर देता है? आहाहा! रतनलालजी! रूपचन्दजी! समझ में आया? अपने स्वरूप को छोड़कर पर के रूप का माहात्म्य करता है, वह कर्म का हित

चाहता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कर्म कुछ नहीं करता, हों! वह तो जड़ है। उसे खबर भी कहाँ है कि हम जगत की वस्तु हैं या नहीं?

भगवान आत्मा अपने स्वभाव का माहात्म्य छोड़कर, जो कर्म के निमित्त के संग में विकार होता है, उसकी महिमा, माहात्म्य करता है। पुण्य किया, मैंने पाप किया, मैंने ऐसा किया। बड़कमदार! विकार का अधिकपना मानता है, वह कर्म का ही उपकार करता है तो कर्म अपना उपकार करता है, नया बन्धन करके उसे (जीव को) वश करता है। समझ में आया?

इस तरह जीव और कर्मों का पहिले से (अनादि से) ही बैर चला आ रहा है। लो! आहाहा! समझ में आया? ये लड़के नहीं होते? लड़के खेलते हैं? क्रमशः नम्बर नहीं कहते? खेलते हैं न? सिर पर उठावे। वह कहे, देख, पहले तू मेरे ऊपर चढ़, फिर मैं तेरे ऊपर चढ़ूँगा, ऐसा खेलते हैं न, क्रमशः नम्बर। पहले तेरा, बाद में मेरा। ऐसा कहते हैं कि अज्ञानी प्राणी अपने स्वरूप का माहात्म्य छोड़कर जड़ का माहात्म्य (करता है), पर में सुख का माहात्म्य देता है, वह नये कर्म बाँधता है। वह कर्म का हित करता है, वह कर्म का उपकार करता है। पोपटभाई! स्त्री, पुत्र का उपकार करता है, ऐसा कहते हैं। वह भी उसने मूढ़ता से उपकार किया न? मूढ़ता करके ऐसा माना, तुम्हारा अच्छा होओ, मेरा भले चाहे जो हो। समझ में आया?

जीव और कर्मों का पहिले से (अनादि से) ही बैर चला आ रहा है। ऐसा कहने से मतलब यह निकला कि पूर्वोपार्जित बलवान द्रव्यकर्म, अपना यानि द्रव्यकर्म का हित करता है अर्थात् द्रव्यकर्म, जीव में औदयिक आदि भावों को पैदा कर... देखो! क्योंकि कर्म में जुड़ान होता है न? अपना शुद्ध भगवान का जुड़ान नहीं करके, कर्म के उदय में जुड़ान करता है, वह **औदयिक आदि भावों को पैदा कर नये द्रव्यकर्मों को ग्रहण कर अपनी संतान को पुष्ट किया करता है,..** पुराने कर्म आये, अज्ञानी ने विकार किया, नये कर्म की पुष्टि हुई, ऐसे सन्तति चली है। एक के बाद एक। कर्म का हित हुआ, तेरा हित नहीं हुआ। समझ में आया?

अमृतचंद्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा है– देखो! कोई इस बात को

एकान्त में न ले जाए, इसलिए अमृतचन्द्राचार्य के पुरुषार्थसिद्धियुपाय का उद्धरण देते हैं। **जीव के द्वारा किये गये परिणाम..** देखो! भगवान आत्मा / जीव के द्वारा। विकार स्वयं से होता है-अपने से होता है, पर से नहीं। अपनी भूल अपने से होती है तो अपने से भूल निकाली जा सकती है। यदि भूल-दोष पर से होवे तो पर निकले तो दोष निकले। उसमें अपना स्वाधीनपना नहीं रहता।

जीव के द्वारा किये गये परिणाम.. परिणाम समझे? शुभाशुभभाव या मिथ्यात्वभाव। वे **निमित्तमात्र हैं,...** किसे? नये कर्म बँधने में। देखो! यह पुरुषार्थ -सिद्धियुपाय का उद्धरण दिया है। **प्राप्त करके..** निमित्तमात्र जीव के परिणाम, मिथ्यात्वभाव, भ्रमणाभाव, राग-द्वेषभाव ऐसे परिणाम को निमित्तमात्र करके। **जीव से विभिन्न पुद्गल...** अपने आत्मा से भिन्न जो जड़कर्म हैं, वे **खुद ब खुद कर्मरूप परिणम जाते हैं।** पुद्गल स्वयं से कर्मरूप परिणम जाते हैं। आत्मा कर्म को कर्मरूप करता है, ऐसा नहीं है। बस! आत्मा ने अपनी भूल की है। राग-द्वेष किये, पर में सुख है, ऐसी बुद्धि की, ऐसे परिणाम को निमित्त करके पुद्गल स्वयं से कर्मरूप परिणम जाता है। कहो, समझ में आया? इस कर्मबंधन को आत्मा नहीं करता है।

और अपने चेतनात्मक परिणामों से.. लो! देखो! यह वस्तु की स्थिति ऐसी है। अज्ञानी ऐसे का ऐसा मान लेता है कि कर्म है और ऐसा होता है और बन्धन होता है। परन्तु क्या बन्धन? कोई दुःख है या नहीं? भाव का कोई बन्धन है या नहीं? जड़ का बन्धन पर है। अपने शुद्धस्वरूप को छोड़कर राग-द्वेष में रुक जाना, वही भावबन्धन है। भावबन्धन है। भावबन्धन है तो जड़ का द्रव्यबन्धन जड़ से स्वयं बँध जाता है।

अपने चेतनात्मक परिणामों से.. देखो! चेतनात्मक परिणाम शब्द लिया है। यह पुरुषार्थसिद्धियुपाय का (शब्द है)। **'परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावै'** यह १३वाँ श्लोक है। भगवान आत्मा अपने शुद्ध आनन्द और ज्ञानस्वरूप के अस्तित्व का विश्वास, भरोसा, सत्कार, आदर छोड़कर पुण्य-पाप के भाव, विकारी भाव करता है तो वह चेतनात्मक परिणाम हुए। वह चेतन ने बनाये हुए अपने अरूपी परिणाम हैं। **स्वयं ही परिणमनेवाले...** देखो! कर्म का उदय उसे विकार कराता है, ऐसा नहींरहा।

आहाहा! समझ में आया? अपनी टीका की पुष्टि में यह श्लोक लिया है। कर्म उसका हित चाहता है तो कर्म उसे दबाता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? कर्म के वश होता है। अथवा यहाँ वश होता है, या यहाँ वश होता है। तेरे दो अधिकार हैं। या स्वभाव के आधीन हो या विकार के आधीन हो। विकार के आधीन होवे वह कर्म का उपकार करता है। जीव तो स्वयं अपने परिणाम को करनेवाला है।

परिणमनेवाले जीव के लिए.. भगवान आत्मा अपने राग और द्वेष विकारी परिणाम करने से **वह पौद्गलिक कर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है।** पूर्व कर्म का उदय **सिर्फ..** इतना शब्द लिया है। निमित्तमात्र है। कर्म उसे कराता है, ऐसा नहीं है। देखो! यह **कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियचाइ।** इसका स्पष्टीकरण करते हैं। बड़े-बड़े मानधाता (ऐसा कहते हैं), मल्ल से मल्ल का युद्ध है। हमारे कर्म का जोर है और तुम्हारे आत्मा का जोर है, ऐसा कहते थे। आहाहा! अरे! भगवान! स्वयं पुरुषार्थहीन होकर, नपुंसक होकर पर का अभिमान और पर का माहात्म्य करता है। आहाहा!

शास्त्र में तो ऐसा आया है कि भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान को छोड़कर मात्र शुभभाव की रचना करता है, शुभभाव की रचना करता है और उसकी महत्ता, माहात्म्य करता है, वह अपने पुरुषार्थ-वीर्य को स्वभाव की रचना करने में नपुंसक हुआ है। समझ में आया? अपने वीर्य का स्वरूप क्या है? वीर्य / बल का स्वरूप क्या है? स्वरूप की रचना करना। अपने आत्मा के बल का स्वरूप क्या है? बल का गुण क्या है? बल गुण का गुण क्या है? आहाहा! भगवान आत्मा में अनादि-अनन्त एक वीर्य नाम का गुण पड़ा है। बल, बल शक्ति। उस वीर्य नामक गुण का गुण क्या? कि गुण का गुण यह कि अपने शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की रचना करे, वह वीर्यगुण का गुण है। आहाहा! समझ में आया?

स्वरूप रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति। यह संस्कृत टीका के शब्द हैं। स्वरूप रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति। भगवान अमृतचन्द्राचार्य महाराज ने सैंतालीस शक्ति के वर्णन में वीर्यशक्ति का वर्णन किया है। प्रभु! तेरा वीर्य क्या? तेरा बल क्या? तेरा बल यह कि अपने स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति, आनन्द आदि शुद्धपर्याय की रचना करनेवाला,

वह बल का गुण कहलाता है। आहाहा! समझ में आया? पुण्य की रचना करनेवाले वीर्य को वीर्य ही नहीं कहा। आहाहा! वह अपना वीर्य / नहीं है। वह तो कर्म के निमित्त के संग में जो शुभभाव हुआ और वहाँ रुक गया। वहाँ तो बड़ी व्याख्या ली है। सामायिक प्रतिज्ञा लेने के बाद भी, मोक्ष की अभिलाषा करने के बाद भी, शुभभाव को नहीं छोड़ता और शुभभाव में अटक जाता है और शुभभाव से पार आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता, वह नपुंसक, पावैया, हिंजड़ा है। सेठ! आहाहा! मुनियों को-सन्तों को कहाँ पड़ी है? नागा बादशाह से आघा। उन्हें किसी से कुछ लेना है? चन्दा उगहाना नहीं है। ऐ.. पोपटभाई! आहाहा!

कहते हैं, अरे भगवान! आहाहा! यह वीर्यघात हो गया, वह वास्तव में तो कर्म का ही वीर्य हुआ। उसे कर्मवीर्य कहते हैं। आत्मा शान्ति और ज्ञान की रचना करे, उसे आत्मवीर्य कहते हैं। चेतना, ज्ञानचेतना वीर्य। समझ में आया? विकार की रचना करे, वह कर्मवीर्य है। आहाहा! अज्ञानी पर का वीर्य रचकर पर का हित करता है। पर का हित करे तो वह पर अपना हित कैसे छोड़े? नये कर्म का बन्धन करके संतति चलाता है और चार गति में भटकाता है, ऐसा कहने में आता है। उपकार तो उसने किया है। समझ में आया?

तथा कालादिलब्धि से बलवान हुआ जीव.. अब जीव लिया। पोपटभाई! अब पारस्परिक बात लेते हैं। **कालादिलब्धि से बलवान हुआ जीव अपने हित को अनन्त सुख का कारण होने से..** पहले कर्म के हित की बात की। अब आत्मा के हित की बात करते हैं। भगवान आत्मा अपनी काललब्धि अर्थात् पुरुषार्थ की जागृति का काल। काललब्धि का ज्ञान किसे होता है? जिसे अपने द्रव्य का ज्ञान होता है, उसे काललब्धि पर्याय का ज्ञान होता है। आहाहा! समझ में आया?

फिर से, एक समय की पर्याय में पर्याय की प्राप्ति होना, उसे काललब्धि कहते हैं। पर्याय का ज्ञान-अवस्था का ज्ञान किसे होता है? कि जिसकी पर्याय ने द्रव्य पर जाकर द्रव्य का ज्ञान किया, त्रिकाल ज्ञायक का ज्ञान किया, उसे पर्याय का ज्ञान हुआ। आहाहा! समझ में आया? जैसे सात तत्त्व में 'तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनं' मोक्ष की श्रद्धा, सर्वज्ञ की श्रद्धा, पर्याय की श्रद्धा कब होती है? ज्ञायक भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध ध्रुवधातु है, उसमें

जो दृष्टि घुस गयी और जो ज्ञान हुआ, वह वर्तमान पर्याय में सर्वज्ञ क्या है, वह मोक्ष की पर्याय का ज्ञान हुआ। समझ में आया? अपने द्रव्य का ज्ञान हुए बिना पर्याय का ज्ञान नहीं होता और अपना ज्ञान हुए बिना राग और पर का ज्ञान नहीं होता। आस्रव और बन्ध का ज्ञान भी अपना ज्ञान हुए बिना नहीं होता। आहाहा! इसमें एक घण्टे में कितना याद रखना? वकील! यह तो कोर्ट में कानून का उल्टा-सीधा मारकर बहुत तर्क करता है। यह तो बहुत थोड़ी बात है।

मुमुक्षु : उल्टा-सीधा नहीं चलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टा-सीधा अर्थात् कमाने का भाव है, वह कपट भाव है, वह उल्टा-सीधा भाव है। कहो, समझ में आया? स्वयं वकील है न! इसलिए कहते हैं, वहाँ उल्टा-सीधा नहीं चलता। परन्तु कमाने का भाव ही उल्टा-सीधा है। ऐ.. नटुभाई! कमाने का भाव ही विकार की महत्ता का है। समझ में आया? ऐई!

कालादिलब्धि से बलवान हुआ.. गुरु का उपदेश मिला, अपने पुरुषार्थ की पर्याय पक गयी, स्वभाव पर दृष्टि हुई तो अपना बल हुआ कि मैं अधिक हूँ। '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' (समयसार) ३१ गाथा। मैं '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' मैं राग, निमित्त से अधिक-भिन्न-एक समय की पर्याय से भी भिन्न हूँ। ऐसा ज्ञायक चैतन्य मैं हूँ। '**णाणसहावाधियं मुणदि आदं**' ऐसे अपने आत्मा को जानता है, वह आत्मा का बल हुआ। आहाहा! समझ में आया? आत्मा ऐसा कर सकता है! पोपटभाई!

अपने हित को अनन्त सुख का कारण होने से.. देखो! **अपने हित को अनन्त सुख का कारण...** राग और शरीर से भिन्न मेरा स्वरूप है, ऐसे बल से अपना हित करनेवाला आत्मा अपना हित अनन्त सुख का कारण है। **उपकार करनेवाले...** अपना उपकार करनेवाला आत्मा है। राग-द्वेष का उपकार करता है, वह कर्म का उपकार करता है। अपने स्वरूप के श्रद्धा, ज्ञान की रचना करता है, वह अपना उपकार करता है। आहाहा! रतनलालजी गये? पालीताणा गये? समझ में आया? क्या (कहा)?

स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष को चाहता है। देखो! भगवान आत्मा अपना हित चाहता है। क्या? पर से भिन्न, राग से भिन्न, स्व-पर का भेदज्ञान करके अपना हित चाहता

है। क्यों? कि अनन्त सुख का कारण है। ऐसे **अनन्त सुख का कारण होने से उपकार करनेवाले स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष..** मोक्ष की व्याख्या की है। अपनी शुद्धपर्याय की प्राप्ति होना, वह मोक्ष है। मोक्ष कोई दूसरी चीज़ नहीं है। स्व-आत्म-उपलब्धि। स्व आत्मा की जैसी शुद्धता है, परिपूर्णता है, वैसी पर्याय में-अवस्था में प्राप्ति होना, इसका नाम मोक्ष कहने में आया है। मोक्ष कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता वह पावै सो पंथ;
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ॥

श्रीमद् राजचन्द्र ने छोटी उम्र में यह कड़ी (दोहा) बनायी है। १४२ बनायी है। 'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता वह पावै सो पंथ।' अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप की अन्तररुचि लगाकर पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होना, उसका नाम मोक्ष है। 'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता वह पावै सो पंथ।' अपने निर्मल आनन्द की दशा जिसके द्वारा प्राप्त हो, उस द्वार को मोक्षमार्ग कहा जाता है। समझ में आया? अपना शुद्धस्वभाव, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, वही मुक्ति का उपाय, मार्ग और पंथ है; दूसरा कोई मार्ग नहीं है। चिमनलालभाई! आहाहा! वकील जैसे बुद्धिवाले व्यक्ति भी ध्यान नहीं रखते और विचार नहीं करते। लोगों में तो ऐसा कहलाये कि वकील बहुत बुद्धिवाले कहे जाते हैं। ऐसा लोग कहते हैं। फिर होवे वह ठीक। आहाहा! यह आत्मा को तुझे इस बुद्धि को बुद्धिवान कहने में आता है। डुबोवे वह बुद्धि, बुद्धि नहीं है। आहाहा!

कहते हैं **यहाँ पर एक स्वभावोक्ति कही जाती है..** दुनिया की। **'अपने अपने माहात्म्य के प्रभाव के बढ़ने पर स्वार्थ को अपनी-अपनी उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता?'** दुनिया के उपकार की बात करते हैं, हों! समझ में आया? लोकवत् है न? अन्दर है न? लोकवत्। लोक में ऐसा कहते हैं। जो आगे बढ़ा, वह अपना प्रभाव क्यों नहीं करेगा? ऐसे कर्म का उपकार करे तो कर्म अपना प्रभाव क्यों नहीं डालेगा? आत्मा अपना उपकार करके अपना प्रभाव डाले तो कर्म का नाश कर देता है। समझ में आया? यह तो आत्मा की बात, हों! कर्म-वर्म कुछ नहीं करता। निमित्त की बात है।

अपने अपने माहात्म्य के प्रभाव के बढ़ने पर.. पहले निर्धन हो, फिर पैसा बढ़

गया। जो परिवार उसे दबाता था, उसे अब स्वयं दबाता है। पहले साधारण कुटुम्ब हो, दूसरे के पास पैसे आदि हों, अपने पास न हों तो पूरा कुटुम्ब इसे दबावे कि यह निर्बल है। उसमें पाँच-पचास लाख हो गये तो वह परिवार को दबाता है। निर्बल था न ? मैं निर्बल था न ? पैसा नहीं था, इसलिए निर्बल था न ? अब मालवाला हो गया, ले। थोकबन्ध की बात है। लोक में ऐसा होता है। इसी प्रकार यहाँ भी ऐसा होता है। कर्म को माहात्म्य दे तो कर्म अपना (कर्म का) हित करता है और आत्मा अपना पुरुषार्थ करके अपना हित करे तो मोक्ष को प्राप्त होता है। समझ में आया ?

सभी चाहते हैं। लो!

दोहा - कर्म कर्महितकार है, जीव जीवहितकार।
निज प्रभाव बल देखकर, को न स्वार्थ करतार।।३१।।

अपना अवसर (दाँव) होवे तो किसलिए नहीं करे ? उस लड़ाई में लड़का ऊपर चढ़ जाए। बराबर मेरे। पक्षी भी ऐसा होता है। उसमें एक पक्षी का पैर आ गया हो... क्या कहलाता है यह कावर होता है न ? कावर नहीं ? कावर को क्या कहते हैं तुम्हारे ? जानवर है न ? उसके उसमें यदि पैर आ जाए तो हो गया, वह दब जाता है। दूसरी कावर सिर पर चढ़े। इसी प्रकार जिसका जोर होता है, वह उसके ऊपर चढ़ जाता है। पोपटभाई!

कर्म कर्महितकार है,.. कर्म का माहात्म्य करनेवाला जीव कर्म को माहात्म्य देकर कर्म का उपकार करता है तो कर्म अपना (कर्म का) हित करता है। **जीव जीवहितकार।** आत्मा अपने स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान करता है, अपने पुरुषार्थ से आत्मा का भान करनेवाला जीव अपना हित करता है। **निज प्रभाव बल देखकर, को न स्वार्थ करतार।**

इसलिए समझो कि कर्मों से बँधा हुआ प्राणी कर्मों का संचय किया करता है। जब कि ऐसा है तब-

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।।३२।।

अर्थ – पर के उपकार करने को छोड़कर अपने उपकार करने में तत्पर हो जाओ। इन्द्रियों के द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकों का उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तुस्थिति को न जाननेवाले) हो रहे हो। तुम्हें चाहिये कि दुनियाँ की तरह तुम भी अपनी भलाई करने में लगो।

विशदार्थ – पर कहिये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या–अज्ञान अथवा मोह के वश से जो उपकार किया जाता रहा है, उसे विद्या–सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागता के अभ्यास से छोड़कर प्रधानता से अपने (आत्मा के) उपकार करने में तत्पर हो जाओ। तुम सर्वथा अपने (आत्मा) से बाह्य इन्द्रियों के द्वारा अनुभव में आनेवाले इन शरीरादिकों की रक्षा करना आदि रूप उपकार करने में लगे हुए हो। इसलिए मालूम पड़ता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप से अजान) हो। सो जैसे दुनिया के लोग जब तक दूसरे को दूसरे रूप में नहीं जानते, तब तक उनका उपकार करते हैं परन्तु ज्यों ही वे अपने को अपना और दूसरे को दूसरा जानते हैं, उनका (दूसरों का) उपकार करना छोड़कर अपना उपकार करने में लग जाते हैं। इसी प्रकार तुम भी तत्त्वज्ञानी बनकर अपने को स्वाधीन शुद्ध बनाने रूप आत्मोपकार करने में तत्पर हो जाओ।।३२।।

दोहा – प्रगट अन्य देहादिका, मूढ़ करत उपकार।
सज्जनवत् या भूल को, तज कर निज उपकार।।३२।।

गाथा - ३२ पर प्रवचन

इसलिए समझो कि कर्मों से बँधा हुआ प्राणी कर्मों का संचय किया करता है। जब कि ऐसा है तब... ऐसा लिया है। देखो! इसके साथ सम्बन्ध लिया है।

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।।३२।।

अरे आत्मा! **पर के उपकार करने को छोड़कर अपने उपकार करने में तत्पर हो जाओ।** लो! कर्म का उपकार करते हैं, कुटुम्ब का उपकार करते हैं, जाति की, देश की प्रगति होओ, भले हमारा बिगड़े, भले हमारे एक–दो भव होओ–ऐसा कितने ही कहते

हैं न? हमारे से दूसरे का उपकार होता हो तो भले एकाध भव बढ़े। मूढ़ है। तुझसे पर में क्या होता है? पर का उपकार करना छोड़ और तेरा उपकार कर। ताराचन्दजी! आहाहा! देखो!

पर के उपकार करने को छोड़कर.. अर्थात् पर को माहात्म्य देना छोड़ दे। तेरी अधिकाई कर और पर की अधिकाई छोड़ दे। क्या कहा? शुभाशुभराग, शरीर, कर्म ठीक है तो मुझे ठीक है, ऐसी पर की अधिकाई छोड़ दे और **अपने उपकार करने में तत्पर हो जाओ।**

इन्द्रियों के द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकों का उपकार करते हुए... इन्द्रियों के द्वारा दिखाई देते हुए.. कर्म, शरीर, वाणी, स्त्री, पुत्र, परिवार, धन्धा। **शरीरादिकों का उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तुस्थिति को न जाननेवाले) हो रहे हो।** देखो! तेरा दोष है, ऐसा कहते हैं। है न? **(वास्तविक वस्तुस्थिति को न जाननेवाले) हो रहे हो। तुम्हें चाहिये कि दुनियाँ की तरह तुम भी अपनी भलाई करने में लगो। दुनियाँ की तरह...** पूरी दुनिया अपना-अपना करती है, तू भी तेरा कर। पर का उपकार छोड़ दे। समझ में आया?

विशदार्थ-पर कहिये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या-अज्ञान अथवा मोह के वश से जो उपकार किया जाता रहा है,.. देखो! उपकार का अर्थ इतना -मोह के वश मैं पर का कर्ता हूँ, ऐसा तेरा भाव पर का उपकार करता है, ऐसा कहने में आता है। **उसे विद्या सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागता के अभ्यास से..** देखो! विद्या अर्थात् सम्यग्ज्ञान। मैं आत्मा अनन्त गुणसम्पन्न, राग से भिन्न, राग से कभी एकत्व हुआ ही नहीं, ऐसा सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागता। साथ में रागरहित है न? **अभ्यास से छोड़कर..** क्या छोड़कर। पर का उपकार। **प्रधानता से अपने (आत्मा के) उपकार करने में तत्पर हो जाओ।** अपने आत्मा का उपकार करने में तत्पर हो जाओ, पर का उपकार करने में तुझे लाभ नहीं, नुकसान है।

तुम सर्वथा अपने (आत्मा) से बाह्य इन्द्रियों के द्वारा अनुभव में आनेवाले इन शरीरादिकों की रक्षा करना आदि रूप उपकार करने में लगे हुए हो। शरीर ठीक

रहे, दुनिया ठीक रहे, परिवार ठीक रहे, बस लड़का ठीक रहे, तो मुझे सब मिल गया। इस स्त्री को ठीक रहे तो मुझे कुछ दिक्कत नहीं, हों! यह तुझे दुःख न हो तो मुझे.. नहीं, मैं तो सहन कर लूँगा। और ऐसा कहता है। अच्छा मूढ़ वह भी कितना? मूढ़ का कोई माप होगा? परन्तु तुम्हें यह श्वास, दम चढ़ता है। मुझे कोई दिक्कत नहीं, परन्तु तुम्हें यह शूल चढ़ता है न, यह यदि मिटे तो अच्छा। अरे रे! अच्छी मुर्खाई, वह भी कितनी? कहते हैं, **शरीरादिकों की रक्षा करना आदि..** आदि में शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, सब आ गया, हों!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आ गया। पुण्य की रक्षा।

लगे हुए हो। इसलिए मालूम पड़ता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप से अजान) हो। मूढ़ हो। देखो! **सो जैसे दुनिया के लोग जब तक दूसरे को दूसरे रूप में नहीं जानते,..** देखो! क्या कहते हैं? दूसरी चीज़ को दूसरे रूप से नहीं जानते, तब तक दूसरे का उपकार करते हैं। **परन्तु ज्यों ही वे अपने को अपना और दूसरे को दूसरा जानते हैं, उनका (दूसरों का) उपकार करना छोड़कर अपना उपकार करने में लग जाते हैं।** भगवान! तेरी श्रद्धा, तेरा ज्ञान, तेरी शान्ति। तुम्हारे में करो, दूसरे में कुछ किया, पुण्य-पाप के परिणाम करना, वह भी पर का उपकार है, तेरा उपकार नहीं।

इसी प्रकार तुम भी तत्त्वज्ञानी बनकर अपने को स्वाधीन शुद्ध बनाने रूप आत्मोपकार करने में तत्पर हो जाओ। लो! अपने आत्मा की श्रद्धा इत्यादि शुद्ध करने के लिए तत्पर हो जाओ। पर के अज्ञान से तत्पर करोगे तो, पर का लाभ तुझे नहीं होगा, तुझे तेरा नुकसान होता है। अपना उपकार करना, वह भगवान का साक्षात् यथार्थ उपदेश है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६ गाथा-३२-३३ मंगलवार, दिनाङ्क १०-०५-१९६६
वैशाख शुक्ल ६, वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश। ३२ वीं गाथा का अन्तिम हिन्दी श्लोक है। ३२ गाथा पूरी हुई, उसका अन्तिम श्लोक।

दोहा – प्रगट अन्य देहादिका, मूढ़ करत उपकार।
सज्जनवत् या भूल को, तज कर निज उपकार।।३२।।

तब यह श्लोक नहीं आया था। क्या कहा? उसके साथ फिर ३३ की संधि है। **प्रगट अन्य देहादिका,** कर्म और शरीर वे प्रगट जड़ और पर हैं। **मूढ़ करत उपकार।** यह जड़ का उपकार अनादि से अज्ञानी उपकार करता है-उसकी सावधानी में रुका है। उसकी सावधानी-उस पर लक्ष्य करके उसका ऐसा हो, उसका ऐसा हो। होवे तो कहाँ है इसमें? शरीर को ठीक रहे, कर्म ठीक बँधे, यह सब बाहर की व्यवस्था (ठीक रहे), परपदार्थ में ठीक में देहादिक प्रगट अन्य है, उन्हें मूढ़ अपनी सावधानी छोड़कर अन्य की सावधानी में रुका हुआ पर का उपकार करता है। कर्म बाँधता है। कर्म बाँधता है, वह कर्म का उपकार है। वह कर्म का उपकार करता है।

मुमुक्षु : दूसरे का कर सकता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपकार की क्या व्याख्या हुई यह? कर्म बाँधे, वह उपकार किया कहलाता है; कर्म तोड़े, वह आत्मा का उपकार किया कहलाता है, ऐसा। समझ में आया? देहादि के बाहर के देश या कुटुम्ब, है न अन्दर? यह सब आ गया है। देह, कर्म आदि का उपकार करूँ, ऐसी उसकी भावना है। उपकार अर्थात् उसका कुछ ठीक हो, ऐसा।

मुमुक्षु : शरीर अच्छा रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा रहे परन्तु अच्छा रहे तो उसके कारण से रहे। व्यर्थ का उपकार मानता है कि मैं इसे अच्छा करता हूँ।

सज्जनवत् या भूल को,.. सज्जन व्यक्ति पर को जब तक अपना मानता था, वहाँ तक उसकी सेवा आदि करता था। परन्तु जहाँ भूल (दिखायी दी) कि यह तो पर है, यह

तो मेरे शत्रु है, ऐसा जाने तो सज्जन जीव पर की सेवा छोड़ देता है और अपनी सेवा करता है। ऐसे **सज्जनवत् या भूल को, तज कर निज उपकार।** अपना उपकार करे, पर का उपकार छोड़ दे। पर की सावधानी करना, वही पर का उपकार है। स्व की सावधानी करना, वह निज का उपकार है। कहो, समझ में आया? यह ३२वें (श्लोक का दोहा हुआ।)

उपकार कर सकत है, यह प्रश्न यहाँ नहीं है परन्तु भाव में उसका ठीक कैसे हो, कर्म ठीक बँधें? शरीर ठीक रहे, देश ठीक रहे, परिवार ठीक रहे, जाति ठीक रहे – ऐसा जो भाव (होता है), वह पर का उपकार करने का भाव है। वह पर को मदद करे परन्तु अपने आत्मा का नुकसान करे। इसलिए पर के उपकार का भाव छोड़कर अपने आत्मा के हित का उपकार करना, वह सज्जन का कर्तव्य है।

मुमुक्षु : स्वार्थी कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वार्थी ही है न! कौन दूसरा कोई करता था? पर का कर्ता कौन है? उसे भाव ऐसा (होता है) कि मैं इसका करूँ... इसका करूँ.. इसका करूँ। मेरा करूँ यह नहीं, इसका करूँ। कर्म बाँधूँ, वह भी कर्म को उपकार किया कहलाता है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ हुआ अज्ञानभाव से स्व की सेवा छोड़कर पर की सेवा करता है। उसका अर्थ ही यह हुआ।

मुमुक्षु : दीर्घ दृष्टि है, पर का करेगा तो मेरा भी ठिकाना होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल का भी नहीं होगा, अज्ञान होगा। आया था न वहाँ? देखो! आया था अन्दर। अज्ञान से, देखो! **कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या-अज्ञान अथवा मोह के वश से जो उपकार किया जाता रहा है,..** देखो! विशदार्थ में है अर्थ।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब पूरा अज्ञान का ही पोटला पड़ा है। पूरी दुनिया, ज्ञानी के अतिरिक्त, अज्ञान से पर का कुछ होता है, ऐसा कर रहे हैं। भले मेरा चाहे जो हो। तुम्हारा

कल्याण होओ, तुम्हें ठीक होवे, तुम्हें मुझसे मदद मिले, मुझसे तुम्हें थोड़ी भी सेवा मिले तो बस है, अपने को बहुत है। मूढ़ है, कहते हैं। कहो, चन्दुभाई! देखो न! स्त्री, पुत्र, परिवार, शरीर को कैसे ठीक रहे, यह पहले करने में लगता है।

मुमुक्षु : परन्तु शरीर ठीक होवे तो दूसरा होवे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी ठीक नहीं रहता। रखना चाहे तो भी नहीं रहता, वह तो उसके कारण से रहता है। क्यों मगनभाई! मगनभाई बहुत समय से शरीर को सम्हालते थे, परन्तु घड़ीक में ऐसा हो जाए, घड़ीक में ऐसा हो जाए किन्तु उसकी पर्याय उसके काल में होनेवाली हो, (उसे) करे कौन? आहाहा! अरे! अपने सामने देख न एक बार, ऐसा कहते हैं। पर के सन्मुख देखकर पर के काम करने में तेरा सावधान भाव, अज्ञानभाव से रुका हुआ है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा का निज उपकार छोड़कर अज्ञानभाव से पर का उपकार और पर को मदद और पर को ठीक करूँ, ऐसे भाव में अज्ञान के कारण पर की बुद्धि होती है। उसमें आत्मा को तो हानि होती है।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि किस उपाय से अपने और पर में विशेषता (भेद) जानी जाती है, और उसके जाननेवाले को क्या होगा? किस फल की प्राप्ति होगी? आचार्य कहते हैं–

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्व–परांतरं।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्।।३३।।

अर्थ – जो गुरु के उपदेश से अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से अपने और पर के अन्तर को (भेद को) जानता है। वह मोक्षसम्बन्धी सुख का अनुभवन करता रहता है।

विशदार्थ – गुरु कहिये धर्माचार्य अथवा गुरु कहिये स्वयं आत्मा, उसके उपदेश से सुदृढ़ स्व पर विवेक ज्ञान के पैदा करनेवाले वाक्यों के और उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये। बार बार अभ्यास करने से संवित्ति–अपने लक्ष्य का अनुभव होने लगता

है। उस संवित्ति (स्वसंवेदन) के द्वारा जो स्वात्मा को पर से भिन्न जानता-देखता है, भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाला मोक्ष-सुख को निरन्तर हमेशा विच्छेद रहित अनुभव करने लग जाता है। क्योंकि वह मोक्ष-सुख का अनुभव, कर्मों से भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवालों को होता है, अन्यों को नहीं। जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है - 'तदेवानुभंवश्चाय०'

उस आत्मा का अनुभवन करते हुए यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है, और इसी तरह मन तथा वाणी के अगोचर अथवा वचनों से भी न कहे जा सकनेवाले स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर लेता है।।३३।।

दोहा - गुरु उपदेश अभ्यास से निज अनुभव से भेद।
निज पर को जो अनुभवे, लहै स्वसुख वेखेद।।३३।।

गाथा - ३३ पर प्रवचन

अब शिष्य प्रश्न करता है। **यहाँ पर शिष्य कहता है कि किस उपाय से अपने और पर में विशेषता (भेद) जानी जाती है,..** अपनी और पर की भिन्नता किस उपाय से जानी जाती है? स्वयं और पर की भेदता, भिन्नता, अनेकता (किस प्रकार ज्ञात होती है)? **पर में विशेषता (भेद) जानी जाती है,..** किस उपाय से? **और उसके जाननेवाले को क्या होगा?** किस उपाय से भिन्न ज्ञात होता है और भिन्न जानने में फल क्या? उसे क्या होता है? भिन्न जाननेवाले को क्या होता है? **किस फल की प्राप्ति होगी?** दो प्रश्न हुए। क्या कहा? किस उपाय से (भिन्नता ज्ञात होती है)? तुमने कहा कि पर का उपकार नहीं करना और अपना उपकार करना तो स्वयं और पर को किस उपाय से भिन्न जानना? और भिन्न जानने से उन्हें भिन्न जाननेवाले को कैसे फल की प्राप्ति होती है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उसका उत्तर।

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्व-परांतरं।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्।।३३।।

अर्थ - जो गुरु के उपदेश से अभ्यास करते हुए.. गुरु ने कहे हुए उपदेश से।

देखो, पहले यही आया। अज्ञानी नहीं, कोई अपने आप नहीं, भाई! ऐसा कहा। समझ में आया? अपने आप पढ़कर अभ्यास से नहीं।

मुमुक्षु : स्वयं अपने आप...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाद में कहेंगे। परन्तु पहले यह करके, बाद में तो उसका अर्थ स्वयं करेंगे। गुरु दो हैं - तू भी तेरा गुरु और वे गुरु, ऐसा। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : हम तो बारम्बार ऐसा ही कहते हैं कि आपके बिना नहीं होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होगा, ऐसा नहीं है। उसे होना होगा, तब ऐसा होगा—ऐसा कहने में आता है। नहीं होगा - ऐसा नहीं। ऐसा होता है, ऐसी बात यहाँ तो है। बाद में तो गुरु को उड़ा देंगे परन्तु निमित्तपना पहले सिद्ध करते हैं।

मुमुक्षु : पहले स्थापन करना और फिर उड़ाना!

पूज्य गुरुदेवश्री : ये स्थापित करते हैं अर्थात् उसे समझने में गुरु का उपदेश निमित्त है और कहते हैं वह गुरु क्या कहते हैं, यह कहेंगे। गुरु ऐसा कहते हैं कि स्व-पर की भिन्नता कर, ऐसा उसका उपदेश है। उसमें वापस उपदेश देनेवाला भी भिन्न पड़ गया। समझ में आया?

मुमुक्षु : भूल-भुलैया नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ भूल-भुलैया जरा भी नहीं। उसे लगे तो क्या हो? न्यालभाई! आहाहा!

कहते हैं **गुरु के उपदेश से..** एक बात **अभ्यास करते हुए..** दूसरी बात। गुरु के उपदेश से अभ्यास करनेवाला, ऐसे दो बात है। अपने आप अभ्यास नहीं करनेवाला, अज्ञानी के उपदेश से (अभ्यास) नहीं करनेवाला। समझ में आया? धर्मात्मा गुरु के उपदेश द्वारा। धर्मात्मा गुरु के उपदेश से **अभ्यास करते हुए..** अभ्यास करने से। अब गुरु के उपदेश में आया क्या है? और वह अभ्यास क्या करता है?

अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से अपने और पर के अन्तर को (भेद को) जानता है। देखो! वापस आया। **अपने से..** देखो! उस गुरु के उपदेश से अभ्यास करते हुए

अपने से, स्वसंवेदन से। वापस यह आया। वह उपदेश पड़ा रहा, उसकी ओर का लक्ष्य (छूट गया)। समझ में आया? **अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से..** अपने ज्ञान के स्वतः अनुभव से। आत्मा ज्ञानस्वरूप, वह शुद्ध चैतन्य है, ऐसे अपने स्वसंवेदन से। अपने स्व-संवेदन से। यह आत्मा आनन्द है, ऐसा और पर को—पुण्य-पाप के विकल्प राग, शरीर, ये सब पर - (ऐसा जानता है)। **अपने और पर के अन्तर को..** दोनों की भिन्नता को (जान लेता है)। गुरु ने उपदेश यह दिया था, उसके अभ्यास में उसे अपने ही वेदन से। वहाँ सीधा स्वसंवेदन आ गया। समझ में आया?

गुरु ने कहा था कि यह तेरा स्वभाव शुद्ध आनन्द है और रागादि विकल्प आदि ये सब पर हैं। ऐसा जो उपदेश दिया था, उसका अभ्यास करने से अपने स्वसंवेदन द्वारा-अपने ज्ञान से ज्ञान को जानने द्वारा—यह आत्मा और यह पर है, ऐसा ज्ञान होता है। समझ में आया? यह तो सब मक्खन की गाथाएँ हैं। अकेला तैरता सत्य! भेद.. भेद.. भेद.. समझ में आया?

अपने और पर के अन्तर को.. अन्तर को, भिन्नता को **(भेद को) जानता है।** गुरु ने यही कहा था। पर से तेरा स्वरूप भिन्न है, तुझसे वह पर भिन्न है-ऐसा उपदेश दिया था। वह उपदेश, उसे यथार्थ उपदेश कहा जाता है। समझ में आया? भाई! तू तो आत्मा है न! अनन्त आनन्द का धाम, अनन्त सुखधाम तू है और रागादि विकल्प, वे सब पर आस्रवतत्त्व हैं। शरीरादि सब अजीवतत्त्व है। ऐसे उपदेश द्वारा (भेद जाना)। देखो! यह अभ्यास। यह संसार का अभ्यास-शिक्षा करते हैं, वह पाप का अभ्यास है।

सवेरे वहाँ पूछते थे कि हमें अभ्यास नहीं करना? ऐसा राजकोट में प्रश्न था। करने, न करने का (प्रश्न नहीं है)। मोह है तो किये बिना रहनेवाला कहाँ है? परन्तु उसका स्वरूप क्या है, वह बतलाते हैं यहाँ तो। पढ़ने का भाव संसार की वह सब शिक्षा, तो दो को एक मनवाने की शिक्षा है, वह शिक्षा ही ऐसी है कि दो को एक मनवाना। ऐसा करूँ तो ऐसे लाभ होगा और ऐसा करूँ तो ऐसे होगा, ऐसे करूँ तो ऐसे होगा। ऐसा सब सिखलायेंगे। क्या होगा? ऐसे सिखलाते हैं, लो! यह ऐसा कहते हैं। ऐसे सिखलाते होंगे तुम्हारे भाई? साईंस सीखो तो तुम्हें ज्ञान होगा, तो यह बात मिथ्या है। साईंस सीखो तो तुम

विचक्षण होओगे, यह बात मिथ्या है। सीखो तो जगत में हम शिक्षा से ऊँचे उठेंगे, शिक्षा प्राप्त हो तो ऊँचे उठेंगे, यह बात मिथ्या है। ऐ.. देवानुप्रिया! राजकोट में ऐसा प्रश्न उठा था। परन्तु रहे किसका? मोही प्राणी है, वह शिक्षण लिए बिना रहेगा नहीं, परन्तु वह शिक्षा स्व-पर को एक मनानेवाली शिक्षा है। समझ में आया? यह शिक्षा स्व-पर को पृथक् करनेवाली है। आहाहा! समझ में आया? परिणाम तो यहाँ आया, देखो!

गुरु के उपदेश में भी यह था। यह अभ्यास किया था। क्या (अभ्यास किया)? आत्मा ज्ञायक चैतन्य ज्योति है, रागादि विकल्प पर है—ऐसा स्वसंवेदनज्ञान के ज्ञान से स्व को वेदन कर स्व को-पर को जानता है। दोनों का अन्तर, दोनों का भेद, दोनों की पृथक्ता, दोनों की विशेषता स्वसंवेदनज्ञान से जानने में आती है। ऐसा कहते हैं। दूसरे किसी ज्ञान से वह जानने में नहीं आता। कहो!

मुमुक्षु : पढ़कर अभ्यास करे वह....

पूज्य गुरुदेवश्री : एकाकार होना, वह अभ्यास है। पढ़े क्या? अन्दर में ज्ञायक चैतन्य हूँ, ये रागादि विकल्प उठते हैं, वे पर की ओर है, ऐसे अन्दर में अभ्यास करना। यह अभ्यास है। पुस्तक के पृष्ठों के अभ्यास की यहाँ बात नहीं है। समझ में आया? स्व-पर को भिन्न करने का अभ्यास। भिन्न करने में स्वसंवेदन हुआ, तब यथार्थ स्व और पर का ज्ञान हुआ। कहो!

वह मोक्षसम्बन्धी सुख का अनुभवन करता रहता है। ऐसा स्वसंवेदन ज्ञानी स्व और पर को भिन्न जाननेवाला, मोक्ष में जो अनन्त-आनन्द है—ऐसे आनन्द का अनुभव करता रहता है। उसका फल यह है—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : मोक्ष होवे तब न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! यहाँ की बात है। मोक्ष की कहाँ बात है? मोक्षसम्बन्धी के सुख का अनुभव, उसकी नमूने में स्वसंवेदन में उसके फलरूप से आता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? संसार की शिक्षा में दुःख का वेदन आता है। समझ में आया? इस इंजीनियर का, इस वकालात का, इस डॉक्टरी का, और कपड़े का, यह हीरे का... चिमनभाई! तुम्हारे हीरे। वह भी सब पठन है न! जिसे जो हो वह, लो न! किराने का ज्ञान

हो उसे, हों! हजारों किराना। उसका यह और उसका यह और यह। मगनभाई को क्या है? मणिहार का, चणियारा और मणिहारा और... उस सम्बन्धी का ज्ञान वह स्व-पर की एकता बतानेवाला दु:खरूप है।

ऐसा कहते हैं कि उसका अभ्यास करो। अभ्यास करो तो निष्णात हो जाओगे। अभ्यास के लिए पहले दुकान पर बैठते हैं न! इस हीरे-माणिक के लिए, अमुक के लिए, कोई भी वकालात होवे तो थोड़ा दो-चार वर्ष उसका अभ्यास करे न! प्रैक्टिस। देवजीभाई! देवजीभाई ने यह मकान के पहले सीखने की प्रैक्टिस की होगी न थोड़ी-बहुत? फिर यह लगायी। कहो, समझ में आया यहाँ? कहते हैं कि जिसमें पर का कर सके अथवा पर के ज्ञान से लाभ हो, ऐसा बतलानेवाले को दु:ख का प्रत्यक्ष (अनुभव होता है)। स्व और पर की भिन्नता नहीं जानकर, स्व और पर की एकता जानने से उसके फलरूप से दु:ख भोगता है।

मुमुक्षु : मोक्षसुख के लिए पहले....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है। मोक्ष अर्थात् छूटना। मोक्ष अर्थात् आत्मा जैसा है, उसे उस प्रकार से रखना, इसका नाम मोक्ष है। मोक्ष अर्थात् क्या? आत्मा जैसा राग से पर है, वैसा और स्व के स्वभाव से अभिन्न है, ऐसा उसे रखना, वह मोक्ष है। वहाँ से मोक्ष की शुरुआत हो गयी। आहाहा! समझ में आया?

वह मोक्षसम्बन्धी सुख का अनुभवन करता रहता है। वर्तमान उसे मोक्ष का जो आनन्द है, ऐसी स्व-पर की भिन्नता में, स्व की एकता और पर की पृथक्ता में पृथक् पड़ा उतना मोक्ष का-सुख का आनन्द अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा! समझ में आया? आहाहा! कथन की पद्धति है न! यह इष्टोपदेश है। भगवान आत्मा अकेला आनन्दमूर्ति है, रागादि दु:खरूप है—ऐसा स्वसंवेदन द्वारा अपना और पर का ज्ञान होने पर दो की एकता टूटकर पृथक्ता हुई, इतना आत्मा का पर से पृथक्ता का मोक्ष के आनन्द का वेदन उसके फल में आता है। मगनभाई! आहाहा! कहो, चन्दुभाई! यहाँ तो रोकड़िया है, कहते हैं। आहाहा! वह दु:ख भी रोकड़िया है।

विशदार्थ – गुरु कहिये धर्माचार्य.. देखो! टीकाकार भी आगे गुरु को स्वयं लेते

हैं न, इसलिए पहले से डालते हैं। यह शैली है। अमृतचन्द्राचार्य की शैली ही ऐसी है। **अथवा गुरु कहिये स्वयं आत्मा,..** लो! पाठ में गुरु उपदेश है न! पण्डितजी ने-आशाधरजी ने दो अर्थ किये हैं। एक तो गुरु अर्थात् धर्माचार्य, धर्माचार्य, हों! धर्माचार्य कहने में धर्मस्वरूप से परिणमित आचार्य हैं, ऐसा कहना है। अज्ञानी शास्त्र की बात करता है, वह नहीं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? धर्माचार्य अर्थात् एक धर्माचार्य नाम ऊपर धराया, पढ़ा गुना है, पर से भिन्न का भान नहीं, वह धर्माचार्य नहीं। स्व-पर की भिन्नता की भान दशा है, वह स्व-पर की भिन्नता का उपदेश देते हैं, उस स्व-पर की भिन्नता का अभ्यास करनेवाला करता है, तब पर से पृथक् पड़कर मोक्ष जैसा सुख अनुभव करता है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

गुरु कहिये धर्माचार्य.. देखो! '**गुरुपदेशात् धर्माचार्यस्यात्मनश्च**' संस्कृत में है और **गुरु कहिये स्वयं आत्मा,..** व्यवहार गुरु भी लिये और निश्चय गुरु आत्मा (भी लिया)। **उसके उपदेश से..** देखो! गुरु के उपदेश से जो कहा, वह इसने झेला, जाना। अर्थात् वास्तव में स्वयं गुरु हुआ। सुना न हो और अन्दर समझा न हो तो गुरु स्वयं नहीं होता तो निमित्त गुरु नहीं कहा जाता। ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा! क्या कहा? गुरु ने स्व-पर की भिन्नता की बात की, स्व-पर भिन्न है; आत्मा, आस्रवतत्त्व भिन्न, कर्म भिन्न, शरीर भिन्न, अजीव भिन्न, अजीवतत्त्व भिन्न, पुण्य-पापतत्त्व भिन्न, ज्ञायकतत्त्व भिन्न, ऐसा जो उपदेश किया था, वैसा उसने अन्तर जाना तो जाननेवाले ने जाना, तब उसके (गुरु के) उपदेश से (ज्ञान हुआ), ऐसा कहने में आता है। इसलिए स्वयं अपना गुरु हुआ। समझ में आया? स्वयं अपना गुरु हुए बिना गुरु के उपदेश का इसने अभ्यास किया, ऐसा नहीं कहा जा सकता—ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? बहुत बात कहीं, भाई!

तेरे स्व-पर की एकता का अभ्यास तो अनादि का है। अब उसमें क्या करना है तुझे? और स्व-पर ऐसा दो कहते ही दो हैं भिन्न और एकता का अभ्यास (करता है)। क्या कहा, समझ में आया? स्व और पर कहते ही दो हुए और ऐसा कहने पर दो हुए और दो को एक मानना, हो गया, यह तो मिथ्या अज्ञान हुआ। समझ में आया? इसलिए स्व-पर की भिन्नता का उपदेश गुरु ने दिया, ऐसा जो यह इसने झेला, स्वयं अपने स्व-पर के ज्ञान

का अभ्यास किया। वह अभ्यास करनेवाला स्वयं अपना गुरु है। गुण में बड़ा, स्वयं ही अपना बड़ा गुरु है।

उसके उपदेश से सुदृढ़ स्व-पर विवेक ज्ञान के पैदा करनेवाले वाक्यों के.. देखो! उनके उपदेश से। कैसे वाक्य थे? **सुदृढ़ स्व पर विवेक ज्ञान के पैदा करनेवाले..** सुदृढ़-जोरवाले। स्व और पर की भिन्नता-ज्ञान पैदा करनेवाले। लो! स्व-पर के भेद का ज्ञान पैदा करनेवाला। स्व-पर की भिन्नता का ज्ञान पैदा करनेवाले वाक्य थे। समझ में आया? उपदेश ऐसा था और ऐसा ही उपदेश गुरु का तीनों काल होता है। समझ में आया? आहाहा! बहुत संक्षिप्त में यह उपनिषद है। वेदान्त कहते हैं न? (यह) जैन का उपनिषद है। यह तो कोई भी शास्त्र लो, अलौकिक बात है न?

मुमुक्षु : उपनिषद में....

पूज्य गुरुदेवश्री : उनकी मानी हुई बात उनकी अपेक्षा की। संक्षेप में कहा हो कुछ और कहे कुछ ऐसा आता है इसमें, इसमें आता है न? तब अपने बताया था। बताया या नहीं? यह रहा, देखो! पीछे **इस ग्रन्थ को जैन उपदेश में ही कहना चाहिए।** पीछे इष्टोपदेश। यहाँ देखो! पीछे के पृष्ठ पर। यह बात पहले पढ़ते समय हो गयी है। इष्टोपदेश लाओ.. लाओ। कहाँ गया? इष्टोपदेश पाँचवीं लाइन। **ग्रन्थ को जैन उपदेश भी कहना चाहिए।** है? कहो, समझ में आया? शुरुआत में ही कहा है। क्या कहा?

कहते हैं कि गुरु का उपदेश ऐसा होता है और उसे कहा जाता है कि जिसमें स्व-पर की भिन्नता ज्ञात हो और जाने, उसका नाम सच्चा उपदेश है। आत्मा ने भी ऐसा उपदेश इसे दिया, हे आत्मा! गुरु ने कहा, वैसा स्वयं (किया)। स्व आत्मा, रागादि पर-ऐसा विकल्प उठाया। वाक्य उसका ऐसा अन्दर से आया। समझ में आया? गुरु के उपदेश के वाक्य ऐसे आये, आत्मा का वाक्य ऐसा आया। उन्होंने कहा कि आत्मा ज्ञायक चैतन्य; रागादि पर-ऐसा इसने विकल्प स्वयं से सुनकर किया कि यह ज्ञायक स्व, रागादि पर। ऐसे वाक्य अर्थात् विकल्प में से भिन्न पड़कर, ज्ञान को वेदकर, पर को जानकर अपने आनन्द को मोक्ष के (सुख को) वेदन करता है। यह इसका फल है। भेदज्ञान का यह फल (आया)। आहाहा! समझ में आया?

पर और स्व की एकता का ज्ञान है, वहाँ दुःख है; जहाँ स्व-पर की भिन्नता का ज्ञान है, वहाँ सुख है। यह तो सीधी बात है। समझ में आया? कैसे होगा यह? ऐ.. जीतू! यह सब अभ्यास-बभ्यास में क्या होगा? सुख होाग या दुःख? ऐई! ज्योति! कुज्ञान है? आहाहा! शैली भी गजब! जो बोध में ऐसा तरवरे कि इससे ऐसा होवे तो मुझे ठीक पड़े। मेरा ज्ञान भी परवाला, परसन्मुख का है, उसके कारण लोक की व्यवस्था बाहर में तो विचक्षण था होवे न! बाहर पदार्थ में ठीक होवे न! वह ज्ञान अत्यन्त दुःखरूप है।

मुमुक्षु : कर्म से तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म की बात भी कहाँ है?

मुमुक्षु : कर्म का जोर बहुत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म का जोर-फोर कब था? इसका विपरीत भाव जोरवाला था। पर को और स्व को एक माननेवाले की मान्यता विपरीत थी। दोनों भिन्न हैं, उन्हें एक मानता था। कर्म होवे तो मुझे दुःख होता है—यह भिन्न को एक माना, यह तो इसकी मान्यता है। कर्म मुझे दुःखी करते हैं, यह दो की एकता इसकी मान्यता में है।

मुमुक्षु : सीधी बात है, सिद्ध भगवान को कर्म नहीं तो दुःखी नहीं होते।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म कब रोकते थे? यहाँ भी कहाँ है और वहाँ भी कहाँ है? यहाँ कर्म कहाँ है, और वहाँ भी कर्म कहाँ है। कर्म, कर्म में है। आत्मा के साथ कर्म एकरूप कहाँ हैं? कहो!

मुमुक्षु : दूध और पानी की तरह एक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस! इसका अर्थ हो गया कि दूध और पानी दोनों भिन्न हैं। दूध, पानी की भाँति एक का अर्थ कि दोनों पदार्थ भिन्न हैं। एक जगह हैं। ऐसे भिन्न हैं, उन्हें भिन्न करके रहना, इसका नाम भेदज्ञान है। आहाहा! कहो समझ में आया?

उसके उपदेश से.. देखो! उसके अर्थात् दोनों आ गये, हों! धर्माचार्य और गुरु स्वयं आत्मा। स्वयं वापस उपदेश अन्दर स्वयं करे, तब उपदेश होवे न! उन्होंने तो कहा परन्तु (यह कहता है कि) यह स्व और पर—ऐसा वाक्य उठा, अन्तर्जल्प उठा। समझ में

आया ? यह उपदेश स्वयं अपने को किया। **सुदृढ़ स्व पर विवेक ज्ञान के पैदा करनेवाले..** वापस भाषा कैसी है ? कि सुदृढ़। ऐसी डांवाडोल नहीं। सुदृढ़। स्व-पर का भेद करनेवाला ज्ञान। लो! विकल्प से भी लाभ होता है, ऐसा माननेवाले ने स्व-पर को एक माना है। समझ में आया ? निमित्त से लाभ होता है, निमित्त से नुकसान होता है, यह भी स्व-पर को एक ही मानता है।

मुमुक्षु : कर्म से नुकसान नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नुकसान नहीं होता और (कर्म) हटे तो लाभ भी नहीं होता। उसके कारण लाभ-नुकसान कहाँ था ? पर के कारण कहाँ था ? पर, वह पर है और स्व, वह स्व है, तो भी माना है कि इसने मुझे दुःखी (किया)। यह तो इसकी एकत्वबुद्धि है। कहो, क्या है ? मलूकचन्दभाई! आहाहा!

सुदृढ़ स्व पर विवेक ज्ञान के पैदा करनेवाले वाक्यों के.. सुदृढ़ - जोरदार, ऐसा। ऐसे ढीले-शिथिल नहीं। विकल्प भी उठा ऐसा जोरदार! स्व ज्ञायक यह है और राग पर है। परसन्मुख की वृत्तियाँ पर हैं, स्वसन्मुख में जाने का ज्ञान स्व है। ऐसे अन्दर जोरदार विकल्प-वाक्य आया। गुरु का वाक्य और यह विकल्प। **और उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये।** पश्चात् अन्दर भिन्नता करने का अभ्यास करना, ऐसा कहते हैं। ज्ञान चैतन्य है, उससे जितनी वृत्तियाँ पर-सन्मुख की उठती हैं, वे सब पर हैं, पर स्वभावी चीज़ हैं। ज्ञानानन्द, वह चैतन्य स्वस्वभावी चीज़ है—ऐसे दोनों का अभ्यास करना चाहिए। **उसके अनुसार..** उसके अनुसार अर्थात् गुरु ने कहा और स्वयं को ऐसा विकल्प उठा। उसके अनुसार पर से भिन्न करने का अभ्यास करना। लो! यह अभ्यास। कहो, रतिभाई! कौन सा अभ्यास ? हेडमास्टर अभ्यास करावे न सबको, क्या करावे ?

मुमुक्षु : ऐसा सब सुनने के बाद मन में व्यथा होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसे यथार्थ में होती ही नहीं। भिन्नपने का भान हो तब, यह नहीं यह, यह नहीं यह। ऐसा कहते हैं। यह संसार के पठन, वह सब परसन्मुख का विकल्प है, वह नहीं। मेरी चीज़ यह है, वह पर से भिन्न है। मेरा बोध, यह शिक्षा हुई; इसलिए होता है - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? ...यह नरसिंह मेहता का कहा था न ?

पुकार आयी थी। नरसिंह मेहता के किसी ने दिया होगा भूतड़ा, कोई आया होगा? भगवान तो अपने भाव में पड़े हैं। भगवान कहाँ वहाँ आने के लिए निवृत्त थे। कोई भगवान नहीं। उसने माना हुआ, वह उसके भाव में पड़ा है। वे कहाँ यहाँ आने को निवृत्त थे। कोई आया होगा देव और ऐसी कोई स्थिति बन गयी हो और लोगों ने उभारा। क्या खबर क्या हुआ है? लोगों की कल्पना की ऐसी लौकिक में उठे न...

मुमुक्षु : उनकी मान्यता को जरा आँच आवे वहाँ शोर मचावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आया था। अन्दर से चिट्ठी आयी थी। महाराज! ऐसे ज्ञानी होकर क्यों ऐसा कहते हैं? जो परद्रव्य है, जिसे जो मानता हो, लो न! वह द्रव्य उसके भाव में रहा हुआ है। उसका भाव यहाँ आवे कहाँ से? दूसरे को करे वह क्या? दे क्या और ले क्या? क्या कहा? वे कहते हैं, मामेरा। कौन पूरे और कौन ले? मामेरा पूर्या। कोई ऐसा भूत कदाचित देव होगा, इसका पुण्य का योग हो (तो) आया होगा। भगवान अपने वीतरागभाव में स्थित हैं और भले वह जो मानता है, वे अपने ज्ञान में स्थित हैं। समझ में आया? अपनी पर्याय में हैं। वह पर्याय बाहर हटकर यहाँ आवे कहाँ से? भारी भ्रमणा जगत को। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? यह शिक्षा की बात आयी तो खलबलाहट उठी थी। तब क्या हमें लड़कों को नहीं पढ़ाना? ऐई! इन्होंने तो अमेरिका भेजा था, देखो न! भेजा था या नहीं सुमनभाई को? जाओ। पैसे दिये होंगे, उसके बिना तो कहाँ से जाता था? क्यों? मलूकचन्दभाई! आहाहा!

उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये। भाषा देखो! किसके अनुसार? गुरु ने स्व-पर की भिन्नता का उपदेश जोरदार वाक्य से दिया था, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : गुरु को ऐसा ही उपदेश देना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही। यह तो बात ही हुई। उपदेश की व्याख्या ही यह है। सारे उपदेश में स्व-पर से भिन्नता बतलाना, यही उपदेश का फल है। स्व-पर बतलाना, यही उपदेश का तात्पर्य है। स्व-पर की एकता तो मान रहा है, अब इसे करना क्या है? समझ में आया? उपदेश तो ऐसा होता है, उसे उपदेश कहते हैं कि दो भिन्न को दो भिन्नरूप से बतलावे। आस्रवतत्त्व को आत्मा से भिन्न बतलावे, कर्म को अजीव और आस्रव से भिन्न बतलावे तथा आत्मा और कर्म तो भिन्न हैं ही। समझ में आया?

अथवा पर में कहीं सुख है, ऐसा उपदेश ज्ञानी को नहीं होता क्योंकि ऐसा है नहीं, तो स्वयं भी विकल्प में ऐसा न लावे कि कहाँ इन्द्रियों में और पर में कहीं सुख है, ऐसा विकल्प उसे नहीं आता। विकल्प ऐसा आता है कि यह आनन्द यहाँ है, यहाँ दुःख है। सुदृढ़रूप से विकल्प आवे, पश्चात् भिन्न करने का अभ्यास करे। समझ में आया? ३३ गाथा है। दो तिगड़ा (३३) है। कहो, समझ मं आया?

उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये। सुदृढ़रूप से जो विवेक पैदा करनेवाले वाक्य कहे थे... क्या? सुदृढ़रूप से स्व-पर को भेद करनेवाले वाक्य कहे थे, उन वाक्यों के अनुसार स्व-पर के भेद का अभ्यास करना। ओहोहो! संक्षिप्त में बहुत समाहित कर दिया। मगनभाई! बहुत समाहित किया है! स्व अर्थात् ज्ञान और आनन्द; पर अर्थात् राग, विकल्प और पर सब। दो को जोरदार वाक्य से कहा था, उसके **अनुसार अभ्यास करना चाहिये।** उस अनुसार अभ्यास करना चाहिए। कहा हो कुछ और अभ्यास करे कुछ तो वह उपदेश झेला नहीं है। उसके ख्याल में वह आया नहीं, उसके विकल्प में भी वैसा ज्ञान नहीं आया। विकल्प में ऐसा ज्ञान आया नहीं कि वह तो स्व और पर भिन्न बतलाते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....बाकी ध्वनि तो एक प्रकार से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्वनि तो जोरदार है, यह ध्वनि। जोरदार से कहने का था, वह कहा, आता है या नहीं? आता है प्रवचनसार के अन्तिम भाग में अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं), वह सब आता है। देवानुप्रिया! उसे पहले सामनेवाले को निकालकर अपना वापस... यहाँ तो सब आधार है, हों! जोर से कहा, वह कहा गया-ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

(प्रवचनसार श्लोक २२) **इस प्रकार (इस परमागम में) अमन्दरूप से (जोर से, बलवानरूप से, बड़ी आवाज में) जो थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है वह...** आचार्यों की भी सब शैली जो है... अमृतचन्द्राचार्य की तो गजब की शैली! कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य गजब की शैली! यहाँ कहा देखो! टीका है, हों! समझ में आया? किसी का ऐसा नहीं। कलश है न? कहाँ आया? यह? '**मुच्चावचं**' देखो! पहला पद है। '**इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्**' देखो! शब्द है। बाईसवाँ अन्तिम कलश, सबसे

अन्तिम है। प्रवचनसार में सबसे अन्तिम कलश, अमृतचन्द्राचार्य का है। इस प्रकार परमागम में अमन्दरूप से-अमन्दरूप से कहा है। अमन्दरूप से। मन्दरूप से ऐसे धीमे-धीमे, ऐसा नहीं। अमन्दरूप से। अन्तर जोर पुरुषार्थ है, वाक्य में भी जोर से बलवानरूप से जोरदार आवाज में ऐसा कहा वापस। देखो! हमारे पण्डितजी ने अर्थ किया है, हों! वापस। कोष्टक में लिखा है।

जो थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब चैतन्य में वास्तव में अग्नि में होती गई वस्तु के समान (स्वाहा).... सब स्वाहा हो जाता है, चाहे जितना जोरदार कहा परन्तु वह आत्मा ज्ञानानन्द है, उसमें सब समा जाता है। समझ में आया? यह सब शास्त्र का आधार है। राजकोट में तो बहुत पूछा जाता था। रात्रि में प्रश्न। ओहोहो! एक के बाद एक, एक रखे और एक मिनिट में एकदम-एकदम निकाले। राजकोट में बहुत अभ्यास, ऐसा अभ्यास बहुत है उन लोगों को। वापस सिरपच्ची नहीं, हों! ऐसा कहा एकदम जवाब न दे। हो गया, जाओ! और दूसरा। कहो, समझ में आया इसमें?

उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये। बार बार अभ्यास करने से.. वापस इतना लिया, देखा! अकेले अभ्यास से अकेले नहीं, बारम्बार अभ्यास। ज्ञायक की ओर का झुकाव, राग से उपेक्षा बारम्बार करना। समझ में आया? स्व-सन्मुख का आश्रय, पर सन्मुख की उपेक्षा। **बार बार अभ्यास करने से संवित्ति-अपने लक्ष्य का अनुभव होने लगता है।** इस कारण से अपने लक्ष्य की संवित्ति होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? संवित्ति है न '**गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः**' **अपने लक्ष्य का अनुभव होने लगता है।** राग और आत्मा, दो के भिन्न अभ्यास से अपने लक्ष्य का, आत्मा के लक्ष्य का, आत्मा के झुकाव का, आत्मा के ध्येय का **अनुभव होने लगता है।** ऐसे पर, पर, स्व-पर, स्व-पर करते हुए आत्मा के लक्ष्य का अनुभव होने लगता है, ऐसा कहते हैं। स्व-पर को भिन्न करते-करते स्व-सन्मुख ढल जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? पहले अभ्यास में आवे कि यह पर है, यह ज्ञान है, यह ज्ञान है, यह राग है, यह परसन्मुख का (विकल्प) उठता है। **अपने लक्ष्य का अनुभव होने लगता है।** समाप्त! फिर वह पर छूट जाता है।

संवित्ति-अपने लक्ष्य का अनुभव होने लगता है। ज्ञानस्वरूप भगवान ज्ञायक प्रभु

का लक्ष्य, उसका अनुभव, उसे अनुसरण कर वेदन होता है। समझ में आया? ३३ गाथा भी बहुत अच्छी आयी। **उस संवित्ति (स्वसंवेदन) के द्वारा..** पहले तो कहा, अभ्यास करने से संवित्ति, ऐसा कहा। पर से भिन्न करने से-भेदज्ञान से स्वलक्ष्य हो जाता है, ऐसा कहते हैं और ऐसे वेदन **द्वारा जो स्वात्मा को पर से भिन्न जानता-देखता है,..** स्वात्मा को ऐसे पर से भिन्न जानता-देखता है। ऐसे अपने को जानता-देखता है। पर से भिन्न अपने को जानता-देखता है। ज्ञान.. ज्ञान.. ज्ञान.. आनन्द ज्ञायक.. ज्ञायक.. ऐसा।

भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाला.. भगवान आत्मा राग से, पर से भिन्न अनुभव करनेवाला। **मोक्ष-सुख को..** देखो! भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाला, ऐसा यहाँ कहा है, हों! अभी नीचे (नीचे के गुणस्थानों में अनुभव होता है।) **मोक्ष-सुख को निरन्तर हमेशा विच्छेद रहित अनुभव करने लग जाता है।** जितनी रागरहित स्वभाव में एकता हुई, उतना भिन्न पड़ा, उतना भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाला अपना आनन्द अर्थात् छूटे हुए रागरहित जो स्वभाव, उसके मोक्ष के सुख को निरन्तर-हमेशा.. निरन्तर की व्याख्या की, विच्छेदरहित-अन्तरालरहित अतीन्द्रिय आनन्द की ओर में झुका हुआ भाव निरन्तर आनन्द को **अनुभव करने लग जाता है।** यह अतीन्द्रिय आनन्द की, मोक्ष के सुख की-आनन्द का नमूना यहाँ लेता जाता है। आहाहा! समझ में आया? यह सब करने का, करने के साररूप यह है। पढ़कर करना हो तो यह, समझकर करना हो तो यह, शास्त्र पढ़कर-सुनकर करना हो तो यह (ही है)।

मुमुक्षु : जिन्दगी में करनेयोग्य हो तो यह।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह। जीवन में, जीवन में करनेयोग्य हो तो यह। आहाहा! फिर यह मन्दिर कब बनाना? पन्द्रह दिन में क्या किया? अवधि डाली। कहो, समझ में आया? करना कब?

यहाँ तो कहते हैं कि भिन्नता का करना, वह करना है। भिन्न का करना, वह करना नहीं। तुझसे भिन्न का (कुछ) करना, वह करना नहीं है। वह कर नहीं सकता। आहाहा! ऐ.. चन्दुभाई! चन्दुभाई शामिल है न उसमें? आहाहा! आत्मा से भिन्न का अर्थात् राग का और शरीर का और कर्म का करना, वह कर नहीं सकता। उससे भिन्न आत्मा को करना,

यह कर सकता है। आहाहा! वाह! समझ में आया या नहीं? कहो, यह तो लड़कों को भी समझ में आये, ऐसा है, हों! इसमें कोई (भाषा कठिन नहीं है) बहुत सादी और बहुत सार। सादी और सार। वाह रे वाह! देखो इस समवसरण के दिवस में समवसरण में भगवान का ऐसा (उपदेश) आया था। आहाहा! पर अधिक हो तो मुझे ठीक, पर थोड़े हों तो मुझे अठीक - ऐसा वाक्य भगवान के उपदेश में नहीं आया था, कहते हैं। पर से भिन्न पाड़ने में ठीक, ऐसा भगवान के वाक्य में आया था। आहाहा! समझ में आया?

समस्त सन्तों का, गुरुओं का, शासन का, वीतराग का उपदेश स्व की एकता और पर की भिन्नता के लिए सब उपदेश है। वह जहाँ पर की भिन्नता और स्व की एकता न हो, वह कहीं पर को स्व से लाभ होगा, स्व, पर का कर सकता है—ऐसा उपदेश भगवान का था नहीं। भगवान का उपदेश ऐसा नहीं होता। भिन्न कैसे पड़े? समझ में आया? अज्ञान, राग से भिन्न पड़कर मात्र विज्ञान-वीतराग हो गये वे तो। अज्ञान छूटकर ज्ञान हुआ, राग छूटकर वीतराग हुए। आहाहा! वह अत्यन्त छूटकर वीतराग विज्ञान हुए, उनके उपदेश में क्या आवे? इस राग से छूटकर यहाँ (आत्मस्वरूप में) जा, यहाँ स्थिर हो, यहाँ स्थिर हो। छूटकर उसे मान और उसमें स्थिर हो, ऐसा ही आता है। मगनभाई! आहाहा! कहो, सब लाख बात की बात यह इसमें आती है। चारों अनुयोगों में... कथन होता है। यही कथन है उनमें। किसी भी समझाने की पद्धति में ऐसा है। जैसे पृथक् हैं, वैसे पृथक् को उस प्रकार से बतलाना और पृथक्ता कराना, वह इस उपदेश का तात्पर्य है। आहाहा! समझ में आया? इसमें तो प्रश्न को अवकाश भी कहाँ है?

यहाँ तो पहले से व्यवहार और निश्चय दोनों भिन्न हैं, ऐसा भगवान के उपदेश में आया। अर्थात् स्व और पर की भिन्नता करने का उपदेश था। पर व्यवहार और स्व निश्चय दोनों अनादि से तो एक माने हैं। समझ में आया? व्यवहार-जितनी राग की मन्दता, उससे भी पृथक्-भेद कर और यहाँ स्थिर हो—ऐसा भगवान का उपदेश था। समझ में आया? परन्तु बीच में व्यवहार आता है, आता है परन्तु उसे भिन्न जानने के लिए तू प्रयत्न कर। उसके द्वारा यहाँ होता है, ऐसा प्रयत्न छोड़ दे। ऐसा है ही नहीं, उपदेश में ऐसा है नहीं और इस प्रकार से होता भी नहीं - ऐसा कहते हैं। उपदेश में ऐसा नहीं होता और उसमें होता है, ऐसा होगा? उसमें ऐसा होता नहीं। राग से निश्चय में जाया जाऐ-ऐसा नहीं होता। राग

से भिन्न पड़ते ही, स्व-पर को भिन्न करते ही स्व में एकाग्र हो, ऐसी वस्तुस्थिति है। आहाहा! आहाहा! कहो वजुभाई! यह तो पकवान परोसे जाते हैं, लड्डू बाद में मिलेंगे। आहाहा!

गाथा ऐसी आ गयी न! देखो न! कहो, इष्टोपदेश की शुरुआत यहाँ से हुई थी। बत्तीस हो गयी थी। पर का उपकार छोड़ दे। भाव है वह, हों! करता कहाँ है? थोड़ा उसका कर लूँ, लड़के का थोड़ा, थोड़ा लड़की का, थोड़ा गाँव का, थोड़ा देश का-संघ का, समझे न? कोई यात्रा का, किसी ट्रस्ट का, किसी पर्वत पर, कोई उसका, कुछ कर लूँ थोड़ा। आहाहा! फिर कोई तीर्थ रक्षा के लिए नहीं जाएगा, ये सब लोग उसमें शिथिल पड़ जाएंगे। ऐई! सोगनचन्दजी!

मुमुक्षु : जो होनेवाला है, वह होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं, बापू! सुन तो सही, प्रभु! यह वहाँ होने का तो होता है, परन्तु पर है और तू स्व है - ऐसी भिन्नता करके स्थिर हो, वह तुझे करने का है। उतावला हो तो भी होनेवाला होगा, वह होगा और धीरा होकर स्व में जाएगा तो भी बाहर में होनेवाला होगा, वह होगा। आहाहा! वाह रे वाह! आहाहा! समझ में आया? बहुत झट, झट ध्यान रखो, नहीं तो ऐसा होगा। वे कहे, अपने अभी काल आया है, इसलिए ऐसा कर दें। कौन यह करे? सुन न, भाई! पर से भिन्न करने का -पाड़ने का, उसमें पर का ऐसा कर दे, ऐसा उसमें कहाँ आवे? यह तो मूलमार्ग की बात है। समझ में आया? आहाहा!

'मूल मारग सुन लो जैन का रे, कर वृत्ति अखण्ड सन्मुख' अपने सन्मुख दृष्टि कर, उसमें सब समाहित हो जाता है। आहाहा! भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाला—रागतत्त्व और आत्मतत्त्व, स्व और पर दो की भिन्नता अनुभव करनेवाला मोक्ष-सुख को निरन्तर (अनुभव करता है)। राग से जितना छूटा, स्व में जितना रहा, उतना सुख **विच्छेद रहित अनुभव करने लग जाता है।**

क्योंकि वह मोक्ष-सुख का अनुभव, कर्मों से भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवालों को होता है,.. क्योंकि छूटे हुए को मोक्ष के सुख का अनुभव, **कर्मों से भिन्न..** कर्म मुझे रोकता था और कर्म मुझे अटकावे, ऐसा नहीं है। वह है, उससे मैं भिन्न हूँ, है उससे भिन्न हूँ, उससे अटका नहीं था और वह कोई शिथिल पड़े तो मुझमें आ सके,

ऐसा नहीं है क्योंकि वह तो भिन्न है। **कर्मों से भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवालों को होता है,..** भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति आनन्द, कर्म पदार्थ से भिन्न है। अब भिन्न कब जाने? उससे मुझे नुकसान होता है, वह भिन्न जानेगा? वह कुछ मार्ग दे तो मुझे लाभ होता है, वह भिन्न जानेगा? उसका लक्ष्य वहाँ जाता है कि यह मुझे कुछ मार्ग दे। वह चाहे जो स्थिति हो, मैं उससे भिन्न हूँ। आहाहा! समझ में आया? उसकी स्थिति बदलानी नहीं, उसकी स्थिति घटानी नहीं, कुछ करना नहीं - ऐसा कहते हैं। वह है, उससे भिन्न करके अनुभव करना, इतनी बात है। आहाहा! समझ में आया? यह शिक्षा ज्ञानी के घर की कसरत है। आहाहा! **अन्यों को नहीं।** ऐसा अनुभव कर्म को एक माननेवाले (नहीं कर सकते)। किसी भी स्थिति में कर्म रहा, वह अजीवतत्त्व है। मैं चैतन्यतत्त्व हूँ। उससे भिन्न जाननेवाले का अनुभव होता है। उसका दृष्टान्त देंगे। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७ गाथा-३३-३४ बुधवार, दिनाङ्क ११-०५-१९६६
वैशाख शुक्ल ७, वीर संवत् २४९२

पूज्यपादस्वामी का रचा हुआ (इष्टोपदेश है, उसकी) ३३वीं गाथा चलती है। देखो! **जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है-** यहाँ आया। क्या कहा यहाँ? उसका यहाँ आधार देते हैं। गुरु उपदेश से स्व-पर की भिन्नता का उपदेश सुनकर और स्व-पर की भिन्नता का अन्तर अभ्यास करके वापस स्व-सन्मुख में, स्व-संवेदन को करता हुआ मोक्ष के सुख के अनुभव को आंशिक प्राप्त करता आत्मा अपनी एकाग्रता को प्राप्त करता है। समझ में आया?

उस आत्मा का अनुभवन करते हुए यह आत्मा,.. देखो! धर्म यहाँ से शुरु होता है। आत्मा राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकल्प से, शरीर, कर्म से भिन्न है। वह परचीज़ है, आत्मा ज्ञानानन्द ज्ञायक स्वचीज़ है। ऐसे स्व और पर की भिन्नता का अन्तरज्ञान में बारम्बार अभ्यास करने से स्वभाव सन्मुख की एकाग्रता प्रगट हो, उसमें मोक्ष में जो अनन्त

आनन्द है, उसमें का राग से पृथक् पड़कर स्व की एकत्वता होने पर उसमें के आनन्द के आत्मा अनुभव करता है। कहो, समझ में आया?

उस आत्मा का अनुभवन करते हुए.. आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव करते हुए **यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है,..** कोई राग की, विकल्प की मदद से करता है, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। अनुभव करने पर (प्राप्त करता है)। आत्मा ज्ञायक चैतन्य है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप आत्मा है, उसे पुण्य-पाप के राग से, कर्म से, शरीर से स्व-पर की भिन्नता का अभ्यास करने पर स्व की एकान्तपने को प्राप्त करते हुए पर से भिन्नपने का मोक्ष जो स्वभाव है, ऐसे पर से भिन्नपने के आनन्द को अनुभव में प्राप्त करता है। कहो, समझ में आया?

यह इष्टोपदेश। यह इष्टोपदेश, वह इष्ट अर्थात् प्रिय और हितकर है। समझ में आया? दूसरा कोई उपदेश ऐसा करे कि पर से-रागादि से आत्मा को लाभ होता है तो राग से भिन्न करना है, उसे राग से लाभ हो, वह उपदेश ही सच्चा नहीं है।

मुमुक्षु : थोड़ा सा तो लाभ होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी लाभ (नहीं है)। जिसे भिन्न करना है, उससे लाभ होगा? बन्ध का लाभ होगा। यहाँ तो पृथक् पड़ने के लाभ की बात है।

मुमुक्षु : पाप का अभाव करे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप-वाप सब पाप ही है, वह विकार है। समझ में आया? आत्मा शान्ति, आनन्दस्वरूप है, उससे विपरीत जितना विकल्प शुभ या अशुभभाव है, उससे वह पर और आत्मा स्व से, ऐसे दोनों के बीच का भेदज्ञान करना, वही आत्मा की एकाग्रता को प्राप्त करने का उपाय है। आहाहा! यह उपदेश ऐसे कहा था कि तू तुझमें स्व-पर की भेदता कर। वह करे, तब उसे उपदेश मिला था, ऐसा निमित्तरूप से कहा जाता है। पश्चात् (इस बात को भी) उड़ा देंगे। इसे पुरुषार्थ करना है या गुरु को करना है उसमें? समझ में आया?

इस आत्मा का अनुभव करने पर। आत्मा का अर्थात्? आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है तथा पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम, वे विकार हैं। वे पर हैं, यह

स्व है - ऐसे स्व-पर की भेदता का अभ्यास करने पर, भिन्नता का अभ्यास करने पर आत्मा की ओर एकाग्रता होने से आत्मा का जो अनुभव होता है, उसमें मोक्ष के सुख का अनुभव आता है।

उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है,... अन्तर एकाग्र होते-होते उत्कृष्टता प्राप्त कर लेता है। बीच में व्रत और नियम ऐसे विकल्प आवें, उनसे उत्कृष्टता प्राप्त नहीं करता, ऐसा कहते हैं। **और इसी तरह मन तथा वाणी के अगोचर..** वाणी अगोचर कहा न, उसमें दो अर्थ करेंगे। **मन तथा वाणी के अगोचर अथवा वचनों से भी न कहे जा सकनेवाले..** ऐसी दो बातें हैं। '**वाचामगोचरम्**' है न। समझ में आया? '**वाचामगोचरम्**' अर्थात् कि आत्मा अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप है, वह राग, दया, दान, व्रत आदि का विकल्प है, उससे भिन्न करता हुआ (और) अपने आत्मा की एकाग्रता को प्राप्त करता हुआ, ऐसे स्वाधीन शान्ति के सुख को पाता है कि जो मन को, वाणी को अगम्य है। मन, वाणी के अगम्य है और **वचनों से भी न कहे जा सकनेवाले..** वापस कहने में भी नहीं आ सकता। समझ में आया?

यह तो एकदम मक्खन और तत्त्व की बात है। धर्मी को यह करना है। जो पर से छूटता है, उससे भिन्न करके अपने में एकाग्रता करना, उसमें आत्मा का अनुभव होने से वचन से, मन से अगम्य अथवा वचन से नहीं कहा जा सकता, ऐसे **स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर लेता है।** लो, स्वाधीन आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द स्वसंवेदन में वह प्राप्त कर लेता है। उसे सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र कहते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? ज्ञानी ने भी यह कहा था, शास्त्र में भी यह कहा है, केवली ने भी यह कहा है और आत्मा की बात झेलनेवाले को भी यह बात उसके ख्याल में आती है। आहाहा!

क्या यह बात? केवली ने यह कहा था, गुरु ने यह कहा था, शास्त्र यह कहते हैं और वास्तविक पात्र श्रोता ने भी यह अन्दर में धारण किया था। सुनकर यह धारण किया था कि स्व-पर की भिन्नता करना। स्व अर्थात् आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप, शुद्धस्वरूप, पर अर्थात् राग-द्वेष के (भाव) दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम अशुद्ध, मलिन राग है, आस्रव है। उनसे भी भिन्नता करके आत्मा की एकाग्रता करना।

उनकी भिन्नता की अर्थात् यह पृथक् पड़ा। अब उसमें एकाग्रता करना, उसमें स्वाधीन आत्मा का जो आनन्द है, मुक्तस्वरूप में आनन्द है, ऐसा इतना मुक्त हुआ, यहाँ इतना मुक्त हुआ। समझ में आया? इतने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाधीन सुख उसे आत्मा है। वह वचन से अगम्य है और वचन से प्राप्त नहीं होता तथा वचन से कहा नहीं जा सकता। दो (बातें आयी)। समझ में आया?

मुमुक्षु : वह समझा क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह समझा यह कि यह मुझे ऐसा कहते हैं कि राग को आत्मा से भिन्न कर, ऐसा वह समझा। ऐसा कहते थे, ऐसा इसने किया, तब समझा। कहो, समझ में आया इसमें? सर्वज्ञों ने ऐसा कहा, शास्त्र में ऐसा कहा, सन्तों ने यह कहा, पात्र जीव ने यह सुनकर ऐसा झेला कि यह राग और आत्मा को भिन्न करने का कहते हैं। भेदज्ञान (करने का) कहते हैं। 'लाख बात की बात निश्चय उर लाओ' समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति नित्यानन्दस्वरूप है। उसमें पुण्य-पाप के विकल्प अनित्य, क्षणिक और स्वभाव से विपरीत हैं। यह विपरीत और अविपरीत अपना निज स्वभाव, उसे अन्तर में भिन्न करना-ऐसा सर्वज्ञ की वाणी में, गुरु की वाणी में आया था। ऐसा उसने भिन्न करने का अभ्यास करने पर, बारम्बार अभ्यास करने पर राग और स्वभाव की एकता टूटने से, स्वभाव में एकता होने से स्वाधीन, वचन और मन से अगम्य तथा वचन से न कहा जा सके, वैसे स्वाधीन आनन्द को प्राप्त करता है, उसे धर्म कहते हैं। आहाहा! कहो, वजुभाई! व्याख्या बहुत संक्षिप्त और बहुत मधुर! आहाहा!

स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर लेता है। धर्मी, सम्यग्दृष्टि जीव श्रावक होने से पहले भी सम्यग्दृष्टि जीव राग और विकल्प, शरीर और कर्म, पर में सब गया। राग से लेकर कर्म, शरीर आदि सब और एक ओर भगवान ज्ञानानन्दस्वभाव, दो के बीच में एकता थी, उसे तोड़ा, भेदता प्रगट की, भेद प्रगट किया भिन्नता अर्थात् आत्मा में एकता हुई और आत्मा में रहा हुआ आनन्द उसने स्वाधीनरूप से सुख प्राप्त किया। वह आनन्द को वचन से अगम्य है। वचन से प्राप्त नहीं और वचन से कहा नहीं जा सकता। कहो, समझ में आया इसमें?

दोहा – गुरु उपदेश अभ्यास से निज अनुभव से भेद।
निज पर को जो अनुभवे, लहै स्वसुख वेखेद।।३३।।

एक श्लोक में तो कितना लिखा है! आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ के सब शास्त्रों का सार इस एक श्लोक में रख दिया है। आहाहा! परमेश्वर तीर्थंकरदेव के समस्त शास्त्रों का सार (यह है) कि दो चीज़ें हैं। **गुरु उपदेश अभ्यास से..** देखो! गुरु ने ऐसा कहा कि दो चीज़ें हैं—तू ज्ञायक और रागादि, शरीर, कर्म आदि दूसरी चीज़ें, ऐसे सब है, दोनों हैं। उन्हें भिन्न करने का अभ्यास (कर)। सर्वज्ञों ने, गुरु ने यह कहा कि, ये दो हैं, उन दो को दो रूप से भिन्न कर। ज्ञायकस्वभाव भगवान आत्मा (और) रागादि पर।

निज अनुभव से भेद। ज्ञान की एकाग्रता द्वारा भिन्न कर, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु के ज्ञान के अनुभव से राग भिन्न होता है (उसे) कर, कहने में आता है। समझ में आया? **अनुभव से भेद।** भिन्न कर, भिन्न कर अर्थात् भिन्न हो जाता है। आत्मा ज्ञायक चैतन्य ज्योति और रागादि पर – दोनों सिद्ध किये। अकेला ही आत्मा है, ऐसा नहीं और परचीज़ अकेली है, ऐसा नहीं। दो चीज़ है। एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। एक ओर भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड ज्ञायक चैतन्य (और) एक ओर राग विकल्प आदि से लेकर सब। दो की जुदाई का अभ्यास करने से **निज पर को जो अनुभवे,..** लो! अपने को पर से भिन्न ही अनुभव करे।

लहै स्वसुख वेखेद। वह अपने आत्मा में एकाग्रता का स्वाधीन अतीन्द्रिय आनन्द का सुख अनुभव करता है। वेखेद – खेद बिना, कष्ट बिना। कष्ट करना पड़े और यह हो, ऐसा नहीं है – ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? यह अपवास-बपवास करना और यह हो और भारी खेद हो और फिर यह होगा, ऐसा नहीं है, कहते हैं। यह अपवास करना और इस अपवास से फिर ऐसे कष्ट सहन करना पड़े और फिर यह अनुभव हो, ऐसा नहीं है, कहते हैं।

मुमुक्षु : इसके अतिरिक्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके अतिरिक्त नहीं होता। (ऐसा नहीं), इसके अतिरिक्त ही होता है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया?

भगवान आत्मा को पर्याय को अन्तर्मुख झुकाने पर रागादि से भिन्न पड़ गया। ऐसे आत्मा को पर से भिन्नता के अभ्यास में अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर एकाग्रता के अनुभव में बेखेद आत्मा का आनन्द आता है और उसे धर्म कहते हैं। आहाहा! धर्म की गजब व्याख्या, भाई! जैन परमेश्वर की यह व्याख्या है। यहाँ तो अभी बेचारे वाड़ा में (सम्प्रदाय में) ऐसा कहते हैं। कि यह करूँ और यह किया और यह रखा और यह दया, दान, यह व्रत (किये)। मर गया कर-करके।

मुमुक्षु : दूसरे जीवों की दया कब पालना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ पालता था? कब पालन कर सकता था, वह पाले? उन्हें भिन्न जानना है और उसमें पालना कहाँ आया? ऐ... भगवानभाई! जिसे यह और मैं दो भिन्न करना है। उसका करना है और उसे रखना है, ऐसा भी नहीं; है, उनसे यह मात्र भिन्न करना है, इस प्रकार यह उपदेश है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान का यह उपदेश है। क्या कहा यह? भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर का यह उपदेश है कि स्वयं अज्ञान और राग से पृथक् पड़कर सर्वज्ञ और वीतराग हुए, यह उपदेश जगत को कहा। अज्ञान और राग वह भिन्न, तेरा स्वरूप ज्ञान और वीतराग यह भिन्न। कहो, चन्दुभाई! आहाहा! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमेश्वर वीतरागदेव के मुख में (से) यह वाणी आयी। हैं दोनों, है सब, हो। मुझमें वह नहीं और उसमें मैं नहीं - ऐसा भेद कर। करना नहीं कुछ। किसी का पालन करना है और मारना है और टालना है, यह वस्तु में है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? भाई! भाषा थोड़ी-थोड़ी आती है न? थोड़ी-थोड़ी सीख लेना। आहाहा! गजब, परन्तु मक्खन है! थोड़े में मार्ग बहुत समेट दिया। भाई! कहते हैं करने का जो है, करने का जो है, वह यह है। यह है, वह भगवान ने कहा है।

आगे शिष्य पूछता है कि मोक्ष-सुख के अनुभव के विषय में कौन गुरु होता है? आचार्य कहते हैं-

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हित (तं) प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।।३४।।

अर्थ - जो सत् का-कल्याण का वांछक होता है, चाहे हुए हित के उपायों को बतलाता है, तथा हित का प्रवर्तक होता है, वह गुरु कहलाता है। जब आत्मा स्वयं ही अपने में सत् की-कल्याण की यानि मोक्ष-सुख की अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुख के उपायों को जतलानेवाला है, तथा मोक्ष-सुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है, इसलिए अपना (आत्मा का) गुरु आप (आत्मा) ही है।

विशदार्थ - यह आत्मा स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है, तब सत् की यानि मोक्ष-सुख की हमेशा अभिलाषा करता रहता है, कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे। इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष-सुख के उपायों को जानना चाहता है, तब यह स्वयं मोक्ष के सुख के उपायों को जतलानेवाला बन जाता है कि यह मोक्ष-सुख के उपाय मुझे करना चाहिए। इसी तरह अपने आपको मोक्ष-उपाय में लगानेवाला भी वह स्वयं हो जाता है कि इस सुदुर्लभ मोक्ष सुखोपाय में हे दुरात्मन् आत्मा! तुम आज तक अर्थात् अभी तक भी प्रवृत्त नहीं हुए। इस प्रकार अभी तक न प्रवर्तनेवाले आत्मा का प्रवर्तक भी हुआ करता है। इसलिए स्वयं ही आत्मा अपने कल्याण का चाहनेवाला, अपने को सुखोपाय बतलानेवाला और सुखोपाय में प्रवृत्ति करनेवाला होने से अपना गुरु है।।३४।।

दोहा - आपहिं निज हित चाहता, आपहि ज्ञाता होय।
आपहिं निज हित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय।।३४।।

गाथा - ३४ पर प्रवचन

आगे शिष्य पूछता है कि मोक्ष-सुख के अनुभव के विषय में कौन गुरु होता है? परन्तु इसमें गुरु कौन? आपने ऊपर गुरु उपदेश, अभ्यास (आदि) सब बात की थी। **आचार्य कहते हैं-**

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हित (तं) प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।।३४।।

स्वयं स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वात् नीचे अर्थ आयेगा। **अर्थ - जो सत् का-कल्याण का वांछक होता है,...** देखो! सत् का-कल्याण का वांछक होता है वह आत्मा। जिसे सत् की, कल्याण का वांछना-इच्छा होती है, वह आत्मा है। **चाहे हुए हित के उपायों को बतलाता है,...** जो इच्छा हुई, उन उपायों को आत्मा स्वयं अपने को बतलाता है। कहो, समझ में आया? गुरु की व्याख्या करते हैं कि उसे गुरु कहना, उसे गुरु कहना। एक तो सत् के कल्याण का वांछक हो। **सदाभिलाषित्वात्** है न? **स्वयं स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वात्** जिसे सत् कल्याण की अभिलाषा हो, वह जीव। वह अपने को होती है। गुरु को होती है, यह यहाँ लेना है? गुरु कराते हैं वह? स्वयं सत्स्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप आनन्दकन्द स्वरूप आत्मा के सत् के कल्याण का वांछक होता है और जो इच्छा हुई, उसके हित के उपाय जो उसे बताता है। आत्मा, उसके हित का उपाय बताता है कि हे आत्मा! राग से पृथक् पड़, यह तेरा हित का उपाय है।

मुमुक्षु : उसे गुरु बताते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बतावे, उसकी यहाँ अभी व्याख्या ही नहीं है। यह बात ही नहीं है, यह बात ही अभी नहीं है। उसे - उस आत्मा को सत् की-कल्याण की अभिलाषा होती है और उस अभिलाषा में सत् का उपाय जो है, उसे स्वयं अपने को कहता है। अरे! यह मार्ग है। दूसरा कहे परन्तु यह समझे बिना उसे क्या है? समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। यह अर्थ इसमें है।

स्वयं स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वात् अभीष्टज्ञापकत्वत:। हित प्रयोक्तृत्वात् ऐसे तीन हों, उसे गुरु कहते हैं। अत: स्वयं आत्मा अपने हित का कांक्षी। आत्मा के आनन्द का, कल्याण का कांक्षी। कल्याण का कांक्षी तो स्वयं होता है और कल्याण कैसे प्राप्त हो, उसका उपाय भी स्वयं अपने को बताता है। भाई! राग से पृथक् पड़, तेरे स्वभाव में एकाग्र हो, ऐसे उसे अपने को बताता है। कहो, रतिभाई!

सर्वज्ञ ने कहा, शास्त्र ने कहा, गुरु ने कहा परन्तु उसे अन्दर में यह भाव न जँचे, तब तक उसे वह नहीं समझायेगा। अरे! आत्मा! तू आनन्दस्वरूप की अभिलाषा कर। अब उसकी अभिलाषा का उपाय और प्राप्त को तू देख। राग और विकल्प से पृथक् पड़ना, वह उसका-शान्ति का उपाय है। ऐसे स्वयं अपने को अन्दर बतलाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर ने तो कहा, परन्तु उसके आत्मा में सत् की अभिलाषा कल्याण की न होवे तो यह भगवान क्या करे वहाँ? और अभिलाषा होकर सत् का उपाय अन्तर में राग से, पर से विमुख होकर अन्तर में स्थिर होना, ऐसा उपाय वह स्वयं अपने में प्रगट न करे (तो) भगवान क्या करे?

मुमुक्षु : भगवान की वाणी सब कर देती है....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कर देती थी वाणी। सब व्यर्थ बातें हैं। दिव्यध्वनि कह दे वाणी। यहाँ तो वाणी कह सके नहीं और वाणी को गम्य नहीं, दो बात पहले आ गयी। आहाहा! बापू! तेरा मार्ग ऐसा है, भाई! यह दुनिया के साथ मेल नहीं खायेगा। प्रभु कहते हैं कि मेरे मार्ग को दुनिया के साथ मिलान नहीं करना। उसके साथ मिलाना नहीं। वह मार्ग कुछ अलग प्रकार का है। समझ में आया? जिसे हित की आकांक्षा हो, कल्याण की आकांक्षा हो। वह भगवान को होती है? वह तो पर हैं। हित की आकांक्षा। अरे! आत्मा! मुझे हित करना है, हित करना है, हित करना है। अहित तो कर रहा हूँ। ऐसी जिसे कांक्षा हो। हित होने का उपाय स्वयं अपने को बताता है। हे आत्मा! राग से, पर से हटकर स्वभाव में आना, वह हित का उपाय है, भाई! ऐसे स्वयं अपने को कहे। उसे समझावे और बैठे तब होवे न? नहीं तो कौन समझावे उसे। समझ में आया? **तथा हित का प्रवर्तक..** और हित में प्रवर्तन करनेवाला। हित की कांक्षा, हित बतलानेवाला, हित में प्रवर्तन करनेवाला। कहो, इसमें कौन आवे?

मुमुक्षु : गुरु भी आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। कहाँ कहा? क्या कहा? हित का प्रवर्तक, हित में प्रवर्तन करनेवाला, हित में प्रवर्तनेवाला। वे दो (बोल) कहे, पश्चात् इसे बढ़ाया। हित की इच्छा, हित के उपाय को खोजा और हित में प्रवर्तन करनेवाला, उसे गुरु कहते हैं। ऐसे आत्मा की अपरम्पार महिमा है। ऐ.. न्यालभाई! आहाहा!

पूछा क्या था? कि **मोक्ष-सुख के अनुभव के विषय में कौन गुरु होता है?** आपने कहा कि राग से भिन्न करके आत्मा के अनुभव को वेदता है, वह स्वाधीन सुख है, वचन-मन से अगम्य है, वचन से कहा जा सके ऐसा नहीं है। ऐसे सुख को कौन समझावे? ऐसे विषय में कौन गुरु है? ऐसे आनन्द की प्राप्ति के अनुभव में गुरु कौन?- कि आनन्द की प्राप्ति में वह गुरु हो सकता है कि जो हित की इच्छा करे। हित की इच्छा स्वयं करे और उस हित का उपाय स्वयं को बतावे, ज्ञात करावे। भाई! राग से भिन्न पड़ना। हे आत्मा! तुझमें आना, वह तेरा उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है, ऐसा बताकर फिर हित में प्रवर्तन करे। स्वयं अन्दर में जुड़े। वह जुड़े स्वयं और स्वयं गुरु है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। मगनभाई! समझ में आया? ऐसे तो अनन्त बार तीर्थंकर मिले, इसे इसके हित की इच्छा नहीं हुई, उसमें दूसरा क्या करे? हित के उपाय भी अनन्त बार सुने परन्तु वे उपाय अन्दर में न करे तो दूसरा करे क्या? समझ में आया? कहो, चन्दुभाई!

मुमुक्षु : दूसरा निकला।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा कुछ नहीं निकला। जैसा है, वैसा निकला। समझ में आया इसमें? स्वयं अपने को हित की पद्धति की इच्छा न हो (तो) दूसरा क्या करे?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे? धूल में। उसे 'शासन... करूँ' ऐसा विकल्प आवे। होवे कौन? समझ में आया? विकल्प से बन्ध पड़ता है। हमको भव बढ़ते हैं उसमें। ऐई! विकल्प आया और तीर्थंकरगोत्र बँधा तो दो भव हुए, एकदम। एक स्वर्ग का और एक मनुष्य का। दो भव करने पड़ेंगे। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरु का उपदेश सुने तो ख्याल में आवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। वह स्वयं करे तो यह सुना, ऐसा निमित्त से कहा जाता है। वह करे तो उसे सुना, ऐसा कहा जाता है।

मुमुक्षु : आचार्य की कोई कीमत नहीं रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आगे कहेंगे, तो ही कीमत रहेगी। समझेगा स्वयं से तो उसके ख्याल में आयेगा कि ओहो! ये सत्य बात कहनेवाले हैं तो उसे विनय और व्यवहार से भक्ति उठेगी (होगी), वरना सच्चा व्यवहार होगा नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मात्र भान बिना उसे गुरु और भगवान के प्रति बहुमान नहीं आयेगा। परन्तु वह व्यवहार है न? परन्तु व्यवहार उसे नहीं आयेगा, ऐसा कहते हैं। रतिभाई! आहाहा!

भगवान आत्मा स्वयं परमेश्वररूप ही है। उसकी परमेश्वरता की हित की कांक्षा करनेवाला स्वयं। स्वयं उसे बतलावे, हे आत्मा! ऐसा उपदेश भगवान तो कहते हैं, परन्तु तुझे जँचता है या नहीं? भाई! जँचा, भाई, जँचा। राग से तेरा तत्त्व भिन्न है, बापू! उसका अभ्यास कर, यह उपाय है और उसमें फिर प्रवर्तना-स्थिर होना। हित के मार्ग में स्थिर होना, यह तो तेरा काम है। कोई कर दे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रेरणा तो दे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रेरणा की व्याख्या क्या? छप्पनिया के (दुष्काल के समय) पशु को अन्दर से दम नहीं था और घास डाला तो टेका देकर खड़ा किया तो एकदम गिरते थे। यह कहेंगे। तुम्हारे होता नहीं था १९८१ में? (संवत्) १९८१ में गढडा में बहुत खिंचा था। जबरदस्ती खड़ा करते, वहाँ डरपोक बनिया जाए, वहाँ हम बैठे थे। गिरते थे एकदम। हम उनके बड़े दरवाजे से देखते थे।

मुमुक्षु : थोड़ी देर तो खड़ा रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। परन्तु वह गिरने के लिए। टेका देकर खड़ा करते, बिट्ठलभाई और सब तुम्हारे। व्याख्यान पूरा होवे न (पश्चात्) १९८१ वंडा में व्याख्यान हुआ था। बहुत वर्षा (खिंच गयी थी) बाद में (वर्षा) आयी। पशु बेचारे...

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह खड़ा किया नहीं। हड्डियाँ छिल जाएंगी। ऐसे बेचारे गिरते थे। मैंने नजरों से देखा था। वहाँ दरवाजा पर होवें, यह बनिये लोग सम्हाल कर चले जाएँ। ये सुनें, फिर नीचे उतरकर सबको खड़ा करे परन्तु खड़े अन्दर कस रहित लकड़ियाँ क्या करे उन्हें खड़ा? इसी प्रकार जिसकी योग्यता ही पात्रता (ही) न हो, उसे गुरु टेका डालकर करे क्या? ऐसा कहते हैं। यह अभी बाद में कहेंगे। समझ में आया इसमें? दुनिया में नहीं कहते कि जननेवाली में जोर नहीं तो दाई क्या करे? कहते हैं या नहीं? इसके लिए तो यह गाथा ली है।

इष्टोपदेश यह है कि तू तेरा गुरु हो तो तुझे हित होगा। आहाहा! तब सच्चे गुरु का बहुमान तुझे व्यवहार से आये बिना नहीं रहेगा। यह निश्चय होगा तो व्यवहार आयेगा, ऐसा कहते हैं, ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। आहाहा! वाह! इष्टोपदेश की यह पद्धति है, कहते हैं। आहाहा!

तथा हित का प्रवर्तक होता है, वह गुरु कहलाता है। है? इसमें है न? देखो न! शब्द-प्रमाण अर्थ है।

मुमुक्षु : सोनगढ़ से प्रकाशित किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ से प्रकाशित किया हो, परन्तु सच्चा होवे तो क्या है? चाहे जहाँ से छपा हो न। न्याय है या नहीं, यह देखने का है या अमुक ने छापा और अमुक ने छापा, इसका क्या काम है इसे?

जब आत्मा स्वयं ही अपने में सत् की-कल्याण की यानि मोक्ष-सुख की अभिलाषा करता है,.. देखो! **जब आत्मा स्वयं ही अपने में सत् की-कल्याण की यानि मोक्ष-सुख की अभिलाषा करता है,..** अपने को ऐसा होता है। मोक्ष के सुख की अभिलाषा (होती है) दुनिया के सब सुख जहर जैसे हैं। भोग, विषय, इज्जत, कीर्ति, पैसा सबमें-धूल में कहीं सुख नहीं है और उस ओर की कल्पना में भी कहीं सुख नहीं है। एक आत्मा के मोक्ष में ही सुख है। पर से अत्यन्त पृथक् होना, उसमें मोक्ष है। पर में सुख है, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। कहो, समझ में आया? ऐसी इसे जिज्ञासा होती है। वह जिज्ञासा कौन करता है? अहो! राग से, पर से पृथक् होने पर, पूर्ण पृथक् होने पर जो

आनन्द है, उस आनन्द की जिसे अभिलाषा है, अर्थात् जिसे पर से पृथक् होने की भावना है। पर को रखकर मोक्ष करना है, ऐसा नहीं हो सकता - ऐसा पहले शीर्षक बाँधा है।

स्वयं ही अपने में सत् की-कल्याण की.. पर से, राग से, पर से भिन्न पड़ने पर जो मोक्ष में आनन्द होता है, ऐसे सुख की जिसे अभिलाषा है। पुण्य के फलरूप से संयोग और संयोग में इच्छा, वह बात अन्दर से उड़ गयी है। आहाहा! 'काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन रोग।' कैसी शैली ली है, देखो! आत्मा में पर से छूटने से जो मोक्षदशा में आनन्द है, ऐसा पर से छूटने में आनन्द है - ऐसे मोक्ष की जिसे इच्छा है, छूटने की इच्छा है। बँधने का (अभिलाषी नहीं है)। पुण्य करूँगा तो यह मिलेगा और उसका यह मिलेगा, (ऐसा जिसे है) उसे सत् की अभिलाषा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

पहली तो यह शर्त है कि गुरु किसे कहना? उसकी शर्त में यह बात करते हैं कि जिसे सत् की कांक्षा हो अर्थात् कि पर से पृथक् पड़ने में जो आनन्द है, ऐसे आनन्द की-कल्याण की-सत् की इच्छा हो, वह गुरु है। समझ में आया?

मुमुक्षु : शिष्य कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : शिष्य कौन? उसकी पर्याय प्रगट हुई वह (शिष्य है)। गुरु स्वयं और शिष्य भी स्वयं है।

अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुख के उपायों को जतलानेवाला है,.. अपने द्वारा जो कांक्षा हुई कि मुझे मोक्ष का सुख चाहिए, मुझे मोक्षसुख की कांक्षा है न? वह **अपने द्वारा चाहे..** अपने द्वारा चाहा था कि मोक्षसुख चाहिए। ऐसे मोक्षसुख का उपाय। उसके उपाय बतलानेवाला अर्थात् जतलानेवाला, जाननेवाला, वह उसका गुरु है। मोक्षसुख के उपाय का जाननेवाला तो स्वयं आत्मा है। समझ में आया? अहो! शाश्वत् सत् सुख की कांक्षा करनेवाला आत्मा स्वयं। उसके इस सुख का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-आत्मा की प्रतीति, आत्मा का ज्ञान और रमणता। यह उपाय स्वयं स्वयं को बतलाता है कि यह उपाय है, दूसरा उपाय नहीं है।

मुमुक्षु : बतलानेवाला भी यह और जाननेवाला भी यह।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह का यह। यहीं की यहीं बात है। दूसरा है कहाँ?

मुमुक्षु : 'पावे नहीं गुरुगम बिना ये ही अनादि स्थित।'

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पावे नहीं गुरु गम बिना। वह पावे तब ऐसा कहा जाता है। वह तो सत् ज्ञानी का निमित्तपना है, इतना सिद्ध करने को (कहा है) परन्तु निमित्तपना लागू कब पड़ा? स्वयं उपाय समझा, (स्वयं) किया (तब)।

गुरु कौन है? ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया है। उसके उत्तर में आचार्यदेव ये तीन शर्तें रखते हैं। जिसमें ये तीन होते हैं, वह उसका गुरु। सत्सुख की अभिलाषा करे, वह आत्मा और सत्सुख की प्राप्ति का उपाय जाने, जाने वह गुरु और उस प्रमाण फिर प्रवर्तन करे, वह गुरु। स्वयं स्वयं जाने, स्वयं अपनी अभिलाषा और स्वयं अपना प्रवर्तन करे।

मुमुक्षु : .....गुरु बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं बतावे, ऐसा कहते हैं। उसे कहे कि हे आत्मा! तेरा दर्शन शुद्ध श्रद्धा, तेरा ज्ञान, तेरी स्थिरता, यह उपाय है; दूसरा उपाय नहीं है—ऐसा स्वयं अपने को जतलावे, उसका उपाय जाने और उसमें प्रवर्तन करे।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं ही गुरु हुआ, इसका अर्थ (यह हुआ)। स्वयं अपने को सिखाया, स्वयं स्वयं को सीखने में प्रवर्तन किया और सत्सुख की अभिलाषा शुरुआत भी स्वयं अपनी की थी।

मुमुक्षु : सत्सुख की व्याख्या भेद है या अभेद है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यहाँ गुरु स्वयं इसका यह। भेद और अभेद कुछ नहीं होता। आत्मा गुरु और आत्मा शिष्य। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा! लाख बात दुनिया, गुरु, शास्त्र आदि करे, परन्तु इसे न जँचे तो क्या करे? यह आगे कहेंगे। पोपट को-तोता को पढ़ाया हुआ पोपट-तोता कहीं पण्डित नहीं होता। जिसकी बुद्धि मूर्ख हो, उसे कौन पढ़ावे और कौन समझावे? ऐसा कहते हैं, आगे ३५ में कहेंगे। जिसकी बुद्धि ही अन्यत्र काम करती हो, हित का काम नहीं, हित को जानना नहीं और दूसरा या मान या इज्जत चाहता है और यह चाहता है और दुनिया में अच्छा कहलवाना, यह कहलवाना और वह कहलवाना है। पहले से होली दूसरी लगायी, उसे समझावे कौन?

मुमुक्षु : पानी छिड़के तो हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी... कहो, समझ में आया ? यह शिष्य कहेंगे। बगुला... बगुला.. बगुला.. बगुला जैसों को क्या समझाना ? वह कुछ बगुला कहीं तोता होता होगा ? इसी प्रकार जिसे अपना ठिकाना नहीं (कि) मेरा हित कैसे हो, मुझे हित कैसे हो ? यह बात चाहिए। समझ में आया ? यह तो देखो न, साधु नाम धरावे, शिष्य नाम धरावे, गुरु और ब्रह्मचारी नाम धरावे परन्तु पहले से होली मान में बाहर आना है (प्रसिद्धि पाना है) कुछ सीखना, कोई बाहर कुछ माने, मुझे ऐसा सीखना (है कि) बाहर में प्रसिद्ध होऊँ, लोग मुझे मानें अभी तो होली ही दूसरी है। इच्छा में ही दिक्कत है अभी, सत्सुख की इच्छा ही कहाँ है वहाँ ? मान की इच्छा है। प्रसिद्ध होऊँ, दुनिया में गिना जाऊँ, यह तो है, अनादि का संसार है तेरा। उसमें तूने क्या किया ? आहाहा ! समझ में आया ? सीखकर जरा बाहर प्रसिद्ध होऊँ, दुनिया में कुछ गिना जाऊँ, ऐसे ऊपर पटिये पर बैठे हों और ऐसे महासभा बैठी हो... आहाहा ! महाराज को होवे ऐसा अपने को होवे न.. ! होली तो दूसरी सुलगी है अभी।

मुमुक्षु : महाराज को कहाँ होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी मानता है न कि आहा ! पाँच-पाँच हजार लोग, दस-दस हजार ! आहाहा ! हम त्यागी हुए और शिक्षा का फल ऐसा आवे तो सीखे, त्यागी हुए। नहीं तो क्या हुए ? यहाँ तो कहते हैं कि यह जिसे इच्छा है, उसे सत् की अभिलाषा नहीं है। अब सुन न ! नहीं अभिलाषा, उसे दूसरा क्या उपजाओ करता था ? समझ में आया ? चन्दुभाई ! आहाहा ! गजब, शास्त्र छोटा परन्तु बहुत भरा है, हों ! इसमें। उपनिषद होगी। उपनिषद का होगा कुछ उसमें। यह तो अकेला सच्चा तत्त्व।

अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुख के उपायों को जतलानेवाला है,.. यह श्रद्धा (कर), बापू ! आत्मा की श्रद्धा कर, आत्मा की श्रद्धा कर। आत्मा पूर्णानन्द की प्राप्ति की खान है। कहीं अन्यत्र नहीं। आनन्द अन्यत्र नहीं है, मोक्ष अन्यत्र से प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। आत्मा स्वभाव से भरपूर है। उसमें से मोक्ष होगा, ऐसा उसे कहे (कि) राग से नहीं, संयोग से नहीं, दुनिया की इज्जत बढ़े तो वह नहीं बढ़े, ले ! समझ में आया ? दुनिया बहुत माने तो यहाँ आगे बढ़ा जाए, ऐसा है नहीं।

'दूसरे को तारे तो तिरे' ऐसा कहा नहीं था? वढ़वाण में (संवत्) १९८२ के वर्ष में। सुखलालभाई थे न? कन्दोई। वकील, वकील। ऐसा लिखा था 'तिरे, वह तारे' तो ऐसा कहा कि ऐसा नहीं 'तारे, वह तिरे' ऐसा कहो। कितने खोजने जाना (हमने) कहा। वाक्य लिखा था (संवत्) १९८२ के वर्ष में चातुर्मास था न? तब उस सुन्दरवोरा के उपाश्रय में आसन था, उसके ऊपर (वाक्य था)। यह पोपटभाई ने (लगाया था)। 'तिरे, वह तारे।' वहाँ सुखलालभाई आये। (उन्होंने कहा) 'ऐसा नहीं चाहिए। महाराज! आप कराओ 'तारे वह तिरे।' (हमने) कहा, कितनों को खोजने जाना? यहाँ तिरे तो तारे। कहा, भाई! स्वयं तिरे वह तारे, ऐसा कैसे कहा जाए? कि जो पात्र होगा, उसे निमित्त हों, इसलिए कहा जाए। बाकी तिराता कौन था कहा। १९८२ का वर्ष। सुखलालभाई नहीं थे? कन्दोई! थे। सबको ऐसे बाहर-बाहर कहीं आना है (प्रसिद्धि पाना है)।

यहाँ तो अन्दर ही अन्दर सत् सुख की अभिलाषा है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं, ऐसा। दुनिया ऐसी मिले और ऐसा रहे और ऐसे बैठे और ऐसे हो तथा ऐसे हो - ऐसी अन्दर मिठास पड़ी है, उसे तो सत् की अभिलाषा ही नहीं है। अब नहीं, उसे गुरु समझावे किस प्रकार से? स्वयं अपनी अभिलाषा करे, तब वह उसका (स्वयं का) गुरु होता है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : गुरु कहते ही बुद्धिमत्ता होवे...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। बुद्धिमत्ता - सर्वज्ञ पदवाला आत्मा है, बुद्धिमत्ता का क्या (अर्थ)? पूरा सर्वज्ञपद से भरपूर है न गुरु! सर्वज्ञपद से भरा हुआ है। जिसे किसी (का) करना नहीं कुछ और जानने का पूरा है और वह भी स्वयं से। ऐसा (गुरु) दूसरा कौन होगा? आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहेंगे, शिष्य अभी पूछेगा। आपने तो सब उड़ा दिया, ऐसा होवे तो अपसिद्धान्त होता है। गुरु की सेवा न करना, मुमुक्षु की न करना, वहाँ तो बड़ा अपसिद्धान्त होता है। सुन, सुन! कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा!

अकेला शान्तरस प्रभु आत्मा, जिसमें विकल्प उठने का अवकाश नहीं तो दूसरे को

कहूँ, ऐसा है कहाँ उसमें ? जिससे कुछ कहूँ और दूसरे मुझे कुछ गिनें, यह बात तो अत्यन्त विपरीत दृष्टिवाले की है। समझ में आया ? उसकी दृष्टि में बड़ा शल्य पड़ा है, अब सत् की इच्छा नहीं उसे गुरु समझावे किस प्रकार ? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

उसे सत् की अभिलाषा (होती है)। मुझे तो एक सत् चाहिए। शाश्वत् रहे, वह मोक्ष चाहिए। बाकी संसार असत्, विकार असत्, वह कुछ नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं चाहिए। इज्जत नहीं, कीर्ति नहीं कुछ नहीं चाहिए। मुझे चाहिए सत् भाव, सत् भाव, शाश्वत् भाव मोक्ष। उसकी जिसे कांक्षा शुरु हुई और उसने स्वयं बतलाया। भाई! इस सत् का उपाय तो अन्दर में स्थिर होना है, हों! ऐसे पहले जान, फिर स्थिर होने का प्रयत्न किया, वह स्वयं यह तीन करे, वह गुरु—ऐसा आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं। आहाहा! मुँह के सन्मुख ग्रास इसे अच्छा नहीं लगा। हमको गुरु माने न पहले! परन्तु वह हमें गुरु नहीं मान सके पहले। उसका गुरु हुए बिना हमारे प्रति बहुमान व्यवहार से नहीं आयेगा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुख के उपायों को.. देखो! मोक्ष-सुख की अभिलाषा, मोक्ष-सुख का उपाय जानना। **तथा मोक्ष-सुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है,..** लो! बहुत सीधी बात है। एक मोक्ष। मोक्ष शब्द से यहाँ स्व -पर की बात की थी न ? पर से छूटना और स्व की पूर्णता शुद्धि प्रगट करने का नाम मोक्ष है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ऐसी बात तो गुरु ही कह सकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! दुनिया अपना कुछ है—ऐसा जाने, मैंने कुछ छोड़ा, मैंने कुछ ब्रह्मचर्य पालन किया, मैं कुछ पढ़ा हूँ, मैं कुछ दूसरों की अपेक्षा पुण्य में ठीक हूँ, ऐसा कुछ जाने तो कुछ ठीक पड़े या इसके बिना ठीक पड़ता होगा ?

कहते हैं कि तेरी कांक्षा ही अन्यत्र चली गयी है। इसलिए तेरा गुरु तू नहीं है, तुझे समझाना चाहिए कि अरे! सत् की कांक्षा (चाहिए)। आहाहा! और सत् का ही उपाय तथा उसमें ही प्रवर्तन करनेवाला। इन तीन को करनेवाले को गुरु कहते हैं, ऐसा कहते हैं। कहो, बराबर होगा न ? मलूकचन्दभाई! अब क्या होगा इसमें ? इसमें गली-वली होगी या

नहीं ? नहीं। ऐ.. मोहनभाई! कुर्सी खाली है अभी। कब आनेवाले हैं ? अभी नहीं ? कहो, समझ में आया इसमें ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि समस्त अभिलाषा को खाली कर दे। एक सत्.. सत्.. सत्.. वह सत् मोक्ष का सुख, छूटे हुए का सुख, पर से छूटे हुए का सुख, स्व में पूर्ण आया, उसका सुख, उसकी कांक्षा। बस! उसका उपाय, उसे जान। वह जाननेवाला, यह जाने, करनेवाला यह अभिलाषा करे, स्थिरता का उपाय करे। बस! यह इसका गुरु। ऐसे तीन जिसमें हों, वह उसका गुरु। कहो, बराबर है इसमें ?

मोक्ष-सुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है,.. वापस भाषा देखो! **उपायों में अपने आपको..** अर्थात् वहाँ राग-फाग या कोई (दूसरा उपाय है, ऐसा नहीं है) जिससे भिन्न पड़ना है, उस द्वारा उपाय नहीं होता, ऐसा कहते हैं। **अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला..** ज्ञानानन्द अपना स्वभाव, उस द्वारा प्रवर्तन करनेवाला। समझ में आया ? इष्ट उपदेश। आहाहा! कितने ही यह श्रीमद् में ऐसे होते हैं, कितने ही बोलते, वे खोजा आते, वे (कहते थे), अपने तो कुछ नहीं, अपने श्रीमद् को पकड़ा, श्रीमद् अपने को अब हाथ पकड़कर तिरा देंगे। अपने कुछ जानने का नहीं है। ऐसा बोले, लो! ऐई! इसने तो बहुत सब सुना होगा न!

मुमुक्षु : बहुत ऐसा बोलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत बहुत। हाँ हाँ, बहुत बहुत ही। अपने कुछ नहीं, अपने तो एक श्रीमद् को धारा है, बस! अपने को तिराने की उन्हें चिन्ता—ऐसा बोले, ऐसा बोले।

मुमुक्षु : ढींग धणी धारयो (बड़े को सिर पर रखा)

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ढींग धणी कौन धारता था ? कहो, समझ में आया ? आहाहा! वीतरागी मार्ग, वह वीतराग से खड़ा होता है; पर की अपेक्षा बिल्कुल नहीं है। आहाहा! ऐसी तो बात!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई तिराता नहीं। साक्षात् भगवान बैठे हों तो क्या करे यहाँ ? उनके सामने देखने से तिरे, ऐसा है ?

अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुख के उपायों को जतलानेवाला है, तथा मोक्ष -सुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है,.. भाई! अब स्थिर होओ, स्थिर होओ अब। ऐसे स्थिर हुए बिना कहीं तेरी मुक्ति नहीं होगी। **इसलिए अपना (आत्मा का) गुरु आप (आत्मा) ही है।** लो! यह तो शब्दार्थ किया। **आप ही है।**

मुमुक्षु : एकान्त हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त ही है।

मुमुक्षु : अनेकान्त तो करो साहब।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर से नहीं होता, यह अनेकान्त। आहा!

विशदार्थ - यह आत्मा स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है,.. देखो, यहाँ से शुरु किया है। पहले साधारण भाषा कही थी। सत् कल्याण का वांछक पश्चात्... समझ में आया? उसे करते-करते यहाँ लाये। यह सत् की व्याख्या की। **मोक्ष सुखाभिलाषी होता है,..** एक ही पूर्णानन्द, राग से, पर से छूटा हुआ मोक्ष, उसके सुख का अभिलाषी।

मुमुक्षु : सत् कल्याण का अर्थ किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस! सत् कल्याण का अर्थ ही यह किया। '**स्वस्मिन् सदभिलाषित्वा**' यही है न। सत् अर्थात् मोक्ष। मोक्ष अर्थात् पर और स्व, उसमें पर से छूटकर स्व का अकेला रहना, इसका नाम मोक्ष। पहले से ही जिसे पर की कांक्षा है, उसे पर से छूटने की कांक्षा है ही नहीं। पहले से वहाँ अन्दर दूसरा रोग भरा है। आहाहा! उसमें कहते हैं गुरु क्या करे? केवली क्या करे? तू तेरा गुरु हो, तब तुझे समझ में आये, ऐसा कहते हैं।

स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है,.. मोक्ष के सुख की अभिलाषा। मुझे पूर्णानन्द आत्मा, रागरहित होना, ऐसी मेरी पूर्ण आनन्द की दशा की ही अभिलाषा है। कोई, दूसरी इच्छा बीच में नहीं है।

मुमुक्षु : पारसमणि तो सबको सोना बना दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बना दे। होनेवाला हो उसे। जंगवाले लोहे को नहीं होता। वह

तो उसकी अपनी योग्यता थी। कहेंगे, अभी कहेंगे, बहुत कहेंगे। अभी ३५ गाथा आयेगी।

तब सत् की यानि मोक्ष-सुख की हमेशा अभिलाषा करता रहता है,.. देखो! पहले अभिलाषा होती है और सत् की अर्थात् मोक्षसुख की हमेशा, **हमेशा अभिलाषा करता रहता है,..** इसकी विशेष व्याख्या की, **कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे।** मुझे तो पूर्णानन्द-राग से भिन्न पड़ने का सुख प्राप्त हो। अभी एक बोल की व्याख्या पूरी हुई। समझ में आया?

स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है, तब सत् की यानि मोक्ष-सुख की हमेशा.. हमेशा अर्थात् शाश्वत्, कहीं बीच में विच्छिन्नता आने न दे। कुछ पुण्य बँधे और कुछ ऐसे हो जाए और कुछ ऐसे हो जाए और कुछ ऐसे हो - तो उसे सत् की अभिलाषा नहीं है। **मोक्ष-सुख की हमेशा अभिलाषा करता रहता है, कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे। इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष-सुख के उपायों को जानना चाहता है,...** देखो! ऐसे जब स्वयं आत्मा मोक्ष अर्थात् परमानन्द की मूर्ति आत्मा, वह राग से पृथक् हुए आत्मा के आनन्द के उपायों को जानना चाहता है। देखो! (पहले) मोक्षसुख की अभिलाषा की, अब उसका उपाय और पश्चात् प्रवर्तन।

तब यह स्वयं मोक्ष के सुख के उपायों को जतलानेवाला बन जाता है.. स्वयं अपने को बतलाता है। गुरु ने कहा परन्तु स्वयं अपने को न जँचे तो? स्वयं अपने को जँचे, वह स्वयं अपना गुरु है। इस उपाय के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है, भाई! स्वरूप में अन्दर ढलना और बाहर से हटना तथा अन्तर में अन्तर प्रवर्तन करना, वही उपाय है। ऐसे स्वयं अपने को जतलावे, तब जतलानेवाला स्वयं अपना गुरु। दूसरे ने कहा परन्तु इसे जँचे नहीं (तो) उसमें क्या करना? अर्थात् (स्वयं) निश्चय गुरु हुआ, तब उस व्यवहार गुरु रूप से इसे आदर आया। ऐसे ऐसी शैली से गुलाँट मारते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसे से नहीं। निश्चय होवे तो उसे व्यवहार का ऐसा बहुमान का भाव आयेगा। परन्तु तू कहे, वह गुरु से उठेगा तो एक भी नहीं होगा।

मुमुक्षु : सीखने आया वहाँ बैठा देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सीखने आया नहीं, वह स्वयं सीखने और स्वयं को शिक्षा देने आया है।

मुमुक्षु : स्वयं को शिक्षा देने...

पूज्य गुरुदेवश्री : लेना है कहाँ? किसके पास से ले? आहाहा!

तब **जतलानेवाला बन जाता है कि यह मोक्ष-सुख के उपाय मुझे करना चाहिए।** देखा? मुझे मोक्ष के सुख का उपाय करना चाहिए, मुझे तो मोक्ष के सुख का उपाय करना चाहिए। दूसरा मुझे कुछ काम नहीं है, मुझे दूसरा कोई काम नहीं है। मुझे तो मोक्ष के सुख का उपाय करना। देखो, जानपना अधिक हो, कम हो, बोलना आवे, बोलना न आवे, समझाना (आवे, न आवे), वह सब बात एक ओर पड़ी रही। वजुभाई! आहाहा! ऐसा हो, उसे गुरु कहा जाता है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८ गाथा-३४-३५ गुरुवार, दिनाङ्क १२-०५-१९६६
वैशाख शुक्ल ८, वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश है। इसकी ३४वीं गाथा। फिर से विशदार्थ लो। देखो! आत्मा का आत्मा गुरु है, यह बात सिद्ध करते हैं। दूसरे तो निमित्तमात्र हैं। स्वयं को सत् की अभिलाषा न होवे तो सत् की अभिलाषा दूसरा कौन उत्पन्न कर सकता है? पहले से यह बात ली है, देखो!

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वाद है न? इसका स्पष्टीकरण। **यह आत्मा..** विशदार्थ, विशदार्थ इस ओर (है)। **स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है,..** अर्थात् क्या? संसार के किसी भी सुख की जहाँ जिसे इच्छा नहीं है और आत्मा की रागरहित पूर्ण शुद्ध दशा, ऐसा टिकनेवाला सत्स्वरूप, ऐसा जिसमें सत् आनन्द है, उसकी जिसे अभिलाषा है, वह अभिलाषा करनेवाला स्वयं जीव है। कोई कुछ गुरु आदि करा नहीं देते। इसे ही इस सत् शाश्वत् सुख की जिज्ञासा-कांक्षा न हो (तो) दूसरा कौन कर सकता है? अन्दर में इस जगत के सुखों की अभिलाषा रहा करे, किसी इज्जत की, कीर्ति की, विषय की,

देव की और पुण्य की, अधिक होने की, बाहर में महिमा प्राप्त करने की—ऐसी जिसे अभिलाषा है, उसे ज्ञानी क्या कर सकते हैं ? सत् अभिलाषा बना किस प्रकार सकते हैं ? समझ में आया ?

जिसे अन्तर में ही मिठास (चलती है) पर सुख-संसार के सुख इज्जत-कीर्ति जिसमें सुख नहीं है, उसमें ही जिसे प्रीति पड़ी है, वह सत् सुख का अभिलाषी स्वयं हुए बिना दूसरा उसे कौन करा दे ? समझ में आया ?

आत्मा स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी.. यहाँ यह व्याख्या की है। 'सत्' शब्द पड़ा है न ? **सदाभिलाषित्वाद** सत् की अभिलाषा। सत् की अभिलाषा का अर्थ- आत्मा का जो आनन्द पूर्ण प्राप्त हो, ऐसा मोक्ष, वह सत्सुख है, वह सत्पना है। इसके अतिरिक्त सब चार गति, देव, स्वर्ग, इज्जत, कीर्ति सब दुःखरूप है, दुःख का कारण है। ऐसी जिसे अन्तर में सत् की अभिलाषा न हो, उसे गुरु आकर क्या कर दे ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

सत् की अभिलाषा शाश्वत् रहनेवाला सुख अर्थात् मोक्ष। अर्थात् कि आत्मा पर से पृथक् पड़कर अपनी पूर्ण आनन्ददशा को प्रगट करे, ऐसी आनन्ददशा, वह सत्सुख है। ऐसे सत्सुख की अभिलाषा करनेवाला तो आत्मा स्वयं है। या कोई करा दे ? इसलिए सत्सुख की अभिलाषा करनेवाला स्वयं स्वयं का गुरु है।

भाई ! अब असत्सुख की कल्पना में अनन्त काल व्यतीत किया। जिसमें कहीं धूल भी सुख नहीं। स्वर्ग में, इज्जत में, कीर्ति में, पैसे में, स्त्री में, शरीर की अधिकाई में, इज्जत की, पैसे की, अमलदार अधिकारी में (कहीं सुख नहीं है)। सत्सुख तो शाश्वत् आनन्द मोक्ष है। जिसे अन्दर में मुक्तस्वरूप ऐसा जो सुख, उसकी जिसे अभिलाषा है, वह तो उसका करनेवाला वह जीव स्वयं है। लाख उपदेश दे, परन्तु वह अभिलाषा न करे तो कौन करा दे उसे ?

मुमुक्षु : देखा नहीं तो बतावे किस प्रकार ?

पूज्य गुरुदेवश्री : देखा नहीं। इसने नहीं देखा था। ऐसी जब भावना करे, तब वह निमित्त कहलाता है, ऐसा कहते हैं। एक ही बात उसे सत्सुख, सत्सुख; असत् सुख

कल्पना का सुख, चार गति का (सुख), उस सुख की जिसे अभिलाषा टूट गयी है और सत् शाश्वत् ज्ञान पूर्ण शुद्ध चैतन्य मुक्त (स्वरूप) के सुख की जिसे अभिलाषा हुई है। '**स्वस्मिन्**' स्वयं को स्वयं के द्वारा। कहो, समझ में आया?

तब सत् की यानि मोक्ष-सुख की हमेशा अभिलाषा करता रहता है,.. तब वह सत् अर्थात् मोख-सुख। सत् का अर्थ ही मोक्ष-सुख; बाकी सब नाशवान हैं। पैसा, इज्जत, कीर्ति, धूल, स्वर्ग, नरक, महत्ता, अमल अधिकारी, शरीर सुन्दरता, इस मान में अधिक और बड़ा सब धूल धमाका है। उसकी जिसे उद्वेगता हुई, वैराग्य हुआ है और सत्सुख की जिसे अन्तर में अभिलाषा हुई है, वह सत्-मोक्षसुख की हमेशा **हमेशा अभिलाषा करता रहता है,..** बारम्बार उसकी अभिलाषा (करता है)। काँक्षा है न? समझ में आया? अभिलाषा शब्द पड़ा है। एक ही पूर्ण आनन्द.. पूर्ण आनन्द.. पूर्ण आनन्द.. स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र मोक्ष-सुख की हमेशा भावना करे। एक बात (हुई)।

कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे। मुझे तो मेरा मोक्ष का सुख, मेरा मोक्ष का सुख मुझे प्राप्त होओ। यह बात जिसे हृदय में बैठी है, वह आगे उपाय खोजकर उसका प्रवर्तन करेगा। कहो, समझ में आया?

इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष-सुख के उपायों को जानना चाहता है,.. लो! स्वयं जानना चाहता है। लाख समझाये दूसरा क्या करे? दृष्टान्त कहेंगे। कोई बगुले को तोता की तरह समझाया जा सकता है? बगुले को। बगुला होता है न? बड़ा मछली मारनेवाला। उसे तोता की तरह समझाया जा सकता है? तोता तो अभी ऐसा कहे, भाई! ऐसा है। तोता तो सीखता है, उसकी योग्यता है। बगुले को समझाया जा सकता है? इसी प्रकार जिसे मोक्ष के सुख की अभिलाषा नहीं है, उसके उपाय को जानने का प्रयत्न नहीं करता, उसे दूसरा क्या करे? समझ में आया? जहाँ-तहाँ झपट्टे मारे, त्यागी होओ, साधु होओ, ब्रह्मचारी होओ परन्तु झपट्टे (डाले)। यहाँ सुख, यहाँ से आयेगा, यह मुझे बड़ा करेगा, यह मुझे बड़ा मानेगा, यह सब अभिलाषा संसार के सुख की मिथ्यात्व की है। समझ में आया? अकेला मेरा स्वतन्त्र मोक्ष का सुख, वही जिसे हमेशा अभिलाषा है और उसके उपाय को जानने के लिए प्रयत्नवान है। तब उसका उपाय क्या? अब उसका उपाय क्या? देखो, समझ में आया?

जब स्वयं आत्मा.. अपने आप आत्मा **मोक्ष-सुख के उपायों को जानना चाहता है,..** लाख उपदेश ऊपर दे परन्तु वह ठिकाने बिना का हो, उसे जरा भी वह आगे चलता है कहीं? समझ में आया? यह तो उसे वही हो या तो उसमें ऐसे मिलेगा, या तो ऐसा होगा, पुण्य करूँगा और फिर स्वर्ग होगा और फिर यह होगा और यह बड़ा होगा और लड़का अच्छा होगा और... धूल में अज्ञानी वहीं का वहीं लगा है। अब ऐसे मूढ़ को कहते हैं कि बगुले को समझाया जा सके तो उसे समझाया जा सके। कहो, समझ में आया? वह स्वयं जानकर मोक्ष के उपाय को स्वयं जानना चाहता है। **जानना चाहता है,..** है न?

अभीष्टज्ञापकत्वतः

तब यह स्वयं मोक्ष के सुख के उपायों को.. मोक्ष के सुख के उपायों को **जतलानेवाला बन जाता है..** कहो, स्वयं स्वयं को बतलानेवाला बन जाता है। अरे! आत्मा! अन्यत्र कहीं तुझे सुख नहीं है। उस सुख के उपाय तू खोज, तुझे कोई दे देवे, ऐसा नहीं है। समझ में आया? अनन्त तीर्थंकरों के समवसरण में गया, क्या करे? तीर्थंकर दे देवे, ऐसा है? आहाहा! समझ में आया? पढ़ा ग्यारह अंग और नौ पूर्व, इससे क्या हुआ? अन्तर का शल्य डाला, निकाला नहीं। पर में सुख की मिठास का शल्य छोड़ा नहीं, और सत् के उपाय खोजने को जानपना किया नहीं।

स्वयं मोक्ष के सुख के उपायों को.. स्वयं इसे बताता है, भाई! परम आनन्द तो मेरी पूर्ण शुद्धदशा में है, इसलिए उसका उपाय क्या? वह उपाय जानने को स्वयं आत्मा प्रयत्न (करता है)। स्वयं जानने का प्रयत्न करता है, इसीलिए स्वयं स्वयं का गुरु है। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा! **इसी तरह अपने आपको मोक्ष-उपाय में लगानेवाला भी वह स्वयं हो जाता है..** लो! प्रवर्तन करनेवाला भी स्वयं है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसमें पूर्ण आनन्द है, उसका विश्वास करने के लिए वह स्वयं ही प्रवर्तता है। भगवान आत्मा में आनन्द है, उसका ज्ञान करने के लिए स्वयं ही प्रवर्तता है और उसमें स्थिर करने को स्थिरता स्वयं प्रवर्तता है। उसमें दूसरा कौन कर दे, ऐसा है? कहो, चन्दुभाई! आहाहा! इस दुनिया को-बहुतों को समझावे, उसमें से कुछ भाग (हिस्सा) मिलता है या नहीं थोड़ा?

मुमुक्षु : दसवाँ भाग।

पूज्य गुरुदेवश्री : दसवाँ भाग ये गरासिया कहते थे। धूल में नहीं मिलता, सुन न अब। तेरे मोक्ष का प्रवर्तन तेरे पास है। वाणी उठे, वह कहाँ तेरी है ? और विकल्प उठे, उससे उपाय कहाँ है ? समझ में आया ?

कहते हैं **अपने आपको मोक्ष-उपाय में लगानेवाला..** श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र अपने में करनेवाला। मुझसे वे होते हैं। किसी विकल्प से, वाणी से, दूसरे को समझाने में रुकूँ तो उसमें से थोड़ा लाभ मुझे मिले, वह मोक्ष का उपाय है ही नहीं।

मुमुक्षु : अपना ध्यान धरे...

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्यान धरे, वह तो अपनी एकाग्रता अपनी है, पर की ऐसी बात कहाँ है ? पर के लिए कहाँ था ? कहो, समझ में आया ? इसका झुकाव स्वयं शुद्ध चैतन्य ज्योति है, उसका विश्वास, उसका ज्ञान, उसकी लीनता स्वयं अपने में करनेवाला है। उसमें पर की अपेक्षा रही कहाँ ? समझ में आया ? यह तो व्यवहार से लोगों को बातें करते हैं।

हीराजी महाराज थे न ? (उन्होंने कहा था)। हम तो वाँचने-वाँचने नहीं निकले, अपने को वाँचने का नहीं कहना परन्तु इतनी इज्जत, ऐसा रूपवान शरीर, ऐसी वाणी और यह सब लोग पढ़ो-पढ़ो कहते हैं। मैं पढ़ने (प्रवचन करने) नहीं निकला। मैं तो मेरा करने के लिए निकला हूँ। फिर वे ऐसे बोलते थे, तुम्हें पढ़ते-पढ़ते तर्क उठेंगे, ऐसा होगा। रामजीभाई कहते। अकेले बैठे-बैठे.. दीक्षा लेकर दो वर्ष की बात है, हों! (संवत्) १९७१-७२ की (बात है)। मैंने कहा, मैं तो मेरा करने (निकला हूँ)। दुनिया क्या करे, उसका अपने को कुछ काम नहीं है, हम तो हमारा करनेवाले हैं। यह तो आ पड़ा यह वापस। यह तो आ पड़ा। विकल्प और वाणी, यह कहाँ आत्मा की है ? आहाहा!

हमारे वे हीराजी महाराज मीठे बहुत थे, हों! ऐसा कहे - भाई! तू एक ओर बैठकर पढ़ता है, तुझे जानपना होता है, बात सत्य है। समझे न ? उन्हें नहीं था (समझ में आता) ऐसा कितना ही उसमें से मैं कहता, इसलिए उन्हें लगता कि भाई! बात सत्य। व्याख्यान में पहले सूत्र मुझसे पढ़वाते, परन्तु व्याख्यान होगा तो बहुत तर्क उठेंगे। कौन इनकार

करता है, कौन बैठता है, कौन ऐसा कहता है, इसलिए उसमें से तर्क उठकर.. ऐसा कहते थे। समझाने के लिए वहाँ यह ज्ञान स्पष्ट होता होगा? ऐई! समझ में आया? आहाहा!

भगवान स्वयं ही यहाँ तो कहते हैं कि अपना दर्शन, अपना ज्ञान और अपने चारित्र के प्रवर्तन का उपाय स्वयं करता है। आहाहा! विकल्प आया और वाणी हो तो यह प्रवर्तन है और दुनिया माने तो यह प्रवर्तन हो, ऐसा है नहीं। आहाहा! वाह! तीन बोल रखे हैं, देखो न! गाथाएँ भारी ऊँची! एकदम सत् अभिलाषी। सीधा शब्द ही प्रयोग किया है। सत् अर्थात् शाश्वत् सुख का ही अभिलाषा, ऐसा कहते हैं। इस दुनिया की लप में कहीं बड़प्पन, कहीं अधिकाई, कहीं यह, कुछ यह, कुछ पदवी मिलेगी, कुछ बड़ा होऊँगा, कहीं मेरा गुरुपद रहेगा, शिष्य अधिक होंगे और मेरा नाम रहेगा। मूढ़ है। आहाहा! तुझे सत् के सुख की अभिलाषा नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा अपने दर्शन-ज्ञान और चारित्र का प्रवर्तन जाने और स्वयं प्रवर्तन करे। कहो, **लगानेवाला भी वह स्वयं हो जाता है..** या कोई लगा दे? गुरु लगा दे न?

मुमुक्षु : लगावे नहीं, सहारा दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिया सहारा। यह अब दृष्टान्त देंगे।

इस सुदुर्लक्ष मोक्ष सुखोपाय में.. स्वयं स्वयं को ही कहते हैं, देखो! अहो! सुदुर्लभ मोक्ष सुखोपाय। मोक्ष के सुख का उपाय महादुर्लभ है। **हे दुरात्मन् आत्मा!** स्वयं स्वयं को कहते हैं। अरे! ऐसा समय मिला, भाई! किसका इन्तजार करना है? तुझे किसके सामने देखना है? इतने माने और इतने हों और इतना हो तो (अच्छा)। परन्तु तुझे उससे काम क्या है? समझ में आया?

मुमुक्षु : ऐसा अवसर मिला।

पूज्य गुरुदेवश्री : अवसर मिला, इसलिए आत्मा का कर ले, ऐसा। यहाँ अन्तर आत्मा का योग मिला वह।

हे दुरात्मन् आत्मा! तुम आज तक अर्थात् अभी तक भी प्रवृत्त नहीं हुए। अभी तक भी प्रवृत्त नहीं हुए। इस विपरीत में प्रवर्तित हुआ, अभी तक सत्य में प्रवर्तित नहीं हुआ। अपना सच्चिदानन्दस्वरूप, जिसमें से मोक्ष का उपाय और मोक्ष निकलता है,

उसमें अभी तक तो तूने प्रवर्तन नहीं किया। अन्तर्लक्ष्य नहीं दिया, बाहर लक्ष्य में भटकता रहा, ऐसे स्वयं अपने को कहते हैं। आहाहा!

हे दुरात्मन् आत्मा! तुम आज तक अर्थात् अभी तक भी प्रवृत्त नहीं हुए। भगवान आत्मा सत्सुख का अभिलाषी, उसके उपाय का ज्ञान किया और स्वयं किया प्रवर्तन। प्रवर्तन में स्वयं अपने को शिक्षा देता है, भाई! तूने तेरे चैतन्य के स्वभाव सागर को देखने के लिए समय तुझे नहीं मिला। तुझे समय नहीं मिला। भाई! तूने समय नहीं लिया। देखो! इसमें कुछ कर्म के कारण.. यह बात नहीं है, हों! नहीं? कर्म के कारण तू भटका है और अमुक के लिए नहीं कर सका, यह बात नहीं है। कर्ता होकर तूने पर में सुखरूप बुद्धि रखी थी। वह तू कर्तारूप से आत्मा में मोक्ष का सुख है, उसकी अभिलाषा कर। दूसरे कर्म-फर्म की बात यहाँ नहीं है। आहाहा! अरे! वे चिल्लाहट मचाते हैं, कर्म ऐसा हो, कर्म मार्ग दे तो ऐसा हो। अरे! भगवान! तुझे करना क्या है? भाई! तू ही स्वाधीनता को छोड़कर पराधीन (हुआ है)। ऐसा करके (कहते हैं कि) मैं अब स्वाधीन होऊँ। पराधीन मैं होता था, मुझे कोई पराधीन करता नहीं था। आहाहा!

आठ-आठ वर्ष के राजकुमार अविवाहित और बिना संसार के अनुभव किये हुए जब ऐसे चल निकलते हैं। वैराग्य.. वैराग्य.. वैराग्य.. अरे! हमारा सुख तो हमारे पास है और हमारे उपाय से है। हमारा सुख तो हमारे पास और हमारे उपाय से है। बाहर में नहीं और बाहर के उपाय से वह नहीं। आहाहा! चाहे जैसी सुविधा या दुविधा बाहर की हो। सुविधा मेरा स्वभाव, दुविधा मेरी विपरीतता, दूसरी कोई चीज़ है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं अरे! **मोक्ष सुखोपाय में अभी तक भी प्रवृत्त नहीं हुए।** जहाँ-जहाँ कहीं न कहीं अन्त में पुण्य का भाव हो, उसमें भी मुझे सुख है, उससे मुझे परम्परा से सुख मिलेगा। अरे! आत्मा! तू अनन्त काल से अटका है। इस प्रकार स्वयं को शिक्षा देता है। आहाहा! **इसलिए स्वयं ही आत्मा अपने कल्याण का चाहनेवाला,..** देखो। **इस प्रकार अभी तक न प्रवर्तनेवाले आत्मा का प्रवर्तक भी हुआ करता है।** स्वयं प्रवर्तक होता है। स्वयं सुख के उपाय के मार्ग में प्रवर्तक नहीं था, वह स्वयं सुख के मार्ग में प्रवर्तक होता

है। जिस मार्ग में प्रवर्तक नहीं था, वह होता है, वह उसका गुरु है। दूसरा कहाँ प्रवर्तन करा दे, ऐसा है? कहो, मगनभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : आज तो स्वाध्यायमन्दिर के उद्घाटन का दिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो सदा ही आत्मा का उद्घाटन है। आहाहा! यहाँ तो उद्घाटन है। यह आत्मा प्रभु! अहो! जिसे सुख की छटपटाहट, मोक्ष की अर्थात् अपने सुख की, ऐसा। मोक्ष की, सुख की अर्थात् अपने सुख की जिसे छटपटाहट है और उस सुख के उपायों को खोजता है और उस शोधन में प्रवर्तता है। वह स्वयं तीनों काम करता है। कहो, हरिभाई! इसमें गुरु क्या करे? ऐसा कहते हैं। तीर्थंकर होवे तो क्या करे? वहाँ साथ में खड़े रहे। अतिशयता डाले ऐसा है कुछ?

मुमुक्षु : नाम तो तीर्थंकर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीर्थंकर है अर्थात्? निमित्त है। यहाँ (अपना काम) करे तो (निमित्त है)। ऐसा कहते हैं। तू प्रवर्तन करे तो वे निमित्त कहलाते हैं। प्रवर्तन प्रवर्तानेवाले, तीर्थ के करनेवाले अर्थात् तीर्थ तो अपने स्वरूप में करनेवाले हैं, ऐसा अर्थ किया है। कहाँ? प्रवचनसार में पहली गाथाओं में है न! स्वयं अपने उपाय के करनेवाले हैं। यहाँ तो स्वतन्त्रता के उपाय बिना, बापू! तुझे कहीं से सुख मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसलिए स्वयं ही आत्मा अपने कल्याण का चाहनेवाला,.. तीन बोल में योगफल करते हैं। इसलिए स्वयं अपने कल्याण को चाहनेवाला.. कल्याण कहो, सत् कहो, मोक्ष का सुख कहो। **अपने को सुखोपाय बतलानेवाला..** वह उपाय यह है, हों! भाई! दूसरा उपाय नहीं है। इस मोक्षसुख के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उपाय है; दूसरा उपाय नहीं है। लाख दूसरी बात कर, वह उपाय नहीं है। ऐसे स्वयं अपने को बताते हैं।

स्वयं ही आत्मा अपने कल्याण का.. आ गया। **और सुखोपाय में प्रवृत्ति करनेवाला होने से अपना गुरु है।** देखो! बहुत सरस बात है। इसे सुख अर्थात् आत्मा में सुख है। उसका झुकाव ही अन्दर मुड़ गया है। ऐसा जो मानता था कि यह पुण्य करूँ और ऐसा करूँ और बड़ा करूँ और बड़ा हो और यह पदवी, इसमें हो तथा यह मिले, (यह) सब भ्रमणाबुद्धि बहिरात्मा की है। समझ में आया? उसे अनादि से गहरे-गहरे

मिठास ही यह पड़ी है। भले फिर शास्त्र के बहाने हो, कथन के बहाने हो, दूसरों को समझाने के बहाने हो, पुस्तक बनाने के नाम से हो, आचार्य नाम धराने के बहाने हो। उसमें मिठास (रह जाती है)। आत्मा स्वतन्त्र आनन्द का धारक, उसका सुख स्वतन्त्र है, उसकी अभिलाषा, उसका ज्ञान और उसका प्रवर्तन इसने एक समय कभी किया नहीं। आहाहा! समझ में आया? माना हुआ अवश्य, माना हुआ अवश्य भ्रमणा से (कि) हम करते हैं, नहीं करते? करते हैं। करता हो विपरीत और (मानता है) करते हैं। वह कौन इसे बतावे, ऐसा यहाँ कहते हैं। वह किससे प्राप्त करे? कहो, भूल जाने कौन? आहाहा! समझ में आया? लो! ये तीन करे, वह गुरु कहलाये। यह आत्मा, आत्मा का स्वयं का करता है।

दोहा – आपहिं निज हित चाहता, आपहि ज्ञाता होय।
आपहिं निज हित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय।।३४।।

लो! अपने हित की प्रेरणा स्वयं करे। अरे! आत्मा! आहाहा! चार गति के दुःख से तुझे कमर टूटी नहीं अभी? तुझे दुःख कठोर नहीं लगते? और तुझे सुख की अभिलाषा आत्मा के आनन्द की (अभिलाषा) नहीं है। भाई! बहुत झपट्टे मारे, तूने अनन्त काल से, भाई! कहीं सुख है नहीं। इस प्रकार स्वयं अपने को प्रेरित कर प्रवर्तन करता है। आहाहा!

आपहिं निज हित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय। स्वयं अपना गुरु होता है, दूसरा कोई हो नहीं सकता। कहो समझ में आया?

यहाँ पर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरों की क्यों सेवा करनी होगी? बस जब आपस में खुद का खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकों की सेवा मुमुक्षुओं को नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा मानने से अपसिद्धान्त हो जाएगा। ऐसे बोलनेवाले शिष्य के प्रति आचार्य जवाब देते हैं–

नाऽज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाऽज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्।।३५।।

अर्थ – तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के अयोग्य अभव्य आदिक जीव, तत्त्वज्ञान को धर्माचार्यादिकों के हजारों उपदेशों से भी नहीं प्राप्त कर सकता है, जैसा कि कहा गया है ''स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ०''

''कोई भी प्रयत्न कार्य की उत्पत्ति करने के लिये स्वाभाविक गुण की अपेक्षा किया करता है। सैकड़ों व्यापारों से भी बगुला तोते की तरह नहीं पढ़ाया जा सकता है।''

इस तरह तत्त्वज्ञानी जीव, तत्त्वज्ञान से छूटकर हजारों उपायों के द्वारा भी अज्ञत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि कहा गया है – ''वज्रे पतत्यपि०''

''जिसके कारण भय से घबराई हुई सारी दुनियाँ मार्ग को छोड़कर इधर उधर भटकने लग जाय, ऐसे वज्र के गिरने पर भी अतुल शांतिसम्पन्न योगिगण योग से (ध्यान से) चलायमान नहीं होते। तब ज्ञानरूपी प्रदीप से जिन्होंने मोहरूपी महान् अन्धकार को नष्ट कर दिया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव क्या शेष परीषहों के आने पर चलायमान हो जायँगे? नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं हो सकते हैं।''

यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा? इसके विषय में जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं, वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन में सिर्फ निमित्तमात्र हैं। वास्तव में किसी कार्य के होने व बिगड़ने में उसकी 'योग्यता' ही साक्षात् साधक होती है। जैसे एक साथ गतिरूप परिणाम के लिये उन्मुख हुए पदार्थों में गमन करने की शक्ति न होवे तो उनमें किसी के द्वारा भी गति नहीं की जा सकती। धर्मास्तिकाय तो गति कराने में सहायकरूप द्रव्यविशेष है। इसलिए वह गति के लिये सहकारी कारणमात्र हुआ करता है। यही बात प्रकृत में भी जाननी चाहिए। इसलिए व्यवहार से ही गुरु आदिकों की सेवा, सुश्रूषा आदि की जानी चाहिए।।३५।।

दोहा – मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्त मात्र पर जान, जिमि गति धर्मतें होय।।३५।।

गाथा - ३५ पर प्रवचन

तब शिष्य का प्रश्न उठा **यहाँ पर शिष्य आक्षेप सहित कहता है..** शिष्य आक्षेप करता है। महाराज! तुमने तो सब उड़ा दिया। गुरु की सेवा, धर्माचार्य की सेवा, सब तुमने उड़ा दिया। **इस तरह तो अब अन्य दूसरों की क्यों सेवा करनी होगी?** हो गया, गुरु के पास सुनना और गुरु से ज्ञान होता है, यह सब बात आपने उड़ा दी तो, कहो!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समझे, तब उसे कहे। व्यवहार तब कहलाता है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। तूने किये बिना दूसरे को निमित्त किस प्रकार कहना?

दूसरों की क्यों सेवा करनी होगी? बस जब आपस में खुद का खुद ही गुरु बन गया,.. लो! **जब आपस में खुद का खुद ही गुरु बन गया,..** किसी का काम आवश्यक नहीं, हो गया जाओ, गुरुदेव उस ओर रखे रहे। **तब धर्माचार्यादिकों की सेवा..** धर्माचार्य आदि, समझे न? सेवा आदि में सब आता है। सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, साधर्मी का संग करना, सेवा करना। लो! प्रवचनसार में तो ऐसा आता है—सत्समागम से लाभ होता है। लो! ठण्डा पानी रखना हो ठीक से, ठण्डी जगह हो उसके खुले में रखना और बहुत ठण्डा करना हो तो आईसक्रीम (बर्फ) डालना, उसमें बर्फ डालना। शीतल.. शीतल.. शीतल.. हो जाएगा। बाहर रखे तो ठण्डक होती होगी? राजकोट में बाहर रखा था। चौक में नहीं रखा था? परन्तु गहरी थी बड़ी कोठी। गहरी कोठी थी तो ठण्डा रहता था। ऊपर लकड़ी ढाँकते थे। मन्दिर के सामने पड़ी थी। परन्तु कहते हैं कि बहुत शीतल रखना हो तो एक तो मानो कमरा ठण्डा हो, उसमें रखना। उसमें भी उसके कोने में। समझे न? और उसमें भी.. ठण्डा, उसमें और थोड़ा सा बर्फ डालना। ऐसे अच्छे सत्समागम से ऐसा हो, ऐसा आता है। यह सब बातें निमित्त की है। आहाहा! तेरा समागम करने का भाव है, उस भाव की बात वहाँ करते हैं।

कहते हैं, ऐसे **धर्माचार्यादिकों की सेवा मुमुक्षुओं को नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, कि हाँ ऐसा तो है ही,..** महाराज! ऐसा नहीं कहना तुम्हारे

से, हों! ऐसा नहीं कहा जाता। दूसरों की सेवा नहीं करनी, ऐसा तुम्हारे से नहीं कहा जाता। **कारण कि वैसा मानने से अपसिद्धान्त हो जाएगा।** थोड़ी गड़बड़ी हो जाएगी। कोई किसी की सेवा नहीं करेगा, किसी की सुनेगा नहीं, गुरु के पास जाएगा नहीं, कुछ नहीं, स्वच्छन्द हो जाएगा। ऐई, न्यालभाई!

मुमुक्षु : मन्दिरों में ताला लगाना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्दिर में ताला लगाना पड़ेगा, लो! अरे! भगवान!

ऐसे बोलनेवाले शिष्य के प्रति आचार्य जवाब देते हैं– लो! **आपस में खुद का खुद ही गुरु बन गया,..** धर्माचार्य की सेवा करना नहीं? नहीं, नहीं करना। ऐसा तुम्हारे से नहीं कहा जाता। ऐसा कहने से अपसिद्धान्त हो जाएगा। (ऐसा) शिष्य का आक्षेप है, हों!

नाऽज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाऽज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्।।३५।।

महासिद्धान्त। यह ३५वीं गाथा निमित्तवादियों के लिए बड़ी गाथा है। क्या अर्थ करते हैं?

मुमुक्षु : निमित्त तो चाहिए या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु निमित्त यहाँ कहाँ प्रश्न है यह? यहाँ कहेंगे अभी स्वयं परिणमे, तब धर्मास्ति होता है। स्वयं गतिरूप से परिणमे, तब धर्मास्ति हो, उसमें उसे आधीन कहाँ रहा यह? यह कहेंगे देखो! यहाँ। अर्थ, इसका अर्थ। बस, अर्थ ही है, हों! विशदार्थ नहीं किया।

अर्थ–तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के अयोग्य.. गुरु यह शिष्य को जवाब देते हैं। इस तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के **अयोग्य अभव्य आदिक जीव,..** लो! अभव्य हो। लाख समझाओ, करोड़ समझाओ, जिसका जहर पड़ा है, उसे दूध पिलाओ तो फिर जहर हो जाएगा।

मुमुक्षु : दृष्टान्त दिया है अभव्य का।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अभव्य आदि डाला है न? समझ में आया? अभव्य आदि।

'**विज्ञत्वं**' आदि शब्द है। संस्कृत है। अभव्य आदि। वापस अभव्य का मुख्य दृष्टान्त। अभव्य को लाख समझावे तो भी एक भी कण वहाँ बदलता नहीं। उसकी योग्यता नहीं, वहाँ दूसरा क्या करे ? वह कहे, मुझे समझाते नहीं, इसे समझाते हैं। समझ में आया ? परन्तु तुझमें सामर्थ्य बगुले जैसी है, उसे तोता किस प्रकार कराया जाए ? तोता किस प्रकार करना उसे ? समझ में आया ? दृष्टान्त कैसा दिया वापस ! बगुले का—मछली मारनेवाले का। ऐसी योग्यता हो, उसे तोता करना !

अभव्य आदिक जीव,.. देखो ! आदि अर्थात् सब दूसरे भव्य भी लेना, हों ! जिनकी पात्रता ही नहीं, जिन्हें अन्तर समझने की दरकार ही नहीं, जिन्हें स्वयं को पर से भिन्न पड़ने का वैराग्य ही नहीं। अपने स्वभाव की अस्ति क्या है, उसकी रुचि ही नहीं, उसे दूसरा करे क्या ? कहो, समझ में आया ? उसके बहाने वह दूसरा पूछेगा। ...हमारे हुए। तुम्हें पूछना चाहिए, तुम्हें हमारी सम्हाल बराबर रखनी चाहिए, हम बड़े हैं, चाहे जैसे भी हम त्यागी हैं। किसके त्यागी ? समझ में आया ? कोई ब्रह्मचर्य पालन करता हो या किंचित् थोड़ा त्याग किया (होवे कि) अमुक नहीं खाना, दाल और... समझे न ? रोटी और छाछ खाता हो। हमारी कुछ कदर करना तुम्हें। अभी तो दुनिया के पास यह चाहते हैं। आहाहा ! तुझे कदर तेरे पास करानी है या किसी के पास करानी है ? ऐसे जीव को लाख बात सुनाओ तो वह समझेगा नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

तत्त्वज्ञान को धर्माचार्यादिकों के हजारों उपदेशों से भी.. देखो ! **तत्त्वज्ञान को..** आत्मज्ञान को **धर्माचार्यादिकों के हजारों उपदेशों..** आचार्य आदि के हजारों उपदेश। ऐसा। धर्माचार्य, समकिती, ज्ञानी आदि के हजारों, लाखों, अनन्त **उपदेशों से भी नहीं प्राप्त कर सकता है,..** चाहे जैसा उपदेश दो तो भी उसकी योग्यता नहीं, उसमें करे क्या ? देखो ! यह निमित्त और उपादान का झगड़ा यहाँ छोड़ देते हैं। **जैसा कि कहा गया है ''स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ०''**

कोई भी प्रयत्न कार्य की उत्पत्ति करने के लिये स्वाभाविक गुण की अपेक्षा किया करता है। देखो ! **कोई भी प्रयत्न..** कार्य की उत्पत्ति करने के लिए **स्वाभाविक गुण की अपेक्षा किया करता है।** उसमें स्वाभाविक गुण की अपेक्षा कार्य के लिए होती

है। दूसरा अनुकूल निमित्त मिलता है, इसलिए कार्य होता है, ऐसा है ही नहीं। आहाहा! **कोई भी प्रयत्न..** अर्थात् पुरुषार्थ **कार्य की उत्पत्ति करने के लिये..** कार्य की उत्पत्ति करने के लिए स्वाभाविक गुण की अपेक्षा (रखता है)। **स्वाभाविक गुण की अपेक्षा किया करता है।** समझ में आया? उसका स्वाभाविक गुण चाहिए। जो कार्य का प्रयत्न करे, उसका स्वाभाविक गुण चाहिए न? स्वाभाविक गुण न हो तो कुछ नहीं कर सकता।

सैकड़ों व्यापारों से भी बगुला तोते की तरह नहीं पढ़ाया जा सकता है। लाख प्रयत्न कर, बगुला कहीं तोते की तरह पढ़ सकेगा? समझ में आया? कहो, तोता समझता है, उसकी उस प्रकार की ताकत है। बगुले को? उसे तो मछली मारना आता है। बगुले को पाठ पढ़ाया जा सकता होगा? आहाहा! जिसमें जो कुछ कार्य का प्रयत्न करे, उसमें उसमें उस उस गुण की स्वाभाविक आशा रखते हैं, स्वाभाविकता उसमें होवे तो वह कार्य होता है। जिस गुण की आशा उसमें हो, वह होगा या पर के कारण होवे तो होगा?

मुमुक्षु : निमित्त आवे तो इसमें हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात भी कब थी? इसलिए तो यह धर्मास्तिकाय का दृष्टान्त दिया है। धर्मास्तिकाय है, अधर्मास्ति भी है। स्वयं गति (रूप से) परिणमित हुआ, तब धर्मास्ति निमित्त कहा। हो गया। उसमें सिद्धान्त ही एक आया। ऐसे स्वयं अपनी पात्रता से सम्यग्ज्ञान-दर्शन आदि से परिणमित हुआ, तब गुरु को निमित्त कहने में आया। वह तो स्वयं से हुआ है, अपने गुण के स्वाभाविक प्रयत्न से हुआ है। **स्वाभाविक गुण की अपेक्षा किया करता है।** कोई भी कार्य का स्वाभाविक उसमें गुण न हो तो इसका प्रयत्न क्या काम आवे? आहाहा! **सैकड़ों व्यापारों से भी बगुला..** देखो!

स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ, क्रियागुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनापि-शुकवत्पाठयते वकः।

बगुले को कुछ सिखलाते होंगे? आहा! दृष्टान्त कैसा दिया है! बगुला सामने बैठा हो और उसे सिखलावे तो भी शर्म लगे। तोता तो अभी बैठा हो और तो भी (सिखलावे)। उसका तो बैठने का भी ठिकाना नहीं है। ऐसा मुँह करके बैठा हो, तोता तो ऐसे बैठा हो। समझ में आया? कितनी स्पष्ट बात करते हैं!

इस तरह तत्त्वज्ञानी जीव,.. जिसे तत्त्वज्ञान हुआ है उसे, **तत्त्वज्ञान से छूटकर हजारों उपायों के द्वारा भी अज्ञत्व को प्राप्त नहीं कर सकता।** ठीक! उस अज्ञ को ज्ञान नहीं कराया जा सकता और ज्ञानी को अज्ञानी नहीं किया जा सकता, ऐसा कहते हैं। क्या कहा? अज्ञ है अर्थात् भानरहित बगुले जैसा है, उसे कोई समझा नहीं सकता। वह तो उसकी समझने की योग्यता से समझता है और समझा हुआ है, समझने की पात्रता से समझा है। **हजारों उपायों के द्वारा भी अज्ञत्व को प्राप्त नहीं कर सकता।** उसे इस प्रकार भूल में डाल दूँ कि उसे अज्ञान (हो जाए), (ऐसा) तीन काल में नहीं हो सकता। जो बात आत्मा में सम्यक्त्व से बैठी है, उस बात को करोड़-हजारों प्रतिकूल उपाय या दूसरे से करो तो वह बदलेगा नहीं। क्या बदले? तीन काल में बदलता होगा कुछ? आहाहा! समझ में आया? मुझे उसने ऐसा किया, मुझे उसने ऐसा किया, ऐसी ही देखने की अज्ञानी की आदत पड़ी है।

मुमुक्षु : टेढ़ा ही देखा करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विपरीत दृष्टि है न उसकी।

यहाँ तो कहते हैं, ज्ञानी को लाख-करोड़ उपाय दूसरे करो अज्ञान करने के, नहीं कर सकेगा। तीन काल में ज्ञानी का ज्ञान बदल नहीं सकेगा। और अज्ञानी को ज्ञानी बना नहीं सकेगा। लो! यहाँ तो ऐसा कहा है। आहाहा! स्वतन्त्रता का ढिंढ़ोरा है न! भाई! तेरी अपनी योग्यता से तू समझ और श्रद्धा कर तथा स्थिर हो। दूसरा क्या कर दे? आहाहा! अन्दर आड़ाफाटे, दूसरा हो जाए, कुछ का कुछ करेगा उल्टा होगा वहाँ।

जैसा कि कहा गया है – देखो! यह पद्मनन्दि पंचविंशति का दृष्टान्त है। पद्मनन्दि पंचविंशति का श्लोक है। **जिसके कारण भय से घबराई हुई सारी दुनियाँ मार्ग को छोड़कर इधर उधर भटकने लग जाय,..** ऐसे घोर वज्र पड़ें, ऐसी निन्दाओं के घोर प्रहार आवे (तो) दुनिया तो भागे। हाय.. हाय..! इसमें अपना काम नहीं, इसमें अपना काम नहीं। समझ में आया? ऐसा जहाँ मानने जाऊँगा न तो वाड़ा में (सम्प्रदाय / समाज) में लड़की से विवाह नहीं करेंगे, कोई लड़का कुँवारा रह जाएगा। छोड़ दे, भाई! मार्ग बदल जाए पूरा अन्दर से। चन्दुभाई! आहाहा! दुनिया के साथ कुछ समानता रखने के लिए

लगता है। कहते हैं जहाँ प्रतिकूलता थोड़ी बहुत आवे.. घबराहट.. घबराहट (हो जाती है)। अरे! ऐसी बात कहूँगा, मानूँगा (तो) लोग घर में खड़े नहीं रहने देंगे। घर के नहीं रहे, लड़के... करेंगे। न्यालभाई! आहाहा! स्त्री कहेगी, तुम क्या बदल गये? क्या तुम्हारा कलेजा बदल गया पूरा? हाय.. हाय..! सर्वत्र हो.. हो.. होगी। अब करना क्या? दुनिया कहती है, उसकी पात्रता जहाँ नहीं, ऐसी, इसलिए जहाँ प्रतिकूलता आवे, भय से घबराकर पूरी दुनिया मार्ग छोड़ देती है।

इधर उधर भटकने लग जाय,.. मार्ग होवे न, ऐसा मार्ग! सामने सिंह आया हो और बड़ा सर्प आया हो (तो) भागमभाग (हो जाती है) परन्तु इस मार्ग से (दूर) जाकर फिर कहाँ जाएगा तू? सामने सिंह आवे, सर्प आवे। ऐसे जो मार्ग चलता है, उसमें जहाँ प्रतिकूलता जरा आवे, (इसलिए) अज्ञानी दुनिया भागमभाग (कर देती है)। समझ में आया? **भय से घबराई हुई सारी दुनियाँ मार्ग को छोड़कर..** अरे! किंचित् भी विश्राम.. विश्राम.. (चाहिए)। अलग-थलग हो जाऊँगा (तो) किसी का साथ नहीं रहेगा। समझ में आया?

आनन्दघनजी कहते हैं। हे प्रभु! 'धीठायी करी मार्ग संचरुं, सेऊ कोई न साथ' किसी के साथ खड़ा नहीं रहता। 'धीठाई करी मार्ग संचरुं,...' सब चाहे जैसे चले। वे खोटे हैं। यह मार्ग सच्चा है। निश्चय का स्वभाव यह मार्ग है। समझ में आया? शोर कराते सबको। ऐई! ऐसे हो गया। भूत ऐसे हो गया, अमुक हुआ। इसलिए एक गायन बनाया। समझ में आया? 'पंथडो निहाणूं रे बीजा जिनतणूं धीठाई करी मार्ग संचरुं, कोई सेऊ कोई न साथ' पीछे थपकी दे कि वाह! ऐसा कहनेवाला कोई नहीं। परन्तु प्रभु! धीठाई से चला जाऊँ। सब खोटे हैं। जरा-जरा हिले तो कहे, पद नहीं मिले, हों! यह तीन वर्ष में बड़ा पद मिलनेवाला है। यदि कुछ फेरफार होगा तो नहीं मिलेगा। संघ की आज्ञा प्रमाण रहना। संघ में फेरफार होगा तो सब (चला जाएगा)। भागो बापू! मगनभाई! लड़का विवाहित न हो, लड़की विवाहित न हो। क्या करना? उस जगह हो तो लड़के का विवाह हो और लेता आवे दो-चार लाख! अच्छी जगह संघ में सब ठीक से होवे तो लेता आवे, लो! और यह तो कोई अच्छी कन्या भी आयेगी नहीं। क्या करना? वह तो भागे। आहाहा! जिसके कारण भय से घबराई हुई पूरी दुनिया मार्ग को छोड़ देती है, खड़ी नहीं रह सकती।

भटकने लग जाय, ऐसे वज्र के गिरने पर भी.. ऊपर से ऐसे वज्र गिरे, तो भी **अतुल शांतिसम्पन्न योगिगण..** समझ में आया? अतुल शान्ति, ज्ञायक शान्त.. शान्त.. शान्त। आहाहा! मुझे प्रतिकूलता करनेवाला दुनिया में कोई है नहीं। दुनिया में है नहीं। मैं ही हूँ, वहाँ दूसरा है नहीं। ऐसे अतुल शान्तिसम्पन्न योगीगण—अपने स्वरूप में जुड़ान करनेवाले। **योग से (ध्यान से) चलायमान नहीं होते।** लो! पूरी दुनिया हट जाए परन्तु अपनी एकाग्रता से च्युत नहीं होते। क्या कर दे दूसरे भी? समझ में आया? कहो, यह पक्ष लूला हो जाता है।

मुमुक्षु : किसका?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह गुरु से ज्ञान होता है उसका। ऐ.. न्यालभाई! यह तो कहेंगे कि व्यवहार से बात है। यहाँ भान होवे, उसे उनका बहुमान आवे ही, आये बिना रहता है? आता ही है वह। समझा है! आहा! व्यवहार बीच में होता है, परन्तु यह है तो होता है, ऐसा। अकेला तू व्यवहार करने जाए और उससे लाभ हो, ऐसा उसमें नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समझने के योग्य है, वह समझ गया अपने आप—ऐसा कहते हैं। यहाँ धर्मास्ति का दृष्टान्त दिया है, फिर क्या? स्वयं गति परिणमे, उसे निमित्त होता है ही। इसी प्रकार स्वयं पुरुषार्थ करता हो, उसे गुरु निमित्त होता ही है, ऐसा यहाँ कहते हैं। धर्मास्ति को ढूँढ़ने जाना पड़ता है? भाई! मैं गति करने के योग्य हूँ, जो गति करता हूँ, हों! धर्मास्ति आना। अब पड़ा है वहाँ, आना क्या? आहाहा! गजब यह ३५वीं गाथा! पहले से यह बात बाहर प्रसिद्ध की थी न अपने? धर्मास्तिकायवत् सब निमित्त हैं। आचार्य पूज्यपादस्वामी तो ऐसा इष्टोपदेश करते हैं। हितकर उपदेश तो यह है। इष्ट-उपदेश ही यह है। निमित्त से होता है और निमित्त न हो तो नहीं होता, यह उपदेश ही इष्ट नहीं है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है नहीं। आहाहा! इष्टोपदेश में यह बात डाली है। स्वयं स्वतन्त्र समझता है। स्वयं हित का आकांक्षी है, मोक्षसुख के उपाय को जाननेवाला, स्वयं प्रवर्तता है। वह तब निमित्त कहलाता है। व्यवहार है, नहीं है ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। गुरु आदि की सेवा करते हैं परन्तु यहाँ होवे तो वहाँ है या यहाँ न होवे तो वहाँ से है? ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

तब ज्ञानरूपी प्रदीप से जिन्होंने मोहरूपी महान् अन्धकार को नष्ट कर दिया है,.. कहते हैं, वज्र के गिरने से भी अतुल शान्ति-सम्पन्न मुनि अथवा योगीगण अथवा स्वरूप में जुड़ान करनेवाले अपने अन्तर से च्युत नहीं होते। **तब ज्ञानरूपी प्रदीप से..** देखा? यह मोह का अन्धकार ज्ञानरूपी प्रदीप से नाश किया, ऐसा कहते हैं। स्वयं नाश किया है। ज्ञानप्रकाश चैतन्य ज्योति, यह चैतन्य ज्ञानस्वरूप के प्रकाश द्वारा जिसने **मोहरूपी महान् अन्धकार...** मिथ्यात्वरूपी महानतम अन्धकार **नष्ट कर दिया है,..** लो! इस ज्ञान से अन्धकार नाश होता है। वे कहें, भगवान को देखने से नाश होता है और जिनबिम्ब को देखने से नाश होता है। अरे! सुन न अब। आहाहा! ऐसे लगे हैं न! अन्धकार, वह प्रकाश से नाश होगा या पर जो उसमें है ही नहीं, उससे नाश होगा? समझ में आया?

चैतन्यहीरा, अकेला चैतन्य प्रकाश की मूर्ति है, ऐसे चैतन्य के प्रकाश द्वारा अन्धकार / मोह-मिथ्यात्व नाश हो जाता है। उससे घात कर डाला है जिसने, ऐसे सम्यग्दृष्टि कैसे चलायमान होंगे? ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञानरूपी प्रदीप से। दीपक.. दीपक। प्रदीप है, हों! प्र-दीप है। जिन्होंने अर्थात् जिसने **मोहरूपी महान् अन्धकार..** देखो! इसके द्वारा मोह अन्धकार का नाश किया है। गुरु से नहीं, कर्म हटे हैं, इसलिए नहीं, कषाय मन्द पड़ी है, इसलिए अज्ञान का नाश किया - ऐसा नहीं। मन्द-बन्द की बात ही कहाँ है यहाँ? ज्ञान प्रदीप चैतन्यसूर्य। पकड़ा कि ज्ञान चैतन्यसूर्य है, जाओ।

मुमुक्षु : कर्म का रस बन्द पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म-फर्म उसके घर रहे, यहाँ कहाँ... यह तो.. बातें हैं। समझ में आया? आत्मा में थे कब तो मन्द पड़ें वे। ऐई! आहाहा! भगवान! उसमें तो ज्ञान का प्रबल राज है। आत्मा में तो प्रबल राज ज्ञान का है, आनन्द का राज है, वीर्य की महासत्ता है। वीर्य अपनी सत्ता, अपनी बादशाही बनाये रखता है। उसका-वीर्य का साम्राज्य है, भाई! उसमें तो दूसरा कौन प्रवेश हो सकता है? आहाहा! ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सुख से भरपूर भगवान, वह स्वयं सुख का स्वरूप, सुखस्वरूप ही है, फिर प्रश्न क्या? भगवान आनन्दस्वरूप है, उसे आनन्द कहाँ लेना है? कहाँ से लेना है? किसके पास से (लेना है)? यह ठीक होवे तो ठीक, शरीर ऐसा जरा ठीक होवे तो ठीक, शरीर में इतना ठीक होवे तो ठीक, इतना ठीक होवे तो ठीक। वहाँ सुख होगा?

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है कि शरीर अच्छा होवे, वहाँ कर लेना (धर्म)।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें व्यवहार की हैं। शरीर ऐसा होवे तो ठीक, श्वास ऐसे चलता होवे तो ठीक, तो इसका अर्थ कि उसके कारण तुझे सुख का ठीक है, ऐसा न ? स्वयं के कारण नहीं। ठीक अर्थात् स्वयं के कारण सुख नहीं। कहो, मगनभाई ! ऐसा हुआ या नहीं हुआ ? 'शरीर से सुखी, वह सुखी सर्व बातें', होली है वहाँ। यहाँ धूल में भी नहीं अब। इस शरीर में सुख अर्थात् क्या परन्तु ? उसकी व्याख्या क्या ? आहार होवे, शरीर ठीक रहे, ठीक रहे तो ठीक अर्थात् उसके कारण ठीक। आत्मा के कारण ठीक नहीं। बड़ी भ्रमणा है। आहाहा ! समझ में आया ?

ज्ञानरूपी प्रदीप से जिन्होंने मोहरूपी महान् अन्धकार को नष्ट कर दिया है,.. लो ! है या नहीं प्रदीप ? क्या नाम आया ? देखो ! यह। ज्ञानरूपी प्रदीप, ऐसा कहते हैं। चैतन्य का ज्ञान। आहाहा ! विकल्प से और राग से नहीं। प्रकाश, प्रकाश, प्रकाश। चैतन्य ज्ञानस्वरूप सुखरूप ऐसे प्रदीप द्वारा अज्ञान का जिसने नाश किया है, उसे अब बाहर से कौन चलायमान कर सकता है ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? जहाँ अन्धकार नहीं, वहाँ प्रकाश है, वहाँ उसे अन्धकार कौन करा सकता है ? उसे चलायमान कौन कर सकता है ? नहीं ऐसा होता, अकेले पड़ जाओगे, रोटियाँ नहीं मिलेंगी, खाने को नहीं मिलेगा। ऐ.. न्यालभाई ! ऐसा कितने ही कहते हैं। आहाहा ! रोटियाँ नहीं मिलेंगी, यह कुछ भाषा, व्याख्या क्या यह ? कोई खड़ा नहीं रहने देगा। रोटियाँ होती थी, वहाँ एक व्यक्ति जाता था। (फिर) छोड़ दिया, वहाँ जाता था। तब मुश्किल से रोटियाँ मिलती थी। उसका दृष्टान्त देते थे।

कहते हैं **ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव क्या शेष परीषहों के आने पर चलायमान हो जायँगे ?** ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव **क्या शेष परीषहों..** दूसरे चाहे जैसे परीषह अर्थात् प्रतिकूल (संयोग खड़े हों)। **आने पर चलायमान हो जायँगे ?** नहीं, नहीं। आहाहा ! देव ऊपर से अग्नि बरसावे, कहते हैं। दूसरे मार्ग छोड़ दें तो यह मार्ग नहीं छोड़ता। **नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं हो सकते हैं।** लो ! इसका अर्थ कि जिसमें अन्दर जोर है, उसे दूसरा क्या कर सकता है ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? और अन्दर जोर न हो तो दूसरा क्या

करे ? लो ! जननेवाली (जच्चा) ऐसी की ऐसी पड़ी हो और वह दाई कहे, ऐसा कर। परन्तु जच्चा में जोर नहीं, दाई क्या करे ? इसी प्रकार जिसे अन्दर की योग्यता नहीं तो गुरु क्या करे ? ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इसका अर्थ क्या हुआ ? कि कुछ करता नहीं उससे, ऐसा हुआ यह तो। उसने किया, जरा प्रेरणा करो अमुक ऐसी।

मुमुक्षु : सिखलावे सब।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिखलावे परन्तु वह समझे-पकड़े तब न ! बगुले को सिखावे, क्या सिखावे ? यहाँ असाध्य हो गया, लो ! असाध्य हो गया। उसे सिखाओ। परन्तु वह मर जाएगा अभी, बालक नहीं आवे तो। वह मर गया तो तू भी मर जाएगा, परन्तु ऐसे असाध्य होकर पड़ा हो, अब क्या करना उसे ? बस ! वह तो जिसे साध्य है, वह स्वयं से समझता है एक ही बात है, दूसरी बात नहीं है। आहाहा !

यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा ? यह तो तुमने निमित्तों को उड़ा दिया, निराकरण हो गया, निमित्त से कुछ नहीं होता, ऐसा कहते हैं। यह तो निराकरण हो गया। **यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तों का..** किसी जगह यह निमित्त आया और यह हुआ, यह निमित्त आया और यह हुआ, यह सब बात उड़ जाती है, निराकरण हो जाता है। अपने गुण-पर्याय से जहाँ काम चलता है, वहाँ निमित्त होता है। इसीलिए कहीं उसके कारण यह होता है (ऐसा नहीं है)। निमित्त का निराकरण हो गया। निमित्त बिना नहीं होता और निमित्त होवे तो आवे और हो, यह सब तुमने तो निराकरण कर डाला। ऐसा है नहीं, ऐसा तुमने कर डाला।

इसके विषय में जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं,.. लो ! दोनों **वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में..** जो कार्य स्वयं गुरु, ज्ञानी अपने से उत्पन्न करते हैं, उसमें गुरु निमित्त। यह बैरभाव उत्पन्न करे, उसमें शत्रु निमित्त। उसमें शत्रु कहाँ बैरभाव उत्पन्न कराता है ? और गुरु कहाँ उसके आनन्द को उत्पन्न कराते हैं ? धर्म की वृद्धि, धर्मवृद्धि को। धर्मवृद्धि को उत्पन्न करनेवाला स्वयं है। मार्ग तो ऐसा है। उसमें

कहीं फुदी-फुदो चले ऐसा नहीं है। वीतराग.. वीतराग.. वीतराग.. जहाँ वीतरागस्वरूप से शरण प्रभु स्वयं ही है, उसे गुरु क्या करे ? और राग न करके बैर खड़ा करे तो शत्रु निमित्त है, शत्रु ने कहाँ बैर खड़ा कराया है।

वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में.. जो कुछ चलता हुआ कार्य कोई भी कार्य हो उसके उत्पादन में **तथा विध्वंसन में..** देखो! घड़ा उत्पन्न में मिट्टी ने उत्पन्न किया और घड़ा फूटे वह स्वयं से फूटा है। कुम्हार ने उत्पन्न किया और लकड़ी ने फोड़ा, यह बात तो निमित्तमात्र का कथन है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **प्रकृत कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन में..** नाश होने में। **सिर्फ निमित्तमात्र हैं।** लो! सिर्फ जोर दिया है। मात्र निमित्त, मात्र निमित्त है। बिगड़ना-सुधरना स्वयं से है। आता है न उसमें ? नहीं ? पंचाध्यायी के पहले श्लोक में। स्वयं बिगड़ता है और सुधरता है। पहला श्लोक आता है न वह ? पंचाध्यायी का पहला। **'सतम सत्लक्षणम'** पहले श्लोक आता है आठवाँ। प्रत्येक द्रव्य सत् मात्रम् (अर्थात्) स्वयं सत् है। स्वयं से बिगड़ता है और स्वयं से सुधरता है, इसमें किसी चीज़ की कोई आवश्यकता नहीं है। समझ में आया ?

खराब संग हुआ, इसलिए बिगड़ा, ऐसी बात मिथ्या है, ऐसा कहते हैं। अच्छा संग हुआ, इसलिए सुधरा, (यह) मिथ्या बात है, ऐसा यहाँ कहते हैं। कुम्हार आया तो घड़ा हुआ, मिथ्या बात है। सम्हालना नहीं आया तो घड़ा फूट गया, मिथ्या बात है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ऐसे घड़ा रखे नीचे और ऊपर से पत्थर-बत्थर गिरे ऐसा स्थान हो तो फूटता ही है न! ऐसी जगह रखे तो फूटता ही है न! मिथ्या बात है, कहते हैं। वह फूटने के योग्य था तो फूटा है। कहो, समझ में आया ? ऊपर पत्थर रहते हों या ऐसा रहता हो.. समझे ? लकड़ी या बाकड़ा, अब उसके नीचे ठण्डा पानी का घड़ा रखे, उसमें से वह पत्थर गिरे तो फू.. हो जाए, एकदम, लो! मिथ्या बात है, ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु : घर में बड़े ऐसा ही कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : घर के बड़े सब उल्टा कहते हैं। घर में ऐसा कहे, ऐसे रखना चाहिए। ऊपर वह हो, ऊपर पड़े कोई, लकड़ी पड़े, कुछ अमुक गिरे, डिब्बा-बिब्बा गिर जाए तो फूट जाए। वहाँ घड़ा रखा जाता होगा ? पनिहारे रखना चाहिए, अमुक रखना

चाहिए। वह कहे, परन्तु पनिहारे हवा बहुत गरम आती है, इसलिए यहाँ रखा है। तो कहे, यहाँ फूट जाएगा। फूटा। दुनिया से उल्टा है। बिगड़ने में और **विध्वंसन में सिर्फ निमित्तमात्र हैं।** कहो, इसकी व्याख्या विशेष कहेंगे थोड़ी। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३९ गाथा-३५-३६ शुक्रवार, दिनाङ्क १३-०५-१९६६
वैशाख कृष्ण ९, वीर संवत् २४९२

३५वीं गाथा चलती है। देखो, यहाँ तक आ गया है। कोई भी आत्मा में या जड़ में कार्य के-पर्याय के पलटन काल में अपनी योग्यता न हो, तो दूसरा कोई कर नहीं सकता। जड़ और आत्मा, दोनों में अपना जो कार्य है, जिस प्रकार का—विकारी या अविकारी, उसके कार्य काल की अपनी स्वाभाविक योग्यता न होवे तो निमित्त कुछ नहीं करता। उसका दृष्टान्त अभव्य का दिया। अभव्य जीव आदि को चाहे जितना समझाओ, परन्तु वह समझने के योग्य नहीं है तो निमित्त क्या करे?—ऐसा सिद्ध किया है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त करता ही कहाँ है? यह तो निमित्त कब कहलाता है? कि (कार्य) होवे तो इसे निमित्त कहा जाता है। निमित्त करता कहाँ है? अकारण कब करता है? यह तो यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया? और धर्मी जीव को धर्म का भान है, उसे लाखों प्रयत्न से धर्म से डिगाया जा सके, ऐसा नहीं है। इसलिए उसमें निमित्त करे क्या? - ऐसा कहते हैं। अभी गाँव-गाँव में यह बड़ा विवाद है। देखो, तब प्रश्न (होता है)।

यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा? आपने इसमें यह बात की, उसमें तो बाह्य निमित्त तो छूट जाते हैं, बाह्य निमित्त का कुछ उसमें रहता नहीं।

मुमुक्षु : प्रभाव कुछ रहता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं रहता। **'निमित्तक्षेपः'** छोड़ दे। **'क्षेपः'** शब्द है न?

देखो न! **'बाह्य निमित्तक्षेपः'** क्षेपा गया, छूटा गया, निषेध हो गया, कुछ उसका माप रहा नहीं, इसके लिए कुछ नहीं। छूट गया, छूट गया, खण्डन हो गया, निराकरण हो गया। कहो!

किसी भी पदार्थ की अवस्था के पलटने में **'निमित्तक्षेपः', 'क्षेपः'** है अर्थात् कोई निमित्त उसमें कुछ काम नहीं करता। निमित्त उसमें व्यर्थ हो गया, ऐसा इसका अर्थ है। आहाहा! परन्तु वह **निमित्त निराकरण हो जाएगा..** शिष्य ऐसा कहता है न? उसके उत्तर में ही यह कहेंगे। हाँ, ऐसा ही है। समझ में आया? **बाह्य निमित्तों का तो खण्डन हो जाएगा..** तो फिर गुरु से ज्ञान मिलता है, यह शत्रु नुकसान करता है – ऐसा तो कुछ इसमें रहता नहीं, (ऐसा) शिष्य कहता है। कहो, समझ में आया? अच्छे निमित्त हों तो उसमें कुछ पलटा अच्छा हो, खोटे निमित्त हों तो पलटा खोटा हो। जमुभाई! जितना हो, उतना अब इसमें सामने निकाल डालना।

यहाँ तो जरा **'निमित्तक्षेपः'** है न, उसके ऊपर अभी अधिक वजन है। तुम तो ऐसा कहते हो कि आत्मा की योग्यता से, आत्मा के भान से उसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र होता है और स्वयं प्रयत्न करे (तो होता है)। यह तो आया नहीं था? सत् की अभिलाषा स्वयं करे, उसका ज्ञान स्वयं करे और उसमें प्रवर्तन स्वयं करे। बस! यह तो करनेवाला स्वयं, स्वयं अपना गुरु रहा। दूसरे गुरु तो निमित्तमात्र कहने में आये। यदि उनसे समझे तो अभव्य और सब समझने चाहिए और उससे—निमित्त से—नुकसान होता हो तो ज्ञानी को भी अज्ञानी क्रिया जा सके, (परन्तु) यह तो किया नहीं जा सकता। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : गुरु की महिमा नहीं रहती।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही महिमा है, यही कहेंगे। यही उनकी महिमा है कि उनसे नहीं होता, तो भी वह कार्य अपने से हुआ, तब निमित्त पर बहुमान व्यवहार आता है। निश्चय है तो व्यवहार (आता है)। वस्तुस्थिति ऐसी है। समझ में आया? वह तो व्यवहार है तो निश्चय होता है, (इसमें) बड़ा अन्तर पड़ता है। इसमें सिद्धान्त में अन्तर पड़ता है। ऐई! धन्नालालजी! यदि ऐसा कहो कि गुरु और शत्रु आदि होवें, वे यहाँ लाभ और नुकसान करते हैं, तो वजन यहाँ से जाता है। वहाँ से यहाँ होता है, ऐसा होता है – ऐसा नहीं है। यहाँ आत्मा और परमाणु अपनी पलटन क्रिया के काल में स्वयं से पलटते हैं, तब बाह्य चीज़

को निमित्त कहा जाता है। इसलिए यहाँ उसे गुरु के प्रति बहुमान आया, वह व्यवहार से हुआ। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : ....बाकी निमित्त तो निमित्त ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका किसने इनकार किया है? परन्तु निमित्त है, वह यहाँ जरा भी कार्यकर नहीं है, ऐसा यहाँ कहना है। निमित्त वस्तु नहीं सामने? यहाँ सामने की बात लेना है या नहीं?

मुमुक्षु : दो कारण मिट गये, एक ही कारण रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कारण एक ही वास्तविक है, दूसरा निमित्तकारण एक आरोपित चीज़ है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है। यहाँ वे दोनों कारण एक साथ में, यह यहाँ सिद्ध नहीं करना। कहो, समझ में आया इसमें?

शिष्य की शंका है कि **यों तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा?** तो बाह्य निमित्त का कुछ वजन ही नहीं रहता। क्षेप-मानो छूट गया। छूट गया, निमित्त तो मानो कुछ नहीं, ऐसा कहते हैं। शिष्य, शिष्य (ऐसा कहता है)। फिर उत्तर को सुनना, परन्तु शिष्य कहता है उसे। समझ में आया?

तुमने तो ऐसा कहा कि आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान आत्मा से होते हैं। अपनी पर्याय पलटने के काल का पुरुषार्थ अपना न हो तो दूसरा क्या कर दे? उल्टा पड़ा हो और अनन्त ज्ञानी आवे तो भी सुलटा करने की ताकत कहाँ है? आपने तो ऐसा ही कहा। निमित्त तो छूट जाए, निमित्त में कुछ लाभ, निमित्त का असर, निमित्त का प्रभाव, निमित्त से कुछ नया पलटना, उसके कारण कुछ नया होना (यह) कुछ नहीं रहता।

मुमुक्षु : एकमात्र विलक्षणता आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : विलक्षणता आवे तो निमित्त छूट गया। छूट जाता है, विलक्षणता उसके कारण नहीं आती। कहो, समझ में आया इसमें? है इसमें। देखो! यह बड़ा विवाद (चलता है) यह सहज आया आज पहले ही। आहाहा! भाई! तेरी योग्यता के बिना क्या होगा? समझ में आया?

मुमुक्षु : निमित्त है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु है, परन्तु वह वहाँ हो। वस्तु नहीं ? निमित्त पदार्थ नहीं ? परन्तु यहाँ कार्य करने के लिए उससे होता है, ऐसा नहीं है। वस्तु नहीं ? कहो, समझ में आया ? पूरी रात ही आज कुछ स्पष्ट होता था। कौन जाने क्या है ? तन्द्रा जैसा था न जरा बुखार था। १०१ तक होगा। कौन जाने कौन सा पाठ कहाँ से कोई लाया था तो उसमें तो सिद्ध की पर्याय का पूरा पाठ था। एकदम सिद्ध की पर्याय पूर्ण का उसमें अर्थ है, कहा। सिद्ध की पर्याय पूर्ण होती है, ऐसी पूरी (बात आयी) परन्तु चला पूरा। सिद्ध भगवान की पर्याय पूर्ण होती है, ऐसा उसमें अर्थ है, कहा। वह पाठ कौन जाने मस्तिष्क में कहाँ से आ गया। तन्द्रा में चला सो चला, घण्टों के घण्टों। स्पष्ट हो गया यह। वह अब जागृति में कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

उसका अर्थ बहुत अटपटा था, हों! यह वह जोग है या यह वह क्या है, यह सिद्ध की पर्याय ? सिद्धपर्याय पूर्ण होती है और यह होती है क्या ? सिद्धपर्याय पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण होती है। उसमें कुछ जोग-फोग का कुछ साधन नहीं रहता। एकदम पर्याय पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण... अवयव पूर्ण, ऐसा और अन्दर से आया था। सिद्ध के सब अवयव पूर्ण हो गये। अवयव अर्थात् प्रदेश। अनन्त गुण-पर्याय को अवयव कहा जाता है न ? सब पूर्ण हो गये। उसमें कुछ बाकी नहीं रहता। उसका अर्थ ऐसा है। लाख बात की दूसरी बात कहे तो उसमें नहीं निकले ऐसा, कहा ले। मूलचन्दभाई! यह ऐसा कहते हैं, देखो! निमित्त से कुछ होता है, ऐसा तुझमें से निकलता नहीं।

मुमुक्षु : अनादि अनन्त होवे, वह बात मालूम पड़ी न।

पूज्य गुरुदेवश्री : मालूम उससे पड़ी। कहाँ से मालूम पड़े ? यह तुम्हारे जमुभाई बहुत कहते हैं। उस मालूम पड़ने की पर्याय का काल नहीं था ? ज्ञान की पर्याय का काल नहीं था ? पलटने का काल था या नहीं ? स्वयं से पलटा हुआ है या संयोग से हुआ है ?

मुमुक्षु : दिखने में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या दिखने में आता है ? कुछ दिखने में नहीं आता। वहाँ था और यहाँ आया तो उसमें न हो, परन्तु यहाँ आया तो यहाँ पर्याय पलटन करती हुई आती है या नहीं ? या यहाँ आया तो उससे हुआ ?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु काल तो एक होता है न? बराबर का अर्थ क्या हुआ? वस्तु वर्तमान पलटती हो, तब सामने भी चीज़ पलटती एक निमित्तरूप से होती है। वर्तमान पलटती हो या कोई पलटने में भूत-भविष्य में पलटा होगा? पलटा तो वर्तमान में ही होता है, जहाँ-जहाँ होता है वहाँ। वहाँ उसके किसी भी एक गुण की पर्याय का पलटा होता है, वह उससे हुआ है। यह क्या करे दूसरा? उसकी क्रिया, अन्तर और गुण की अपेक्षा के पर्याय से वह दशा हुई है। दूसरा क्या करे? आहाहा!

मुमुक्षु : वह समझ जाए न!

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह समझ जाए, वह समझने की योग्यता है तो समझता है, ऐसा कहते हैं। बगुले को समझाओ। दृष्टान्त नहीं दिया? बगुले को तोता की तरह समझाओ। यह दृष्टान्त इसमें आ गया। बगुले को पढ़ाओ। तोता पढ़ेगा (क्योंकि) उसकी योग्यता है। बगुला ऐसे मछलियाँ मारने में ऐसे नीचे मुँह है, वहाँ उसे किस प्रकार पढ़ाओगे? समझ में आया? उसकी नजर ऐसे है। अब उसे तो मछलियों के ऊपर (नजर है)। तोता तो ऐसे सीधे देखता है, देखता है। कौन आया? वजुभाई! आहाहा! गजब! परन्तु यह योग्यता आचार्यों ने कितनी वर्णन की है! यह तो पहले से अपने यह गाथा चलती है।

इस प्रकार पर से कुछ लाभ नहीं होता, पर से पलटा नहीं होता। अवस्था, किसी भी पदार्थ की पलटती अवस्था में इसकी सहायता से उसमें कुछ नहीं होता तो निमित्त का कुछ नहीं रहता, यह ऐसा प्रश्न करता है। निमित्त तो क्षेप हो जाता है, निमित्त छूट जाता है। निमित्त का खण्डन हो जाता है, निमित्त का निराकरण हो जाता है, निमित्त कुछ नहीं करता, ऐसा हो जाता है - ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई! शिष्य ऐसा पूछता है। इतना तो शिष्य ने समझ लिया है। समझ में आया? यह बात इतनी हुई वहाँ इतना तो उसने पकड़ा है। जमुभाई! क्षेप हो गया, वह तो छूट गया। निमित्त तो छूट गया कहीं। इसमें तो यह अकेला रहा, वह तो छूट गया। इसका क्या उत्तर है? महाराज! ऐसा शिष्य पूछता है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

इसके विषय में जवाब यह है.. इसके विषय में जवाब यह है कि, यह तो

ढिंढ़ोरा पीटकर बात है। इसमें वहाँ कुछ गुप्त करने की बात नहीं है यह। **अन्य जो गुरु आदिक..** पाठ में है न '**पुनर्गुरुविपक्षादि**' अर्थात् उसमें गुरु आदि चाहे जो जीव हो या जड़ आदि दोनों पर में हो और **शत्रु आदिक हैं,..** दो अर्थ अनुकूल-प्रतिकूल लिये। **वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में..** प्रकृत अर्थात् जो कुछ कार्य उत्पन्न हुआ है उसमें। प्रकृत अर्थात् जो कुछ कार्य उत्पन्न हुआ है, उसमें। **उत्पादन में तथा विध्वंसन में सिर्फ निमित्तमात्र हैं।** यह गुरु का जवाब है। निमित्तमात्र हैं। उत्पन्न और विध्वंस स्वयं से होता है। घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होता है, तब कुम्हार निमित्तमात्र है, कुम्हार से घड़ा नहीं होता। कहो, समझ में आया? और घड़ा लकड़ी से फूटता है, (तो कहते हैं) नहीं; वह लकड़ी तो निमित्तमात्र है। फूटने की पर्याय के पलटन के काल में वह फूटा है।

मुमुक्षु : प्रकृत कार्य के....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रकृत कार्य कहा न! जो कार्य लक्ष्य में लेना है वह।

मुमुक्षु : अप्रकृत के लिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दूसरा नियम ही कहाँ है? यहाँ प्रकृत कार्य की बात है न! जो कुछ कार्य लक्ष्य में लेता है वह। जिसे लक्ष्य में नहीं लेता, उसकी यहाँ बात (से) क्या काम है? प्रकृत—प्र-विशेष, कृत-कार्य किया जाए वह। परमाणु में और जीव में कार्य किया जाए वह। ऐसे कार्य के उत्पादन में, सम्यग्ज्ञानरूपी कार्य के उत्पादन में आत्मा स्वयं पलटकर उत्पन्न करता है। उसे गुरु तो निमित्तमात्र है। कहो, समझ में आया? श्रद्धा-सम्यग्दर्शन उत्पन्न (हुआ), वह प्रकृत कार्य। सम्यग्दर्शन के कार्यकाल में आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन के कार्यरूप परिणमता है, पलटा खाता है। गुरु मात्र निमित्तमात्र हैं।

मुमुक्षु : निमित्त की पदवी दी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भले उसे घर में रही पदवी। यहाँ क्या रही? निमित्त उसे कुछ रच सकता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह वस्तु-द्रव्य स्वयं ही अपने उत्पाद के स्व काल में उत्पाद करे, उसमें निमित्त तो दूसरी चीज़ मात्र उपस्थित है। निमित्त उपस्थित (कहा) तो फिर किसी को खटकेगा। होता है, लो! होता है। यह होता है, उसका क्या अर्थ? **सिर्फ निमित्तमात्र..** ऐसा कहा न? देखो! '**भ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र**' यह संस्कृत है। समझ में आया?

यहाँ तो विकार करने की पर्याय के पलटन काल में जीव को अपनी योग्यता से करता है। कर्म तो एक निमित्तमात्र, मात्र निमित्तमात्र है। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा! इस शरीर में ऑपरेशन होता है, वह उसकी पर्याय के काल में वह पर्याय स्वयं से होती है, तब उस छुरी आदि को निमित्तमात्र कहा जाता है। उससे पर में कुछ कार्य नहीं होता। कहो, समझ में आया?

वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, वहाँ क्या करना? वस्तु की स्थिति ही ऐसी है कि वस्तु स्वयं किस क्षण में पलटती नहीं? बदलती नहीं? रूपान्तर को प्राप्त नहीं होती? तो उसके बदलने की पर्याय में दूसरा क्या करे? धन्नालालजी! आहाहा! ऐसी बहुत स्पष्ट बात तो रखी है। धर्मास्ति का निमित्त कहेंगे। गाथा बहुत ऊँची है। समझ में आया?

कोई भी गुरु आदिक और शत्रु आदि। बैरियों ने मेरा बुरा किया, मेरा बिगाड़ किया —(यह) मिथ्या बात है, कहते हैं। कहो, हरिभाई! इन लोगों ने मुझे सहायता की, मदद की तो हम कुछ रास्ते चढ़े। मिथ्या बात है, कहते हैं - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ऐसा कहा जाए?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहा जाए, वह मिथ्या बात है, कहते हैं। बोला भले जाए परन्तु ऐसा है नहीं। चन्दुभाई! यह दूसरी बात है। यह तो पूरी दुनिया से अलग प्रकार की है। यह वस्तु है या नहीं? आत्मा और परमाणु वस्तु है या नहीं? है, वह पलटने के काल में पलटती है या नहीं? पलटने के काल में पलटती है, वह उसका कार्य (होता है), उसमें दूसरा किस प्रकार पलटा सकता है? आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? इसका अर्थ करते हुए वे दो व्यक्ति उलझ गये हैं। यह क्षेप है अर्थात् कौन जाने क्या करना? यह निमित्त उड़ जाता है। इसलिए कहा, निमित्त के बिना कार्य नहीं होता। वापस बाह्य-अभ्यन्तर कारण रखे हैं न! परन्तु यहाँ अभी वह काम नहीं है। अब, सुन न! अभ्यन्तर कारण से अपने कारण से कार्य होता है। बाह्य हो, मात्र निमित्तमात्र हो। वस्तु ऐसा पुकारती है। उसमें किसी के घर की कहाँ वहाँ अन्दर बात है? बगुले का दृष्टान्त दिया। बगुले को लाख समझाओ परन्तु 'पधारो' ऐसा बोलने की उसकी योग्यता होगी? तोता तो ऐसा कहे, पधारो साहेब! आओ, ऐसा बोले, हों! तोता। सिखाया होवे तो। आओ महाराज! आओ, मेरा

आँगन उज्ज्वल किया (ऐसा) तोता बोले। ऐई! बगुले को बुलवाओ। वह सीखा हो, बराबर वैसा ही बोले, हों! भले उसे शब्द की खबर नहीं होती। उस शब्द का क्या भाव है, (उसकी खबर नहीं होती)। परन्तु उस शब्द की ध्वनि ऐसी ही करता है। बगुला कहाँ से लाता था ऐसी ध्वनि? उसका मुँह उस प्रकार का नहीं है। उसका (तोता का) मुँह इतना छोटा, इसका तो इतना लम्बा, बड़ा मछलियाँ खावे ऐसा (होता है)। समझ में आया?

यह बगुले का दृष्टान्त बहुत सरस दिया है। बगुले को कोई पढ़ा सकता है? इसी प्रकार जिसमें माल नहीं, हाथ देकर कहीं पशु खड़े होते होंगे? माल - अन्दर पैर में कस न हो, उसे (खड़ा किस प्रकार करे) जननेवाली में जोर नहीं हो तो दाई क्या करे? यह तो लोग बोलते हैं। क्यों? बोलते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : दोनों बात बोलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बोले वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कि दूसरी चीज़ है, इतना। वस्तु यह है। समझ में आया इसमें? पेट में हाथ डाले वह? अन्दर वह लड़का अन्दर चिपटा हो। हाथ ऐसे-ऐसे डाले तो वहाँ से और कुछ दूसरा हट जाए, इसलिए दूसरे का हाथ वहाँ काम नहीं आता। (वह स्वयं) ऐसे जरा चिपटा हो वहाँ से ऐसे थोड़ा दवाब करे तो निकले। यह तो एक दृष्टान्त है, हों! दवाब से कहीं निकलना (नहीं होता), वह तो उसके कारण से निकलता है। आहाहा! जगत की रचना, तत्त्वों की स्वतन्त्र रचना (ऐसी है), उसे करे कौन?

कहते हैं, किसी भी कार्य में उत्पाद के समय या उस कार्य में वह नाश का कार्य हो, लो न! रोटी जले, घड़े फूटे... समझ में आया? शरीर के टुकड़े हों, हाथ टूट जाए, ऐसे बैठा हो और ऊपर से छुरा गिरा। कहीं रखा हो ऐसे और वहाँ बराबर छुरा (गिरे) टूटने में क्या इच्छा से तोड़ा है यह? ऐसा कहते हैं। उस विध्वंस में तो मात्र निमित्तमात्र है, उससे कुछ होता नहीं।

वास्तव में किसी कार्य के होने.. वास्तव में तो किसी भी पदार्थ के कार्य अर्थात् पर्याय। कार्य अर्थात् पर्याय। पर्याय कहो, कार्य कहो। किसी पदार्थ की पर्याय के कार्यकाल में पर्याय अवस्था कहो या कार्य कहो, द्रव्य त्रिकाल है। उसका वर्तमान / पर्याय / अवस्था

होता है, वह कार्य है। **किसी कार्य के होने व बिगड़ने में..** उत्पाद और व्यय। कहो, समझ में आया? उत्पन्न हो या व्यय हो, यह तो दो शब्द लिये हैं। उत्पाद भी स्वयं से और व्यय भी स्वयं से। अपना स्वरूप ही ध्रुव कायम रहता है। वस्तु ध्रुव-कायम रहकर उत्पाद-उपजना (होता है), व्यय-बदलना-जाना स्वयं से होता है। समझ में आया? कहो, इन लड़कों को पढ़ानेवाला एक का एक मास्टर हो और वह पढ़ने में उसकी योग्यता प्रमाण करता है। इन्हें निमित्त क्या करे? फिर वह कहे, हमें बराबर पढ़ाया नहीं। कहो, कैसे? समझ में आया? आहाहा! महासिद्धान्त है!

उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है। देखो! पाठ है, हों! '**स्यात्तत्र योग्यताया एव साक्षात्साधकत्वात्**' नीचे योग्यता का अर्थ सामर्थ्य कहा है। उसकी सामर्थ्य है। ४३ पृष्ठ। कहो, समझ में आया? यहाँ बराबर मौके से वह योग्यता आयी है। छूटने का आज आया है। विस्तार से बहुत हो गया। कहो, समझ में आया? वह '**निमित्तक्षेपः**' शिष्य का प्रश्न है कि इसमें निमित्त तो छूट जाता है। स्वयं अपने से ही लाभ होता है और अपने से नुकसान होता है, (ऐसा कहने में) निमित्त का कुछ नहीं रहता और निमित्त तो छूट जाता है, ऐसा कहते हैं। निमित्त का निराकरण हो जाता है, निमित्त का खण्डन हो जाता है, निमित्त छूट जाता है, निमित्त को छोड़ देते हो, ऐसा कहता है। ऐसा है, गुरु ने उसे जवाब दिया। ऐसा ही है, सुन न!

मुमुक्षु : उसमें तो कुछ लिखा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या कहा? **विध्वंसन में सिर्फ निमित्तमात्र हैं।** मात्र, निमित्तमात्र अर्थात् उपादान से अपना काम होता है। निमित्त है, परन्तु निमित्त होवे तो क्या? उसने यहाँ क्या किया? समझ में आया? **वास्तव में किसी कार्य के होने में..** किसी भी कार्य के होने में या बिगड़ने में अर्थात् उत्पाद-व्यय। यह तो भाषा (ऐसी) प्रयोग की है। किसी भी पदार्थ के उत्पाद काल में भी अपने से और व्यय में भी अपने से (कार्य होता है)। वह तो उत्पाद-व्यय—उत्पन्न होना और बिगड़ना। **उसकी योग्यता ही, उसकी योग्यता ही..** ऐसा है। **साक्षात् साधक होती है।** देखो! समझ में आया? यह बड़ा विवाद पर के साथ है, उसका इसमें हल है। आहाहा! कहते हैं कि **उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है। जैसे..** अब दृष्टान्त देते हैं। मूल पाठ में है न?

एक साथ गतिरूप परिणाम के लिये.. देखो! एक साथ जड़ और चैतन्य गति करते हैं। ऐसे गति करते हैं। देखो! युगपद् है न? '**युगपद्भाविगति**' ऐसा कहते हैं। बहुत जड़ और चैतन्य ऐसे एक साथ गति करते हों। उनके **परिणाम के लिये..** उनके परिणाम अर्थात् गति की अवस्था के काल में। **उन्मुख हुए पदार्थों में..** वह पदार्थ स्वयं ही उनकी पर्याय होने में उन्मुख हुआ है। पदार्थ स्वयं पर्याय को उन्मुख हुआ है। विमुख के बदले उन्मुख हुआ है। पदार्थ सन्मुख हुआ है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। आया है न! अपने डाला है। तत्त्वज्ञान में डाला है। उत्सुकता, घड़ा होने के लिए उत्सुकता नहीं। उत्सुकता नहीं, ऐसा लिखा है। देखा है? वह शब्द-तत्त्व। घड़ा होने में मिट्टी की... हाँ, उसमें डाला है। उत्सुकता नहीं, उन्मुखता है तो होता है। उन्मुखता न हो, उत्सुकता न हो तो नहीं होता। आहाहा! कहो, समझ में आया? यह आटे में से रोटी होने की उन्मुखता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अनेक प्रकार से उन्मुखता हो, उसमें निमित्त आवे....

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्मुख, ऐसा है ही नहीं। जो पर्याय होनेवाली है, वही उन्मुखता उसमें है। सबलरूप से प्रयत्न, वही उसकी मुख्य पर्याय होनी है, दूसरी पर्याय होती ही नहीं। योग्यता कहाँ से लाना? जैसा निमित्त आवे, वैसी योग्यता (होवे कोई कहे, उसे कहते हैं) जिस समय की (जो) उन्मुख योग्यता है, वही होता है। पण्डितों ने बड़ा विवाद कर डाला है। समझ में आया? यह पाठ में है, हों! देखो!

'युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका तद्वैकल्ये तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यादेवं' हो, सहकारी (कारण), किसने इनकार किया? समझ में आया? परन्तु यह आया, इसलिए यहाँ हुआ, ऐसा नहीं है। उसके होने के काल में हुआ है, तब दूसरे को निमित्त कहने में आता है। बात यह है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ बदलता नहीं। कौन बदले? बदले, तब तो यहाँ बहुत सुनते हैं। सब बदल जाएँ उसके साथ। उसे बदलने की-पलटने की पर्याय का काल हो तो वह

बदलता है। वही कहते हैं न वे ? जब तुम समझाते हो, तुम्हारा हेतु ऐसा है कि उसकी पर्याय बदले। इसलिए क्रमबद्ध है नहीं। अरे! सुन न! अरे! भगवान! वह तो वाणी के काल में वाणी की पर्याय परिणमती है। क्या आत्मा वाणी को करता है ? उसे करने की ताकत है आत्मा में ? वह तो अनन्त रजकणों का पिण्ड है। यह ऊँ..हूँ.. हुआ, वह तो अनन्त रजकणों के स्कन्ध का खकार आता है। वह तो जड़ की पर्याय है। वह जड़ की पर्याय स्वयं से उन्मुख है, उसमें आत्मा क्या करे उसे ? रोके किस प्रकार ? कहो, समझ में आया इसमें ? आहाहा! यह तो जिसे पर के अभिमान से छूटकर स्व में समाना हो, उसकी बात है।

मुमुक्षु : ....स्वयं पराधीन होकर लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह लगता है, ऐसा मानता है। लगे क्या ? वहाँ कहाँ (लगने का है) ? मानता है। वह कहाँ लगता है वहाँ ? कहो, देखो न! निमित्त का निराकरण हो जाता है। बात ऐसी ही है, कहते हैं। कार्य के काल में होता है, इतना है। निराकरण दूसरा क्या है ? आहाहा! दूसरे को समझाने की भाषा मैं करता हूँ, इसलिए समझेगा, (इस) बात में दम एक प्रतिशत भी नहीं है। आहाहा! कौन समझावे ? अपनी पर्याय का पलटन काल होता है तो अपनी पर्याय पलटती है। उसे पलटन का काल उसके कारण पलटेगा। तेरी भाषा से पलटेगा ? और भाषा को तू कर सकता है ? आहाहा!

मुमुक्षु : जगत से कोई अलग बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग बात है ?

मुमुक्षु : .....विचार करे कि अच्छा शिक्षक होवे तो ठीक।

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा शिक्षक होवे तो क्या करे वहाँ ? अतिशयता डाले। कहा न ? बगुले को सिखाना। अच्छा शिक्षक ला दो, बड़ा पाँच हजार के वेतन वाला।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बैठायेगा परन्तु करेगा क्या उसे सामनेवाले को ? समझ में आया ? मल्ल से मल्ल की कुश्ती है। वह प्रभाशंकर पट्टणी आयी था न, कुछ समझता नहीं ? आहाहा! **'कत्थदि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुं ति बलियाइ'** इसका अर्थ तू स्वयं विकार में बलवान होवे, तब उसे बल है—ऐसा कहने में आता है। सबल

ऐसा होवे तो तेरा बल उसमें जाता है। दूसरा क्या है ? आहाहा ! विकारभाव वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। उसके बल में जब तू जाए तो कर्म का बल है, ऐसा कहने में आता है। यह गाथा आ गयी है। आहाहा ! भारी विवाद करके बैठ गये। उपादान निमित्त, निश्चय व्यवहार और क्रमबद्ध, इन पाँच बोल (का विवाद है)। यह विवाद का विवाद परन्तु एक में सब आ जाता है। सुन न ! जिस द्रव्य की जिस समय में पर्याय का स्वकाल है, वह द्रव्य उसकी पर्याय की उन्मुक्तता में वर्तता है। समाप्त हो गयी (बात) तब। यह क्रम भी आ गया, उपादान से भी आ गया, निश्चय भी आ गया। आहाहा ! वह व्यवहार तो जाननेयोग्य हो गया। यह तो तीनों आ गये इसमें।

मुमुक्षु : क्रमबद्ध भी आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रम आ गया न ! कहा, उसकी पर्याय उस काल में उन्मुख होती है, बस ! पूरा हो गया। दूसरी चीज़ निमित्तमात्र हो, किसने इनकार किया है ? होवे तो क्या हुआ ? उसके कारण वह पर्याय सत् है ? आहाहा ! वे कहते हैं घड़ा अच्छा बनाना हो तो अच्छे कुम्हार को किसलिए बुलाते हैं ? कुछ घड़े में फेरफार करने की ताकत होगी तो न ? यह प्रश्न आता है अन्दर, कि अच्छा घड़ा बनाना हो, फर्स्ट क्लास, तब अच्छे कुम्हार को किसलिए बुलाते हैं ? अच्छा हलवा, दाल-भात अच्छा बनाना हो तो अच्छी बहिन को किसलिए (बुलाते हैं) ? फूहड़ को क्यों नहीं बैठाते हैं वहाँ ? जिसे अच्छा पकाना आया हो, बहुत वर्षों से (पकाकर) निष्णात हो गया हो, और एकदम ऐसे धीरे-धीरे ऐसे दूसरे को कैसे डालना, कहाँ डालना (उसकी सूझ पड़ती हो) उसे हलवा बनाने बैठाते हैं। एकदम लो, यह समय हो गया और यह हलवा टूटा। यह दस हलवा बनाया था टूटा, अन्तर न पड़े ऐसे हलवा बना डाल नहीं तो इज्जत जाएगी। फूहड़ (ऐसा कहे), मुझे क्या करना ? कैसे करना, कहाँ करना, क्या करना ? वह करती होगी, वह पुरुषार्थ से करती होगी न ? वे परमाणु जब अपनी हलवे की पर्यायरूप होने की उन्मुखता है, तब होते हैं। करे कौन ? ऐ.. न्यालभाई ! यह तो बहुत बड़ा विवाद उठता है।

मुमुक्षु : गुरु का माहात्म्य चला जाएगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरु का माहात्म्य इसी में है। कहते हैं कि तू सत् सत् से होता

है ऐसा मान, तब गुरु का माहात्म्य व्यवहार से कहलायेगा। पर है न? पर का माहात्म्य व्यवहार का है, निश्चय माहात्म्य तो अपना है। (अज्ञानी ऐसा कहे), अपने सीखा, उसका मान नहीं माने, उसका उपकार नहीं माने? अब सुन न! तुझे बनाना है बलजोरी? ऐसा कहे, ऐसा यदि करेगा तो फिर अपना उपकार नहीं माने, यह चार-चार महीने पढ़ा, मेहनत की, उसका अपने को कुछ नहीं मिलेगा? मुझसे तुमको हुआ है, हों! तो कुछ उपकार माने, सामनेवाला कुछ दे। फिर उसके प्रमाण में (दे)। अभिनन्दन (दे), महिमा (करे) बर्तन-फर्तन (दे)। तुम अच्छे हो और बहुत काम किया है। इतना दे, लो न! परन्तु सामनेवाले से हुआ हो तो न? सामनेवाले से न हुआ हो तो वह इतना भी किसलिए दे? धन्नालालजी! इस जगत को अभिमान ने मार डाला है। समझ में आया?

जो जगत के जड़ और चैतन्य अनन्त पदार्थ वर्तते हैं, वे अपनी वर्तमान अवस्था को उन्मुख हुए कार्य में वर्तते हैं। उसे दूसरी चीज़ सन्मुख आयी, इसलिए होता है—ऐसा है नहीं। आहाहा! गुरु ने यह जवाब दिया है। वह (शिष्य) कहता है, निमित्त छूट जाता है। कार्यकाल में तो मात्र निमित्तमात्र है। इसका अर्थ, उसमें उससे कुछ होता है, ऐसा धँसाने के लिए है, ऐसा नहीं है, यह कहते हैं उसका अर्थ। समझ में आया?

जैसे एक साथ गतिरूप परिणाम के लिये... देखो! बहुत (पदार्थ) जो पदार्थ गति के परिणाम उन्मुख हुए, ऐसा कहते हैं। जो पड़े हैं, उन्हें क्यों वह निमित्त नहीं होता? अर्थात् स्वयं ही गति करने को उन्मुख हुए हैं, उन्हें वह निमित्तमात्र कहलाता है, कितनी सरस बात है। समझ में आया? **पदार्थों में साक्षात् गति पैदा करनेवाली...** देखो! वे गति करनेयोग्य जीव हैं या जड़ हैं, उनमें **साक्षात् पैदा करनेवाली उन पदार्थों की ही गमन करने की शक्ति है...** पर्याय की, हों! शाश्वत् नहीं। उस समय की गमन करने की शक्ति अर्थात् पर्याय स्वयं हुई है, उस समय में स्वयं से हुई है।

क्योंकि यदि पदार्थों में गमन करने की शक्ति न होवे तो उनमें किसी के द्वारा भी गति नहीं की जा सकती। कहो, आकाश को गति क्यों नहीं कराता धर्मास्ति? आकाश पदार्थ ऐसे व्यापक पड़ा है। उसमें गति करने की योग्यता नहीं है। उसमें गति में निमित्त किसे हो? गति होनेयोग्य जो अपनी पर्याय से करे, तब वह निमित्त कहलाता है। आकाश

को करा दे न! यहाँ आकाश है, उसे धक्का दे न! (उससे कहे) आगे चल यहाँ से? यहाँ असंख्य अरूपी प्रदेश पड़े हैं न? समझ में आया? आकाश व्यापक है। जहाँ प्रदेश पड़े हैं, वह अनादि-अनन्त ऐसा का ऐसा है। उसका एक प्रदेश भी ऐसे हटता नहीं। जिसकी गति होने की योग्यता नहीं है, उसे निमित्त कहना किसे? समझ में आया?

यदि पदार्थों में गमन करने की शक्ति न होवे... लो! रजकण या आत्मा स्वयं गमन होने के योग्य न हों, वर्तमान पर्याय में, हों! **तो उनमें किसी के द्वारा भी गति नहीं की जा सकती। धर्मास्तिकाय तो गति कराने में सहायकरूप द्रव्यविशेष है।** लो! सहायकरूप अर्थात् साथ में है, ऐसा एक द्रव्यविशेष है। धर्मास्तिकाय गति कराने में सहायकरूप-साथ में रहनेवाला (द्रव्यविशेष है)। देखो! सहायक शब्द प्रयोग किया है। हस्तावलम्ब तुल्य देखकर उसे (सहायक) कहा है।

इसलिए वह गति के लिये सहकारी कारणमात्र हुआ करता है। लो! समझ में आया? इसलिए गति करनेवाले जड़ और चैतन्य की पर्याय में सहकारी अर्थात् साथ में ही (सहकारीकारणमात्र होता है)। यह निमित्त आया और यहाँ फिर हुआ, ऐसा है नहीं। यहाँ गति परिणमन करे, तब उसको सहकारी साथ में रहनेवाले को निमित्त कहा जाता है, साथ में रहा उसमें कालभेद कहाँ है कि उससे यहाँ हो? बड़ा विवाद। निमित्त अकिंचित्कर है, निमित्त को अकिंचित्कर सिद्ध करते हैं, व्यवहार से निश्चय कुछ होता नहीं और नियत ही होता है। यह ऐसा ही है, सुन न! अकिंचित्कर आता है। खूब लिखते हैं। अकिंचित् नहीं, किंचित्कर है अपने में। पर के लिए अकिंचित्कर है। पर का कार्य निमित्त कुछ नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? व्यवहार के ऐसे कथन आवें, इसलिए लोगों को ऐसा हो जाता है।

धर्मास्तिकाय तो गति कराने में.. कराने में, हों! वह (जड़-चेतन गति) करते हैं न, तब सहायकरूप द्रव्यविशेष सहकारी कारणमात्र (द्रव्यविशेष है)। सहकारी कारणमात्र, ऐसा है, देखो! **'सहकारीकारणमात्र स्यादेवं' यही बात प्रकृत में भी जाननी चाहिए।** प्रकृत में अर्थात्? शिष्य स्वयं समझने की पर्याय को उन्मुख है, तब गुरु मात्र निमित्तमात्र है। वे (जड़-चेतन) गति करते हैं, तब धर्मास्ति को निमित्त कहा जाता है। **यही बात**

प्रकृत में.. अर्थात् चलती बात, गुरु और शिष्य, शत्रु आदि, उसमें सब अपनी पर्याय जब करते हैं, तब वे निमित्तमात्र (होते हैं)।

इसलिए व्यवहार से ही गुरु... देखो! अब व्यवहार आया। '**व्यवहारादेव गुर्वादेः सुश्रुषा प्रतिपत्तव्या।**' देखो, वस्तुस्थिति ऐसी है। व्यवहार से गुरु की सेवा, विनय आदि करनेयोग्य है, ऐसा। इसका अर्थ कि निश्चय में तेरी सेवा करनेयोग्य है। आहाहा! समझ में आया? व्यवहार से ही, वापस व्यवहार से ही; निश्चय से नहीं। **गुरु आदिकों की..** साधर्मी गुरु आदि (की) सेवा-सुश्रुषा। भगवान तीर्थंकर आदि, उनकी प्रतिमा आदि व्यवहार से **सेवा, सुश्रूषा आदि की जानी चाहिए।** लो! इतनी बात है। उसे ऐसा ही कह दे कि इस पर के कारण मुझे यह भगवान की प्रतिमा है, यह मुझे भाव यहाँ करा देती है, भक्ति का भाव यह करा देती है। तू भाव का परिणमन पलटा करे, तब उस वस्तु को, मूर्ति को निमित्तमात्र कहा जाता है। मूर्ति यहाँ कोई परिणाम को दे दे, ऐसा है नहीं। समझ में आया? बहुत सरस बात आयी है, लो! '**बाह्यनिमित्तक्षेपः**' बाह्य निमित्त तो फेंका जाता है, तुम्हारा उपादान खड़ा रहता है, ऐसा कहता है। शिष्य ऐसा कहता है कि भाई! तुम्हारा उपादान खड़ा रहता है, निमित्त तो बाह्य फेंका जाता है, ऐसे फेंक दे, ऐसे तुमने फेंक दिया, लो! भाई! अब ऐसा ही है। सुन न! कहो, हरिभाई! अब इसका दोहा।

दोहा – मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्त मात्र पर जान, जिमि गति धर्मतें होय।।३५।।

मूर्ख न ज्ञानी हो सके,.. यह उसमें स्वयं में ताकत-मूर्खता भरी हो, उसे चाहे ऐसी बात करो तो उसे बैठेगी कहाँ से? वह तो ऐसा का ऐसा धोयी हुई मूली जैसा रहेगा। कहो, समझ में आया? **मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।** और ज्ञानी कहीं दुनिया अनन्त काल प्रतिकूल पड़े, इसलिए मूर्ख नहीं हो जाता। उसका जो भाव बैठा है, वह बदल डाले, (ऐसा है नहीं)। इतने-इतने लोग मिले, इसलिए बदल जाए, ऐसा है नहीं। **निमित्त मात्र पर जान,.. निमित्त मात्र पर जान,..** परचीज़-कोई भी चीज़ में जड़, चैतन्य के किसी भी काल में परवस्तु तो निमित्तमात्र है। एक दूसरी उपस्थित मात्र चीज़ है। **जिमि गति धर्मतें होय।** लो! जैसे गति धर्म से (धर्मास्तिकाय से) होती है, ऐसा

कहने में आता है। गति करने में धर्मास्ति निमित्त है। वह कहीं किसी को गति कराता नहीं है।

३५वीं गाथा में ऐसा तो सीधा दृष्टान्त दिया है और यह विवाद.. विवाद (किया करते हैं)। आचार्य के हृदय को नहीं देखता, आचार्य के कथनों को नहीं सुनता। अपना झण्डा (ऊँचा रखना चाहता है)। देखो! ऐसा हुआ और ऐसा हुआ। पहले क्यों नहीं होना था? बर्फ पड़ा तो पानी ठण्डा हुआ। पहले पानी क्यों गर्म नहीं हुआ? अग्नि आयी तो गर्म हुआ। प्रत्यक्ष दिखायी दे उसे तुम... यह क्या कहलाता है? भ्रष्ट इष्ट। आता है न? दिखायी दे और प्रत्यक्ष ज्ञात हो, उसे तुम मिथ्या सिद्ध करते हो, लो! एक व्यक्ति ऐसा कहता था। दृष्टि से दिखायी दे ऐसा कि पानी अग्नि से गर्म हुआ। तुम कहते हो कि पानी का उन्मुक्तता का गर्म होने का काल था और हुआ, अग्नि तो मात्र निमित्तमात्र है। आहाहा! भाई! मनुष्य का रखवाल करना हो तो उसे ध्यान रखना पड़े या नहीं? सम्हाल करनी हो, ऊपर से गिरता हो, उसका हाथ पकड़ ले एकदम, लो! वह निमित्त न हो तो नीचे गिरे या नहीं? ऊपर से गिरता हो, देखो वह बेचारा।

मुमुक्षु : वह गिरता हो तो भी न मरे।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु गिरे तो सही न नीचे?

मुमुक्षु : उसके कारण से।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अद्धर रह जाए। सर्कस में देखा है न? सर्कस में ऊपर से वह खेलाड़ी (नट) होवे न ऊपर? वह गिर जाए तो नीचे रखे, जालीवाला ऊपर रखे। कदाचित् गिर जाए तो झेल लिया जाए। वापस ऊँचा रखे, कोई ठेठ न हो। नीचे (होवे तो) कमर टूट जाए। तीन-चार हाथ ऊँचा रखे... वह बैठा होवे न? एक-एक टांग की... क्या कहलाता है? एक टाँग की कुर्सी। वहाँ वापस लकड़ी ऐसी हो। एक टाँग की कुर्सी (होती है)। उसमें यदि कुछ हुआ हो तो नीचे गिरे। नीचे रखते हैं न? झेल लिया जाए। कुछ नहीं किया उसने?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसे गिरने का था, इसलिए वहाँ उसकी जाली भी टूट

जाती है, एकदम! सुन न! उसकी जो पर्याय होनेवाली हो, वहाँ क्या हो? ऐसे जोर से गिरे कि जाली टूट जाए उसकी। उसकी पर्याय का अपना काल जो क्षेत्रान्तर में उन्मुख है, उसे रोकने के लिए कोई समर्थ नहीं है और उसे कोई टालने को समर्थ नहीं है। आहाहा! कैसे होगा? भाई! रविभाई! ऐसा होगा? ऐसा पढ़ाई में आता होगा तुम्हारे वहाँ? ले! आहाहा!

यह एक नियम समझ ले तो स्वतन्त्रता का ढिंढ़ोरा इसके ज्ञान में आ जाए। आचार्य ने धर्मास्तिकाय का दृष्टान्त दिया है, देखो! धर्मास्तिकायवत्। गति करे, तब धर्मास्तिकाय निमित्त कहलाता है। गति नहीं करे तो गति कराता है? स्थिर रहे तो? इसलिए कहा जो एकसाथ गति करते हैं, ऐसी भाषा ली है न? एकसाथ गति करते हैं। गति नहीं करते, उन्हें एक ओर रखो। उन्हें अधर्मास्ति निमित्त है। गति करके स्थिर हुए हों उन्हें। धर्मास्तिकाय का दृष्टान्त देकर तो बहुत स्पष्टता कर दी है।

***अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है?** अब एकदम अन्तर में (जाने की बात करता है)। पर से नहीं होता, स्वयं से होता है। अब हमारा आत्मा, उसका अन्दर ध्यान किस प्रकार करना? आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु, आत्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप है, उसका हमें अन्दर में आने का अभ्यास किस प्रकार करना? बाहर से कुछ नहीं होता, दूसरा कोई कर नहीं देता। **अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है?'** आत्मा के ध्यान का अभ्यास किस प्रकार किया जाता है?

इसमें अभ्यास करने के उपायों को पूछा गया है। शिष्य ने प्रश्न किया है। देखो! वापस गुरु को पूछता है। ऐई! उसकी ओर से कहा। **'अभ्यास कैसे किया जाता है?'** महाराज! वह अभ्यास करने की पर्याय का इच्छुक है, उसे ऐसा प्रश्न उठा है। **इसमें अभ्यास करने के उपायों को पूछा गया है।** इसमें कहेंगे एकान्त स्थल, हों! **अभ्यास करने के उपायों को (पूछा गया है।)** महाराज! प्रभु! आत्मा तो पूरा आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है, अनाकुल आनन्द का रसकन्द, वह आत्मा है। परन्तु अब हमें उसमें एकाग्रता का अभ्यास किस प्रकार करना कि जिससे हमारा कल्याण हो? उसका उपाय क्या है?

---

* अगले प्रवचन में भी ३५-३६ गाथा ली गयी होने से ३६ गाथा का मूल अंश उस प्रवचन में दिया गया है।
— सम्पादक

आत्मा आनन्दमूर्ति, वस्तु पूरी पूर्ण ब्रह्म आत्मा, उस ओर सन्मुख होने का अभ्यास, उसका कोई फल, उसका कोई उपाय है ? ऐसा पूछा है। उसकी धगश है।

मुमुक्षु : स्वयं गुरु होकर गुरु को खोजने निकला है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरु होकर गुरु को खोजने निकला है। ऐई ! है न यह पुस्तक बनायी है न इन्होंने ? वह स्वयं अपना गुरु होकर सत् को शोधना और सत् को जानना चाहता है, उसका नाम गुरु। यह पहले आ गया है। सत् की अभिलाषा सत्-मोक्षतत्त्व की अभिलाषा। मोक्ष अर्थात् आत्मा का सुख। उसकी अभिलाषा करनेवाला और उस सत् को जाननेवाला कि यह मोक्ष का सुख ऐसा होता है और उसमें प्रवर्तन करनेवाला, उसे गुरु कहते हैं, उसे गुरु कहते हैं। स्वयं की अभिलाषा करे, अपने को इस प्रकार से जाने और अपने में प्रवर्तन करे, उसे गुरु कहते हैं। यह बात आ गयी है। इसलिए यह गुरु इसका यह ही है। कहो, वजुभाई ! आचार्य ने बाकी नहीं रखा है। इन ५१ श्लोकों में तो... ओहोहो !

सो अभ्यास और उसके उपायों को कहते हैं। लो ! अब गुरु उसका अभ्यास कैसे करना और उपाय (दोनों को कहते हैं)। **बार बार प्रवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं।** अभ्यास की व्याख्या करते हैं। बारम्बार प्रवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं।

यह बात तो भलीभाँति प्रसिद्ध ही है। कहते हैं कि अभ्यास की व्याख्या— बारम्बार आत्मा की ओर का अभ्यास करना। आत्मा ज्ञान (स्वरूप है, ऐसा) बारम्बार, बारम्बार (अभ्यास करना)। लाख बात की बात छोड़कर निश्चय अन्दर में लाओ। बारम्बार ज्ञायक हूँ.. ज्ञायक हूँ.. ज्ञायक हूँ.. ज्ञायक हूँ। उस ओर का अभ्यास करना, यह तो अभ्यास की व्याख्या प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? बारम्बार प्रवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं, यह बात तो प्रसिद्ध है।

उसके लिये स्थान कैसा होना चाहिए ? इतनी बात रही। जब स्वयं अपना अभ्यास बारम्बार करना चाहता है, तब वहाँ कैसा क्षेत्र होगा ? **कैसे नियमादि रखने चाहिए ?** कैसे नियमादि वहाँ होने चाहिए ? समझ में आया ? नियम, नियम। **इत्यादि रूप से उसका उपदेश किया जाता है।** लो ! उसका उपदेश किया जाता है। **इसी प्रकार**

साथ में संवित्ति का भी वर्णन करते हैं। इसी प्रकार साथ में संवित्ति-आत्मा का अनुभव, आत्मा का अनुभव-वेदन का भी वर्णन किया जाता है।

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः।।३६।।

अर्थ – जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है,.. पहले तो अभ्यास करनेवाले जीव के चित्त में क्षोभ नहीं होता। वह यह, यह, यह करूँ, यह करूँ, यह रह गया, यह किया, यह छोड़ा, यह छोड़ा - यह सब क्षोभ हो, वह अन्तर के अभ्यास करने के योग्य नहीं है। समझ में आया? जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है। मोहक्षोभ विहीन परिणाम, वहाँ कहा न? यह तो वही कहा, यह रह गया, यह एक बनाया, यह छोड़ा और यह हो गया—ऐसे विकल्प के जाल का क्षोभ हो, वहाँ स्व में अभ्यास किस प्रकार करे? कहो, समझ में आया? जिसके चित्त में क्षोभ नहीं। मुझे इतना समझना रह गया, मुझे इतना समझाना रह गया, मुझे इतना करना रह गया, मुझे इतना कराना रह गया—ऐसे विकल्प के जाल वाला अन्तर्मुख अभ्यास नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : हमें तो समझना या नहीं समझना?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझना अलग बात है। यह तो स्वयं समझने की अभिलाषा की है न? परन्तु क्षोभ नहीं, तब अभिलाषा की है न? ऐसा क्षोभ जिसे नहीं है। एक ही बात- अपने ओर का अभ्यास करना है।

क्षोभ नहीं है, जो आत्मा स्वरूप रूप में स्थित है,.. देखो! यहाँ तो देखो! उठाना है न? आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है, उसमें जिसकी स्थिति है। क्षोभरहित उस ओर स्थिति है। यहाँ तो अब ध्यान करना है न! रागादिरहित और आत्मस्वरूप में स्थित है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह तो अन्तर की बातें हैं। जरा बहुत सूक्ष्मरूप से अन्दर भेद किये हैं। भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ऐसा पहले जाना है। जानकर उसमें क्षोभरहित हुआ है, आत्मा में स्थित है। यह आत्मा.. यह आत्मा.. यह आत्मा.. (ऐसे) स्थित है।

ऐसा योगी.. ऐसा आत्मा के साथ जुड़ान करनेवाला। आहाहा! ऐसा आत्मा

अपने आनन्दस्वरूप के साथ योग जोड़नेवाला योगी। ऐसी **सावधानीपूर्वक..** शान्ति से ख्याल करता हुआ **एकान्त स्थान में..** एकान्त स्थान हो। अन्तर में अपना रागरहित एकान्त स्थान है। बाहर में एकान्त स्थान कोलाहल आदि न हो। कहो, समझ में आया? पहले एकान्त स्थल तो कहा। क्षोभरहित और आत्मा में स्थित, वह अपना एकान्त स्थल है। आहाहा! मुझे दूसरों को समझाना है, मुझे अभी दूसरों से समझना है और ऐसी आकुलता बहुत हो, उसे स्वरूप में स्थिरता नहीं आ सकती, ऐसा कहते हैं। यह तो ऊँची बात लेनी है न!

कुछ करना नहीं। करके स्वरूप में स्थिर होना, एक ही बात है। क्षोभरहित भगवान आत्मा में स्थिर होना चाहता है, वह जरा स्थिर तो है। एकान्त स्थान में सावधानीरूप से **अपने आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करे।** समझ में आया? एकान्त स्थान में भी ख्याल रखे। ऐसा एकान्त स्थान मिल जाए (कि) जहाँ स्त्री आदि बैठी हो, पड़ी हो या ऐसे प्रकार हों तो वह सावधानी ख्यालसहित एकान्त स्थान में अन्दर एकान्त स्थान अपना, बाहर में कोलाहलरहित हो, वहाँ आत्मा के **अपने आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करे।** आहाहा! वहाँ भगवान का स्मरण करना या जाप करना, ऐसा यहाँ कुछ नहीं लिया।

अपना आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानानन्दमूर्ति प्रभु आत्मा ज्ञायक चैतन्य ज्योति में स्थिरता का, ध्यान करने का अभ्यास अन्तर्मुख में करे। यह देखो! यह इष्टोपदेश! इस उपदेश को इष्ट-उपदेश कहते हैं। जिसमें अपना हित हो सकता है। उसे ऐसा नहीं कि भाई! यह बहुत लोग मुझसे समझ जाएँ, फिर मुझे लाभ होगा, यह सब शल्य है, यह तो क्षोभ है। इससे मुझे काम नहीं है, मुझे मेरे से काम है। ऐसी जिसकी दृष्टि बँधी है, (वह) एकान्त में **अपने आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करे।** लो! समझ में आया? इसका विशदार्थ स्पष्ट अर्थ अधिक लेंगे। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४० गाथा-३५-३६ मंगलवार, दिनाङ्क १७-०५-१९६६
वैशाख कृष्ण १२, वीर संवत् २४९२

४२वें पृष्ठ पर अन्तिम दो लाईन से लें। गुजराती-हिन्दी क्या चलाना है? दो व्यक्ति हिन्दी है। अधिक तो गुजराती है। देखो! ३५वीं गाथा चलती है। ३५ में क्या है?

नाऽज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाऽज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्।।३५।।

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी जीव जो स्वयं योग्य नहीं है, उसे लाख तीर्थंकर आदि मिलें तो भी वह समझ नहीं सकता। समझ में आया? अपने में समझने की लायकात, योग्यता न हो, अपने उपादान में ताकत न हो तो लाख निमित्त मिले तो निमित्त से हजारों उपाय से भी वह कार्य नहीं हो सकता। निमित्त से पर में कार्य नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : निमित्त से बल तो बढ़ता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं बढ़ता। बलाधान, ऐसी भाषा आती है न? सब खबर है।

यहाँ कहा, अज्ञानी... कल यह दृष्टान्त आया था, बगुले को तोता की तरह नहीं पढ़ाया जा सकता। बग... बग... बगुला, उसे तोता की तरह नहीं पढ़ाया जा सकता क्योंकि बगुले में वह योग्यता ही नहीं है। इसी प्रकार जो आत्मा में अपने पुरुषार्थ से अपनी पर्याय में जो कार्य करने की योग्यता न हो तो दूसरे लाख निमित्त मिलें तो भी उसे पलटा नहीं सकते। समझ में आया? और ज्ञानी अपने स्वरूप में निश्चल दृष्टि, ज्ञानसहित है, उसे लाख-अनन्त प्रतिकूलता हो तो उस ज्ञानी को अज्ञानी नहीं कर सकती। समझ में आया? परपदार्थ कोई भी पदार्थ की क्रिया में अकिंचित्कर है, ऐसा यहाँ बतलाना है।

मुमुक्षु : लिखा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो! धर्मास्तिकायवत् बताना है या नहीं? धर्मास्तिकाय, जड़ और चैतन्य पदार्थ अपनी गति के योग से गति-गमन करता है, उसमें धर्मास्ति निमित्त

कहलाता है। यदि स्वयं गति नहीं कर सके तो धर्मास्ति दूसरे को गति नहीं कराता। समझ में आया? यह गाथा बहुत अच्छी है। पहले से अपने तो लिया है, पहले से, शुरुआत से। निमित्त करता है, करता है, निमित्त पर में कुछ करता है, कुछ बलाधान देता है, कुछ सामर्थ्य देता है, ऐसी लोग पुकार करते हैं। पुकार करो तो करो, वस्तु में पर से कुछ फेरफार नहीं होता। कहो, समझ में आया?

यहाँ शंका यह होती है... ४२ पृष्ठ पर अन्तिम दो लाईन। **यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा?** महाराज! आपने तो निमित्तों को फेंक दिया। धन्नालालजी! क्षेपः। छोड़ दिया, तुमने तो छोड़ दिया, झटक डाला। समझ में आया? जैसे दाने में से, कण में से तुच्छ-तुच्छ छिलके होते हैं न? छिलके, उस छिलके को जैसे झटककर निकाल डाला जाता है; वैसे तुमने तो निमित्तों को छोड़ दिया, झटक डाला, क्षेप कर डाला, जाओ! निमित्त से कुछ नहीं होता। समझ में आया? **निमित्तों का निराकरण ही हो जाएगा?** निमित्त से कुछ हुआ नहीं तो निमित्त का खण्डन हो गया। ऐसा शिष्य का प्रश्न है। निमित्त का तो खण्डन हो गया, निमित्त का निरास हो गया। निरास अर्थात् निकाल हो गया कि निमित्त से कुछ नहीं होता।

इसके विषय में जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं,... आचार्य जवाब देते हैं। **इसके विषय में जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक...** सब लिया है, हों! गृहस्थाश्रम में भी कोई एक आत्मा को दूसरा आत्मा, शिष्य को गुरु और शत्रु आदि **प्रकृत कार्य के उत्पादन में...** कोई भी द्रव्य-पदार्थ में कार्य का उत्पन्न होना होता है और बिगड़ता है, किसी भी पदार्थ की अवस्था जब स्वयं से बिगड़ती है और जब स्वयं से सुधरती है और उत्पन्न होती है, उसमें दूसरी वस्तु **सिर्फ निमित्तमात्र हैं।** कोई दूसरे को बिगाड़ता है और उत्पन्न करता है, ऐसी निमित्त में ताकत नहीं है। लोग ऐसा कहते हैं कि निमित्त को अकिंचित्कर कहते हैं, अकिंचित्कर कहते हैं। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं, निमित्त अकिंचित्कर है, अकिंचित्कर है। समझ में आया?

वास्तव में किसी कार्य के होने... यह सामान्य सिद्धान्त कहते हैं, हों! कोई एक नहीं; पूरा सिद्धान्त। पूरे जगत के जितने द्रव्य हैं, और जितने उनमें गुण हैं और उनकी

वर्तमान पर्याय की जितनी कार्यशक्ति है, उस सबकी (बात है)। **वास्तव में किसी कार्य के होने व बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है।** घड़े के उत्पन्न होने में मिट्टी की योग्यता से ही घड़ा उत्पन्न होता है, कुम्हार से नहीं। नहीं? कुम्हार से नहीं बनता? बना दो, कुम्हार बिना घड़ा बन जाता हो तो। क्या कोई पदार्थ उत्पाद बिना रहता है? उत्पाद कहो या कार्य कहो। कोई पदार्थ, जड़ हो या चैतन्य हो, अपनी वर्तमान अवस्था में उत्पाद बिना, उत्पत्ति बिना रहता है? तो पदार्थ की उत्पत्ति, जो पर्याय हुई, वह उसका कार्य है। समझ में आया?

जड़ हो या चेतन हो, अपनी वर्तमान अवस्था की उत्पत्ति बिना कोई पदार्थ नहीं रहता। स्वयं से पर्याय में उत्पत्ति होती है, उसमें दूसरा क्या करे? और स्वयं से स्वयं की पर्याय का व्यय होता है, ध्वंस होता है, नाश होता है, अभाव होता है, उसमें दूसरा क्या करे? धन्नालालजी! ओहोहो! बड़ी गड़बड़ करते हैं, ऐसा कहते हैं कि सोनगढ़ ऐसा कहता है, सोनगढ़िया ऐसा कहते हैं। कितने ही और ऐसा कहते हैं। भगवान! तुझे जो कहना हो, वह कह, परन्तु वस्तु तो ऐसी है। धन्नालालजी! क्या करे?

यह क्या कहते हैं? **वास्तव में किसी कार्य के होने...** अपना ज्ञान होने में, अपनी श्रद्धा होने में, अपना चारित्र होने में, अपना आनन्द होने में, अपने वीर्य की स्फुरणा होने में, अपना आत्मा स्वयं से कार्य करता है। अपनी योग्यता से (कार्य) होता है। समझ में आया? कोई कहता है न कि चावल अकेले पानी के बिना नहीं चढ़ते। चावल, सींझते कहते हैं न? क्या कहते हैं? पानी के बिना, जल के बिना चावल नहीं चढ़ते। यहाँ कहते हैं कि चावल स्वयं से ही चढ़ते हैं।

मुमुक्षु : पानी से नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पानी से नहीं, तीन काल में नहीं, क्योंकि पानी अपनी पर्याय का उत्पाद करनेवाला है। चावल अपनी पर्याय का उत्पाद करनेवाला है। दोनों का समय एक ही है। पानी ने चावल में क्या उत्पन्न कर दिया? और पानी की पर्याय पानी में उत्पन्न हुए बिना रहती है? कि पानी निकम्मा है कि अपना कार्य नहीं करता और पर का कार्य करने जाए? वे चावल स्वयं से पर्याय में उत्पन्न होकर पोचा हो जाते हैं। पोचा को क्या कहते हैं?

नरम हो जाते हैं। स्वयं से होते हैं। उनमें स्पर्शगुण नहीं ? स्पर्शगुण की पर्याय नरम होने की योग्यता से नरम होती है। क्या पानी से नरम होते हैं ?

मुमुक्षु : पानी चाहिए तो सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : पानी चाहिए पानी के घर में। इस घर में कहाँ आया है ? चावल को तो उसका स्पर्श भी नहीं होता। चावल को पानी का स्पर्श भी नहीं होता। आहाहा ! क्या कहा ? चावल को पानी छूता ही नहीं, स्पर्श ही नहीं करता, कभी छुआ नहीं।

मुमुक्षु : चावल चावल में, पानी पानी में।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ठीक, परन्तु पानी चावल को स्पर्श ही नहीं करता। कहाँ से स्पर्श करे ? द्रव्य भिन्न-भिन्न है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अपना पदार्थ रहता है, दूसरा पदार्थ उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में रहता है। कोई किसी को स्पर्श करता ही नहीं। आहाहा ! समझ में आया ?

यह तो समयसार की तीसरी गाथा में कहा। सब पदार्थ जड़ हो या चेतन हो, अपने में रहनेवाले जो अनन्त गुणरूप धर्म हैं, उसे वह पदार्थ छूता है, स्पर्शता है। हमारी काठियावाड़ी भाषा में कहें तो सभी द्रव्य अपने गुण को अड़ते हैं। तुम्हारी भाषा में छूते हैं, चूमते हैं। सब आत्मा और परमाणु, उसमें जितने अनन्त गुणरूप धर्म हैं, वह स्वयं को चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं। परद्रव्य को तो कभी छूते नहीं। कहो, समझ में आया ? चावल को पानी छूता नहीं तो चावल को सीझा दिया, पानी से, अग्नि से चढ़ गये, यह बात निमित्त का कथन है, वस्तु की स्थिति का यह कथन नहीं है। समझ में आया ?

वास्तव में किसी कार्य के होने व बिगड़ने में... यह तो व्यय और उत्पन्न की बात करते हैं। **उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है।** नीचे लिखा है '**सामर्थ्यस**' योग्यता का अर्थ किया है, भाई ! है न योग्यता ? '**निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यताया**' इसका अर्थ किया '**सामर्थ्यस**' नीचे इसका अर्थ है। प्रत्येक रजकण और आत्मा अपनी पर्याय के सामर्थ्य से उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का अपनी पर्याय का कार्य अपने सामर्थ्य से होता है। निमित्त के सामर्थ्य से कार्य नहीं होता। कहो, यह ३५ वीं गाथा का एक ही सिद्धान्त पूज्यपादस्वामी ने लिया है। जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की टीका बनायी सर्वार्थसिद्धि

(नाम) की टीका बनायी है, वे कहते हैं कि किसी भी द्रव्य की पर्याय बिगड़ने में और सुधरने में स्वयं के सामर्थ्य से ही कार्य करती है। कोई द्रव्य, कोई वस्तु पर से कोई काम लेती नहीं। कहो, बराबर होगा? जुगराजजी! क्या है? कपड़े की दुकान उससे चलती है?

अनन्त पदार्थ हैं। अनन्त, अनन्त (रूप से) रहकर अनन्त की पर्याय अपने में अपने सामर्थ्य से उत्पन्न होती है, पूरा हो गया। अनन्त में किसी का मिश्रण हो जाए, मिलावट हो जाए और दूसरे के कार्य को दूसरा कर दे और दूसरे का कार्य रुक जाए, ऐसा तो है नहीं। समझ में आया?

वास्तव में किसी कार्य के होने... जगत में कोई भी कार्य होने में। अहो! इसमें तो कितनी शान्ति! अपने आनन्द का कार्य होने में अपना ही सामर्थ्य है। समझ में आया? मेरा सुख, मेरा आनन्द मुझसे ही उत्पन्न होता है। मेरे आनन्द की उत्पत्ति के कार्य में राग, पर, स्त्री, परिवार, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत, कोई मेरे आनन्द के कार्य में बिगाड़-सुधार नहीं कर सकते। मेरे आनन्द के कार्य में परपदार्थ बिल्कुल अकिंचित्कर है। आहाहा! समझ में आया?

मेरा सुख मेरे पास है। मैं आनन्दस्वरूप हूँ और मेरा आनन्दगुण अपने सामर्थ्य से वर्तमान में आनन्द के उत्पाद का कार्य करता है, अपनी सामर्थ्य से (करता है)। कोई स्त्री, कुटुम्ब मिले, लक्ष्मी मिली तो मुझे आनन्द हुआ, ऐसा वस्तु में तीन काल में नहीं है। आहाहा! कहो, समझ में आया? कहो, यह पास होवे, तब आनन्द आवे, वह कहीं पास होने के कारण आता होगा या नहीं? भाई! रतिभाई! नहीं? कहते हैं कि भाई! तुझे जो हर्ष हुआ, वह हर्ष जो तेरा आनन्दगुण है, उस आनन्दगुण का विपरीत कार्य जो हर्ष, वह तो तेरे सामर्थ्य से हुआ है। आत्मा में जो आनन्द है, उसका विपरीत जो हर्षभाव है, वह तुझसे हुआ है, पर से नहीं हुआ और यह हर्ष है, वह दुःख है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा, आनन्दस्वरूप आत्मा है। वह अब ३६वीं गाथा में आयेगा। अपना स्वरूप ही आत्मा आनन्द है, ऐसा जिसने उपादेय तत्त्व का निर्णय किया तो, उस उपादेय तत्त्व में मुझसे ही मेरा आनन्द है, मेरे आनन्द का कार्य करने में मैं ही योग्यता धारक हूँ और मेरे आनन्द के समाधान में, शान्ति में मेरा ही सामर्थ्य काम करता है। राग और संयोग कुछ काम नहीं करते। आहाहा! समझ में आया? अनन्त द्रव्यों के ऊपर से दृष्टि उठ गयी। इस

पैसे से सुख है, स्त्री से सुख है, पाँच पुत्र हैं तो... बहुत सुख है, (ऐसा माननेवाला) मूढ़ है, कहते हैं। तेरी कल्पना को करने का कार्य तेरे सामर्थ्य से उत्पन्न होता है, पर से बिल्कुल नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, अपना कार्य होने में... यहाँ तो आनन्द का कार्य लिया है, ऐसे ही बिगड़ने में, उस आनन्द को बिगाड़ना। पर में सुख है, पर मुझे अनुकूल है, वह प्रतिकूल हो गया, ऐसी तेरी कल्पना, आनन्द को बिगाड़ने में तेरी योग्यता कारण है, कर्म भी कारण नहीं। आहाहा! धन्नालालजी! आहाहा! अरे! तेरी वस्तु ऐसी है। ऐसे तत्त्व का निर्णय न करे और दूसरा निर्णय करे तो तेरी वह मिथ्यादृष्टि है। वह दुनिया में भटकानेवाली है, घुमानेवाली है, दुःख उत्पन्न करानेवाली है।

बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है। देखो! साक्षात् साधक। तब कोई ऐसा कहे, उसमें से परम्परा से होता होगा या नहीं? वह तो निमित्त से कहने में आता है। है नहीं, उसे कहने का नाम व्यवहार साधक कहने में आया है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : इसमें अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस आत्मा का आनन्द आत्मा में है। इस आनन्द का कार्य करने में आत्मा अपनी योग्यता से समर्थ है। कर्म मन्द पड़े तो मुझे आनन्द उत्पन्न हो, दर्शनमोह नाश को प्राप्त हो तो मुझे आनन्द उत्पन्न हो, ऐसा है नहीं। ऐसा है ही नहीं। समझ में आया?

जैसे एक साथ... देखो! आचार्य महाराज ने दृष्टान्त दिया। **एक साथ गतिरूप परिणाम के लिये...** देखो! ऐसा कहते हैं, गति में परिणमन करनेवाले एक साथ बहुत पदार्थ हैं। धर्मास्तिकाय तो एक ही है। समझ में आया? **एक साथ गतिरूप परिणाम के लिये...** परिणाम के लिए अर्थात् कारण से। **उन्मुख हुए पदार्थों में...** जो जड़ और आत्मा अपनी गति की योग्यता में उन्मुखता, योग्यता से गति करते हैं। अपनी उन्मुखता से, हों! **पदार्थों में गति की साक्षात् पैदा करनेवाली...** देखो! यह शरीर चलता है, आत्मा भी चलता है। देखो! तो कहते हैं एक साथ अनन्त रजकण हैं और उसमें आत्मा है। उसमें तैजस है, उसमें कार्माण है, वे सब एक साथ अनन्त रजकण और एक आत्मा, और साथ

में दूसरे बहुत आत्मा हों, उनकी भी गति होने की योग्यता से अन्तर चले, सूक्ष्म एकेन्द्रिय (होवे, वह भी चले)। समझ में आया?

कहते हैं **एक साथ गतिरूप परिणाम के लिये...** यह गति करते हैं, देखो! स्वयं के कारण से, हों! **उन्मुख हुए...** अपनी पर्याय के सन्मुख हुए। उन्मुख हुए -सन्मुख हुए, लायकात से कार्य करने में तैयार हुए। **पदार्थों में गति की साक्षात् पैदा करनेवाली उन पदार्थों की ही गमन करने की शक्ति है।** पर्याय, हों! पर्याय। गमन करने की वर्तमान पर्याय साक्षात् उसका कारण है। धर्मास्तिकाय तो निमित्त कहलाता है। धर्मास्तिकाय यहाँ है, यह धर्मास्तिकाय चलाता नहीं। क्यों? ऐसा लिया न? कि **एक साथ गतिरूप परिणाम के लिये उन्मुख हुए पदार्थों...** सब नहीं। सब तो कहाँ गति करते हैं। जितने एक समय में गति करते हैं, वे सब अपनी योग्यता से गति करते हैं। धर्मास्तिकाय निमित्त है। धर्मास्तिकाय ने उनमें क्या किया?

मुमुक्षु : सहायक हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सहायक का अर्थ साथ में है। सहायक का अर्थ मदद करता है और होता है, ऐसा अर्थ ही नहीं है। सहायक है, साथ में है। कालभेद है? यहाँ गति और धर्मास्तिकाय ने मदद की, धर्मास्तिकाय यहाँ आया, फिर गति हुई, ऐसा है? यहाँ गति की तो निमित्त है। उसमें समय भेद कहाँ है? कार्य के काल में समय भेद तो है नहीं। समझ में आया? आहाहा! एक सिद्धान्त यदि समझ ले... समझ में आया? थोड़ा-थोड़ा ऐसे (बैठना), हों! लड़के बाहर बैठे हैं।

मुमुक्षु : लड़कों को समझ में आता होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब आत्मा समझे। समझे या नहीं? किरीट! बड़े को बुलाया। क्या करे? लड़के थोड़ा-थोड़ा हिन्दी तो समझते हैं या नहीं? भाई! किसे पूछें? कौन बोले? यह तो सादी भाषा है। हिन्दी कहीं ऐसी (कठिन) भाषा नहीं है। ये लोग गुजराती नहीं समझते परन्तु हिन्दी ऐसी भाषा नहीं कि गुजराती को न समझ में आये। क्या कहते हैं? सुनो!

एक समय में जड़ और चैतन्य अपने में गति करने की योग्यता से और अपनी पर्याय कार्य उत्पन्न होने में उन्मुख हुई है तो अपने से परिणमन करती है। समझ में आया?

अपनी गमन करने की शक्ति अपने से होती है। आकाश क्यों गति नहीं करता? धर्मास्तिकाय यहाँ है, आकाश क्यों गति नहीं करता? उसमें गति करने की योग्यता नहीं है। एक समय की पर्याय में, हों! गुण में नहीं। एक समय की पर्याय में गमन करने की तो सबमें (योग्यता है)। सब द्रव्य तो एक समय में गमन करते नहीं। बहुत जड़ और चैतन्य स्थिर भी हैं। जिसकी जिस पर्याय में जिस समय में, जिस योग्यता से गमन करता है, जड़ और चैतन्य, वह अपने कारण से है, धर्मास्तिकाय तो निमित्तमात्र है, तो (अज्ञानी कहता है), नहीं, दो कारण से कार्य होता है। विवाद (करता है)।

यह आया, एक आरोपित कारण और एक यथार्थ कारण। यथार्थ कारण अपनी पर्याय की योग्यता; आरोपित कारण दूसरा निमित्त है, उसे आरोप दिया जाता है। वह वास्तविक कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो सभी द्रव्य अपनी पर्याय से कार्य करते हैं, वह उसका वास्तविक कारण है। निश्चय से तो पर्याय का कारण पर्याय है। पर्याय का कारण द्रव्य भी नहीं।

मुमुक्षु : पूर्व की पर्याय का अभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई नहीं, अभाव भी नहीं। एक समय की पर्याय, वही उत्पाद का कारण उत्पाद, व्यय भी नहीं। सूक्ष्म बात है। एक समय की पर्याय ही अपना कारण और अपना कार्य। पूर्व का व्यय द्रव्य-गुण की बात नहीं। ऐसी स्वतन्त्र पर्याय की लायकात से पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! समझ में आया?

सत् अहेतुक है। जो कोई जड़, चेतन अपनी पर्याय से उत्पन्न होता है, उत्पन्न हुआ वह द्रव्य से उत्पन्न हुआ, ऐसा कहने में आता है। पश्चात्, पर्याय है तो स्वयं से है। समझ में आया? स्वयं से ही उत्पन्न हुई है। अपने द्रव्य-गुण से नहीं। क्या कहा? द्रव्य की जो पर्याय (उत्पन्न हुई), वह अपने द्रव्य-गुण से हुई नहीं, तो पर से (उत्पन्न हो), यह तो कहाँ से होगा? उस समय की ऐसी ताकत शक्ति है। समझ में आया? आहाहा!

एक परमाणु है। एक परमाणु में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श तो भरा हुआ है। एक परमाणु में जब हरी पर्याय है और दूसरे परमाणु में काली पर्याय है। कारण क्या? क्या कहा? एक में काली है, एक में हरी है, कहो! उसका कारण क्या? निमित्त कारण कहो तो निमित्त तो

सबमें एक सरीखा है। द्रव्य-गुण कहो तो द्रव्य-गुण तो सबमें एक सरीखा है। उस पर्याय के कारण से पर्याय स्वतन्त्र है। समझ में आया?

(संवत्) २००३ के वर्ष में प्रश्न हुआ था। महेन्द्रकुमार पण्डित ने लिखा था। हमें वचनबद्ध कर डाला। वचनबद्ध नहीं किया, वस्तु का स्वरूप ऐसा है, ऐसा कहते थे, ऐसा प्रश्न करते हैं कि हमें निरुत्तर कर देते हैं। निरुत्तर करते हैं या वस्तु का ऐसा स्वरूप है? समझ में आया? (संवत्) २००३ के साल में विद्वत् परिषद में आये थे न? महेन्द्रकुमार गुजर गये न! बड़े पण्डित थे। कैसे? न्यायाचार्य। गुजर गये। बेचारे छोटी उम्र में (गुजर गये) वे केवलज्ञान को नहीं मानते थे। एक समय में तीन काल-तीन लोक देखते हैं। यह.... विचार था। केवली तीन काल जानें ऐसा नहीं। तीन काल जानें उसमें सबको अड़चन आती है। एक समय में केवलज्ञान की पर्याय तीन काल-तीन लोक को जाननेवाली, वह पर्याय, पर्याय से उत्पन्न हुई है। आहाहा! समझ में आया? द्रव्य-गुण (कारण) कहो तो द्रव्य-गुण तो सबमें हैं। निमित्त (कारण) कहो तो सबको निमित्त है। मतिज्ञान उत्पन्न करने में भी निमित्त है, श्रुतज्ञान में भी (निमित्त है) केवलज्ञान क्यों उत्पन्न हुआ? भाई! समझ में आया? केवलज्ञान एक समय की पर्याय में तीन काल-तीन लोक अपनी पर्याय में ज्ञात हो गये। क्यों हुई? क्यों हुई क्या, अपनी योग्यता से उत्पन्न हुई है। समझ में आया? द्रव्य-गुण तो त्रिकाल हैं, द्रव्य-गुण थे तो सही, क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? वहाँ तो ऐसा कहते हैं कि इतनी एकाग्रता नहीं थी। चैतन्य की बात है न? समझ में आया? ऐसा कहते हैं। इतनी एकाग्रता नहीं थी। पहले एकाग्रता नहीं थी और फिर एकाग्रता हुई तो केवलज्ञान हुआ। तब द्रव्य-गुण का आश्रय हुआ। लोग झट नहीं समझ सकते। परमाणु में कहाँ एकाग्रता होने का कुछ है? वह तो सबमें ऐसा है, हों! यह तो जरा लोग अटके, इसलिए यह सिद्धान्त समझने में मुश्किल पड़ता है।

परमाणु लो, एक-एक रजकण पॉईन्ट है। देखो! यह पॉईन्ट अपना परमाणु है, अपनी ठण्डी अवस्था है, दूसरे समय में गर्म हो गयी। कारण क्या? स्पर्शगुण। स्पर्शगुण तो सबमें है। ऐसा क्यों हुआ? समझ में आया? उस पर्याय के सामर्थ्य से अपनी योग्यता से पर्याय उत्पन्न हुई। ऐसी स्वतन्त्र दृष्टि जब होती है तो मेरा आत्मा आनन्दकन्द स्वतन्त्र त्रिकाल है, ऐसी दृष्टि होती है, तब उसकी पर्याय में आनन्द का अनुभव होता है, वह

स्वतन्त्रता का फल है। समझ में आया ? मात्र बात करने की बात नहीं है, यहाँ तो स्वतन्त्रता अन्दर लानी है। समझ में आया ? मात्र बात करे, ऐसा होता है। वह तो ठीक, परन्तु वह तुझे किस काम का ? तूने उसमें से क्या लाभ किया ? उस सिद्धान्त में से वीतरागता निकालनी चाहिए न ?

परमाणु में भी एक समय में जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है वह स्वयं से होती है, स्वतन्त्र है। अहो ! मेरा द्रव्य स्वतन्त्र है, गुण स्वतन्त्र है, मेरी पर्याय स्वतन्त्र है। पुरुषार्थ से इतना जहाँ स्वसन्मुख होकर कार्य किया, वहाँ आनन्द के अनुभव का लाभ हुआ। वह स्वतन्त्रता के कार्य का लाभ है। समझ में आया ? मुझे कोई काल रोकता है या कर्म रोकते हैं, ऐसी कोई वस्तु नहीं है। पूर्व में बहुत उल्टे संस्कार से उल्टे कर्म बाँधे थे, वे मुझे रोकते हैं, बिल्कुल यह बात नहीं है। समझ में आया ?

कहते हैं **पदार्थों में गमन करने की शक्ति न होवे तो उनमें किसी के द्वारा भी गति नहीं की जा सकती।** आकाश में गति करने की योग्यता नहीं है। आकाश सर्व व्यापक पदार्थ है न ? उसमें गति करने की योग्यता नहीं है। यहाँ आकाश है, उसे हटा दो। यहाँ से थोड़ा दूर करो। कहाँ से करे ? जहाँ पड़ा है, वहाँ आकाश तो अनादि-अनन्त पड़ा है। अरूपी.. अरूपी.. अरूपी। कहते हैं, **क्योंकि यदि पदार्थों में गमन करने की शक्ति न होवे तो उनमें किसी के द्वारा... किसी के द्वारा... किसी के द्वारा...** कोई महासामर्थ्यवाला आया हो तो उसके द्वारा भी गति नहीं करायी जा सकती। आहाहा ! यह एक सिद्धान्त समझे तो लोग शोर मचाते हैं। निमित्त भी उड़ गया यहाँ से। कहाँ रहा ? पर के कार्य में से निमित्त उड़ गया, निमित्त में निमित्त रहा। वह पदार्थ है या नहीं ? पदार्थ नहीं रहा ? पदार्थ कहाँ जाए ? वह भी अपनी पर्याय से कार्य करता है। निमित्त तो उसकी अपेक्षा से निमित्त (कहते हैं)। उपादान की अपेक्षा से निमित्त कहा, इसकी अपेक्षा से उपादान है या नहीं ? वह भी अपनी पर्याय से काम कर रहा है। निमित्त भी अपनी पर्याय से काम कर रहा है। यहाँ कार्य होनेवाला है तो मुझे आना पड़ेगा, ऐसा नहीं है। ओहोहो ! उपादान-निमित्त का झगड़ा, निश्चय-व्यवहार का झगड़ा, इसमें सब उड़ गया, लो ! देखो !

आत्मा अपने सामर्थ्य से निर्विकारी श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति को उत्पन्न करनेवाला हुआ, राग क्या करता है ? उसमें व्यवहार क्या करे ? उसमें व्यवहार क्या करता है ? ऐसा कहते

हैं। समझ में आया? अपने आत्मा में आनन्द है, अतीन्द्रिय आनन्द है, ऐसी दृष्टि होकर अपनी पर्याय में-अवस्था में-आनन्द के सन्मुख होकर अपना कार्य हुआ, उसमें व्यवहार दया, दान, विकल्प का क्या कार्य है? इसने उसमें क्या किया? इसने अर्थात् व्यवहार ने, उसमें अर्थात् निश्चय में। क्या किया? क्या करे? भाई! कषाय मन्द की है, दया, दान करते हैं तो हमें आनन्द का कार्य हुआ (यह बात) बिल्कुल झूठ बात है। समझ में आया?

अपना स्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसकी जहाँ दृष्टि, विश्वास अन्दर में हुआ कि मैं तो आनन्द हूँ, मेरा आनन्द बाहर में कहीं नहीं है। शरीर में नहीं, विषय में नहीं, पुण्य परिणाम में नहीं, व्यवहाररत्नत्रय में मेरा आनन्द नहीं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय के राग की मन्दत के भाव में मेरा आनन्द नहीं है।

मुमुक्षु : व्यवहार की शुद्धि तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी शुद्धि नहीं। शुद्धि कहाँ से आयी? निश्चयशुद्धि तो यहाँ रही। व्यवहार कहाँ रहा? शुद्धि तो अपना स्वभाव ज्ञायक चिदानन्दमूर्ति मैं हूँ, सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। यह अभी ३६ (गाथा में) कहेंगे। समझ में आया? पर से अपने में शुद्धि होती है, ऐसा कहता (मानता) है। आहाहा! ऐसी बहुत गड़बड़ (करते हैं)। सिरपच्ची (करते हैं) व्यर्थ में, बैठ न एक ओर अब। '**विरम अकार्यकोलाहलेन**' यह श्लोक नीचे देंगे। समझ में आया?

धर्मास्तिकाय तो गति कराने में सहायकरूप द्रव्यविशेष है। द्रव्यविशेष है। विशिष्ट पदार्थ है, ऐसा कहते हैं। हो, गति करने में निमित्त है बस! गति कराने में सहायकरूप एक निमित्तरूप द्रव्यविशेष है। भले चीज़ हो, कार्य स्वयं से होता है, वहाँ दूसरी वस्तु है। समझ में आया? शिष्य अपनी योग्यता से काम करता है, गुरु निमित्त है। गुरु ने उसमें क्या करा दिया?

मुमुक्षु : द्रव्यविशेष अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्यविशेष अर्थात् खास द्रव्य। धर्मास्तिकाय खास द्रव्य है। खास अर्थात् अलग द्रव्य है। समझ में आया?

इसलिए वह गति के लिये सहकारी कारणमात्र हुआ करता है। देखो! इसलिए

प्रत्येक पदार्थ में जब अपना कार्य होता है, तब धर्मास्तिकाय सहकारी (कारणरूप से होता है)। सहकारी शब्द का क्या अर्थ? साथ में। सहकारी-साथ में। यह आया तो हुआ, इसने किया ऐसा तो है नहीं। सभी द्रव्य (जीव और पुद्गल) अपनी पर्याय की गति करते हैं तो सहकारी कारण है, दूसरा (पदार्थ) है।

यही बात प्रकृत में भी जाननी चाहिए। प्रकृत में अर्थात् चलती बात में। अज्ञ को ज्ञान नहीं दिया जा सकता। जिसे ज्ञान का भान नहीं, उसे ज्ञान नहीं कराया जा सकता और ज्ञानी को अज्ञानी नहीं कराया जा सकता। यह इसका सिद्धान्त ले लेना। समझ में आया? तीन काल-तीन लोक में जितने पदार्थ अपनी पर्याय से परिणम रहे हैं, उनमें दूसरी कोई चीज़ काम नहीं करती। **इसलिए व्यवहार से ही गुरु आदिकों की सेवा, सुश्रूषा आदि की जानी चाहिए।** लो! व्यवहार आया। देखो! वह निश्चय हुआ तो ऐसा विकल्प उठता है, ओहो! इन गुरु ने समझाया था, इतना। व्यवहार से है, निश्चय से नहीं।

मुमुक्षु : की जानी चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : की जानी चाहिए, ऐसा विकल्प आये बिना नहीं रहता। निश्चय हुआ, उसमें ऐसा व्यवहार बीच में आये बिना नहीं रहता। क्या एकदम क्षण में वीतराग हो जाता है? समझ में आया? **व्यवहार से ही गुरु आदिकों की सेवा, सुश्रूषा आदि की जानी चाहिए।** ऐसा भाव रहता है।

दोहा - मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्त मात्र पर जान, जिमि गति धर्मतें होय।।३५।।

एक श्लोक से पूरी दुनिया विभाजित कर डाली है। समझ में आया? **मूर्ख न ज्ञानी हो सके,...** मूढ़ भैंसे को कहीं कसक कराकर ऊँचा किया जाता होगा? पानी की कसक भरे, उसमें ऊपर कहीं सोने या हीरा जड़ते होंगे? **ज्ञानी मूर्ख न होय।** ज्ञानी को लाख कुतर्क से समझाया जाए तो क्या ज्ञानी मूर्ख हो जाएगा?

निमित्त मात्र पर जान,... बस! पर निमित्तमात्र है। **जिमि गति धर्मतें होय।** लो यह श्लोक पूरा हुआ। कहो, समझ में आया या नहीं? लड़कों को समझ में आता है या नहीं? लड़कों को तो समझ में आये ऐसी भाषा है। ये सब हाँ करते हैं कितने ही अन्दर।

अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है?' इसमें अभ्यास करने के उपायों को पूछा गया है। सो अभ्यास और उसके उपायों को कहते हैं। बार-बार प्रवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं। यह बात तो भलीभाँति प्रसिद्ध ही है। उसके लिये स्थान कैसा होना चाहिए? कैसे नियमादि रखने चाहिए? इत्यादि रूप से उसका उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार साथ में संवित्ति का भी वर्णन करते हैं।

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थिति:।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मन:।।३६।।

अर्थ – जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है, जो आत्मा स्वरूप रूप में स्थित है, ऐसा योगी सावधानीपूर्वक एकान्त स्थान में अपने आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करे।

विशदार्थ – नहीं हो रहे हैं चित्त में विक्षेप-रागादि विकल्प जिसको ऐसा तथा हेय-उपादेय तत्त्वों में गुरु के उपदेश से जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है, अथवा परमार्थरूप से साध्यभूत वस्तु में भले प्रकार से-यानि जैसे कहे गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादिकों से व्यवस्थित हो गया है, ऐसा योगी अपनी आत्मा के ठीक-ठीक स्वरूप का एकान्त स्थानों में-योगी के लिये योग्य ऐसे शून्य गृहों में? पर्वतों की गुहा कंदरादिकों में, आलस्य निद्रा आदि को दूर करते हुए अभ्यास करे।।३६।।

दोहा – क्षोभ रहित एकान्त में, तत्त्वज्ञान चित धाय।
सावधान हो संयमी, निज स्वरूप को भाय।।३६।।

गाथा - ३६ पर प्रवचन

अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है?' देखो! महाराज! आपने तो सब डाला हमारे ऊपर। हमें अभ्यास किस प्रकार करना, यह तो कहोगे या नहीं? समझ में आया? अभ्यास किस प्रकार करना? हमें करना है तो किस प्रकार करना, यह तो कहो।

मुमुक्षु : गुरु पर उत्तरदायित्व आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अपनी जिज्ञासा से पूछता है। उपादान में इतनी जिज्ञासा है कि हमें अभ्यास किस प्रकार करना? हमारा कार्य किस प्रकार करना?

इसमें अभ्यास करने के उपायों को पूछा गया है। महाराज! अभ्यास तो हमें करना है, परन्तु उपाय क्या है? हमारे आत्मा में हमारे आनन्दस्वरूप को प्राप्त करे का उपाय क्या है? **सो अभ्यास और उसके उपायों को कहते हैं।** लो! इस गाथा में अभ्यास और उपाय (कहते हैं)।

बार बार प्रवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं। एक बात की है। आत्मा में बारम्बार अभ्यास करना। मैं राग से पर हूँ, ध्रुव हूँ, एक अभेद हूँ (ऐसा) बारम्बार (अभ्यास करना)। एक बार नहीं। भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द से भरपूर पदार्थ राग से भिन्न है, एक समय की पर्याय से भी अभिन्न पदार्थ भिन्न है। अभिन्न पदार्थ भिन्न है। क्या कहा समझ में आया? मेरा पदार्थ शरीर, कर्म से तो भिन्न है ही; राग विकल्प उठता है, उससे तो भिन्न है ही (परन्तु) एक समय की प्रगट पर्याय जितना मैं नहीं, उससे भी मेरा अभिन्न पदार्थ भिन्न है। आहाहा! कहो, समझ में आया? अभिन्न पदार्थ भिन्न है, उसमें क्या समझे? कहो, रविभाई! किससे? पर्याय से भिन्न है? एक समय की पर्यायमात्र मैं नहीं; अभिन्न है। एक समय की पर्याय से द्रव्य भिन्न है और है द्रव्य अभिन्न। एक समय की पर्याय में पर्याय है; द्रव्य में द्रव्य है। द्रव्य में पर्याय नहीं। पर्याय से द्रव्य भिन्न हो गया।

मुमुक्षु : उसका स्वरूप अलग है, इसका स्वरूप अलग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, एक समय की अवस्था का स्वरूप है; यह त्रिकाली स्वरूप है। समझ में आया? स्वरूप से अलग हैं। भाव अलग, वस्तु अलग, क्षेत्र अलग। समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा एक समय में अभिन्न ध्रुव अखण्डानन्द प्रभु, अनादि अनन्त सत्वरूप एक अभिन्न पदार्थ कभी एक समय की पर्याय में नहीं आता। एक समय की पर्याय को द्रव्य स्पर्श ही नहीं करता। ऐई! द्रव्य, पर्याय को स्पर्श कर जाए तो एक हो जाए। दो धर्म भिन्न रहे नहीं। थोड़ा सूक्ष्म है। राग तो है ही नहीं, एक समय का उत्पाद ध्रुवस्वरूप में है ही नहीं। ध्रुवस्वरूप एकरूप में एक समय की पर्याय का अभाव है। अपने त्रिकाली ध्रुव स्वभाव का भाव है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा बारम्बार अभ्यास करना, इसका नाम बारम्बार प्रवृत्ति करना। प्रवृत्ति अर्थात् अन्दर में, हों! आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया?

भगवान आत्मा... ३६ गाथा में विशेष लेंगे। **यह बात तो भलीभाँति प्रसिद्ध ही है।** क्या प्रसिद्ध है? बारम्बार अभ्यास करना, यह बात तो प्रसिद्ध ही है। **उसके लिये स्थान कैसा होना चाहिए?** महाराज! उसका एकान्त स्थान (कैसा होना चाहिए)? **कैसे नियमादि रखने चाहिए?** अन्दर में कायादि की स्थिरता किस प्रकार करना चाहिए? **इत्यादि रूप से उसका उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार साथ में संवित्ति का भी वर्णन करते हैं।** उसका भी वर्णन करेंगे। स्थान का, अभ्यास का, संवित्ति—अनुभव का वर्णन ३६ गाथा में किया जाएगा।

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः।।३६।।

लड़कों ने पुस्तक-बुस्तक रखी है या नहीं यहाँ? है सुधीरभाई! पुस्तक नहीं? हो गया? यहाँ कितनी ही रखी होगी। इकट्ठे रखना। एक में से इकट्ठे पढ़ना चाहिए। इतनी सब पुस्तक कहाँ से लाना? समाप्त हो गयी है। देखो!

जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है,... एक बात। इसका स्पष्टीकरण बाद में करेंगे। कहते हैं, पहली बात तो यह है कि आत्मा, आत्मा का जिसे धर्म करना है और आत्मा का अनुभव करना है, वही इसका कार्य करना है। करने का कार्य तो यह है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पहले तो चित्त में क्षोभ हो, उसमें आत्मा की साधना नहीं होती। समझ में आया? **क्षोभ नहीं है,...** चित्त में क्षोभ नहीं है। ऐसा करूँ, ऐसा करूँ, ऐसा करूँ, किसे करूँ, कहाँ करूँ, कहाँ से लाऊँ, कहाँ से दूँ? मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। क्षोभ को मिटाना, वह इसका पहला उपाय है।

आत्मा स्वरूप रूप में स्थित है,... अस्ति ली है। भगवान आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर है, ऐसी पहली दृष्टि हुई हो। मेरा आत्मा अखण्ड आनन्दस्वरूप है, महान आत्मा चैतन्य सूर्य पदार्थ है, ऐसे आत्मा में दृष्टि स्थिर हो गयी है। दृष्टि ने ऐसे आत्मा का स्वीकार किया है। क्षोभ मिटा है और दृष्टि ने आत्मा के स्वरूप का स्वीकार किया है। मुझमें आनन्द है, दूसरे में आनन्द नहीं, ऐसा स्वीकार कर लिया है।

जिसके मन में ऐसा होवे कि यहाँ से सुख मिलेगा, स्त्री में से सुख मिलेगा, लक्ष्मी

में से मिलेगा, इज्जत में से मिलेगा, शरीर सुन्दर होवे तो मिलेगा, पेड़ा में से मिलेगा—ऐसी जिसकी चित्तवृत्ति है, उसे श्रद्धा में 'सुख मुझमें है, सुख पर में नहीं' ऐसी अपनी दृष्टि भी हुई नहीं है। समझ में आया? ठण्डी हवा हो, गर्मी मिट जाए, ठण्डी हवा लगे, पंखा होवे तो ठीक पड़े। जिसे अभी परपदार्थ की अनुकूलता में ठीक बुद्धि है, उसे अपने में आनन्द है, ऐसी बुद्धि का अभाव है। समझ में आया?

पश्चात् आसक्ति है, यह आसक्ति घटाने का उपाय भी यहाँ बताते हैं। आहाहा! समझ में आया? मेरे स्वरूप में स्थित है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, अनाकुल आनन्द है, इसलिए आनन्द निमित्त से नहीं मिलता। मेरा आनन्द, मेरी शान्ति अनुकूल निमित्त मिलने से नहीं मिलती और निमित्त मिलने से मिलती नहीं और राग है तो मुझे आनन्द आता है, ऐसा भी नहीं है। यहाँ तो विशेष लिया है न? आनन्द का अनुभव होना, वह धर्म है, ऐसा बताते हैं। समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होना, वह धर्म है, तो किसे आनन्द का अनुभव होता है? जिसके चित्त में क्षोभ नहीं। जरा अनुकूलता देखे वहाँ उल्लसित वीर्य हो जाए। बहुत क्षुधा लगी हो और ऐसा दिखायी दे, देखकर उल्लसित हो जाए, वह क्षोभ होता है। अपने में आनन्द है, ऐसी प्रतीति का उसे अभाव है। समझ में आया? शरीर में निरोगता हो तो मुझे ठीक है, यह तो क्षोभ हुआ। पर से निरोगता होवे तो मुझे ठीक पड़ता है, बुद्धि में विपर्यासपना है। धन्नालालजी! बुद्धि में विपर्यास है। आहाहा!

मुझे इतनी सुविधा हो, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, नौकर (हो) मेरा सोचा हुआ होता हो। तेरी दृष्टि विपरीत है। दृष्टि में विपर्यास है। पर की सुविधा से तुझे सुख है? कल्पना है, समाधान नहीं होगा (-ऐसा माननेवाला) मूढ़ है, दृष्टि में विपर्यास है, तेरा क्षोभ मिटा नहीं। समझ में आया? साधु होकर भी ऐसी सुविधा के लिए झपट्टे मारता है। ऐसे शिष्य हों, ऐसा ऐसा स्थान हो, गर्मी के दिनों में एकान्त जहाँ ठण्डी हवा हो, गुफा हो, गर्म हवा लगे नहीं, वहाँ अच्छा ध्यान होगा। ऐसा का ऐसा नहीं कहते, फिर एकान्त स्थान कहेंगे। यह तो कोलाहल का अभाव हो, इसके लिए कहेंगे। उसमें मुझे प्रतिकूलता नहीं रहती, (ऐसा माने तो) उसके कारण तुझे प्रतिकूलता है, ऐसा माना है। समझ में आया? दृष्टि में विपर्यास है, दृष्टि विपरीत है।

आत्मा स्वरूप रूप में स्थित है, ऐसा योगी सावधानीपूर्वक... 'अभियोगेन'

सावधानीपूर्वक एकान्त स्थान में, कोलाहल न हो वहाँ (बैठे)। भाव से एकान्त, बाह्य से एकान्त। **अपने आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करे।** यह अभ्यास करे, लो! इस लोक की शिक्षा का अभ्यास कहाँ गया? और दूसरा शास्त्र का अभ्यास भी यहाँ नहीं चला। आहाहा! तेरा भगवान तेरा ज्ञानस्वभाव तो तेरे पास है न! उसका अभ्यास कर। केवलज्ञान निकलेगा, केवलज्ञान निकलेगा! समझ में आया? परन्तु पहले ऐसा विश्वास बैठा हुआ होना चाहिए, ऐसा कहते हैं। मैं ही केवलज्ञान कन्द हूँ, जितना मैं एकाग्र होऊँ, उतना मैं पर्याय में प्रगट करूँगा। किसी दुनिया की दखल नहीं है और मुझे किसी की सहायता नहीं है। मेरे कार्य में दुनिया की दखल नहीं और दुनिया की सहायता नहीं। आहाहा! ऐसी दृष्टि में आत्मा जम गया हो। मैं ऐसा करूँ तो लोग मुझे मानें, मुझे बड़ा कहे, दुनिया मेरे ज्ञान की प्रशंसा (करे) धर्मीपने की (प्रशंसा करे) कि यह त्यागी है, ऐसा कहे तो मुझे ठीक पड़े तो उसकी बुद्धि में अभी विपर्यास है। वह तो बाहर में बुद्धि भटकती है। समझ में आया?

अपने आत्मा के स्वरूप का... देखो! **अपने आत्मा के स्वरूप का...** अरिहन्त का और सिद्ध का, ऐसा नहीं लिया। भगवान आत्मा एक समय में शुद्ध पूर्णानन्द प्रभु है, उसमें दृष्टि लगाकर उसकी एकाग्रता का अभ्यास करना। यही मनुष्य देह में करनेयोग्य कार्य है। भाई! लो! साधारण जनता को ऐसा लगे... यहाँ तो मूल कार्य करने की बात चलती है, लो! आहाहा! मुझे दुनिया को समझाना आता है, मैं दुनिया को समझाऊँ, ऐसा थोड़ा अभ्यास कर लूँ, यह बात यहाँ नहीं है। समझ में आया? बड़े शहर में जाना है, कोई कैसा प्रश्न करे तो मैं बराबर सीख लूँ, अभ्यास कर लूँ तो जवाब बराबर देना आयेगा। ऐई! तुझे जवाब देना है न? अभी लेना-देना है न? तेरी बुद्धि आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं है। आहाहा! जुगराजजी! आहाहा!

भगवान आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो, ऐसा अभ्यास (करना)। दुनिया मानो, न मानो; जानो, न जानो; प्रसिद्धि में आओ, न आओ, उसके साथ मुझे कुछ लाभ नहीं है। समझ में आया?

विशदार्थ - नहीं हो रहे हैं चित्त में विक्षेप-रागादि विकल्प जिसको... इतना विशेष कहा। **नहीं हो रहे हैं चित्त में विक्षेप-रागादि...** ऐसा और वैसा तथा यह ठीक है

और यह अठीक है, ऐसे विकल्प जिसे छूट गये हैं। **तथा हेय-उपादेय तत्त्वों में गुरु के उपदेश से जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है,...** यह विशेष है। गुरु ने हेय-उपादेय की बात की थी। गुरु ने तो ऐसा भी कहा था कि तू मेरे सन्मुख देखता है, वह भी छोड़ने योग्य है। आहाहा! ऐई! आहाहा! भगवान! तेरी वस्तु तेरे पास है न प्रभु! तुझे तो तेरे सन्मुख देखना है, भाई! सर्वज्ञ के पास भगवान के सन्मुख देखने से भगवान आत्मा के सन्मुख नहीं हुआ जाएगा। ऐसा उपदेश गुरु ने कहा था, ऐसा कहा था। देखो!

हेय-उपादेय तत्त्वों में गुरु के उपदेश से... गुरु ने ऐसा कहा था कि तेरा चैतन्य... अभी कहेंगे, हों! परमार्थरूप से साध्यभूत तेरी वस्तु तेरे पास है। देखो! **हेय-उपादेय तत्त्वों में गुरु के उपदेश से जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है,...** राग उपादेय नहीं है, राग हेय है, निमित्त हेय है। उपादेय बाद में लेंगे। हेय-उपादेय तत्त्वों में भेदज्ञान में पहले दो भाग लेंगे। हेय अर्थात् छोड़नेयोग्य। रागादि सब पदार्थ मेरे आत्माराम से भिन्न हेय हैं, वे उपेक्षणीय हैं, लक्ष्य छोड़नेयोग्य है और उपादेय मेरा स्वरूप चिदानन्द भगवान में लक्ष्य देना, वही उपादेय है, ऐसा गुरु ने कहा था ऐसा वह समझे।

मुमुक्षु : विश्वासपात्र गुरु कहे तो शिष्य भूलता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, भूल गया। यह भूल गया है। वे कहते थे, यह भूल गया। उन्होंने कहा, वैसा भाव अपने में से पकड़ लिया।

जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है,... अपने उपादान का निश्चय हुआ, रागादि हेय है, ऐसी बुद्धि निश्चल हो गयी। दो बातें करते हैं। पश्चात् एक लेंगे। जरा सूक्ष्म बात है। क्रमसर कहते हैं न? विक्षेप आदि विकल्प जिसे नहीं है, हेय-उपादेय (तत्त्वों में), जिसकी बुद्धि निश्चल हो गयी है। ऐसा नहीं कि यह व्यवहार है, वह किसी अंश में मददगार है या नहीं? निमित्त है, वह किसी अंश में भी अपने कार्य में सहायक, मदद देता है या नहीं? टेका को क्या कहते हैं? गाड़ी तो ऊँची करना हो तो टेका देते हैं। समझ में आया? निमित्त कुछ टेका देता है या नहीं? राग कुछ मदद करता है या नहीं? ऐसी जिसे बुद्धि रही है, उसे तो निश्चलबुद्धि ही नहीं है।

मुमुक्षु : ऐसा का ऐसा चलता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे भले। लाख हो नहीं, उसमें क्या है? निमित्त हेय है। उपादेय भगवान है। व्यवहार हेय है, आत्मभगवान उपादेय है। समझ में आया?

हेय-उपादेय तत्त्वों में... देखो! भेदज्ञान हो गया। पश्चात् एक लेंगे। **अथवा...** पहले दो बातें की हैं। **अथवा परमार्थरूप से साध्यभूत वस्तु में भले प्रकार से-यानि जैसे कहे गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादिकों से व्यवस्थित हो गया है,...** भगवान आत्मा साध्यभूत अभेद द्रव्य है। दो निकाल डाले। पहले दो लिये। अथवा, ऐसा लगा दिया। अभेद सिद्ध वस्तु एक समय में ध्रुव चिद् परमात्मा परमस्वरूप भगवान आत्मा (मैं हूँ)। ऐसा साध्य, ऐसा साधनेयोग्य, ऐसा ध्येय, लक्ष्य करनेयोग्य, ध्यान में लेने योग्य ऐसी **परमार्थरूप से साध्यभूत वस्तु में...** देखो! निमित्त तो कहीं रहा, राग तो कहीं रहा, पर्याय भी कहीं रह गयी। वस्तु रह गयी अकेली।

परमार्थरूप से साध्यभूत वस्तु में भले प्रकार से-यानि जैसे कहे गये हैं, वैसे... भले प्रकार की व्याख्या की गयी है। **यानि जैसे कहे गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादिकों से व्यवस्थित हो गया है,...** शरीर तो स्थिर हुआ है। यह आत्मा सिद्धभूत है, परमार्थ अभेद है, उसमें निश्चल हो गया है। वह ध्यान करनेयोग्य है। अपने स्वभाव का कार्य करनेयोग्य वह है। समझ में आया? विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वनच गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१ गाथा-३६-३७ बुधवार, दिनाङ्क १८-०५-१९६६
वैशाख कृष्ण १३, वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश शास्त्र चलता है। इसमें इष्ट अर्थात् आत्मा को हितकारी उपदेश क्या है, वह चलता है। विशदार्थ फिर से (लेते हैं)। ३६वीं गाथा। ३६वीं गाथा है न? क्या कहते हैं? छत्तीस?

यह आत्मा, देह में विराजमान तत्त्व है, वह अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति है। यह देह तो जड़, कर्म जड़, वाणी जड़, पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे विकार, दुःखरूप है। आत्मा

अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। ऐसी जिसे रुचि हो गयी, उसे अन्तर स्वभाव में एकाग्रता करने की भावना होती है। समझ में आया? अनादि काल से पुण्य और पाप के विकार तथा परपदार्थ की प्रीति की रुचि में-राग में एकाग्र होकर अनादि से विकार की भावना कर रहा है। विकार की भावना करता है कि ऐसा होवे और वैसा होवे और ऐसा होवे। यह सब दुःखरूप भावना है। धर्मी की भावना ऐसी नहीं होती, कहते हैं। देखो!

जिसके चित्त में रागादि विकल्प नहीं है। मैं ज्ञान और आनन्द हूँ। मेरी वस्तु में मेरा ज्ञान और आनन्द मेरे पास है, ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई है, तो उसे चित्त का विक्षेप, विकल्प उसे होता नहीं। समझ में आया? कौन सा विक्षेप? कि पर में कहीं सुख है, पुण्य में, विषय में, भोग में, इन्द्रियों में (सुख है)। वे तो परपदार्थ हैं। पर में सुख है - ऐसा विकल्प का विक्षेप धर्मी जीव को नहीं होता। समझ में आया? बात तो यहाँ ऊँचे नम्बर की है। है तो पहले नम्बर की अकेले की अभी।

जिसकी धर्मदृष्टि हुई, तो अपने में आनन्द है, वह अपना धर्म है। आत्मा की पहिचान उस आनन्द से होती है। हीराभाई! आहाहा! आत्मा की पहिचान, आत्मा की रुचि, आत्मा का विश्वास 'मैं आनन्द हूँ'—ऐसा विश्वास उत्पन्न होता है। पुण्य-पाप के भाव और परसामग्री में मेरा सुख तीन काल में नहीं है। जहाँ जिसकी रुचि हो, वहाँ उसका वीर्य गति किये बिना रहता नहीं। समझ में आया? एकदम टोटल की बात है।

आत्मा ही सच्चिदानन्दस्वरूप है। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी परमेश्वर ने तीन काल-तीन लोक देखे। उसमें आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है - ऐसा देखा है। समझ में आया? उन्होंने, आत्मा को विकारवाला है, कर्मवाला है - ऐसा नहीं देखा। भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक जानने में आये; उन्होंने कहा कि भाई! तू तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है न, नाथ! तेरे स्वयप में तो अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। उस अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि हुई, उसे आत्मा की रुचि हुई। समझ में आया? जिसे अतीन्द्रिय आनन्द, मैं अतीन्द्रिय आनन्द हूँ, मैं ही मेरा शरण हूँ, मैं ही मेरा आश्रय हूँ, मैं ही मेरा आधार और उत्तम हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह प्रथम धर्म दृष्टि यहाँ से उत्पन्न होती है। इसके बिना सब व्यर्थ है।

क्रियाकाण्ड करे, दया, दान, व्रत, भक्ति (करे), वह तो सब विकार पुण्य है। उसमें हित माननेवाला, आत्मा में अतीन्द्रिय सुख है - ऐसा नहीं मानता। समझ में आया? अर्थात् आत्मा जैसा है, वैसा नहीं मानता। समझ में आया?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द से भरपूर है। कहते हैं कि उसकी जिसे रुचि हुई, उसे **नहीं हो रहे हैं चित्त में विक्षेप-रागादि विकल्प जिसको...** उसे, पर में कहीं सुख है, ऐसा विकल्प का विक्षेप उसके ज्ञान की दृष्टि में नहीं होता। समझ में आया? **तथा हेय-उपादेय तत्त्वों में गुरु के उपदेश से जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है,...** धर्मी जीव को पुण्य-पाप का विकल्प, राग जो दुःखरूप है; परपदार्थ तो ज्ञान में मात्र ज्ञेयरूप है और हेयरूप है। अपनी पर्याय में जो शुभ-अशुभराग होता है, वह भी दुःखरूप है, हेय है और मेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है, वही उपादेय है। उपादेय का अर्थ (यह कि) वही आदरणीय है। समझ में आया? आहाहा!

हेय-उपादेय तत्त्वों में गुरु के उपदेश से... सर्वज्ञ का उपदेश, गुरु का उपदेश या आगम का उपदेश ऐसा बताता है कि तेरी वस्तु अन्तर आनन्द (स्वरूप) है, उसकी तुम अन्तर्दृष्टि करो, आदर करो। रागादि हैं; हैं, (उन्हें) हेय करो, छोड़ दो, दृष्टि में उनका आदर छोड़ दो—ऐसा आचार्यों का, आगम का और केवलियों का यह उपदेश है। सर्वज्ञ परमेश्वर—केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं—शाम-सवेरे बोलता है। भगवानभाई! सवेरे-शाम बोले—णमो अरिहंताा, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं - परन्तु केवली पण्णत्तो धम्मो यह है। अपने में अतीन्द्रिय आनन्द है, उसकी रुचि-दृष्टि करना, यही केवलिपण्णत्तो धम्मो है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, **तथा हेय-उपादेय तत्त्वों में...** छोड़नेयोग्य, आदरनेयोग्य - ऐसे तत्त्वों का अन्तर में भेदज्ञान-विवेक हो गया है, उसे धर्मी कहा जाता है। समझ में आया? **बुद्धि निश्चल हो गई है,...** समझ में आया? उसका जैसा नाम हो। शरीर का नाम भी नया पड़ा है। उसका कुछ नाम है? बाद में शरीर को नाम देते हैं। क्या कहकर बुलाना? क्यों हीरालालजी? यह हीरालाल किसे कहना? अंगुली को? इसे? इसे? यह नाम पड़ा कृत्रिम, तो भी स्वप्न में भी इसे ऐसा हो जाता है कि यह मैं, यह मैं। भूलता नहीं। ऐसी अनादि से रट लगी है कि जिसे अपना माना, उसकी रट छोड़ता नहीं। समझ में आया?

यहाँ ऐसी रट लगी है कि धर्मी जीव-सम्यग्दृष्टि को, प्रथम गृहस्थाश्रम में रहता हो, उसे भी ऐसी रट लगी है कि मैं अतीन्द्रिय आनन्द हूँ—ऐसी रट लगी है। मैं आत्मा अर्थात् मैं अतीन्द्रिय आनन्द हूँ। मैं आत्मा अर्थात् अतीन्द्रिय सुखस्वरूप हूँ - ऐसी रट धर्मी को लगी है। इस कारण हेय-उपादेय में निश्चल बुद्धि हो गयी है। मैं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ और रागादि विकल्प उठते हैं, वे हेय हैं। ऐसे जिसे बुद्धि में निश्चलता हो गयी है, उसे धर्मी कहा जाता है। आहाहा! गजब भाई! धर्मी की जवाबदारी के लिए शर्तें बहुत, शर्तें। शर्त कहते हैं न? क्या कहते हैं?

अथवा परमार्थरूप से साध्यभूत वस्तु में भले प्रकार से-यानि जैसे कहे गये हैं,... क्या कहते हैं? भगवान आत्मा परमार्थभूत वस्तु, अखण्ड ज्ञायक चैतन्यभाव स्वभाव, अभेद चैतन्यमूर्ति ऐसी मैं वस्तु हूँ। एकरूप अखण्ड आनन्दस्वभाव मैं आत्मा हूँ, ऐसा **परमार्थरूप से साध्यभूत...** अन्दर ध्येय करनेयोग्य, साध्य करनेयोग्य, साधन में साध्य करनेयोग्य शुद्ध चैतन्यमूर्ति अपना निज आत्मा है। ऐसी **वस्तु में भले प्रकार से-यानि जैसे कहे गये हैं, वैसे...** जैसे आत्मा अकेला शुद्ध चैतन्यमूर्ति अभेद एक समय में एकरूप अभेद है। रागादि नहीं, एक समय की पर्याय आदि का भेद नहीं। सूक्ष्म बात है। एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द सिद्ध समान है। जैसी सिद्ध की दशा प्रगट हो गयी है, वैसा ही मैं सिद्धसमान त्रिकाल अन्दर शुद्ध हूँ। समझ में आया?

भले प्रकार से-यानि जैसे कहे गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादिकों से व्यवस्थित हो गया है,... क्या कहते हैं? अन्तर में जरा शरीर की स्थिति एकाग्र होकर, पद्मासन आदि कायोत्सर्ग लेकर अपना आत्मा... यह कहते हैं न? 'ताव कायं ठाणेणं माणेणं जाणेणं अप्पाणं।' कायोत्सर्ग में पहाड़े बहुत बोले, समझ में नहीं एक भी शब्द का अर्थ। समझ में आया? कायोत्सर्ग कहते हैं न? कायोत्सर्ग - काया, वाणी, मन और पुण्य-पाप सब काया में गिनने में आता है। समझ में आया? कितना खोटा काऊसग्ग किया? न्यालभाई! बहुत किये। ये वापस वहाँ सामने सेठिया हैं। बहुत किया खोटा।

यहाँ दो बातें की हैं। एक, परमार्थभूत भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञायक चैतन्य अनाकुल आनन्दरस से परिपूर्ण अनादि-अनन्त ध्रुव सत्त्व तत्त्व का यथाप्रकार से ज्ञान हुआ। किस

प्रकार से ? **वैसे कायोत्सर्गादिकों से व्यवस्थित हो गया है,...** काया, मन, वाणी, पुण्य-पाप के भाव से रुचि हटकर, पर से रुचि हटकर स्वभाव में एकाकार हो गया है, तो जैसा आत्मा है, वैसा दृष्टि में व्यवस्थित हो गया है। समझ में आया ? यह तो सम्यग्दर्शन की क्रिया क्या है, सम्यग्दृष्टि-धर्मी की क्रिया में क्या होता है, यह बताते हैं। आहाहा ! कभी सुना नहीं कि आत्मा क्या और क्या धर्म ? चलो, दया पालना, व्रत कर लेना... वह तो जड़ की क्रिया है। उस जड़ में तेरा क्या आया ? तुझे कदाचित् विकल्प उठा, राग (उठा), वह तो विकल्प है, शुभ परिणाम विकार है। उसका कायोत्सर्ग—उसका उत्सर्ग अर्थात् त्याग, ऐसा कहते हैं, भाई ! आहाहा ! एक ओर भगवान आत्मा और एक ओर कायोत्सर्ग अर्थात् काया का त्याग। आहाहा !

देखो ! भाई ! यह बात सूक्ष्म है, हों ! इस इष्टोपदेश में गाथायें तो ५१ हैं, परन्तु जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने कहा, उसका मक्खन इसमें भरा है। आहाहा ! क्या कहते हैं ? इष्ट उपदेश उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा जैसा है, वैसा दृष्टि में व्यवस्थित हो गया है और कायोत्सर्ग-रागादि को छोड़कर अन्दर में व्यवस्थित स्थिर हो गया है। ऐसा करना, ऐसे उपदेश को इष्टोपदेश कहते हैं। ऐसे अन्दर में भाव करना, वह इष्ट-हितकारी भाव कहा जाता है। आहाहा ! समझ में आया ?

ऐसा योगी... योगी अर्थात् आत्मा परमात्मस्वरूप शुद्ध आनन्द है, ऐसी जिसे दृष्टि हुई है, उसे यहाँ योगी कहते हैं। चाहे तो गृहस्थाश्रम में हो, स्त्री-परिवार में पड़ा हुआ दिखायी दे, परन्तु अन्तर आनन्द में दृष्टि जम गयी है, तो उसे कहीं सुहाता नहीं है। विषयसुख के विकल्प आदि कुछ सुहाते नहीं हैं। गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी। समझ में आया ? यह बाद में कहेंगे।

ऐसा योगी... अपना स्वरूप ज्ञायक चैतन्य है, जिसमें दृष्टि लगी है, अन्दर योग जोड़ा है। अपनी पर्याय-वीर्य का उसमें योग जोड़ा है। **अपनी आत्मा के ठीक ठीक स्वरूप का...** देखो ! भगवान आत्मा ज्ञान, आनन्द, शान्त, अनाकुल वीतरागस्वरूपी आत्मा है। ऐसे **अपनी आत्मा के...** देखो ! अपनी आत्मा के। भगवान का आत्मा भगवान के पास रहा। वे कुछ आत्मा को शरण-बरण देते नहीं। भगवान कुछ देते नहीं, भगवान कुछ लेते नहीं। वे तो वीतराग परमेश्वर हैं। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर किसी को

देते नहीं और किसी का लेते नहीं। वे तो वीतराग परमानन्द की मूर्ति अपने अनुभव में स्थिर है। अपने भाव में से हटकर बाहर नहीं आते। आहाहा!

कहते हैं कि **ऐसा योगी अपनी आत्मा के ठीक ठीक स्वरूप का एकान्त स्थानों में...** समझ में आया? पैसे मिलते हैं न? कोई पाँच-दस लाख अन्दर निधान में से मिल गये हों तो किसी को बतावे, नहीं; अकेला-अकेला ले ले। घर में छिपा दे। संताड़ी दे को क्या कहते हैं? छिपा दे। ऐसे कुछ पैसे निकले हों। समझे? दस लाख, बीस लाख, सत्तर लाख... देखो! यहाँ निकले थे। यह खोदा न? सड़क, सड़क, उसमें से हण्डी निकली थी। उसमें से पैसे निकले थे, परन्तु मजदूरों ने छिपा दिये। थोड़े-थोड़े बाहर रखे। इतने पैसे मिले हों तो भी छिपा दे। अपने घर में ले लो।

यहाँ अपना आत्मा आनन्दस्वरूप है। वह रागादि से हटकर अपने में एकाग्र होता है। एकान्त स्थान में। अपना जहाँ स्थान है, अपना एकान्त स्थान तो अन्दर में है। बाहर में एकान्त स्थान जहाँ कोलाहल आदि न हो, वहाँ अपने स्वरूप की दृष्टि अन्दर एकाकार हो। अपने ज्ञायक चैतन्य की लीनता में जहाँ जमावट हो, जहाँ कोलाहल आदि प्रतिकूलता निमित्त न हो, ऐसा बाह्य स्थान (होवे) और अन्दर में विकल्प का कोलाहल नहीं। समझ में आया? यह कायोत्सर्ग और आत्मा के ध्यान की विधि कहते हैं। यह आत्मा के धार्मिक की क्रिया की विधि है। ऐसी विधि होती होगी?

योग्य ऐसे शून्य गृहों में? शून्य घर हो, शून्य मकान हो। अन्दर में भी आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप में दृष्टि लगा देकर। पुण्य-पाप के राग से-विकल्प से शून्य होवे। भारी धार्मिक क्रिया! यह धार्मिक क्रिया है। समझ में आया? कहो, हरिभाई! **पर्वतों की गुहा कंदरादिकों में,...** आथवा किसी पर्वत की गहरी गुफा-कन्दरा आदि हो। **आलस्य निद्रा आदि को दूर करते हुए...** अपने आत्मा को ध्यान में लगाकर, अपनी प्रिय वस्तु, अपनी हितकारी आनन्दस्वरूप चीज़ में दृष्टि स्थिर करने के लिए एकान्त... एकान्त में जाकर (ध्यान करे)। **आलस्य निद्रा आदि को...** क्या (कहते हैं)? यहाँ विचार करते-करते आलस्य-निद्रा हो जाए तो इसे लगता है मैं ध्यान करता हूँ, मैं आत्मा में एकाग्रता करता हूँ। वहाँ निद्रा, त्रंदा, आ जाए। वह तन्द्रा-निद्रा भाग ले जाए। झौंके खाते हैं न? क्या कहते हैं? झोंका।

मुमुक्षु : कायोत्सर्ग तो पूरा हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : कायोत्सर्ग पूरा हो जाए। झोंका और झोंका में (कायोत्सर्ग पूरा हो जाए), परन्तु कायोत्सर्ग था कब? ऐसा यहाँ कहते हैं। यहाँ आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द में दृष्टि लगाकर सावधानीपूर्वक; रागादि नहीं करके; आत्मा में एकाकार होकर आत्मा के विचार में चढ़ गया, उसमें आलस और निद्रा होना नहीं चाहिए। ऐसे तो दो घड़ी पूरी हो गयी। कितने झोंके खाये? हमें कुछ खबर नहीं। सामायिक पूरी हो गयी!

मुमुक्षु : टाईम की खबर नहीं रही।

पूज्य गुरुदेवश्री : टाईम की खबर नहीं पड़ी, नींद में। आहाहा! भाई! यह चार पहर का उजागरा हो। निद्रा न हो परन्तु अपने लड़के का विवाह हो, और पाँच लाख का खर्च करना हो और करोड़ की पूँजी हो, उसे निद्रा आती है? झोंका आता है? अरे! महिलाओं का ऐसे गांठिया खा-खाकर कण्ठ बैठ गया हो तो भी बोले। खींच-खींचकर (जोर लगाकर) बोले। रस लेने, रस लेने। माँ! परन्तु तुम कम बोलो न! परन्तु अभी दूसरा क्या (करूँ)? तो भी रस की मारी अज्ञान में खींचकर बोले। कण्ठ बैठ गया हो तो भी बोला ही करे। टेंटुआ बैठ गया हो तो भी बोल-बोल करती है। बहू कहे, बहिन! अब बन्द तो होओ। परन्तु बहू! मैं नहीं करूँ तो कैसे चले इसमें? इस मूढ़ को वहाँ रस लगा है। आहाहा! इतना कण्ठ बैठ गया हो, खाने का ठिकाना न हो, दो घण्टे देरी से खा ले, परन्तु उसमें रस लगा है न? इसी प्रकार जिसे आत्मा के प्रेम में रस लगा है, आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द मेरी साधनशक्ति अन्दर में है, मेरा साधन अन्दर में है, बाहर में नहीं। आहाहा! समझ में आया?

बाहर से एकान्त स्थान लिया है। **आलस्य निद्रा आदि को दूर करते हुए...** शान्तचित्त से, अपना आत्मा प्रिय हितकर है, उसकी रुचि हुई है; उसमें लीनता करना, वही आत्मा का आनन्द प्रगट होने का उपाय है। वह आनन्द प्रगट करने का उपाय कहो या धर्म प्रगट करने का उपाय कहो। धर्म उसे कहते हैं कि जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द आना चाहिए। ऐसे रूखा धर्म नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अभी रुचि की खबर नहीं। धर्म उसे कहते हैं कि जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द व्यक्त (होवे)। दशा में

अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन, स्वसंवेदन आना चाहिए, इसका नाम धर्म है। मात्र विकल्प करना, वह धर्म नहीं है। वह तो दुःखरूप है। समझ में आया? यहाँ तो माल... माल की बात है।

दोहा – क्षोभ रहित एकान्त में, तत्त्वज्ञान चित धाय।
सावधान हो संयमी, निज स्वरूप को भाय।।३६।।

क्षोभ रहित एकान्त में,... विकल्प के क्षोभरहित शान्त होकर अपना आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की निधि-खान है, उसे खोदने को, अन्दर से माल बाहर निकालने के लिए एकाग्र होता है। समझ में आया? कोई खान बतावे कि देखो! इस खान में पाँच करोड़ रुपये हैं। निकालो, झट निकालो, शाम तक में निकालो, नहीं तो फिर नहीं निकलेगा। भूखा और प्यासा कमर बाँधकर हीरा और माणिक पड़े हों तो निकालो-निकालो, निकालो। मूढ़ को इतना प्रयत्न पर की प्रीति में वीर्य लगा है।

(यहाँ) कहते हैं, हे आत्मा! तेरे निधान में अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय वीर्य, अनन्त अतीन्द्रिय प्रभुता आदि अनन्त रत्न तेरी वस्तु में पड़े हैं। खबर नहीं, खबर नहीं, क्या है? उस निधान को तेरी रुचि में ले और फिर एकाग्र होकर उसमें से शान्ति को निकाल (प्रगट कर), ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा! उसमें इतना एकाग्र हो कि शान्ति प्रगट हो। समाधान, शान्ति, सन्तोष, अनाकुल आनन्द में तृप्त हो। उसका नाम भगवान मोक्ष का मार्ग और धर्म कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? दुनिया की प्रचलित रीति से दूसरी वस्तु है।

तत्त्वज्ञान चित धाय। तत्त्वज्ञान का चित में ध्यान करे। आत्मा को लक्ष्य में ले और **सावधान** आलस, निद्रा का त्याग कहा न? **सावधान हो संयमी,...** संयमी धर्मात्मा अपने स्वरूप में सावधान (होता है)। निद्रा, आलस का अभाव करके स्वरूप की सावधानी (करता है)। समय वर्ते सावधान, नहीं कहते अपने।

मुमुक्षु : वह तो विवाह में कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : विवाह में कहे तो यह भी विवाह है। विवाह में हमारे यहाँ कहते हैं, तुम्हारे हिन्दी में कहते हैं? विवाह होता है न? व्यवहार विवाह। ब्राह्मण बोले, इसका

समय होवे न ? टाईम। समय वर्ते सावधान। समय हो गया। आठ (बजकर) पाँच मिनिट। (कन्या को) यहाँ लाओ। धूल, भटकने का रास्ता है।

यहाँ कहते हैं समय वर्ते। आत्मा शुद्ध भगवान, समय अर्थात् आत्मा, समय अर्थात् आत्मा, शुद्ध चिदानन्द आनन्द है। वर्ते सावधान—उसमें एकाकार सावधान होकर वर्तना। **निज स्वरूप को भाय।** निज स्वरूप की भावना करना, एकाग्र होना, इसका नाम धर्म कहने में आता है। आहाहा! कितने ही कहते हैं, ऐसा धर्म कैसा ? सामायिक करना, प्रौषध करना, प्रतिक्रमण करना, अपवास करना, वह धर्म। रात्रिभोजन नहीं करना, कन्दमूल नहीं खाना, जाओ! अरे सुन न! सामायिक किसे कहते हैं, इसकी तुझे खबर नहीं है। ऐ.. हरिभाई! कितनी सामायिक की होगी ? हिसाब नहीं रहा ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ले, यह सेठ और ऐसा कहता है। सच्ची सामायिक थी नहीं और प्रत्याख्यान किया था। सामायिक का और ऐसा किया नहीं। आहाहा!

यहाँ पर शिष्य पूछता है कि भगवन्! जिसका लक्षण कहा गया है, ऐसी 'संवित्ति हो रही है।' यह बात योगी को किस तरह से मालूम हो सकती है? और उसकी हरएक क्षण में उन्नति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा सकता है?

आचार्य कहते हैं कि हे धीमन्! सुनो! मैं उसके चिह्न का वर्णन करता हूँ –

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।।३७।।

अर्थ – ज्यों ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है, त्यों त्यों उस योगी को आसानी से प्राप्त होनेवाले भी विषय अच्छे नहीं लगते।

विशदार्थ – जिस जिस प्रकार से योगी की संवित्ति में (स्वानुभवरूप संवेदन में) शुद्ध आत्मा का स्वरूप झलकता जाता है, सन्मुख आता है, तैसे-तैसे बिना प्रयास से, सहज में ही प्राप्त होनेवाले रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य बुद्धि को पैदा नहीं कर पाते

हैं। ठीक ही है, दुनियाँ में भी देखा गया है कि महान सुख की प्राप्ति हो जाने पर अल्प सुख के पैदा करनेवाले कारणों के प्रति कोई आदर या ग्राह्य-भाव नहीं रहता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है - 'शमसुखशीलितमनसा०'

'जिनका मन शान्ति-सुख से सम्पन्न है, ऐसे महापुरुषों को भोजन से भी द्वेष हो जाता है, अर्थात् उन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता। फिर और विषय भोगों की तो क्या चलाई? अर्थात् जिन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उन्हें अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे लग सकते हैं? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकते। हे वत्स! देखो, जब मछली के अंगों को जमीन ही जला देने में समर्थ है, तब अग्नि के अंगारों का तो कहना ही क्या? वे तो जला ही देंगे। इसलिए विषयों की अरुचि ही योगी की स्वात्म-संवित्ति को प्रकट कर देनेवाली है।'

स्वात्म-संवित्ति के अभाव होने पर विषयों से अरुचि नहीं होती और विषयों के प्रति अरुचि बढ़ने पर स्वात्म-संवित्ति भी बढ़ जाती है।।३७।।

दोहा - जस जस आतम तत्त्व में, अनुभव आता जाय।
तस तस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।।३७।।

गाथा - ३७ पर प्रवचन

यहाँ पर शिष्य पूछता है... अब देखो! शिष्य को इतनी जिज्ञासा हुई। **भगवन्! जिसका लक्षण कहा गया है, ऐसी 'संवित्ति हो रही है।'** देखो! संवित्ति अर्थात् आत्मा का अनुभव। ध्यान रखो। यहाँ तो अकेले मक्खन की बात चलती है। यह अन्तिम गाथाएँ हैं न! ५१ गाथाएँ हैं और यह ३६ गाथा तो हो गयी। १५ रहीं, १५।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : शान्ति में मक्खन ही चाहिए। आहाहा! ऐसा नहीं समझना कि हम बालक हैं। बालक, युवक कोई है ही नहीं, सब आत्मा हैं। समझ में आया? आत्मा तो त्रिकाली है। त्रिकाली है? उसकी उम्र है? उसे उम्र है? उम्र कहाँ है? यह तो देह की उम्र-स्थिति है। यह २५ हुए, ५० हुए, ६० हुए, ७५ हुए, ८० हुए, यह तो देह की (स्थिति

है)। आत्मा तो अनादि-अनन्त है, है और है। उसे उम्र है ही नहीं। ऐसे आत्मा में ऐसा नहीं समझना कि हमारी बाल अवस्था है तो नहीं समझ में आयेगा। हमारी वृद्धावस्था हो गयी, ऐसा नहीं समझना। आत्मा त्रिकाली है, सब समझने के योग्य है। कहो, समझ में आया?

इस जीवन के पश्चात् क्या मिलेगा? आहाहा! सत्य बात समझने में और अन्तर में दृष्टि में न आवे तो इसने क्या किया? मनुष्यभव पाकर क्या किया? सब धूलधाणी है। समझ में आया? बाहर के पुण्य के कारण पाँच-पचास लाख मिले तो धूल, तेरा पूर्व का पुण्य जल गया और आया, तुझे क्या मिला? पूर्व का पुण्य जल गया। हीराभाई! ऐसा होगा? क्या यह पाँच, दस लाख मिले, वह किसके कारण? पूर्व के पुण्य के कारण। पूर्व का पुण्य पड़ा है न! वह पुण्य जल जाता है और नये पाप बाँधता है। कमाने का भाव, कमाने का भाव वह पाप है। पुण्य जल जाए, पाप बँधे, तब पैसा दिखता है। दिखता है, वहाँ मिलता है कहाँ इसके पास? यहाँ कहाँ आत्मा में घुस जाता है? आहाहा! कैसे होगा? हरिभाई! आहाहा! बाहर में कहाँ है? और कहाँ तेरे क्रियाकाण्ड दया, दान, व्रत, भक्ति के कोई शुभपरिणाम हो तो वहाँ कहाँ धर्म है? आहाहा! विकल्प से, राग से पार तेरी चिदानन्द निधि है। उसका अन्तर में रागरहित अनुभव करना, इसका नाम संवित्ति अथवा आत्मधर्म कहने में आता है।

शिष्य प्रश्न करता है, **भगवन्! जिसका लक्षण कहा गया है, ऐसी 'संवित्ति हो रही है।'** जो आत्मा में आत्मा आनन्द है, शुद्ध चैतन्य है और रागरहित है, ऐसा वेदन-अनुभव हो रहा है। **यह बात योगी को किस तरह से मालूम हो सकती है?** आहाहा! यह बात किस प्रकार से ज्ञात होती है कि उसे संवित्ति हो रही है? समझ में आया? आत्मा के आनन्द की रुचि और श्रद्धा की परिणति हो रही है, वह किस लक्षण से ज्ञात होता है? प्रश्न बहुत ऊँचा है। **योगी को किस तरह से मालूम हो...** उसे किस प्रकार से ख्याल में आवे कि मेरे आत्मा की अनुभवदशा बढ़ती है? मेरे आत्मा की शान्ति, संवित्ति-अनुभव-वेदन बँधता है, यह किस लक्षण से ज्ञात होता है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। देखो! शिष्य को दूसरे सब प्रश्न छूट गये हैं। आहाहा! पुण्य से ऐसा होगा और देह की क्रिया (ऐसी होती है), वह सब छूट गया।

यहाँ तो कहते हैं, महाराज! भगवान! आत्मा अन्तर में अनाकुल आनन्द की मूर्ति

प्रभु विराजमान है, उसका अनुभव हुआ। पुण्य-पाप की रुचि छूटकर, देह की रुचि छूटकर अपने तत्त्व की रुचि का अनुभव हुआ तो योगी को किस प्रकार खबर पड़ती है कि मुझे संवेदन रहता है ? संवेदन है, वेदन है, अनुभव है, शान्ति है, वह किस प्रकार से खबर पड़ती है ? आहाहा ! समझ में आया ?

उसकी हरएक क्षण में उन्नति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा सकता है? दो बातें पूछी है। एक तो योगी को संवित्ति-अनुभव किस प्रकार मालूम पड़ती है ? हमें धर्म की खबर नहीं पड़ती कि क्या है ? ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। धर्म अन्धा नहीं है। भगवान चैतन्य सूर्य, भगवान आत्मा चैतन्य सूर्य का जहाँ अन्तर में पुण्य-पाप के राग से रुचि छोड़कर, देह में से सुखबुद्धि छोड़कर, पर में से सुखबुद्धि हटकर अपने आत्मा में आनन्दबुद्धि की रुचि का अनुभव हुआ तो कहते हैं कि कैसे खबर पड़े कि हम संवित्ति में हैं ? हम अनुभव में हैं ? हम धर्म की दशा में हैं ? आहाहा ! कितनों ने तो संवित्ति सुना भी नहीं होगा। संवित्ति क्या होगी और ? जैनदर्शन में यह क्या होगा ? अरे ! अभी तो शब्द के भाव की खबर नहीं होती तो वस्तु तो कहाँ पड़ी है ? आहाहा ! समझ में आया ?

उसकी हरएक क्षण में उन्नति हो रही है,... क्या कहते हैं ? अपने विश्वास में अनन्त आनन्दमय आत्मा हूँ, ऐसा अनुभव में आया, विश्वास में आया। जो पुण्य-पाप का विश्वास था कि उनमें ठीक है, पर में विश्वास था कि सुविधा ठीक है, वह सब विश्वास मिथ्या विश्वास था।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी सुख नहीं। मूढ़ मानता है। कहो, सेठ ! मानते हैं। यह रहे पैसेवाले, पूछो। इसके पिता को पैसा है, लड़के को पैसा है। उसके भाई को बहुत पैसा है। हरिभाई के भाई के पास पचास-साठ लाख है। इसके पास दो करोड़ है। कहो, ये तीनों पैसेवाले साथ में बैठे हैं। धूल में भी नहीं। कौन कहता है पैसेवाले (सुखी हैं) ? ममतावाले हैं। सेठ ! ममता की संवित्ति है - ममता का वेदन है। राग का वेदन, वह ममता का वेदन है, वह तो अधर्म का वेदन है। आहाहा ! अरे ! भगवान ! यह तो ठीक, पाप की बात है परन्तु दया, दान, व्रत के विकल्प उठते हैं, प्रभु ! वह राग है, वह भी अधर्म का वेदन है। सूक्ष्म

बात है। यह पुण्यभाव परलक्ष्यी है। पर को दुःख न देना, मैं ऐसा करूँ, मैं ऐसे राग मन्द करूँ, ऐसा जो शुभभाव, वह तो शुभविकल्प है। उसका वेदन, वह अधर्म वेदन है, दुःख वेदन है। आनन्द का घात करने का वेदन है। आहाहा! समझ में आया?

अरे! भगवान! तेरी वस्तु में तो अनाकुल आनन्द पड़ा है न, प्रभु! तुझे तेरी खबर नहीं और तुझे खबर नहीं तो रुचि कहाँ से करेगा? समझ में आया? ख्याल में मेरी चीज़ क्या है, उसकी महिमा अन्तर में आये बिना अन्तर्मुख की रुचि कहाँ से करेगा? और रुचि किये बिना उस ओर की एकाग्रता कहाँ से होगी? समझ में आया? सूक्ष्म पड़े, परन्तु वस्तु तो ऐसी है। तीन काल-तीन लोक में सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ मार्ग ऐसा है। अज्ञानी ने कल्पित कर-करके लोगों को बताया और लोगों को भुलाया है। भूल-भूलैया में डालकर जाओ नरक और निगोद में। चार गति में भटको। यह मार्ग भगवान का नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ऐसा स्पष्ट स्पष्टीकरण होवे तो बराबर ख्याल में आ जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, भगवान! हमारे दो प्रश्न हैं। शिष्य के दो प्रश्न हैं। पहले प्रश्न का रूप समझना। प्रश्न का रूप—प्रश्न क्या है? उसमें क्या कहते हैं? उसका रूप समझना चाहिए न? शिष्य प्रश्न करता है, भगवान! यह आत्मा अनादि काल का जो रागादि का, पुण्य आदि का विकार आदि को मानकर जो अनुभव करता था, वह तो अधर्म था। वह ख्याल आवे, न आवे, यह उसके पास रहा। परन्तु आत्मा अन्दर से राग, पुण्य-पाप के रागरहित अपना शुद्धस्वरूप जैसा है, वैसा दृष्टि में आया, अनुभव में आया तो वह किस लक्षण से ज्ञात होता है कि यह वेदन में आया? और उसमें क्षण-क्षण में वृद्धि होती है, (वह किस प्रकार खबर पड़ती है)? क्योंकि आत्मा में शुद्धि की एकाग्रता है तो क्षण-क्षण में उन्नति / वृद्धि भी होना चाहिए तो वह उन्नति, वृद्धि हो रही है, यह किस प्रकार ज्ञात होता है? आहाहा! समझ में आया?

आचार्य कहते हैं **हे धीमन्!** ऐसा करके बुलाया है। क्योंकि तेरा प्रश्न ही बहुत सरस है। **हे धीमन्!** धी... धी-बुद्धिवाला। हे बुद्धिमन्! शिष्य को बुद्धिमन् सिद्ध किया

है। तेरा प्रश्न ही ऐसा है। भगवान आत्मा अनादि काल से वेदन तो करता ही है। अनादि काल से अज्ञानी निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक अनन्त बार गया और मिथ्यादृष्टि रखकर जैन दिगम्बर साधु भी अनन्त बार हुआ। उसके वेदन में तो पुण्य-पाप के विकार का वेदन था, बस! वह पुण्य का वेदन था, विकार का वेदन था, वही संसार था। समझ में आया? महाराज! शिष्य का प्रश्न है न? वह वेदन पलट गया और धर्म का वेदन हुआ। ज्ञानस्वरूप प्रभु, अनाकुल आनन्दस्वरूप आत्मा का भान, वेदन तो हुआ। वह वेदन किस प्रकार ज्ञात होता है कि मुझे पर का वेदन-संवित्ति पलट गया है और स्व का (वेदन) हुआ और क्षण-क्षण में उन्नति होती है, यह कैसे खबर पड़ती है। शिष्य को कहते हैं, धीमन्! हे धीमन्! हे बुद्धिवन्त आत्मा! **सुनो! मैं उसके चिह्न का वर्णन करता हूँ –** समझ में आया?

मुमुक्षु : धीमन् अर्थात् भगवान नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान नहीं, इसकी बुद्धि के प्रश्न में ही बुद्धिवन्तता है, ऐसा कहते हैं। यह कुछ ज्ञात होता है या नहीं! कितने ही कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान हुआ, परन्तु हमें खबर नहीं पड़ती और मैं बढ़ता हूँ या नहीं, इसकी मुझे खबर नहीं पड़ती। तो कहते हैं कि संवित्ति हुई, वह कैसे खबर पड़ती है? और बढ़ता है या नहीं? उसे क्या ज्ञात होता है? तेरा प्रश्न बराबर है। समझ में आया?

धन-धन को बढ़ावे, नहीं कहते। पाँच लाख की आमदनी हुई हो तो लक्ष्मी का ब्याज बढ़े, व्यापार बढ़े, नौकर लेने आवे, भागीदार लेने आवे, हमें पचास हजार दो, तुम्हें बारह आने का ब्याज (दूँगा)। अभी तो बारह आने का नहीं होगा, बढ़ गया। अब बढ़ गया होगा। यह तो पहले की बात है, लो न! अभी तो सवा टका का ब्याज। तुम्हारा सवा टका का ब्याज। तुम्हारे दुकान में आना नहीं। हम अकेले काम करेंगे, तुम्हारे पचास हजार रखेंगे, आधा भाग (तुम्हारा) और सवा टके का ब्याज। सेठ! लोग पूछने आवें, हों! पैसेवाले हों, उनके पास आवें। देखो! हमें व्यापार करने का उत्साह है। हमारे पास पैसा नहीं है। तुम्हारे पास पचास लाख, करोड़ है तो पाँच लाख यहाँ रोको। तुम्हें सवा टके का ब्याज देंगे और हम अकेले काम करेंगे, तुम्हें नहीं करना है। महीने-महीने में तुम्हें नामा

जाँचना कि हमसे कुछ गड़बड़ न हो जाए, तुम्हें विश्वास न होवे तो। सेठ! महीने में हमारा नामा जाँचना कि कितने गये और कितने आये? जाँच करते हैं या नहीं? मलूकचन्दभाई! यह तो सब तुम्हारी बातें सुनी हुई हैं। हों! यह मोहनभाई कहते थे, मोहनभाई, मोहनभाई कालीदास कहते थे। पैसा दे, देकर फिर हम जाएँ नहीं। पन्द्रह दिन में, महीने में जाँच करने जाएँ कि उल्टा नहीं मारता न? बारह आने का ब्याज लेते हैं। तब तो बारह आना था न! ब्याज लेते हैं बारह आने का और दुकान में जाते नहीं और आधा भाग। आमदनी में आधा-आठ आना हमारा और आठ आना तुम्हारा। सेठ! तुम्हारे व्यापार में ऐसा सब करते हैं या नहीं? वहाँ खबर पड़ती है और यहाँ क्या खबर पड़ती है? तो कहते हैं, हमें खबर नहीं।

तू धर्म का व्यापार करता है, वह खबर। है? और धर्म के व्यापार में वृद्धि होती है, वह खबर है? महाराज! शिष्य पूछता है, हों! उसकी खबर पड़ती है या नहीं? तेरा प्रश्न बराबर है। समझ में आया? हे **धीमन्! सुनो मैं उसके चिह्न का वर्णन करता हूँ-**

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषया: सुलभा अपि।।३७।।

देखो! अर्थ, इसका अर्थ है न? **ज्यों ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है,...** देखो! न समझ में आये, ऐसा नहीं समझना, हों! समझ में आता है, ऐसा समझना। पश्चात् अनुभव की बात अलग, परन्तु यह कहते हैं— ऐसा ख्याल तो करना या नहीं? समझ में आया? यह सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग के कहे हुए धर्म की यह पद्धति है। कहते हैं, आत्मा अपने शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान के मार्ग में चढ़ा तो अन्तर में अनुभव हुआ। भगवान आत्मा, शुद्ध चैतन्यस्वरूप पूर्णानन्द है, उसे पुण्य-पाप से हटकर अन्तर की दृष्टि में आत्मा का अनुभव हुआ, संवित्ति हुई। तो कहते हैं, **उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है,... उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है,...** देखो! अज्ञान में तो रागरूपी तत्त्व का अनुभव था, भाई! आहाहा! क्या कहते हैं? यह तत्त्व तो अकेला मक्खन तत्त्व है।

अनादि से जब तक मिथ्यादृष्टि था, तब तक उत्तम तत्त्व का अनुभव नहीं था। तब तक पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, शुभाशुभराग का अनुभव था, वह उत्तम

तत्त्व नहीं है। समझ में आया? '**विशुद्धात्मस्वरूपं**' है न? **उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है,...** क्या कहते हैं? जैसे-जैसे भगवान आत्मा अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप आत्मा का अन्तर्मुख होकर वेदन (करता है)। अनन्त काल से राग का वेदन करता था, वह छूट गया। आत्मा उत्तम तत्त्व ज्ञायक चैतन्य तत्त्व है, मैं शुद्ध परमानन्द मूर्ति हूँ, ऐसे उत्तम तत्त्व का अनुभव होता है। आत्मतत्त्व का अनुभव कहो या उत्तम तत्त्व का अनुभव (कहो)। समझ में आया?

त्यों त्यों उस योगी को... धर्मी जीव को। योगी अर्थात् धर्मी। वे बाबा योग करते हैं, उस योगी की यहाँ बात नहीं है। आत्मा परमानन्द मूर्ति में एकाकार हुआ, उसका नाम योगी। सर्वज्ञ परमेश्वर ने परमात्मा ने जैसा आत्मा कहा, वैसे आत्मा में दृष्टि लगाकर एकाकार हुआ, उसका नाम योगी। बाकी इसके अतिरिक्त भोगी। समझ में आया? आहाहा! बाहर का त्यागी, अन्तर का भोगी। राग का अनुभव करता है, वह भोगी है। गृहस्थाश्रम में पड़ा हुआ राजा, महाराजा, श्रेणिक राजा आदि भरत चक्रवर्ती आदि, घर में छियानवें हजार स्त्रियाँ हैं। बाहर में अत्याग / भोग दिखायी देते हैं, अन्तर में भोग का त्याग है। अन्दर आत्मा का भोग है। समझ में आया? बाह्य में भोगी, अन्तर में योगी। अज्ञानी को बाहर में त्याग दिखता है, अन्तर में दया, दान, व्रत विकार के परिणाम का अनुभव (करता) है, वह विकार मेरा धर्म है, वह अन्तर में भोगी-अज्ञानी है। समझ में आया? आहाहा! गजब! वीतरागमार्ग ऐसा होगा?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब अभी तक कैसे सुनाते नहीं होंगे? अभी तक यह ५०-५०, ६०-६० वर्ष गये, कोई सुनाता नहीं? ऐसा वीतरागमार्ग कुछ नया निकाला लगता है। अरे! भगवान! तूने नहीं सुना हो, इसलिए कहीं नया हो जाएगा? समझ में आया? वीतराग परमेश्वर का मार्ग यह अनादि का यह एक ही है। बाकी सब अज्ञानी के-रागी के मार्ग हैं।

कहते हैं, **त्यों त्यों उस योगी को आसानी से प्राप्त होनेवाले...** क्या कहते हैं? धर्मी जीव को अपने आनन्द की सावधानी में इतनी रुचि लग गयी है कि उसे अन्याय से, अनीति से मिलनेवाली लक्ष्मी आदि का भोग तो है ही नहीं। जबरदस्ती कोई पैसा लेना,

स्त्री को परेशान करना, इज्जत लेना, ऐसे अन्याय के भोग का तो ज्ञानी को त्याग ही है। समझ में आया? परन्तु **आसानी से...** सहजरूप से स्त्री आदि, पैसा आदि, लक्ष्मी आदि मिल जाए तो भी **विषय अच्छे नहीं लगते।** अरे! हमारे आनन्द के समक्ष यह भोग की इच्छा रोग समान दिखती है। धर्मी को भोग... परन्तु कैसे भोग? सहजता से प्राप्त वे, हों! सहज मिले हों। पूर्व के पुण्य से स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, अरबों रुपये, करोड़ों रुपये के मकान हों। जबरदस्ती हठ करके किसी को दबाकर, छल करके लाया हो और उसे भोगना और स्त्री को परावलम्बन करके (भोगना), ऐसा नहीं। ऐसा तो होता नहीं परन्तु सहज मिल गये हों किन्तु आत्मा के आनन्द के प्रेम के समक्ष सहजरूप से मिले हुए भोग को भी रोग की तरह देखता है। आहाहा!

दुनिया ऐसा देखे कि देखो! यह स्त्री का सेवन करता है। उसे लगता है, रोग आया। चारित्रमोह के उदय में मैं इतना जुड़ा, मुझे राग आया। जैसे रोगी रोग को चाहता नहीं है और दवा को भी नहीं चाहता; इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को भोग का राग आया, उसे रोग मानता है और रोग का इलाज, रोग की क्रिया को भी हेय मानता है। यह नहीं रे नहीं, यह नहीं, हों! समझ में आया? पर से हट गया है, रुचि है नहीं। जिसे दूधपाक का स्वाद आया, उसे लाल ज्वार की छिलके की रोटियों का स्वाद नहीं आता, ऐसा आचार्य कहते हैं।

लोग ऐसा मानते हैं कि अहो! धर्मी इतने पुण्य के भोग में पड़े हैं? भरत चक्रवर्ती, छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक और शरीर में मात्र हीरा-माणिक, हीरा-माणिक के सिंहासन पर बैठे हों। सोलह हजार देव जिनकी तैनाती में पड़े हों। उस ओर वृत्ति जाती है तो ऐसा लगता है, दुःख.. दुःख... (लगता है)। कोई उपसर्ग आया। कोई अन्दर आत्मा में चोट मारता है, (ऐसा लगता है)। यहाँ मछली का दृष्टान्त देंगे। समझ में आया? इसमें आता है न? मछली का दृष्टान्त आयेगा। समझ में आया? प्रवचनसार में भी दिया है।

मछली को जमीन पर आना दुःखरूप है तो अग्नि में जाना कितना दुःखरूप है? आहाहा! इसी प्रकार धर्मी को अपने अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि का संवेदन है। मैं आनन्दमूर्ति हूँ, ऐसा भान और वेदन है, उसे शुभभाव में आना, वह मछली जैसे जमीन पर

आती है, वैसे दया, दान, व्रत के परिणाम में आना इतना दुःखरूप लगता है। आहाहा! और विषय-वासना तो अग्नि के अंगारों में आने जितना दुःखदायी लगता है। समझ में आया? अज्ञानी को ऐसे प्रियकर लगता है। यहाँ तो देश जरा करेंगे कहेंगे। समझ में आया? देखो! यह संवित्ति का, धर्मी का लक्षण! आहाहा! धर्मी का ऐसा लक्षण नहीं कहा कि बाहर से छोड़ दिया है और स्त्री, कुटुम्ब छोड़ दिया है और अकेला जंगल में रहता है, यह लक्षण, ऐसा नहीं कहा। समझ में आया?

अहो! जैसे-जैसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद-वेदन (आता है), धर्मी जीव को वह प्रगट हुआ है, उस स्वाद के समक्ष भोग का-राग का स्वाद अंगारे जैसा लगता है। जैसे मछली अंगारे में जाती है तो दुःख.. दुःख.. दुःख लगता है, तड़फन-तड़फन (होती है)। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान आत्मा, जिसे अन्तर वेदन में, दृष्टि में ज्ञान, आनन्द है, ऐसा अनुभव में आया, उसे पापभाव अंगारे जैसे लगते हैं। पुण्यभाव, मछली पत्थर के ऊपर, जमीन पर आवे, ऐसा लगता है। समझ में आया? लो! यह संवित्ति का लक्षण। वह कहे, अकेला ज्ञान (ऐसा) संवित्ति का अर्थ करते हैं। अरे! भगवान! बापू! अकेले ज्ञान का अर्थ क्या? आत्मा में ज्ञान में एकाग्र हुआ, जब राग में एकाग्र हुआ तब जो वेदन था और यहाँ एकाग्र हुआ तो वेदन न पलटे तो क्या हुआ? क्या कहा, समझ में आया? जब तक पुण्य-पाप की रुचि थी, क्रियाकाण्ड दया, दान, व्रत, विकल्प की रुचि थी, तब तक मिथ्यात्व की रुचि में राग का वेदन था। अनादि काल से वह वेदन है। अनादि काल से धर्म के नाम से भी अज्ञानी यह कर रहा है। वह वेदन पलट गया। संवित्ति हुई, उत्तम तत्त्व का वेदन हुआ। पहला तो राग का वेदन था। आहाहा!

कहते हैं, **ज्यों ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है, त्यों त्यों उस योगी को (धर्मी को) आसानी से...** सरलता है, सहजता से, सुलभता से ऐसे इन्द्रिय के अनुकूल भोग मिलें। समझ में आया? भोजन के समय ऐसी वस्तु सामने मिले, ऐसी वस्तु मिले। सहज मिले, उस ओर की वासना, धर्मी को भोजन के प्रति द्वेष हो जाता है, ऐसा यहाँ कहते हैं। द्वेष का अर्थ उसके प्रति प्रेम नहीं लगता। वह अच्छा नहीं, ऐसा द्वेष का अर्थ है। द्वेष का अर्थ कि उसमें रुचता नहीं। खाने-पीने की ऐसी वस्तु है, वह मक्खन जैसी वस्तु है, यह स्त्री पंखा (हवा) करती है। अरे! मुझमें आनन्द

है, उस आनन्द से उल्टी वृत्ति उत्पन्न होती है, वह दुःखरूप लगती है। समझ में आया? उसका नाम धर्म, संवित्ति का लक्षण है। आहाहा!

मुमुक्षु : संक्षिप्तपना प्रगट हुआ, वह यह लक्षण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहिचान ले, जाँच करे न।

विषय अच्छे नहीं लगते। देखो! समझ में आया? अर्थात् अपने स्वरूप के आनन्द की दृष्टि, वेदन-अनुभव हुआ, पर का वेदन पलटकर स्व का वेदन हुआ, तब धर्मदृष्टि हुई, तब सम्यग्दृष्टि हुआ, तब वेदन में पलटा हो गया। अपने अनुभव के स्वाद के समक्ष जगत के विषय के स्वाद की वासना रूखी लगती है, दुःखरूप लगती है। समझ में आया? इन विषयों में दिखता है परन्तु इनमें नहीं है, इनसे उदासीन है। समझ में आया? और बाहर का त्यागी बाहर में त्यागी होकर अन्दर में राग की क्रिया को धर्म मानता है, वह पुण्यभाव को आत्मा का कल्याण मानता है, अन्दर में आत्मा के आनन्द का अनादर करके राग का वेदन मिथ्यादृष्टि करता है, उसमें सर्वस्व मानता है। वह अधर्म का वेदन है। ऐसा अनादि काल से करता है। स्वसंवेदन में यह सब पलट गया है। सरलता से मिले हुए भोग में भी उसकी वृत्ति नहीं उठती, प्रेम नहीं होता। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२ गाथा-३७ गुरुवार, दिनाङ्क १९-०५-१९६६
वैशाख कृष्ण १४, वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश ३७वीं गाथा चलती है। देखो! क्या कहते हैं? विशदार्थ है। ३७। क्या कहते हैं तुम्हारे हिन्दी में? ३७। क्या कहते हैं? जरा धीमे से समझने की वस्तु है। क्या कहते हैं? कि जिसे आत्मा पर से भिन्न अपना अस्तित्व, मौजूदगी स्वतन्त्र रखता है और वह आत्मा पुण्य-पाप के राग से भिन्न है, ऐसा अन्तर में अनुभव-दृष्टि हुई, उसे अपने आत्मा में ज्ञान और आनन्द है, वह पर से ज्ञान और आनन्द नहीं होता। ऐसी उसे अनुभव में प्रतीति आती है। क्या कहा? समझ में आया?

फिर से, जो आत्मा को यह आत्मा देह से, कर्म से, पुण्य-पाप के भाव से भिन्न है और अपनी मौजूदगी में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त प्रभुता (भरी है), ऐसा मैं आत्मा हूँ, ऐसा दृष्टि में अनुभव में आया है, तो अपने में जो ज्ञान होता है, वह पर से होता है, ऐसा वह नहीं मानता। समझ में आया ? अपने आत्मा को अनन्त गुणसम्पन्न माननेवाला अपने गुण का कार्य पर से होता है, ऐसा वह नहीं मानता। यहाँ भाषा आनन्द की ली है, परन्तु सब गुण ले लेना। समझ में आया ? जुगराजजी !

यह आत्मा है, एक समय में अस्ति... अस्ति—मौजूदगी (रखता है)। बराबर है ? पण्डितजी ! ...आत्मा में अनन्त शक्तियाँ-अनन्त गुण हैं और वह आत्मद्रव्य, उसकी अनन्त शक्तियाँ वर्तमान में कार्य-दशा-गुण से होता है। अपने गुण से कार्य होता है। यहाँ अभी राग की बात नहीं है। यहाँ तो आत्मा की दृष्टि की बात है न ! कोई पहले ऐसा माने कि मुझमें राग होता है, वह निमित्त से होता है और मेरे निमित्त से पर में कुछ होता है, ऐसी जिसे पराश्रय दृष्टि है, उसे आत्मा अनन्त गुण स्वतन्त्र है और अपना कार्य अपने से है, ऐसा रुचि में नहीं आता। समझ में आया ? कहो, जमुभाई !

आत्मा है, है तो आत्मा में अनन्त गुण है। आत्मा है तो आत्मा में अनन्त गुण है। ज्ञान-दर्शन आनन्द आदि। ऐसे आत्मा की जिसे अन्तर प्रतीति, अन्दर अनुभव से-वेदन से ख्याल में आ गया कि यह आत्मा तो शान्ति और आनन्द का ही भण्डार है। इसमें विकार नहीं, कर्म नहीं, शरीर नहीं। मैं पर से कार्य ले सकूँ, ऐसा मैं नहीं और मैं पर को काम दे सकूँ, ऐसा मैं नहीं। समझ में आया ? मैं तो आत्मा ज्ञाता-दृष्टा, जानन-देखन शक्ति सम्पन्न हूँ और बेहद ज्ञान, बेहद दर्शन मेरा स्वभाव है। यहाँ आनन्द की प्रधानता लेनी है। मेरा आनन्द मेरे पास है, मेरा स्वरूप ही आनन्द है। मेरे आनन्द की अर्थात् अनन्त गुणसम्पन्न आत्मा की जिसे प्रतीति अनुभव में हुई है, ऐसे अनुभवी धर्मी जीव को पर में आनन्द भासित नहीं होता। समझ में आया ? पर में सुखबुद्धि होता नहीं अथवा पराश्रय से कार्य होता है, ऐसी पराधीनदृष्टि उसकी नहीं होती। समझ में आया ?

कहते हैं, अहो ! **जिस जिस प्रकार से योगी..** योगी शब्द से धर्मी। अपना आत्मस्वरूप शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ, अस्ति हूँ, और मेरी मौजूदगी में तो अनन्त शक्तियाँ

पड़ी हैं। मैं पराश्रय में रहनेवाला नहीं और मेरे आश्रय से पर रहे, ऐसा मैं नहीं, ऐसे पर (पदार्थ) भी नहीं। समझ में आया? ऐसा धर्मी जीव **संवित्ति में (स्वानुभवरूप संवेदन में)...** विशदार्थ की पहली लाईन। **शुद्ध आत्मा का स्वरूप झलकता जाता है,...** भगवान आत्मा एक समय में, सूक्ष्म काल में परिपूर्ण आनन्द, ज्ञान से सम्पन्न और पराश्रय बिना स्वतन्त्र वस्तु हूँ और मैं परिपूर्ण शुद्ध आनन्दकन्द हूँ, ऐसी दृष्टि करनेवाले को आत्मा का स्वरूप झलक जाता है। अपने श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र में अपना स्वरूप आता है, झलक जाता है। आहाहा! समझ में आया? अपनी श्रद्धा में आत्मा कैसा है, वह झलक जाता है। अपने ज्ञान में आत्मा कैसा है, वह झलक जाता है और स्थिरता में आत्मा कैसा शान्तिमय है, ऐसा शान्ति की पर्याय में झलक जाता है। आहाहा! कहो, हरिभाई! आहाहा! समझ में आया? आत्मा है ऐसे अनुभव में कितना स्वतन्त्र कार्य होता है, यह बात कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : झलक जाता है अर्थात् दिखता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दिखता है ऐसे। झलक जाता है, ऐसा बताते हैं। आत्मा बताता है कि मैं पूर्ण शुद्ध हूँ, ऐसा श्रद्धा में बताता है। उसके ज्ञान में मैं पूर्ण ज्ञान हूँ, ऐसा बताता है। और स्थिरता में, शान्ति में बताता है कि मैं पूर्ण शान्तिस्वरूप हूँ। समझ में आया?

जिस जिस प्रकार से... धर्मी को। धर्मी उसे कहते हैं कि अपना शुद्धस्वभाव वह धर्म, उसे धरनेवाला आत्मा, उसकी अन्तर प्रतीति अनुभव में-ज्ञान में आयी है। ज्ञान में अपना आत्मा ऐसा है, ऐसा आया है। समझ में आया? ऐसे धर्मी को **(स्वानुभवरूप संवेदन में)...** निज वस्तु का स्वरूप प्रतीति में नहीं था, विश्वास में नहीं आया था, तब तो मेरा ज्ञान पर से, इन्द्रियों से होता है, मेरा आनन्द पर में है... समझ में आया? और मेरे वीर्य की स्फुरणा भी पर से होती है, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि में पराश्रयबुद्धि थी, वह बुद्धि पलट गयी। समझ में आया? आहाहा!

शुद्ध आत्मा का स्वरूप झलकता जाता है,.. देखो! पहले अशुद्धता अपने में मानता था। समझ में आया? अशुद्धता का अर्थ, मैं पुण्य, पापी हूँ अथवा मेरा आत्मा पर के आश्रय से है, मेरी शक्ति का विकास पर के आश्रय से है और पर की शक्ति का विकास मेरी मौजूदगी से है, जब तक ऐसी मिथ्यादृष्टि थी, तब तक अशुद्धता का झलकना, अशुद्धता का वेदन था। समझ में आया? यह तो लॉजिक-न्याय से बात करते हैं।

भगवान आत्मा वस्तु है, पदार्थ है। है तो एकरूप नहीं है, उसमें अनन्त गुण हैं। अनन्त गुण सम्पन्न आत्मा की जहाँ प्रतीति, भरोसा भान में आया तो पराश्रयबुद्धि उड़ गयी। समझ में आया? ऐसे अपने को ज्ञाता-दृष्टा भी माने और मैं पर का कर सकता हूँ तथा पर से मुझमें कुछ होता है, ऐसी बुद्धि भी रहे, ऐसा नहीं हो सकता। सेठ! आहाहा! कहो, पारेख! यह पारेख का व्यापार है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सुख भी कहाँ है? यहाँ तो कहते हैं, तेरी दृष्टि जब पर के ऊपर थी और अपने चैतन्य का विश्वास नहीं था तो तुझे अशुद्धता का झलकना और अशुद्धता का वेदन था। पर का वेदन तो है नहीं। अशुद्धता झलकती थी। शुद्धता चैतन्यमूर्ति पूर्णानन्द है, उसकी तो प्रतीति है नहीं, उसका ज्ञान है नहीं, उसकी लीनता नहीं। चीज़ देखे बिना लीनता किसमें करना? समझ में आया?

कहते हैं, धर्मी को आत्मा का स्वरूप झलक जाता है। आत्मा कैसा है? शुद्ध है, पवित्र है, ऐसा श्रद्धा-ज्ञान में आ जाता है। क्या कहा? उसके श्रद्धा-ज्ञान में ऐसा आत्मा आ जाता है। आहाहा! समझ में आया? **सन्मुख आता है,...** सन्मुख आ जाता है। जो विमुख था। विकार और पर की प्रतीति में जो अपना स्वरूप विमुख था, वह स्वभाव की श्रद्धा से आत्मसन्मुख हो गया। आहाहा! समझ में आया? देखो न! कथनपद्धति कैसी है?

सन्मुख आता है,... देखो! दोनों शब्द है न इसमें? '**विशुद्धात्मस्वरूपं सांमुख्येनागच्छति**' संस्कृत में है। इसमें सिद्धान्त है। यह आत्मा एक समय में अखण्ड आनन्दकन्द वस्तु शुद्ध है, ऐसी जब तक प्रतीति और आस्था में आया नहीं, तब तक तो मलिनता और परपदार्थ की श्रद्धा में सन्मुख होता है। समझ में आया? अशुद्धता का वेदन और परपदार्थ की सन्मुखता है। स्वसन्मुखता की विमुखता हो गयी। स्पष्ट बात है। क्यों, पण्डितजी!

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में चिद्घन वस्तु ध्रुव अनादि-अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप है, ऐसा प्रतीति में आया तो आत्मा सन्मुख हो गया और आत्मा श्रद्धा-ज्ञान में झलक गया। समझ में आया? आहाहा!

तैसे-तैसे बिना प्रयास से, सहज में ही प्राप्त होनेवाले रमणीक इन्द्रिय विषय भी भोग्य बुद्धि को पैदा नहीं कर पाते हैं। क्या कहते हैं ? **तैसे-तैसे बिना प्रयास से,...** क्या कहते हैं ? अहो ! यह आत्मा अपना स्वरूप आनन्द और ज्ञायक, श्रद्धा और शान्ति का भण्डार है, ऐसे आत्मा की प्रतीति स्वसन्मुख होकर हुई तो आत्मा ही सन्मुख हो गया और आत्मा झलकने लगा। **तैसे-तैसे बिना प्रयास से,...** पूर्व के पुण्य के योग से बिना प्रयास से विषय की साधना, विषय के साधन सन्मुख हो जाए। पैसा, लक्ष्मी, कीर्ति, मकान, स्त्री, सब बिना प्रयास से सहजता से प्राप्त होनेवाले। सहज मिल जाए। इज्जत, कीर्ति, स्वर्ग पद आदि **रमणीक इन्द्रिय विषय भी भोग्य बुद्धि को पैदा नहीं कर पाते हैं।** यह पदार्थ भोगनेयोग्य है, ऐसी बुद्धि, आत्मा शुद्ध ज्ञायक है, ऐसी प्रतीति में आत्मसन्मुख हुआ, उसे पर में भोगबुद्धि उत्पन्न नहीं होती। आहाहा ! समझ में आया ? परपदार्थ शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देवलोक, इन्द्राणी, मकान, जवाहरात, वस्त्र आदि मुझे भोगनेयोग्य है, मुझे भोगनेलायक है - ऐसी बुद्धि धर्मी को नहीं होती, क्योंकि अपना आत्मा भोगनेयोग्य हो गया है। आहाहा ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञायक चैतन्य आनन्द, श्रद्धा—श्रद्धा त्रिकाली, स्वच्छता, प्रभुता, ऐसी अनन्त शक्तियों से सम्पन्न की अन्दर प्रतीति-विश्वास, अनुभव-वेदन, स्वसन्मुख हुआ, ऐसे धर्मी जीव को बाहर की सन्मुखता में स्वर्ग भी मिल जाए तो भी भोग्यबुद्धि उत्पन्न नहीं होती। दो चीज़ आयी। समझ में आया ? आहाहा !

मुमुक्षु : पुण्य बाँधा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने बाँधा था ? पुण्य मेरा नहीं, पुण्य का फल मेरा नहीं। मेरा तो आत्मा है। धर्मी तो ऐसा मानता है कि पुण्य मेरा नहीं, पुण्य का फल मेरा नहीं। वर्तमान पुण्य का विकल्प उठता है, वह भी मुझमें नहीं है। मुझमें तो आनन्द, ज्ञान, ज्ञायकता, दर्शकता, स्वच्छता, प्रभुता, आनन्दता है, वह मेरी वस्तु है। समझ में आया ? आत्मा मैं हूँ तो आत्मा में जितने गुण हैं, वे सब उसमें आ गये। समझ में आया ? आत्मा, आत्मा बोले, ऐसा नहीं चलता। आत्मा में जितने गुण हैं, उन सब स्वरूप मैं आत्मा हूँ - ऐसी अन्तर में प्रतीति हुई तो सहज में आत्मा श्रद्धा-ज्ञान में झलक गया और श्रद्धा-ज्ञान में आत्मा ही

सन्मुख हो गया, तो बाहर के पुण्य के कारण सहज ही अनुकूल भोग आदि मिल जाए तो भी भोगबुद्धि अपने में हो गयी है, इसलिए पर में भोगबुद्धि नहीं रहती। आहाहा! समझ में आया? कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? रविभाई! ऐई! सुधीरभाई! समझ में आया या नहीं इसमें? तुम्हारी उस सब शिक्षा में व्यर्थ है, हों! (उसमें) कुछ नहीं मिलता। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह देखो न! यह चीज़ है न? ऐसे अस्तिरूप से दो हैं। एक रूप से अस्ति अर्थात् आत्मा है तथा एक ओर है—राग, पुण्य, उसके फल बाह्य सामग्री आदि हैं। जिसे आत्मा है, ऐसी जिसे अन्तर में प्रतीति हुई, भान में स्वीकार हो गया कि मैं शुद्ध आत्मा ज्ञायक चिदानन्द हूँ, ऐसा स्वसन्मुख में अपना आत्मा ही झलक गया तो अपने आनन्द की भोग्यबुद्धि हो गयी, (बाहर का) भोग छूट गया। अपना ज्ञान अपने से होता है, ऐसी बुद्धि हो गयी। अपना ज्ञान इन्द्रिय से और पर से होता है, यह बुद्धि छूट गयी। अपनी श्रद्धा अपने से है, क्योंकि श्रद्धा-गुण अपने में पड़ा है, तो अपनी श्रद्धा अपने से है, पर से श्रद्धा होती है, यह व्यवहार है अथवा निमित्त से मुझमें होता है, यह बुद्धि छूट गयी और राग का व्यवहार है, उससे मुझे लाभ होता है, यह बुद्धि भी छूट गयी क्योंकि आत्मा का विश्वास आया है। समझ में आया?

आत्मा के विश्वास का अर्थ भगवान आत्मा अकेला ज्ञानस्वभाव है। ज्ञानस्वभाव का अर्थ—बेहद अनन्त स्वभाव, दर्शन स्वभाव, आनन्द स्वभाव, वीर्य स्वभाव, प्रभुत्व स्वभाव, परमेश्वर स्वभाव। मैं ही परमेश्वर स्वभाव हूँ। मैं ही कर्ता, कर्म आदि मेरा स्वभाव है। ऐसा आत्मा श्रद्धा-ज्ञान में प्रतीति में सन्मुख होकर झलक गया, उसे सब बाह्य पदार्थ मिल जाए तो भी उसमें भोगबुद्धि उत्पन्न नहीं होती।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्पन्न नहीं होती। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं। एक म्यान में दो नहीं रहती। क्या कहा? आहाहा!

यहाँ तो अपना चैतन्यस्वरूप एक समय में राग से, कर्म से, शरीर से भिन्न है और अपने पूर्ण स्वभाव से अभिन्न है। ऐसा प्रतीति में, श्रद्धा में, ज्ञान में ज्ञेय होकर आया। आत्मा

ज्ञान में ज्ञेय होकर आया। आहाहा! उसे बाह्य पदार्थ में भोगबुद्धि कैसे उत्पन्न होगी? चाहे तो इन्द्रपद में हो, चाहे तो चक्रवर्ती पद में हो, वह उस पद में है ही नहीं। वह तो अपने आत्मा के निजपद में है। सम्यग्दृष्टि तो अपने निजपद में है, ऐसा समझता है। मेरा पद राग में नहीं, चक्रवर्ती के सिंहासन में नहीं, छियानवें हजार स्त्रियों के भोग में मेरा पद है ही नहीं; मेरा पद मेरे पास है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं **बिना प्रयास से, सहज में ही प्राप्त..** हो जाते हैं। वे भी सहज में (प्राप्त होते हैं)। भगवान आत्मा श्रद्धा, ज्ञान में सहज स्वरूप से आ गया है और बिना प्रयास से उसका अर्थ हठ नहीं करना। आत्मा का स्वभाव, ज्ञान की ओर आत्मा झुक गया है। ज्ञान में-अपनी ज्ञान की पर्याय में आ गया है कि यह आत्मा है। अपनी ज्ञान की पर्याय में आ गया है। समझ में आया? आहाहा! संक्षिप्त में बहुत लिखा है।

बिना प्रयास से, सहज में ही प्राप्त होनेवाले रमणीक इन्द्रिय विषय.. साधारण विषय, ऐसा नहीं। रमणीय इन्द्रिय विषय। यह इन्द्रादिक का कहा न? **भोग्य बुद्धि को पैदा नहीं कर पाते हैं।** इसकी बुद्धि में वे भोगनेयोग्य है, ऐसी बुद्धि नहीं होती। अपना आनन्द ही जहाँ भोगनेयोग्य दृष्टि में आया, अपना आत्मा ही अनुभव करनेयोग्य है, ऐसा आया तो परवस्तु अनुभव करनेयोग्य है, ऐसी बुद्धि ज्ञानी को नहीं होती। आहाहा!

यह क्या पूछा है? संवित्ति हो रही है, यह किस प्रकार पता पड़े? उसका यह उत्तर चलता है। और उसकी प्रत्येक क्षण में उन्नति हो रही है, यह किस प्रकार ज्ञात हो? दोनों प्रश्नों का उत्तर है। क्या कहा, समझ में आया? कौन से दो प्रश्न? शिष्य के प्रश्न क्या थे? भगवन्त! आत्मा अपने ज्ञान-श्रद्धा में अनुभव में आया, संवित्ति-वेदन में आया, इसका लक्षण क्या और जब आत्मा ही आत्मा, ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा में आया तो उसमें ही क्रम-क्रम से उन्नति होनी चाहिए, क्रम-क्रम से उसकी वृद्धि होनी चाहिए। रागादि घटना चाहिए। वे घटना चाहिए और इसकी वृद्धि होना चाहिए, तो उसका लक्षण क्या? समझ में आया?

जो आत्मा ज्ञायकमूर्ति भगवान पूर्णानन्द प्रभु है। आहाहा! वह लड़की कहती है, वह लक्ष्य में आया।....वह शब्द बराबर आकार करे, तब इतना ही करे, पहले से करती है, तब से इतना ही करती है। इतना... इतना। पुनर्जन्म। लक्ष्य में आ गया, ऐसा जहाँ कहा,

वहाँ वह आ गया। इतना बड़ा आत्मा है, ऐसा यहाँ तो मस्तिष्क में आ गया। समझ में आया? पर्याय में ऐसा महान आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द से भरपूर है—ऐसा स्व सन्मुख में अनुभव, प्रतीति नहीं थी तो अशुद्धता का वेदन था और जहाँ-जहाँ पर सामगी मिले, वहाँ ललचा जाए, उल्लसित वीर्य हो जाए और उसके भोग में घात हो जाए। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो भगवान आत्मा अपनी समृद्धिसहित श्रद्धा-ज्ञान में आया है। समझ में आया? समृद्धिसहित कहा, वह समझ में आया? आत्मा के जितने गुण हैं, उन अनन्त-अनन्त गुण की सम्पदासहित श्रद्धा में आया है। अपनी ऋद्धिसहित श्रद्धा-ज्ञान में आया है। ऐसे अपने आत्मा की प्रतीति और अनुभव सम्यग्दर्शन में हुआ तो कहते हैं कि बाहर की सामग्री लाख, करोड़ सहज (मिले), इज्जत-कीर्ति ऐसी मिले... ओहोहो! करोड़ों लोग इकट्ठे होकर अभिनन्दन दे, बुद्धि में कुछ नहीं लगता। अपने भोगनेयोग्य आनन्द के समक्ष उसे बाह्य पदार्थ ललचा नहीं सकते। कहो! आहाहा! सम्यक्-जैसा आत्मा का स्वरूप है वैसा। दर्शन-प्रतीति, भास-शुद्धता का भास। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : है कहाँ? है ही नहीं, ज़हर है। वह है ही नहीं। छियायनवें हजार स्त्रियों का वृन्द इन्द्राणी जैसी हो, सम्यक्त्वी चक्रवर्ती को ललचा नहीं सकती और प्रतिकूलता के ढ़ेर उसे गला नहीं सकते। मेरी वस्तु मेरे पास है। मैं ही ज्ञान, दर्शन, आनन्द को प्रगट करनेवाला स्वतन्त्र पदार्थ हूँ। मेरे भण्डार में अनन्त आनन्द आदि पड़े हैं। मेरा आनन्द मेरे सन्मुख हो गया है। आहाहा! मेरा आत्मा मेरी दृष्टि में अनादि से विमुख था और रागादि परसन्मुख था। अब दृष्टि गुलाँट खा गयी। गुलाँट समझते हो? पलटा हो गया। दृष्टि पलट गयी। मैं ही आत्मा हूँ। जिसे परमेश्वर कहते हैं, वह मैं ही परमेश्वर हूँ। आहाहा! समझ में आया? ऐसी अपनी शक्ति, समृद्धि, सम्पत्ति सहित भगवान आत्मा श्रद्धा, ज्ञान, और भोगने में आया, उसे पूर्व के पुण्य की सामग्री भोग्य बुद्धि उत्पन्न नहीं कर सकती। आहाहा! देखो!

शान्तिनाथ भगवान को वैराग्य हुआ। उन्हें छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं, उनके साथ

बैठते थे, तथापि वैराग्य की भावना करते थे। समझाते थे, करते.. करते.. करते.. जब वैराग्य आया और सब छूट गया तो स्त्रियाँ चोटियाँ खींचने लगीं। अरे! स्वामी! नाथ! अभी तक तो तुमने हमें रखा। (तो कहते हैं) हमारा राग था, तब तक तुम्हारी ओर लक्ष्य था। तुम्हारे कारण हम रहे हैं, ऐसा है ही नहीं। समझ में आया? यह हमारा अस्थिरता का राग था। रुचि तो नहीं थी परन्तु अस्थिरता का राग था। वह मर गया है। वह मर गया, वह अब जीवित नहीं होगा। चला जाता हूँ, चला जाता हूँ, घूमने चले जाते हैं। छियानवें हजार स्त्रियाँ (हों)। यहाँ तो इसे ठिकाना नहीं। उनको छियानवें हजार स्त्रियाँ इन्द्राणी जैसी! तथा चतुर और विलक्षण! समझ में आया? एक-एक बोल में इतनी विलक्षणता! तुम हमें ललचा सकती हो, ऐसा जो मानती हो, वह छोड़ दो। हम पहले तुम्हारे पास रहे, वह हमारी आसक्ति से रहे थे, रुचि से नहीं रहे थे। हमारी रुचि नहीं थी, हमारी भोगबुद्धि नहीं थी, परन्तु हमारी थोड़ी आसक्ति थी तो हम यहाँ रुक गये थे। अब स्वभाव में स्थिरता हो गयी। इस ओर विशेष आसक्ति हो गयी। अब तुम ललचा नहीं सकोगी। अब निमित्त भी नहीं हो सकती। हमारे में राग ही नहीं है, राग तो मर गया है, कोई जीवित कर सके? समझ में आया?

कहते हैं धर्मी जीव को... ऐसी बात है, भाई! **ठीक ही है, दुनियाँ में भी देखा गया है कि महान सुख की प्राप्ति हो जाने पर..** चक्रवर्ती का राज मिला हो और अन्यत्र कहीं दो खेत जमीन हो तो वहाँ कौन खोज करने जाता है? **अल्प सुख के पैदा करनेवाले कारणों के प्रति कोई आदर या ग्राह्य-भाव नहीं रहता है।** समझ में आया? अहो! सुन्दर भोजन जहाँ मिले, वहाँ ज्वार की रोटी खाने कौन तैयार है? अकेली मक्खन की वस्तु हो। साटा, साटा। साटा को तुम्हारे क्या कहते हैं। खाजा। घी में खूब तलकर ऐसा खाजा बनाया हो, उसके सामने ज्वार की रोटी कौन खायेगा?

इसी प्रकार कहते हैं कि दुनिया में भी ऐसा है। एक वस्तु अधिक मिली तो तुच्छ वस्तु का आदर नहीं करते। कहो, समझ में आया? दुनिया में भी ऐसा कोई मकान मिला तो छोटे मकान का कौन आदर करता है? ऐसा एक करोड़ का, दो करोड़ का मकान मिला, पश्चात् गाँव के मकान में कौन रहे? दो झोपड़ेवाला साधारण मकान हो.. गिरता हो, ऊपर से बिच्छु गिरते हों। हमारे ऐसा था। हीराभाई कहाँ गये? नहीं आये? हम हीराभाई के मकान में रहते थे न? वहाँ बिच्छु गिरते थे। एक बार रामजीभाई और मैं बैठे थे, वहाँ बिच्छु

बीच में गिरा। वह मकान ऐसा जीर्ण है न? ऐसे मकान में रहते हो और वहाँ चक्रवर्ती का राज मिले तो वहाँ (पुराने मकान में) कौन जाये?

इसी प्रकार जहाँ आत्मा के आनन्द के वेदन की श्रद्धा, ज्ञान अनुभव हुए तो बाह्य तुच्छ पदार्थ का वेदन करने कौन जाए? वहाँ मकान ऐसा था न, हम बैठे थे और बिच्छु गिरा। एक बार तो हम अन्दर अकेले बैठे थे और कपड़े के ऊपर बिच्छु गिरा। खुला शरीर था, कपड़े पर गिरा। पुराना मकान है। वहाँ तीन वर्ष रहे। जंगल में मकान है।

मुमुक्षु : नाम स्टार ऑफ इण्डिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्टार ऑफ इण्डिया नाम रहा है।

यहाँ तो कहते हैं, अच्छा मकान मिले, अच्छे कपड़े मिलें, लो न! बहुत मोटा कपड़ा ऐसा हो, समझे न? और उसमें इस ग्रीष्म के गर्मी के दिन हों, उसमें मलमल का कपड़ा मिले तो वह मोटा कपड़ा कौन पहने? सामने न देखे। इसी प्रकार जहाँ भगवान आत्मा अपने आनन्द के सन्मुख हो गया, अपने में आनन्द तो है, परन्तु उसकी दृष्टि में सन्मुख हो गया। आहाहा! अब उसे पर में सुखबुद्धि कैसे उत्पन्न होगी?

अल्प सुख के पैदा करनेवाले कारणों के प्रति कोई आदर या ग्राह्य-भाव नहीं रहता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है... श्लोक का आधार देते हैं।

जिनका मन शान्ति-सुख से सम्पन्न है,.. देखो! भगवान आत्मा अपने में ही शान्ति है क्योंकि आत्मा अकषायस्वभाव है। अपने में ही आनन्द है, क्योंकि वह वीतरागी स्वरूप है, तो आनन्द अपने में है। ऐसे शान्ति-सुख सम्पन्न है, ऐसी दृष्टि हुई। आत्मा में शान्ति और सुख है, ऐसी दृष्टि हुई, **ऐसे महापुरुषों को भोजन से भी द्वेष हो जाता है,..** भोजन करना भी रुचता नहीं, ऐसा कहते हैं। खाना-पीना रुचता नहीं। अन्दर में रट लगी है न! रट! समझ में आया? खाना-पीना, सोना कुछ नहीं रुचता। समझ में आया? आहाहा!

एक पुस्तक ऐसी हो, उसे पढ़ने में रट (लगन) लगी हो तो खाना-पीना भूल जाता है एक रट लगे कि यह क्या होगा? समझ में आया? (संवत्) १९८२ के वर्ष में मोक्षमार्गप्रकाशक हाथ में आया और देखा। देखते-देखते भावे नहीं खाना, पीना, आहार

लेने जाना कुछ नहीं रुचता। राजकोट में (संवत्) १९८२ के वर्ष की बात है। यह क्या? वस्तु का स्वरूप, यथार्थ वस्तु और सादी हिन्दी भाषा, कोई संस्कृत नहीं। पहला पुस्तक मिला था। भाई! वह लाल रंग का आता है न? लाल। समझ में आया? आहाहा! यह पदार्थ व्यवस्था और यह पदार्थ का स्वरूप! उसके वाँचन में पड़े तो दुनिया की बात भूल जाए। खाना, पीना कुछ वस्तु आयी? आयी या नहीं? पड़ी रहे उसके घर में। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा ही जहाँ श्रद्धा-ज्ञान में सन्मुख हो गया... आहाहा! समझ में आया? इसे धर्म कहते हैं। अपने में ज्ञान-आनन्द देखता है-देखता है तो अपने ज्ञान और आनन्द पर में है, ऐसा तीन काल में नहीं जानता। समझ में आया? **भोजन से भी द्वेष हो जाता है,..** ऐसी भाषा ली है। दूधपाक बनाया हो। अरे! उस ओर के लक्ष्य में मेरा समय जाता है। समझ में आया? मेरा समय जाता है। मेरे आनन्दस्वरूप के सन्मुख होने में यह जरा दखल करता है। उसमें प्रेम नहीं रहता। धर्मी को भोजन में प्रेम नहीं है। आहाहा! मुनि छठवें गुणस्थान में आहार करते हैं, थोड़ा विकल्प आया तो (आहार) लिया, वापस अन्दर में घुस गये। अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार आत्मा मैं ही हूँ। मेरे अतीन्द्रिय आनन्द में जितना एकाग्र होऊँ, उतना आनन्द मुझे प्रगट होगा। पर से तो आनन्द नहीं। भोजन में प्रेम नहीं रहता तो भोग्य पदार्थ में दूसरे में कैसे प्रेम रहे? ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

लोग कहते हैं न? समकिती, ज्ञानी ऐसे भोग भोगते हैं। अरे! भोगते नहीं, सुन तो सही। इसलिए कहा न? ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है। भोग निर्जरा का हेतु नहीं। उसमें जितना राग हुआ, वह तो बन्ध का कारण है। तब दृष्टि में उसका आदर नहीं है। क्या भोग निर्जरा का हेतु है? भोग में तो जरा अशुभविकल्प उठता है, परन्तु उस अशुभ में रस नहीं है। आनन्द आत्मा है, उसमें यह रस कहाँ आया? यह ज़हर कहाँ आया? समझ में आया? ऐसी अपनी दृष्टि के अनुभव के जोर से भोग को निर्जरा कहा है। अपनी शुद्धता के कारण से, हों! भोग के कारण से नहीं। आहाहा! दुनिया मेरी कितनी इज्जत रखती है? कितने लोग अभिनन्दन देते हैं? कौन प्रशंसा करता है? मुझे कितनी संख्या मानती है? परन्तु तुझे क्या काम है? यह बुद्धि उड़ गयी, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो निकट से निकट जमने की बात करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निकट से निकट की बात करते हैं, जो रोज आता है। आहाहा! पाठ में लिया है, देखो! '**द्वेषमेति किमु कामाः**' काम-भोग की क्या बात करना? काम में तो भाई! पाँचों आते हैं न? शब्द, रूप, रस, गन्ध और कर्ण। पाँच में उदासीन हो गये हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा परमेश्वररूप चिद्घन, जहाँ उसकी दृष्टि और ज्ञान में आ गया, आ गया इसका अर्थ दूर तो नहीं था, श्रद्धा में दूर माना था, वह श्रद्धा में सन्मुख हो गया। आहाहा! अब उसे भोजन भी अच्छा नहीं लगता। (कोई पूछे कि) तो क्यों पीता है? (कहते हैं) कौन खाता है? सुन तो सही। खावे-पीवे कौन? वह तो जड़ की क्रिया होती है, उसे ज्ञानी जानता है। समझ में आया? खाता-पीता नहीं। क्या अज्ञानी खाता-पीता है? अज्ञानी भी खाता-पीता नहीं। उसमें राग खाता है, राग का अनुभव करता है। दूसरा क्या करता है?

ज्ञायकस्वरूप अनन्त गुण समृद्धिसहित भगवान विश्वास, अनुभव में आया, उसे भोजन भी नहीं रुचता, अच्छा आहार-पानी भी नहीं रुचता, उसे दूसरा क्या रुचे? तो अन्य काम की बात कैसे रुचे? देखो! ऐसा है न? **फिर और विषय भोगों की तो क्या चलाई?** विषयभोग। पाँच इन्द्रिय में प्रशंसा के शब्द सुनने में भोग्य बुद्धि हो जाए, रूप देखने में भोग्यबुद्धि हो जाए, ऐसा है नहीं। सूँघने में, श्रवण करने में, स्पर्श करने में। समझ में आया?

बीस वर्ष का लड़का मर जाए, दो वर्ष का विवाह हो, उसकी माँ को नींद नहीं आती। चौंके! लड़का.. लड़का.. न खाना रुचे, न पीना रुचे, न सोना रुचे। समझ में आया? हमारे यहाँ एक सेठ का लड़का था। छह महीने पूर्व विवाह (हुआ था)। उसकी माँ झूरकर मर गयी। पैसा दस लाख, दस लाख रुपये, परन्तु छह महीने का विवाहित लड़का गुजर गया। शरीर बड़ा। उसकी माँ झूर-झूरकर (मर गयी)। लड़का...! ऐ रायचन्द! कहाँ गया? भाई! उसका पति कहे, किसलिए (ऐसा करती हो)? वह गया, गया वह फिर से आनेवाला है? दूसरा लड़का है, पैसा है, दरवाजा बन्द करके सोती हो। पीछे देखो तो रोती हो, सुबक-सुबककर रोती हो। चोट लगी है। हाय... हाय... मेरा लड़का। अरे!

इसी प्रकार यहाँ चोट लगी है। मेरा आनन्द मेरे पास है। समझ में आया? राग और

आत्मा के बीच चोट पड़ गयी है। आहाहा! भेदज्ञान हो गया है। राग और आत्मा के बीच भेद पड़ गया है। पर की रुचि हो, ऐसा अब नहीं हो सकता। आहाहा! यह धर्मी का लक्षण है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐसा आत्मा माना है और हमें भोग की रुचि है। प्रेम है और ऐसा है। उसने आत्मा नहीं जाना, भाई! तूने आत्मा को नहीं जाना। समझ में आया?

अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे लग सकते हैं? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकते। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श में भोग्यबुद्धि कैसे उत्पन्न हो? खाने-पीने की वस्तु हमेशा आती है, उसमें भी जहाँ प्रेम उड़ गया है। आत्मा के आनन्द के समक्ष उसका प्रेम उड़ गया है। कहो, समझ में आया? अहो! बारम्बार मेरे अतीन्द्रिय आनन्द का स्मरण जहाँ करते हैं। धर्मी तो अपने अतीन्द्रिय आनन्द का बारम्बार स्मरण करते हैं। याद करते हैं, स्मरण करते हैं, भोगते हैं। आहाहा! उसमें इस स्मरण का अवसर कहाँ है? कहते हैं। कहो, समझ में आया? इसका नाम सम्यग्दृष्टि और इसका नाम धर्मी है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दो के बीच ऐसे छैनी मार दी। राग और भगवान दोनों भिन्न हैं। भगवान में राग नहीं और राग में भगवान नहीं। समझ में आया? आहाहा! राग का राग रहा नहीं और स्वभाव की रुचि में एकाग्र हुआ, उसे पर के भोग की इच्छा कैसे होगी? समझ में आया? उसका अर्थ ऐसा नहीं कि बाहर से छोड़ दिया, इसलिए उसकी आसक्ति घट गयी है। ऐसा अर्थ नहीं है। अन्तर आत्मा की दृष्टि हुई है, पराश्रयबुद्धि नाश को प्राप्त हुई है। एक ओर ऐसा माने कि निमित्त से—पर से मुझमें होता है और मुझसे पर में होता है। ऐसा माने और कहे कि हम तो ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, हमने पर के भोग छोड़ दिये हैं। भोग कब लिया था? बिल्कुल छोड़ा नहीं। समझ में आया? जहाँ पराश्रय-पराधीनबुद्धि पड़ी है और कहता है कि हमने सब छोड़ दिया है। बिल्कुल छोड़ा नहीं। समझ में आया? धर्म छोड़ा है, धर्म।

स्वाधीन चिदानन्द भगवान आत्मा, सहजस्वरूप दृष्टि में लिया नहीं और कहता है कि हमने सब छोड़ दिया है। मानते क्या हो? भाई! हम तो मानते हैं, विकार कर्म से होता

है, ज्ञान भी इन्द्रियाँ हैं तो होता है, अच्छा संग मिले तो उससे श्रद्धा उत्पन्न होती है। तुझे पराधीनदृष्टि में आत्मा कहाँ भासित हुआ है ? समझ में आया ? ऐसी पराश्रयबुद्धि में स्वाश्रय आत्मा, स्व-आश्रय आत्मा तुझे कहाँ प्रतीति में आया ? आहाहा ! कहो, मोहनभाई ! यह तो मक्खन श्लोक है ! पूज्यपादस्वामी, जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका बनायी, वे कहते हैं कि वस्तु ऐसी है, भाई ! तुझे खबर नहीं है। आहाहा !

हे वत्स ! देखो ! गुरु, शिष्य को कहते हैं। **मछली के अंगों को जमीन ही जला देने में समर्थ है,..** मछली के अंग को सुलगाने की ताकत जमीन रखती है। **तब अग्नि के अंगारों का तो कहना ही क्या ?** अग्नि के अंगारे तो मछली को जलाकर भस्म कर देते हैं। समझ में आया ? **वे तो जला ही देंगे। इसलिए विषयों की अरुचि ही योगी की स्वात्म-संवित्ति को प्रकट कर देनेवाली है।** देखो, समझ में आया ? धर्मात्मा— अपने शुद्ध स्वरूप की रुचि / दृष्टि रखनेवाला—उसे शुभभाव में आना, शुभभाव में आना, वह मछली को जमीन पर आने के बराबर है। पानी में से निकलकर जमीन को स्पर्श करते ही दुःख होता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा अकषाय जल से भरपूर शान्तस्वरूप, सम्यग्दृष्टि मछली उसमें पड़ा है। उसमें से शुभभाव में आना, वह मछली जमीन को छुए, ऐसा है और अशुभभाव में आना, वह तो अंगारे में आने जैसा है। बराबर है ? आहाहा ! दुःखदाई है, दोनों भाव दुःखदाई हैं। शुभ और अशुभ दोनों आकुलता है, आस्रव है, विकार है, बन्ध का कारण है। अबन्धस्वभावी भगवान, अबन्धस्वभावी आत्मा का जहाँ भान हुआ तो फिर बन्धभाव को कौन पूछता है ? उसकी कीमत कौन करता है ? समझ में आया ? दुःखदायक... दुःखदायक...। दुःखदायक है।

इसलिए विषयों की अरुचि ही... पाँच इन्द्रियों के ओर की भोग्यबुद्धि छूट जाने से **स्वात्म-संवित्ति को प्रकट कर देनेवाली है।** अपने ज्ञायकस्वरूप में एकाकार स्वसंवेदन प्रगट होने में विषयों की अरुचि अपने आनन्द की रुचि प्रगट होने में कारण है। समझ में आया ? यह उसका लक्षण है। संवित्ति का यह लक्षण है।

स्वात्म-संवित्ति के अभाव होने पर विषयों से अरुचि नहीं होती... क्या कहते हैं ? आत्मा के आनन्द का अभाव होने पर विषयों में अरुचि नहीं होती। रुचि होती है। आहाहा ! अपना भगवान, अपने श्रद्धा-ज्ञान में आया नहीं। समझ में आया ? तो विषयों की

अरुचि होती नहीं, उसे विषय की अरुचि नहीं होती; उसे विषय की रुचि होगी। आहाहा! मिठास.. मिठास.. अन्दर (वेदता है)। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मिठास जिसे नहीं है, उसे विषय की अरुचि नहीं है, ऐसा नहीं है। विषय की अरुचि नहीं है, ऐसा नहीं है। रुचि ही है, रुचि ही है। अरुचि नहीं होती है, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जहाँ आत्मा के आनन्द की रुचि नहीं, वहाँ उसकी विषय की अरुचि है, ऐसा है ही नहीं, रुचि ही है। क्या कहा, समझ में आया? भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द, ज्ञायक है, ऐसा प्रतीति में झलक गया, ऐसा जिसे नहीं और कहे कि अपने विषय में अरुचि है, ऐसा नहीं बनता। अन्दर रुचि ही है। बराबर है? भले मुनि होकर बैठा हो, त्यागी हो। राग की ओर का झुकाव, उसकी अरुचि है, ऐसा नहीं कहा जाता। स्वभाव की रुचि नहीं तो उसमें अरुचि है, ऐसा नहीं कहा जाता। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म यह। भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति की दृष्टि करेगा तो सुखी होगा। अन्यत्र कहीं सुख नहीं; तीन काल-तीन लोक में नहीं है। शुभभाव में सुख नहीं तो फिर बाह्य पदार्थ में सुख आया कहाँ? धूल में आनन्द आया कहाँ? देखो! आत्मा के विश्वास में ऐसा होता है, यह बताते हैं। आत्मा का विश्वास! आहाहा! उसे विषय की अरुचि हो गयी। विषय का विश्वास उड़ गया। विषय का विश्वास उड़ गया, उनमें सुख है-ऐसा विश्वास उड़ गया। आत्मा के आनन्द की रुचि होने पर पैसे में सुख है, यह बुद्धि उड़ गयी। स्त्री में सुख है, मकान में सुख है, इज्जत में सुखबुद्धि उड़ गयी, भस्म हो गयी, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा! यह तो कहा न? सन्मुख आते हैं, ऐसा कहा था। आत्मा झलक जाता है और वह सन्मुख आता है, ऐसा कहा था। आहाहा!

अपनी श्रद्धा, अपना ज्ञान और अपनी शान्ति में आत्मा आ जात है। मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा ज्ञेय हूँ और मैं शान्ति का भण्डार हूँ। समझ में आया? ऐसा जहाँ आत्मा श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति में झलक गया, सन्मुख हो गया, वहाँ दूसरी वस्तु को कौन गिने? इन्द्र के इन्द्रासन सड़े हुए तृण जैसे (भासित होते हैं), सड़े हुए तृण! तृण समझते हो? तिनका.. तिनका। हमारी थोड़ी-थोड़ी गुजराती आ जाती है, सब हिन्दी नहीं आती। समझ में आया? आहाहा! यह मार्ग, भाई! अलौकिक मार्ग है, ऐसा कहते हैं।

स्वात्म-संवित्ति के अभाव होने पर... भगवान! कोई ऐसा कहे कि हमको विषय की अरुचि है और हमें आत्मा का अनुभव है नहीं, तो यह बात मिथ्या है। आहाहा! जिसे आत्मा का अनुभवन-वेदन नहीं है, उसे विषय की अरुचि है, ऐसा बिल्कुल नहीं है, उसे वहाँ मिठास आ जाती है। यहाँ मिठास आयी नहीं, वहाँ मिठास आ जाती है। मिठास समझते हो? मिठास... मधुरता। अपनी मधुरता भासित नहीं हुई, वहाँ पर में मधुरता भासित हुए बिना नहीं रहती, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

विषयों के प्रति अरुचि बढ़ने पर... देखो! विषयों के प्रति अरुचि बढ़ने पर। वह उन्नति का कहा था न? भाई! क्षण-क्षण में उन्नति कही थी न? यह कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप के सन्मुख दृष्टि हुई तो **विषयों के प्रति अरुचि बढ़ने पर...** पर सन्मुख की अरुचि हुई, अपने सन्मुख की रुचि, अन्दर स्थिरता की वृद्धि हुई तो क्षण-क्षण में अन्दर एकाग्रता वृद्धिगत होती है। उस समय आत्मा की उन्नति होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जैसे राग और विकार में एकताबुद्धि से मिथ्यात्व की पुष्टि और संसार पुष्ट होता था, वैसे भगवान ज्ञायकमूर्ति चिदानन्द आत्मा प्रतीति / श्रद्धा-ज्ञान में आया तो इतनी विषय की अरुचि बढ़ जाती है। इस ओर स्थिरता बढ़ जाती है। क्रम-क्रम से आनन्द की शुद्धि बढ़ती है। आहाहा! यहाँ बढ़ी, वहाँ घटी। उस ओर आसक्ति घटती जाती है, रुचि तो उसमें है नहीं, परन्तु जितनी आसक्ति घट जाए, उतनी स्थिरत बढ़ जाए। समझ में आया? गजब, भाई! दिगम्बर सन्तों के कथन ऐसे मार्मिक और मर्म वाले हैं! मूल वस्तु को स्पर्श कर बात है। आहाहा! समझ में आया?

३७ की अन्तिम लाईन का कहा न? '**अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्ते-र्गमिका तद्भावे तदभावात् प्रकृष्यमाणायां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते।**' जितनी-जितनी आत्मा के आनन्द की रुचि हुई, उतनी पर में भोगबुद्धि उड़ गयी। जितनी-जितनी स्वरूप सन्मुख दृष्टि में एकाकार हुआ, उतनी-उतनी विषयों में आसक्ति घट गयी। जितनी-जितनी आसक्ति घटी, उतनी-उतनी स्वरूप में शुद्धि की वृद्धि हुई, यह इसका तोलन है, माप... माप है। समझ में आया? कोई कहे कि हम तो आत्मा का बहुत अभ्यास करते हैं परन्तु अभी अन्दर में पहले जितनी आसक्ति थी, उतनी की उतनी ही है। ऐसा नहीं होता। भोगबुद्धि नहीं होती तो उतनी आसक्ति नहीं होती क्योंकि भगवान ज्ञायक

चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि में अनुभव में बारम्बार एकाकार होता है तो आसक्ति घट जाती है और शुद्धि की वृद्धि होती है। संवित्ति का लक्षण कैसे खबर पड़े? और उन्नति किस प्रकार हो? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर दे दिया। समझ में आया?

बड़ा चक्रवर्ती हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, नव निधान, सोलह हजार देव (सेवा करें), उसके मकान-महल इन्द्रों ने बनाये हुए हों। वे मजा करते हैं! अरे! (मजा) नहीं, सुन न, भाई! समझ में आया? जहाँ आत्मा के आनन्द का स्वाद लेते हैं (उसे उनमें मजा नहीं लगता) 'चिन्मूरति दृगधारि की मोहे रीति लगत है अटापटी', 'चिन्मूरति दृगधारि की मोहे रीति लगत है अटापटी, बाहिर नारकी कृत दुःख भोगत अन्तर सुखरस गटागटी' कहो, प्रवीणभाई! क्या कहा? कहो, समझ में आया? चिन्मूर्ति, चिन्मूर्ति अर्थात् ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, ऐसे सम्यग्दृष्टि की रीति अलग है। 'चिन्मूरति दृगधारि' दृगधारि है न? सम्यक् धारी, 'चिन्मूरति दृगधारि की मोहे प्रीति लगत है अटापटी', अटापटी! बाहर से देखो, विषय में दिखे, यहाँ नरक के दुःख में पड़ा हुआ दिखे, छियानवें हजार स्त्रियों के बीच दिखे, राजसिंहासन में दिखे। 'बाहिर नारकी कृत दुःख भोगत अन्तर सुखरस गटागटी' अन्तर में आत्मा के आनन्द के प्रेम के समक्ष बाहर के दुःख उसे भासित नहीं होते। थोड़ी आसक्ति है, उतना दुःख लगता है परन्तु आनन्द की गटागटी है। आहाहा! समझ में आया?

दोहा – जस जस आतम तत्त्व में, अनुभव आता जाय।
तस तस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।।३७।।

कहो, समझ में आया? यह धर्मकथा चलती है। वार्ता कहे, उसमें कैसे आया नहीं? यह आत्मा की धर्मकथा है। उसकी शुरुआत ऐसे होती है। जैसे-जैसे आत्मतत्त्व में... भगवान आत्मा तत्त्व, आत्मतत्त्व स्वभाव ज्ञान, दर्शन, आनन्द में **अनुभव आता जाय।** जैसे-जैसे आत्मा की ओर का अनुभव आता जाता है। **तस तस विषय सुलभ्य भी,** उसे बाहर के विषय सुलभता से मिलते हों तो भी **ताको नहीं सुहाय।** उसे रुचते नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया?

माता! ऐसा बोले। कहा था न? ध्रुव.. ध्रुव..! हम भावनगर में ध्रुव का नाटक देखने

गये थे। उस ध्रुव का नाटक नहीं आता ? ध्रुव और प्रहलाद अन्यमत में आता है। भावनगर में नाटक देखने गये थे। संवत् १९६६। नाटक देखने गये थे। हम तो वैरागी नाटक देखने जाते थे, दूसरा कोई नहीं। वहाँ ध्रुव बैठा था। लाल पर्दा था। ऊपर से दो इन्द्राणियाँ उतरी थीं। राजकुमार था। इन्द्राणी कहे, देखो! राजकुमार! हमारा शरीर कैसा सुन्दर है! ...हमारे हाथ-पैर हैं, कुण्डल जैसे कान हैं, गरुड़ जैसा नाक है, हिरण जैसी आँख है, ऐसे-ऐसे शब्द... अरे! ध्रुव! नजर तो कर! राजकुमार!

....माता! तुम्हारे सुन्दर शरीर की क्या बात करनी ? कदाचित् मुझे संसार का एकाध भव रह गया होगा तो तेरे गर्भ से जन्म लूँगा। पण्डितजी! माता! दूसरी बात है नहीं। ऐसा ध्रुव... ध्रुव... उसी प्रकार चैतन्यध्रुव। अभेददृष्टि में जहाँ आया... आहाहा! अब रागादि में आसक्ति है नहीं। भोग में बुद्धि है नहीं। भोग में बुद्धि / आसक्ति थोड़ी घट जाती है, दूसरा तो है नहीं। स्वरूप में एकाग्रता बढ़ जाती है, यह उसका सम्यग्दृष्टि-सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

उपरलिखित भाव को और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।३८।।

अर्थ - ज्यों-ज्यों सहज में भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं, त्यों-त्यों स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है।

विशदार्थ - विषय भोगों के प्रति अरुचि भाव ज्यों-ज्यों वृद्धि को प्राप्त होते हैं, त्यों-त्यों योगी के स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। कहा भी है - 'विरम किमपरेणा०'

आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं, हे वत्स! ठहर, व्यर्थ के ही अन्य कोलाहलों

से क्या लाभ? निश्चिन्त हो छह मास तक एकान्त में, अपने आपका अवलोकन तो कर। देख, हृदयरूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेजवाली आत्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, या अनुपलब्धि (अप्राप्ति)।।३८।।

दोहा – जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।
तस तस आतम तत्त्व में, अनुभव बढ़ता जाय।।३८।।

प्रवचन नं. ४३ गाथा-३८-३९ शनिवार, दिनाङ्क २१-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल १, वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश चलता है। ३७ गाथा हो गयी। हमारी सुड़तीस भाषा है, तुम्हारे क्या कहते हैं? (अब) ३८ चलती है। देखो! **उपरलिखित भाव को और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं –**

यथा यथा न रोचंते विषया: सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।३८।।

क्या कहते हैं? धर्मी जीव को... ३८— ३० और ८।

अर्थ – ज्यों-ज्यों सहज में भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं, त्यों-त्यों स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। इतने शब्द का अर्थ। धर्मी जीव को अपने आत्मा में अपना धर्म भासित होता है। समझ में आया? धर्म शब्द से (आशय) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र—आनन्द आदि सभी धर्म की पर्याय हैं। समझ में आया? धर्म की अवस्था है। सम्यग्दृष्टि को वह धर्म अपने आत्मा में भासित होता है। अन्तर में संयुक्त में आता है।

सम्यग्दृष्टि-धर्मी को—अपना धर्म संयोग में से नहीं आता, पुण्य-पाप के राग में से नहीं होता। एक समय की पर्याय का अवलम्बन लेने से भी नहीं होता। समझ में आया? एक समय का द्रव्य शुद्ध चैतन्य अनन्त आनन्द का निधान, खान है। जिसने अनन्त काल

में अपनी निज सम्पत्ति की ओर कभी नजर नहीं की। समझ में आया? यह आत्मपदार्थ एक समय में अनन्त ज्ञान आदि धर्म से भरपूर पदार्थ है। उस वस्तु का स्वभाव अन्तर्दृष्टि करने से पर्याय में वस्तु का स्वभाव श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति, आनन्द का प्रगट होना, उसका नाम धर्म कहने में आता है। गजब व्याख्या धर्म की, भाई! समझ में आया?

धर्मी को धर्म... धर्म शब्द से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म अपनी वस्तु में दिखता है। अपनी वस्तु जो अनन्त आनन्द से भरपूर है, उसमें वे सब धर्म पड़े हैं। धन्नालालजी! (धर्म) कहाँ पड़ा है? बाहर में? मन्दिर में? शरीर में? पुण्य-पाप के राग में भी अपना धर्म नहीं है। धर्म, आत्मा वस्तु-पदार्थ है, उसमें आनन्द, ज्ञान, शान्ति, सम्यक्श्रद्धा आदि का पूर्ण स्वरूप पड़ा है। ऐसे आत्मपदार्थ को अन्तर्मुख होकर सम्यक् आनन्द आत्मा में है—ऐसी रुचि हो, आत्मा में आनन्द है—ऐसा ज्ञान हो, आत्मा में आनन्द है—ऐसी स्थिरता हो, उसका नाम भगवान धर्म कहते हैं। आहाहा! गजब धर्म भाई! बाहर में कहीं धर्म नहीं? समझ में आया?

कहते हैं कि **ज्यों-ज्यों सहज में भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय..** धर्मी को पूर्व के पुण्य के कारण से सुलभता से दूसरे पदार्थ प्राप्त होते हैं परन्तु निजपदार्थ में जिसे आनन्द भासित हुआ है, उसे सुलभरूप से मिलनेवाले (इन्द्रिय विषयों में) रुचि नहीं होती। समझ में आया? आहाहा! लक्ष्मी, अधिकार, पाँच-पचास करोड़ रुपये, बड़ा अधिकार, हिन्दुस्तान का राजा ऐसी पदवी में धर्मी को कुछ भासित नहीं होता। अपनी पदवी में आनन्द और ज्ञानानन्दस्वभाव पड़ा है। आत्मद्रव्य को कभी इसने एक समयमात्र भी अवलोकन करने के लिए निवृत्ति ली ही नहीं। समझ में आया? परपदार्थ का अवलोकन अनन्त बार किया। यह ऐसा है और यह ऐसा है और यह ऐसा है। परन्तु मैं कैसा हूँ? उसका अवलोकन इसने अनन्त काल में एक समयमात्र भी अपनी सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए किया नहीं। समझ में आया? यह अपने आत्मा की सम्पदा, ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, ऐसी अपनी सम्पत्ति अपने में रुचि हो गयी, श्रद्धा हो गयी, स्वभाव का आश्रय ज्ञान में हो गया तो धर्मी को अपना आनन्द अपने में ही भासित होता है। अपने में ही आनन्द भासित होता है। खाने-पीने की वस्तु में, पैसे में, इज्जत-कीर्ति में कहीं मजा नहीं आता। आहाहा! समझ में आया?

खेल खेलनेवाला बालक पढ़ने जाता है, परन्तु उसका चित्त कहाँ है ? खेलने में। खेलने का रह गया। घर से जाये, पढ़े, उसके पिताजी भेजे, वहाँ जाये परन्तु लक्ष्य कहाँ है ? शीघ्र छुट्टी मिले, शीघ्र छूटें तो खेल खेलें। समझ में आया ? इसी प्रकार धर्मी जीव को अपने द्रव्यस्वभाव में अपने तत्त्व में आनन्द और धर्म भासित हुआ है। बाहर में विकल्पादि होते हैं तो... जाता है। परन्तु अन्दर में रमणता करने का उसका भाव रहता है। समझ में आया ? आहाहा!

ज्यों-ज्यों सहज में भी प्राप्त होनेवाले.. सहज में इन्द्राणियाँ (मिले)। अन्याय से, हठ से, दूसरे रास्ते से लक्ष्मी आदि साधन को मिलाना, वह तो ज्ञानी को होता नहीं परन्तु धर्मी को पूर्व के पुण्य के कारण सहज मिल जाये, (तो भी उसमें आनन्द भासित नहीं होता) समझ में आया ? अन्याय से मिले तो अन्याय से लेता नहीं परन्तु स्वाभाविक पूर्व के पुण्य से इन्द्रपद, इन्द्राणी का संयोग, चक्रवर्ती पद, छियानवें हजार स्त्रियों का सहज योग धर्मी को मिले, तो भी उसमें सुखबुद्धि नहीं होती। अरे! हमारा आनन्द... हमारा आनन्द तो हमारे में है। उस आनन्द की एकाग्रता होना, उसमें आनन्द आना, वही धर्म और वही शान्ति है। समझ में आया ? धर्म कोई दूसरी वस्तु नहीं है। अपने में आनन्द भरा हुआ है, उसमें एकाग्र होकर आनन्द को प्रगट करना, इसका नाम ही धर्म है। यह आनन्द प्रगट हुआ, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया ?

सहज इज्जत मिले, कीर्ति मिले, प्रशंसा मिले, लोग अभिनन्दन दे, लो... लो...। इन्द्रिय विषयभोग, शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श। इन्द्रियातीत निजस्वरूप का अनुभव दृष्टि में धर्मी को आ गया है। **इन्द्रिय विषय भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं,...** रुचि नहीं होती। समझ में आया ? अपने आनन्द की रुचि के समक्ष पाँच इन्द्रिय के विषय, इज्जत, कीर्ति में भी उसे रुचि नहीं होती। समझ में आया ? धर्मी को पूर्व के पुण्ययोग से सामग्री मिले, उसे वीट सम मानता है, ऐसा आता है, काग वीट अलग। यह तो उसमें आया है न ? समयसार नाटक 'किच सौं कनक जाके' उसमें आता है या नहीं ? धर्मी अपना स्वरूप (ऐसा जानता है कि) शान्ति और आनन्द तो अपने में है, बाहर में नहीं। तो कहते हैं कि बाहर से मिली हुई सामग्री पूर्व के पुण्य की सामग्री को तो विष्टा समान देखता है। आहाहा! समझ में आया ? यह उसमें है या नहीं ? कितने पृष्ठ पर है ? धर्मी क्या मानता है ? (बन्ध द्वार-१९)

'**सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ बखत मानै**' पूर्व के पुण्य की सामग्री मिले तो (ऐसा कहे), हमारा अच्छा समय आया है। हमारे पास इतने पैसे हुए, पाँच करोड़ रुपये, पाँच-सात लड़के हैं, इतनी लक्ष्मी है, इतने मकान हैं, इज्जत कीर्ति है। माने कि '**बीठ सौ बखत..**' पूर्व के पुण्य के समय को समकिती विष्टावत् मानता है। जैसे विष्टा छोड़ देने की वस्तु है, वैसे छोड़ने योग्य है, उसमें से लक्ष्य छोड़ने योग्य है। आहाहा! समझ में आया? (विष्टा देखकर) घृणा होती है, इसमें तो प्रेम होता है। मिथ्यादृष्टि को ऐसी सामग्री में प्रेम होता है।

'लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये? परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धि नय पर तोलिये, संसार का बढ़ना अरे नर देह की यह हार है।' श्रीमद् राजचन्द्र सोलह वर्ष में कहते हैं, सोलह वर्ष में! तैंतीस वर्ष में देह छूट गयी। सोलह वर्ष और चार महीने में १०८ पाठ की मोक्षमाला बनायी थी। माला के १०८ मोती होते हैं, वैसे। उसमें यह रखा है। भाई! सोलह वर्ष की उम्र में। बाद में विवाह किया। विवाह बाद में किया। वह तो राग था, विवाह हुआ। समझ में आया? कोई कहे कि 'लक्ष्मी और अधिकार...' क्या होगा? मलूकचन्दभाई! कितना बढ़ा होगा? कुछ नहीं? लक्ष्मी मिली, अधिकार मिला, कुटुम्ब मिला और परिवार बढ़ा, उसमें तुझे क्या हुआ? भगवान! तेरी वस्तु तो तेरे पास है। तेरी गुण-सम्पत्ति और गुण समाज, तेरा गुण समाज तो तेरे पास है। इस समाज के साथ तुझे क्या सम्बन्ध है? आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो वहाँ कहते हैं कि धर्मी '**सोने को कादव समान...**' समझता है। कीचड़.. कीचड़..—पंक.. पंक.. आहाहा! अपना आनन्दस्वरूप, आत्मा में आनन्द की रुचि हो गयी है। स्वसंवित्ति—आत्मा का संवेदन ज्ञान हुआ है, उसका नाम धर्म है। पण्डितजी! सम्यग्दृष्टि को अपने में आनन्द का भान हुआ है, ऐसा कहते हैं। इसलिए पुण्य-पाप के भाव में से भी रुचि उठ गयी है। समझ में आया?

राज्यपद को अत्यन्त तुच्छ... चक्रवर्ती का राज्य मिला। अहो! तुच्छ वस्तु है। अज्ञानी को तो थोड़ी वस्तुएँ मिले तो ऐसा होता है.. ओहोहो! क्या है? वह वस्तु तो परचीज़ है। तेरी वस्तु को निरखने के लिए तूने कभी समय नहीं निकाला। आहाहा! भगवान आत्मा

एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त ज्ञान-गुण समाज, शान्ति समाज, आनन्द समाज ऐसा पदार्थ है। उसका अवलोकन करने में, रुचि करने में तूने कभी समय नहीं लिया और उसके बिना धर्म होता नहीं।

मुमुक्षु : .... छूटे या न छूटे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ जाना ही नहीं न ! पहले कहाँ से जाने ? जाना नहीं तो कहाँ से छूटे ? क्या छूटे ? बाहर की वस्तु छूटे, उसमें क्या हुआ ? जिसे अन्तर में पुण्यभाव की भी रुचि है, उसे पुण्य के फल में भोग में भी रुचि है। समझ में आया ? व्रतादि के परिणाम पुण्य हैं, विकार है, अचेतन है। वे चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध भाव है। उनकी जिसे रुचि है, उसे भोग की ही रुचि है। चार गति के भव की रुचि है, उसे आत्मा की रुचि नहीं है। आहाहा ! धन्नालालजी ! यह लिखा है, देखो ! कौने में है ? 'जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है। उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है' यह पट्टी है। पट्टी लिखते हैं न ? सेठ ! धन्धे में पर्दा डाले न ? हमारे यह धन्धा है। समझ में आया ? यह धन्धा है, देखो ! उस कौने में है, देखो ! 'जिसे पुण्य की रुचि है...' अर्थात् जिसे पुण्य की रुचि है, 'उसे जड़ की रुचि है और उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है।' समझ में आया ? आहाहा ! लोग चिल्लाने लग जाते हैं न !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : निगोद ही है। तेरी वस्तु में-आत्मा में आनन्द है। आत्मा में पूरा परिपूर्ण शुद्ध पड़ा है, उसका जिसे भान हुआ तो कहते हैं कि **राज्यपद को अत्यन्त तुच्छ, लोगों की मैत्री को मृत्यु समान...** (जानता है)। अरे ! संग में विकल्प करना पड़ेगा, बोलना पड़ेगा, उसके समाधान के लिए बोलना पड़ेगा। उसमें दुःख लगता है। मित्र होवे तो लोगों को सुख लगता है। अरे ! अपना संग छोड़कर परद्रव्य के संग में इतने विकल्प का संग करना पड़ेगा, उसका दुःख होता है। समझ में आया ?

प्रशंसा को गाली समान... बहुत प्रशंसा करे, वह तो भाई ! गाली है। हमारी प्रशंसा तो हमारे आनन्द में है। हमारी प्रशंसा दूसरा कौन कर सकता है ? समझ में आया ? तुम बड़े हो और तुम बड़े हो, ऐसे बड़े हो... धूल में, महिमा बाहर से कहाँ से आयी ? **प्रशंसा को**

गाली समान... योग की क्रियाओं को जहर के समान.. आहाहा! पुण्य-पाप के परिणाम को जहर के समान (जानता है)।

मन्त्रादिक युक्तियों को दुःख समान... मन्त्र-तन्त्र करते हैं न? कोई साधु ऐसा बतावे कि ऐसा करो और वैसा करो। तुम्हारे क्या कहलाते हैं वह? सिद्धसर... सिद्धसर। मूढ़ है। तुझे अभी सिद्धसर बताना है? जहर है। उसमें इसने सुख माना है, इसलिए दूसरे को बताता है। समझ में आया? उसे बता दे कि तेरे आत्मा में आनन्द है, तुझे अन्यत्र कहाँ लेने जाना है? तेरी नजर तो कर, कभी की नहीं। तेरा निधान तेरे पास है। उस निधान की चाबी, एकाग्र होना, यह उसे खोलने की चाबी है। समझ में आया? कोई पुण्य-पाप के क्रियाकाण्ड उसे खोलने की चाबी नहीं है। आहाहा! देखो!

लौकिक उन्नति को अनर्थ के समान... लौकिक उन्नति हुई, उन्नति, भाई! पुत्र हुए, पाँच-पाँच लाख, दस-दस लाख के मकान हुए, बहुत उन्नति हुई। ओहोहो! इसे जन्मने के बाद पिता ने फिर पैसा कमाकर बहुत उन्नति की। धूल में उन्नति की। क्या उन्नति की? समझ में आया? **शरीर की कान्ति को राख समान...** शरीर की कान्ति तो राख है, धूल है, मिट्टी है, माँस है। हड्डियों की कान्ति राख के समान ज्ञानी जानते हैं। मेरी कान्ति है? जड़ की कान्ति आत्मा को है? समझ में आया? यह मेरा रूप है। मूढ़ है। वह तो जड़ है, उसमें तेरा रूप कहाँ से आया? जड़ को अपना मानता है। जड़ की सुन्दरता से हम सुन्दर हैं, जड़ की अनुकूलता से हमको अनुकूलता है। मूढ़ है। तुझे अपने आत्मा की रुचि नहीं है। आहाहा!

संसार की माया को जंजाल समान... पूरे दिन पैसा.. पैसा.. पैसा.. ऐसा लिया और आया है और यह लिया, यह दिया। मायाजाल है। भगवान आत्मा को भूल गया। अपनी महान चीज़ में नजर करने से निधान दिखने पर आनन्द आता है। ऐसी चीज़ को तो देखता नहीं, जानता नहीं, सुनता नहीं, सावधान होकर अवलोकन नहीं करता और जिसमें कुछ नहीं, उसमें सावधान होकर अवलोकन करके पड़ा है। समझ में आया?

घर के निवास को बाण की अणी समान... बाण.. बाण.. की अणी। घर में रहना... आहाहा! अरे! भगवान! हमारा घर तो यहाँ है न! चिदानन्द प्रभु, जिसकी खान में अनन्त

सिद्ध परमात्मा विराजते हैं। मेरे आत्मा में तो अनन्त सिद्ध परमात्मा विराजते हैं। समझ में आया? अनन्त सिद्ध परमात्मा मेरे आत्मा में हैं, ऐसे आत्मा की रुचि छोड़कर, कहते हैं, धर्मी। **घर के निवास को बाण की अणी समान...** मानता है, दुःख मानता है।

कुटुम्ब के काम को काल समान... लड़की का विवाह करना है, पच्चीस वर्ष की बड़ी हो गयी है, उसकी स्त्री खा जाये। तुम्हें नींद कैसे आती है? ये दो-दो लड़कियाँ बड़ी पच्चीस-पच्चीस वर्ष की ऊँट जैसी हो गयी हैं। कहीं (मँगनी) करते नहीं, विवाह करते नहीं। काल.. काल.. अपने स्वरूप के अनुभव को छोड़कर यह करना पड़े, (उसे काल समान जानता है)। समझ में आया? धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि ऐसे करना और लेना, देना। धर्म तो आत्मा का आनन्द है। समझ में आया? धर्म के आनन्द के समक्ष ये सब कार्य दुःखरूप लगते हैं।

लोकलाज को लार के समान... लो! तुम्हारी लाज बहुत बढ़ गयी। लार है, नाक की लार है। आहाहा! समझ में आया? **सुयश को नाक के मैल समान...** वह लार समान (कहा)। लार.. लार.. लार होती है न? उस लार समान। यह सुयश। तुम्हारा बहुत यश हुआ, तुम्हारी इज्जत पूरे हिन्दुस्तान में व्याप्त हो गयी। परन्तु उसमें क्या हुआ? नाक का मैल है।

और भाग्योदय को विष्टा समान... अभी तो हमारा नसीब है। क्यों सेठ? कितने मकान, लो। इतने-इतने दस बारह मकान, पच्चीस मकान। एक-एक मकान की बारह सौ-बारह सौ की आमदनी। ओहोहो! ऐई..! बाईस मंजिल का मकान उसका लड़का बनाकर आया था न? सत्तर लाख का करोड़ कमायेगा। धूल लाख का ऐसा होगा। परन्तु क्या है अब? उसके पिता को गलगलिया हो जाता है, कल कहते थे। सत्तर लाख के करोड़ होंगे, कहते थे, ऐई!

मुमुक्षु : गर्मी तो आनी चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी गर्मी? धूल की? सुलगती अग्नि है। सत्तर लाख किसके पिता के? और सत्तर लाख के करोड़ होंगे, वे किसके? वह तो पर की वस्तु है। आत्मा में क्या आया? आत्मा में तो ममता आयी। मेरी है, ऐसा दुःख आया। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि को चक्रवर्ती पद मिले तो भी उसे दुःखदायक लगता है। आहाहा! अपना निजपद, वह आनन्दपद दिखता है। समझ में आया? भगवान आत्मा, जिसकी खान में, स्वभाव में, शक्ति में, सत्त्व में, सत् के सत्त्व में पूर्ण परमात्मा पड़ा है। ऐसे आनन्द की दृष्टि, रुचि हुई, उसे बाह्य पदार्थ में कहीं चैन नहीं पड़ता। चैन नहीं पड़ता, मजा नहीं आता, प्रसन्नता-राजीपना-नहीं होता। समझ में आया? **उसे पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।** बनारसीदासजी कहते हैं, मैं ऐसे धर्मी को भी नमस्कार करता हूँ।

देखो! **ज्यों ज्यों सहज में भी प्राप्त होनेवाले..** सहज शब्द क्यों लिया है? इस अन्याय से, हठ से जबरदस्ती लेते हैं न? बलजोरी से। हमें मान दो, मान करो। दो-पाँच लोग तैयार करे। मित्र हों, उन्हें तैयार करे। परिवार में, जाति में इसे इकट्ठे मिलकर मान दो। इसने ऐसे काम किये हैं। दो-चार व्यक्ति स्वयं ने खड़े किये हों। कुटुम्ब में, जाति में, संघ में उन्हें पदवी दो, ऐसी कोई पदवी दो.. राजरतन! धूल में भी नहीं। सुन तो सही। ऐसे बलजोरी से बाह्य की सामग्री और इज्जत चाहता है, वह तो अज्ञानी, अन्यायी है, ऐसा कहते हैं। परन्तु धर्मी को सहज पुण्य के कारण सामग्री आ जाती है, तथापि रुचिकर नहीं लगती। ओहोहो! समझ में आया?

धर्म ऐसी कोई वस्तु नहीं कि बाहर से मिल जाए। अन्तर अवलोकन से आत्मा का भान होता है। कभी देखा नहीं। पूरा लोक देखा, जाना, ऐसा है, वैसा है... शास्त्र जान लिये। वह तो परवस्तु है। समझ में आया? अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञान किये बिना आनन्द की रुचि नहीं होती और वह रुचि हुई तो सब भोग दुःखदायक लगते हैं। समझ में आया?

त्यों त्यों स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। देखो! आहाहा! भगवान आत्मा... जैसे-जैसे प्राप्त पदार्थों में भी रुचि हट गयी है, वैसे-वैसे भगवान आत्मा के संवेदन में सम्यग्दृष्टि को अपना स्वसंवेदन, ज्ञान का भान अन्दर हो गया है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ, आनन्द हूँ, ऐसा सम्यग्दृष्टि को अन्तर में वेदन होता है। उसमें **निजात्मानुभवन की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है।** भगवान आत्मा, उसका स्वसंवेदन-अनुभव, आनन्द की वृद्धि क्षण-क्षण में बढ़ती जाती है। कहो, समझ में आया? भगवान का मार्ग दुनिया से निराला है। वीतराग परमेश्वर का मार्ग पूरी

दुनिया से निराला है। दुनिया ऐसा कहे कि राग करो, दया करो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो, उसमें धर्म होता है। भगवान कहते हैं, उसमें किंचित् धर्म नहीं है।

मुमुक्षु : गुरु बिना ज्ञान नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान! यह तो आत्मा में ज्ञान होने की योग्यता हो तो गुरु मिले बिना नहीं रहते। ऐसी चीज़ है। ज्ञान अपने में से आता है, ज्ञान कहीं गुरु से नहीं आता। यह ज्ञान गुरु के पास नहीं कि गुरु के पास से आ जाए। समझ में आया? अपना स्वरूप अपने में है। यह पहले आ गया है। अपना गुरु आत्मा ही है। अपने कल्याण का मार्ग अपने को बताता है और अपने कल्याण के मार्ग में प्रवर्तन करता है, वही आत्मा स्वयं का गुरु है। पर गुरु कहे, परन्तु स्वयं समझने में और प्रवर्तन में न ले तो उसे क्या लाभ होगा? समझ में आया? एक अपेक्षा से ठीक कहते हैं। पहले सुनने को मिला नहीं तो हमें समझ में कहाँ से आये? परन्तु इसकी योग्यता होवे न, भाई! तो सत्य मिले बिना रहे नहीं। तीर्थंकर का समवसरण मिले। जिसकी समझने की, श्रद्धा-ज्ञान करने की पात्रता हो और उसे संयोग न मिले, (ऐसा नहीं होता)। उसे भगवान का संयोग मिल जाता है। परमात्मा त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। ऐसी जिज्ञासा हो तो वहाँ जन्म हो जाता है। समझ में आया? अपनी पात्रता हो और निमित्त न हो, ऐसा नहीं होता। निमित्त मिलने पर भी पात्रता प्रगट न की तो निमित्त क्या करे?

अनन्त बार समवसरण में गया। समझ में आया? धर्मसभा। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में परमात्मा समवसरण में विराजते हैं। ऐसे यहाँ अनन्त तीर्थंकर हो गये। धर्मसभा, उस सभा की क्या बात! उसके पुण्य, इन्द्र आकर (नमन करे)। श्वान का बच्चा जैसे श्वान के पास झुकता है, इसी प्रकार (इन्द्र) झुक जाता है। ऐसे समवसरण में आत्मा अनन्त भव में अनन्त बार गया। क्या हुआ? अपने स्वरूप के अवलोकन की रुचि के प्रेम बिना वह सब सुना। सुना, वह (सब) शून्य हो गया। समझ में आया? आहाहा! भगवान क्या देते हैं? भगवान दे देते हैं? वह तो वाणी है। उसमें हेय-उपादेय की समझ आती है। उस हेय-उपादेय को पकड़ ले। ओहोहो! आत्मा आनन्दस्वरूप को उपादेय कहते हैं, रागादि विकल्प उठता है, उसे हेय कहते हैं। उसे पकड़ ले, तो पकड़नेवाला स्वयं का गुरु हो गया। समझ में आया? आहाहा!

स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है।

विशदार्थ -विषय भोगों के प्रति अरुचि भाव ज्यों-ज्यों वृद्धि को प्राप्त होते हैं,.. पहले रुचि तो छूट गयी है, परन्तु जैसे-जैसे आसक्ति घटती जाती है, **त्यों-त्यों योगी के स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति...** अपना निज, हों! पर आत्मा, भगवान की यहाँ बात नहीं है। निज आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव, आनन्द की परिणति अर्थात् पर्याय वृद्धि को प्राप्त होती है। आ गया। लो! समयसार नाटक का दृष्टान्त दिया है।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नाधाग्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥

भगवान अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, **विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,** नीचे है। बनारसीदासजी ने इसका हिन्दी बनाया है, नीचे है। '**भैया जगवासी तू उदासी रहैं कैं जगत सौं,...**' '**भैया जगवासी तूं उदासी रहैं कैं जगत सौं, एक छः महीना उपदेस मेरौ मान रे।**' एक छह महीने मेरा उपदेश मान रे। '**और संकल्प विकल्प के विकार तजि,...**' संकल्प, विकल्प को तजकर, हों! बाहर से छोड़ बैठा, उसमें कुछ नहीं। '**बैठ के एकंत मन ठौरु आनरे।**' '**बैठ के एकंत मन ठौरु आनरे। तेरो घट-सर...**' तेरा घटरूपी सरोवर '**तामैं तूही है कमल ताकौ,...**' तेरे सरोवर में तू ही तेरा कमल अन्दर में विराजमान है। '**तू ही मधुकर...**' और तू ही मधुकर-भँवरा है। तू ही मधुकर, तू ही कमल और तू ही सरोवर। समझ में आया? आहाहा!

अन्तर भगवान आत्मा ज्ञान, आनन्द सरोवर में स्वयं कमल है और स्वयं ही मधुकर है, वही सुगन्ध लेनेवाला आत्मा है। समझ में आया? यह तो बनारसीदास ने बनाया है, देखो! गृहस्थाश्रम में थे, तब बहुत शृंगारी, व्यभिचारी थे। शृंगारी पुस्तक बनायी थी। पश्चात् जब सत्समागम हुआ, भले संसार पड़ा हो, अन्दर में भान हो गया। अहो! मैं आनन्दस्वरूप ज्ञानमूर्ति हूँ। पुण्य-पाप का राग उठता है, वह भी मेरी चीज़ नहीं है, मुझे

लाभदायक नहीं है। बाहर की चीज़ में मेरी कोई सम्पत्ति, अस्तित्व नहीं है। भान हुआ (पश्चात्) व्यभिचारी (शृंगार रस का) ग्रन्थ बनाया था, उसे पानी में डुबो दिया, छोड़ दिया। समझ में आया? पश्चात् यह लिखा, देखो!

'**प्राप्ति न व्है है कछु ऐसो तू विचारतु है,...**' अरे! भगवान! तू ऐसा विचारता है कि अरे! आत्मा किस प्रकार प्राप्त होगा? आत्मा किस प्रकार प्राप्त होगा? आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा तू विचारता है तो एक बार छह महीने संकल्प-विकल्प को छोड़कर आत्मा का अभ्यास कर। यह मेट्रिक का अभ्यास और यह एल.एल.बी. का और बी.ए. के पुछल्ले का अभ्यास कितना करता है! दो हजार वेतन मिलता हो। धूल है। वैरिस्टर हो, और पुण्य न हो तो पैसा नहीं मिलता। पढ़े तो पैसा मिले, ऐसा कुछ नहीं है। अनपढ़ (भी) पैसेवाले होते हैं। यह पूनमचन्द कितना पढ़ा है, हमें खबर है न! इसका लड़का, उसमें क्या आया? धूल आवे और जावे। धूल में कमाने से वृद्धि नहीं होती... वह तो पूर्व के पुण्य के कोई रजकण पड़े हों तो मिल जाते हैं और बाहर में दिखते हैं कि ये आये। आये तो तेरे पास कहाँ आये हैं? तेरे पास ममता आयी है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं '**प्राप्ति न व्है है कछु ऐसो तू विचारतु है,...**' अरे! आत्मा नहीं समझ में आता, हों! आत्मा नहीं समझ में आता। अरे भगवान! एक बार तो ले, एक बार तो छह महीने लगनी-रट लगा दे कि यह क्या है? जिसकी परमात्मा बहुत प्रसिद्धि करते हैं! परमात्मा सर्वज्ञ के ज्ञान से कहते हैं कि तेरा स्वरूप ऐसा है कि मेरी वाणी में पूरा नहीं आ सकता। समझ में आया?

'जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जो
उस स्वरूप को अन्य वाणी वह क्या कहे?
अनुभवगोचरमात्र रहा वह ज्ञान जो
अपूर्व अवसर ऐसा कब आयेगा?'

श्रीमद् राजचन्द्र तीस वर्ष में भावना भाते हैं। ओहोहो! 'जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में' समझे। यह तो गुजराती में है। अपना जो स्वरूप ज्ञान में देखा। 'कह सके नहीं

वह भी श्री भगवान जो।' सर्वज्ञ परमेश्वर भी कितना कैसा (स्वरूप है), वह (उनकी) वाणी में कहाँ से आवे ? वाणी में अनन्तवें भाग वाणी आती है। 'उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहे ?' पामर की वाणी उस स्वरूप को क्या कहे ? ऐसा भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द अनन्त गुण की खान पड़ी है।

(यहाँ) कहते हैं, तू विचारता है कि उसकी प्राप्ति नहीं होगी ? '**सही व्है है प्रापति सरूप यों ही जानु रे।**' तेरी प्राप्ति तुझे होगी, ऐसा निर्णय कर। समझ में आया ? नहीं मिलेगा ? दूसरी वस्तु होवे तो न प्राप्त हो, क्योंकि दूसरी वस्तु पर है, वह अपनी नहीं हो सकती परन्तु अपनी है, वह अपने को न मिले, ऐसा तू कैसे विचारता है ? समझ में आया ? दूसरी चीज़ को अपनी मानना हो तो वह नहीं हो सकती। अपना स्वरूप है, अहो ! पुण्य-पाप से संकल्प-विकल्प तो कहा। संकल्प, विकल्प छोड़ दे और भगवान आत्मा अन्दर पूर्णानन्द है, उस पर पहले दृष्टि तो लगा दे। प्राप्त नहीं होगा, ऐसी शंका छोड़ दे। समझ में आया ? प्राप्ति नहीं होगी, ऐसा सन्देह छोड़ दे। '**सहि व्है...**' यथार्थ में वही आत्मा है, जिसे खोजने तू जाता है, वही आत्मा है। '**प्रापति सरूप यों ही जानु रे।**' यथार्थरूप से प्राप्ति होगी, परन्तु शीघ्र लगन चाहिए। संसार की कितनी रट लगती है ! सिर में कीड़े पड़ें, इस स्त्री के पुत्र का विवाह हो, चार दिन-आठ दिन पागल-पागल हो जाए।

मुमुक्षु : उत्साह में आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उत्साह नहीं, पागल है। ऐसा करो, यह किया चिल्लाहट मचावे, गला बैठ जाए तो दूसरे कहें, माँ ! परन्तु तुम धीरे-धीरे बोलो, तो कहे, बापू ! यह तो अपने दो-चार दिन है न, लाहवा के दिन हैं ये। लाहवा के-अग्नि के होली के दिन हैं। समझ में आया ? सेठ ! आहाहा ! भगवान ! तेरी वस्तु है, तेरे पास है, पड़ी है। उसकी रुचि कर, अनुभव कर। समझ में आया ?

हे वत्स ! ठहर, व्यर्थ के ही अन्य कोलाहलों से क्या लाभ ? देखो ! इसका अर्थ है। व्यर्थ अन्य कोलाहल से क्या लाभ है ? ऐसा होगा और ऐसा होगा और शत्रुंजय जायेंगे तो मिलेगा और सम्मेदशिखर जाऊँगा तो मिलेगा और ऐसे शास्त्र पढ़ूँ तो मिलेगा। समझ में आया ? ऐसी क्रिया करूँ, दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या करूँ तो मिलेगा। कोलाहल छोड़ दो, वह सब विकल्प है।

निश्चिन्त हो छह मास तक एकान्त में,... छह महीने की तो अवधि कही है, हों! यह तो अन्तर्मुहूर्त में होता है। जरा कठिन लगे तो छह महीने की अवधि कही। **छह मास तक एकान्त में, अपने आपका अवलोकन तो कर।** देखो! भाषा, **अपने आपका अवलोकन तो कर।** भगवान! शान्तचित्त से अपना यह आत्मा क्या है? यह क्या वस्तु है? अन्दर जो प्रकाश दिखता है, वह प्रकाश भी जड़ है। प्रकाश का प्रकाशक चैतन्य कौन है? समझ में आया? राग-द्वेष तो कहीं रह गये। अन्दर ऐसे (प्रकाश) देखे, वह प्रकाश तो जड़ है। उस प्रकाश का प्रकाशक चैतन्य क्या है? समझ में आया? स्वयं अपना अवलोकन तो करे। अन्धकार का प्रकाश दिखता है, उसके पीछे चैतन्य भगवान विराजता है। ऐसे चैतन्य का अन्तर में अवलोकन तो कर। तूने कभी अवलोकन किया नहीं।

देख, हृदयरूपी सरोवर में.. हृदयरूपी सरोवर में यहाँ **पुद्गल से भिन्न..** ये परमाणु / मिट्टी शरीर कर्म आदि से भिन्न **तेजवाली आत्मा की उपलब्धि..** भिन्न तेजवाली। देखो! यह शरीर तो मिट्टी है! राग-द्वेष तो विकार है, कर्म जड़ है, उनसे भिन्न, पुद्गल से भिन्न, तेजवाली अन्दर वस्तु है। चैतन्य तेज। खबर नहीं, ऐसा मेरा तेज! चैतन्य का तेज है, चैतन्य का पुंज है। ज्ञायक चैतन्य सूर्य पुंज आत्मा पड़ा है। उसे **आत्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, या अनुपलब्धि (अप्राप्ति)।** प्राप्त होता है या नहीं होता, अन्दर जाकर निर्णय तो कर। प्राप्त हुए बिना नहीं रहेगा। अवलोकन किया नहीं, कभी खोज की नहीं। खोज की नहीं। बहियाँ देखी? देखा नहीं। नामा देखा? नामा बराबर है, परन्तु देखे बिना बराबर है? समझ में आया? (ऐसा कहे), आत्मा बराबर है। आत्मा बराबर है, भगवान कहते हैं ऐसा हम मानते हैं। परन्तु कैसा है? एक समय में अखण्डानन्द प्रभु चैतन्य द्रव्यस्वभाव अन्तर में ज्ञान में भासित हुए बिना उसके नामा-लेखा यथार्थ नहीं होता।

मुमुक्षु : यथावत निरधार करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यथावत निरधार में ऐसा भासित हो। भावभासन होना चाहिए। भाव का ज्ञान होना चाहिए। ऐसे का ऐसा अध्धर से (माने ऐसा) नहीं। इस चैतन्यस्वरूप की इतनी-इतनी महिमा करते हैं। परमेश्वर की वाणी में इतना आता है और अन्य भी परम आत्मा की व्याख्या तो बहुत करते हैं। तो ऐसा आत्मा है कौन? आहाहा! प्राप्ति होती है या नहीं? निर्णय तो कर, निर्धार तो कर। निर्धार करने का समय नहीं, लोक के काम में समय

गँवा दिया। ऐसा किया और ऐसा किया। हाथ तो आया नहीं। कुछ भी किया ही नहीं तो हाथ कहाँ लगे ? जो उपाय है, वह किया नहीं तो हाथ में कहाँ से आवे ? उपाय किया दूसरा और मिले उपाय का फल दूसरा। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति किये और आत्मा तो मिला नहीं परन्तु वह तो मार्ग ही अलग है। ऐ.. पण्डितजी ! आहाहा ! समझ में आया ? यह अभी बहुत गड़बड़ चलती है न ? शुभयोग से होता है। धूल भी नहीं होता। सुन तो सही ! शुभयोग तो परलक्ष्यी भाव है। उससे स्वलक्ष्यी भाव होगा ? एक बार तो शुभ -अशुभ परिणाम छोड़नेयोग्य है, ऐसा निश्चय करके भगवान का तू अवलोकन तो कर।

अच्छी वस्तु मिले तो दृष्टि उसे देखने के लिए ऐसे एकाकार हो जाती है। अच्छी वस्तु मिले तो देखने में एकाकार हो जाए। पाँच लाख का हार मिल जाए तो... ओहो ! ऐसा मिला। कारीगरी बहुत की है, अमुक ऐसा है, ऐसा है। यह महान पदार्थ प्रभु, जो सबके तेज को देखनेवाला है। समझ में आया ? सबकी कीमत करनेवाला है, ऐसी परमात्मवस्तु तेरे अन्दर है। गुरुगम से समझकर उसका अभ्यास कर और उसमें अवलोकन कर तो तुझे उसकी प्राप्ति होगी, होगी और होगी ही। आहाहा ! समझ में आया ? भाई ऐसा कहते हैं, गुरु के बिना ज्ञान नहीं। बात सत्य है। सच्चे गुरु बिना सच्चा ज्ञान नहीं मिलता।

दोहा - जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।
तस तस आतम तत्त्व में, अनुभव बढ़ता जाय।।३८।।

अरे ! आठ-आठ वर्ष की बालिकायें भी आत्मज्ञान कर लेती हैं। चक्रवर्ती की पुत्री। समझ में आया ? छह खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती विराजता है। महाविदेहक्षेत्र में परमात्मा सीमन्धर प्रभु विराजते हैं। उनके निकट चक्रवर्ती की आठ-आठ वर्ष की पुत्रियाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करती हैं। समझ में आया ? राग होवे तो फिर विवाह भी कर लेती है, परन्तु राग में रुचि नहीं है। आहाहा ! हमारा आनन्द हमारे पास है। राग / आसक्ति आ जाती है, उसे छोड़ने में हमारी कमजोरी है, परन्तु पर में आनन्द है, ऐसी रुचि तो होती नहीं। समझ में आया ? आहाहा ! **जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय।** सहज मिल जाए तो भी सुहाये नहीं। **तस तस आतम तत्त्व में,..** भगवान आत्मा के स्वभाव में **अनुभव बढ़ता जाय।** लो !

हे वत्स! स्वात्मसंवित्ति के बढ़ने पर क्या-क्या बातें होती हैं, किस रूप परिणति होने लगती है, आदि बातों को सुन-

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वाऽन्यत्राऽनुतप्यते।।३९।।

अर्थ - योगी समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान समझता है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये अभिलाषा करता है। तथा यदि किसी अन्य विषय में उलझ जाता, या लग जाता है तो पश्चात्ताप करता है।

विशदार्थ - श्लोक नं० ४२ में कहे गये 'योगी योगपरायणः' शब्द को अन्त्यदीपक होने से सभी 'निशामयति स्पृहयति' आदि क्रियापदों के साथ लगाना चाहिए। स्वात्म-संवेदन करने में जिसे आनन्द आया करता है, ऐसा योगी इस चर, अचर, स्थावर, जंगमरूप समस्त बाहिरी वस्तु-समूह को त्याग और ग्रहण विषयक बुद्धि का अविषय होने से अवश्य उपेक्षणीयरूप इन्द्रजालिया के द्वारा दिखलाये हुए सर्प-हार आदि पदार्थों के समूह के समान देखता है। तथा चिदानन्द-स्वरूप आत्मा के अनुभव की इच्छा करता है और अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य किसी भी वस्तु में पहिले संस्कार आदि कारणों से यदि मन से, वचन से, वा काया से प्रवृत्ति कर बैठता है, तो वहाँ से हटकर खुद ही पश्चात्ताप करता है कि ओह! यह मैंने कैसा आत्मा का अहित कर डाला।।३९।।

दोहा - इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात।
अन्य विषय में जात यदि, तो मन में पछतात।।३९।।

गाथा - ३९ पर प्रवचन

हे **वत्स**! गुरु शिष्य को कहते हैं। **स्वात्मसंवित्ति के बढ़ने पर**.. यह शब्द भी जिन्दगी में सुना नहीं होगा। स्वात्मसंवित्ति अर्थात् क्या? भाई! क्या नाम है? सुगनचन्द। आत्म संवित्ति शब्द सुना नहीं होगा। आत्मा के ज्ञान का आनन्द आना, इसका नाम आत्म संवित्ति है। सम्यग्दर्शन में आत्मा के... देखो! स्वात्म-स्व आत्मा। संवित्ति (अर्थात्)

उसका ज्ञान। ज्ञान का भान **बढ़ने पर..** आनन्द की वृद्धि होने से **क्या-क्या बातें होती हैं,..** लोगों को सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है, उसकी खबर नहीं। ऐसा मान लिया कि अपने को देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा है, नवतत्त्व की श्रद्धा है, अब चारित्र लो। धूल में भी श्रद्धा नहीं। सुन तो सही। श्रद्धा किसे कहें ? समझ में आया ?

कहते हैं **स्वात्मसंवित्ति के बढ़ने पर..** भगवान आत्मा, मैं आत्मा... शरीर, कर्म तो अजीवतत्त्व है, उनमें तो मैं हूँ नहीं। पुण्य-पाप का राग होता है, वह आस्रवतत्त्व है, उसमें मैं हूँ नहीं। अपनी एक समय की अवस्था में पूरा आत्मा आ नहीं जाता। पूर्णानन्द प्रभु एक समय में पूर्ण ज्ञान, दर्शन के स्वभाव जल से भरपूर भगवान है, उसका अन्तर्मुख होकर आत्मा का वेदन-स्वसंवेदन, शान्ति और आनन्द का अनुभव होना, इसका नाम स्व-आत्मा की संवित्ति कहते हैं। मेंढ़क को भी ऐसा होता है। मेंढ़क भगवान के समवसरण में जाता है। मेंढ़क। समझ में आया ? आत्मा है न ? शरीर तो भले जैसा हो वैसा, शरीर तो जड़ है पर है। छोटा शरीर या बड़ा शरीर, वह कहाँ अपना है।

अन्दर भगवान आत्मा पूर्ण लक्ष्मी की सम्पत्ति से भरपूर है, उस पर दृष्टि लगा दी तो सम्यग्ज्ञान, स्वसंवित्ति (प्रगट हुए)। उसे भी अपने आनन्द के समक्ष बाह्य की चीज़ नहीं रुचती। आहाहा! **किस रूप परिणति होने लगती है,...** ऐसी दो बातें (की हैं)। क्या-क्या बातें होती हैं और कैसी परिणति होने लगती है, इन **आदि बातों को सुन-** यह ३९ में कहेंगे।

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वाऽन्यत्राऽनुतप्यते।।३९।।

आहाहा! पूज्यपादस्वामी, इष्ट उपदेश, इसका नाम हितकर उपदेश। समझ में आया ?

अर्थ - योगी.. धर्मात्मा। योगी का अर्थ अपना निजस्वरूप विकाररहित है, उसमें दृष्टि ज्ञान लगा दिये, योग जोड़ दिया, इसका नाम योगी है। अपने शुद्ध भगवान आत्मा में अपनी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता लगा दी, उसका नाम योगी है। योगी वे बाबा जोगी होते हैं, उन योगी की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ

तीर्थंकरदेव ने जैसा आत्मा अनुभव किया, वैसा यह आत्मा है, ऐसी दृष्टि लगाकर एकाकार होना, उसका नाम योगी धर्मात्मा कहा जाता है। भले गृहस्थाश्रम में हो। समझ में आया? तो भी जितनी आत्मा की दृष्टि और योग हुआ, उसे योगी कहते हैं।

समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान समझता है। लो! इन्द्रजालिया राजा का रूप और रानी का रूप लावे न? इन्द्रियजालिया होता है न? जादूगर, लो न! कैसे रूप लावे, खोटे-खोटे ढोंग। इसी प्रकार धर्मी आत्मा के अतिरिक्त पूरे संसार को इन्द्रजाल मानता है। समझ में आया? आहाहा! आता है न? स्वप्न समान। क्या कहा? 'सर्व जगत हैं ऐंठवत् अथवा स्वप्न समान, वह कहिये ज्ञानी दशा बाकी वाचा ज्ञान।' श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मसिद्धि बनायी है न? २९ वर्ष में बनायी थी। सात वर्ष में जातिस्मरण हुआ था। सात वर्ष से पूर्व भव का ज्ञान था, पश्चात् आगे बढ़ गया। 'सकल जगत हैं ऐंठवत्' ऐंठ समझे? जूठा। अनन्त बार सब पदार्थ आकर छूट गये, आकर छूट गये। सब पदार्थ जूठन है। सुन्दर शरीर, लड्डू, दाल, भात, सब्जी, मकान आदि सब वस्तु मेरे पास अनन्त बार आयी-गयी और उनके निमित्त से राग से मैंने राग का भोग किया। वे वस्तुएँ अनन्त बार आयी-गयी और छूट गयीं। वह मेरी वस्तु है ही नहीं। आहाहा!

''सर्व जगत हैं ऐंठवत् अथवा स्वप्न समान' स्वप्न में दिखे सूखड़ी (एक गुजराती मिष्ठान्न), खाई, भूख भागी और ऐसा राज था। खम्मा अन्नदाता! आँख खुली वहाँ भिखारी का भिखारी। कोई भिखारी था, उसे नींद आ गयी। पेट में थोड़ी सूखड़ी खायी, फिर जोरदार नींद आ गयी। नींद में देखता है, ओहो! पकवान आये हैं। मैं राजा हूँ, पंखा करते हैं, मैं सो रहा हूँ, मलमल ओढ़ा है... (आँख खुल गयी)। कोई नहीं मिलता। किसी ने आवाज की। कहाँ गया यह सब? परन्तु था कहाँ? तेरी मनोसृष्टि की कल्पना थी, स्वरूप नहीं था।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पूरे जगत को स्वप्नजाल समान, इन्द्रजाल समान मानता है। आहाहा! ऐसा ही सब प्रकार है। क्षण में समाप्त हो जाएगा। ओहो! पचास-पचास लोग और एक करोड़पति नहीं था? बिहार में नहीं था, भूकम्प हुआ था? बिहार में भूकम्प हुआ था। करोड़पति था। बाहर घोड़ागाड़ी लेकर घूमने गया। वहाँ धरती कम्प हुआ, वह स्वयं

तो बाहर गया था। आया तब परिवार नहीं, कबीला नहीं। सब समाप्त। उसके पास आठ हजार रुपये रह गये थे, उतने रहे। मकान, कुटुम्ब, और पैसा सब (गये)। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ दूसरा भी एक आया था। बड़ा करोड़पति। यहाँ दो लाख दिये थे। जामनगर में कोई विनयपंथ है। क्या कहलाता है? प्राणायाम। ऐसा एक पंथ है। उसका भगत था। दो लाख दिये थे। बड़ा करोड़पति। समाप्त हो गया, रोटियाँ खाने के लिए मिले नहीं। जामनगर। करोड़पति वहाँ भाषण देता था। भाषण देते-देते समाप्त हो गया। देह छूट गयी। ओहो! घड़ीक में राजा, घड़ीक में रंक। क्या है? स्वप्नजाल, इन्द्रजाल है।

सम्यग्दृष्टि **समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान..** (जानता है)। लड़का हुआ, लड़की हुई, दामाद हुए... इन्द्रजाल है। क्या हुआ? मुझमें क्या आया? परन्तु उस समय चिपट जाता है न! मलूकचन्दभाई! उसी और उसी में फू हो जाता है। अभी ऐसा करूँगा, बाद में ऐसा होगा, फिर ऐसा होगा, फिर निवृत्ति लूँगा। जाये निवृत्ति में मरे...! यह भव छोड़कर दूसरे भव में (जाए), कभी अच्छा भव भी मिलता नहीं। आहाहा! भारी भ्रमजाल! यह भ्रमणा भी भ्रमणा..!

आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये अभिलाषा करता है। देखो! धर्मी तो अन्दर की अभिलाषा करता है। अपने स्वरूप की अभिलाषा करता है। **तथा यदि किसी अन्य विषय में उलझ जाता,..** कभी पर का विकल्प आ जाता है, परसन्मुख लक्ष्य जाता है **तो पश्चात्ताप करता है।** देखो! '**अनुतप्यते**' अरे! मैं कहाँ गया? मेरे स्वरूप को छोड़कर यह क्या विकल्प हुआ? मैं कहाँ फँस गया? राग आता है, तो फँस गया जानकर पश्चात्ताप करता है। आहाहा! गजब बात, भाई! ऐसा धर्म? यह सब तो लहर करते हैं। पाँच सामायिक और आठ सामायिक (की) और ऐसा किया, क्या कहते हैं कुछ पंच रंगी। ऐसा किया और वैसा किया। पश्चात् ये सब सेठ पैसे दें। रुपया-दो रुपया और पाँच रुपये दें। बस! हो गया धर्म। इसे भी धर्म और उसे भी धर्म (हो गया)। धूल में भी धर्म नहीं है। मिथ्यात्व का पोषण करते हैं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, सम्यग्दृष्टि कदाचित् किसी काम में उलझ जाए। बड़ा राजा हो और

प्रवृत्ति में लक्ष्य आ जाए तो पश्चात्ताप होता है। अरे! मेरे घर में से मैं इतना बाहर निकला। आहाहा! शास्त्र में तो कहते हैं, बुद्धि शास्त्र में जाए तो भी व्यभिचारिणी है। अपने घर में से निकलकर (बाहर जाती है)। है भले शुभभाव, परन्तु व्यभिचारी है। स्व घर छोड़कर वहाँ गयी। आहाहा! उसका अर्थ विपरीत करते हैं।

तो पश्चात्ताप करता है। धर्मात्मा इस प्रकार कुछ पर में लग जायें तो पश्चात्ताप करते हैं। दुःख होता है। अरे! यह क्या? मेरी वस्तु में से हटकर मैं (बाहर गया), मुझे वृद्धि करनी चाहिए और यह क्या आया? ऐसे धर्मी को दुःख और पश्चात्ताप होता है। उसे अन्तर में धर्म की वृद्धि होती है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४ गाथा-३९-४० रविवार, दिनाङ्क २२-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल २, वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश, ३९ गाथा चलती है। इसका विशदार्थ। विशदार्थ है न? फिर से अर्थ लेते हैं।

अर्थ – योगी.. अर्थात् धर्मी जीव ऐसा होता है कि **समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान समझता है।** अपने आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ में उपेक्षणबुद्धि धर्मी की हो जाती है। अपने आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ का लेना-देना, ग्रहण-त्याग स्वप्न में भी वह नहीं कर सकता। समझ में आया? **समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान समझता है।** स्पष्टीकरण विशदार्थ में आयेगा।

आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये अभिलाषा करता है। अपने अतिरिक्त पूरी दुनिया उपेक्षणीय है, उसमें क्या होता है, वह मुझसे नहीं होता। शरीर में, वाणी में, कुटुम्ब में, मकान में, पैसे में, इज्जत में आना-जाना, वह सब जड़ की अवस्था उसके कारण से, पर से होती है। ज्ञानी उसमें अपना अधिकार नहीं मानता। अज्ञानी माने उतना परन्तु उससे कुछ हो नहीं सकता। समझ में आया? इन्द्रजाल समान (मानता है)। जैसे इन्द्रजाल कोई चीज़ नहीं है, इन्द्रजाल कोई चीज़ ही नहीं है, इसी प्रकार अपने अतिरिक्त बाह्य वस्तुएँ

अपनी अपेक्षा से अवस्तु है। उनका ग्रहण-त्याग, छोडूँ-रखूँ, लूँ-दूँ यह विषय बुद्धि का नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : इन्द्रजाल का स्वरूप क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रजाल अर्थात् यह मिथ्या दिखता है वह। होवे नहीं और मिथ्या दिखावे। इसी प्रकार परवस्तु का आना-जाना अपने से नहीं है। खोटी बुद्धि उसे ऐसा मानती है कि मैं ऐसा बोला, मैंने शरीर चलाया, मैंने दया पालन की, पर की हिंसा की, पर का ऐसा किया, वह सब मिथ्यादृष्टि है। उसकी बुद्धि का, ज्ञान का वह विषय नहीं है। ऐसी वस्तु उसकी बुद्धि के विषय में लेना-देना, छोड़ना-रखना, वह है ही नहीं। अज्ञानी अपनी बुद्धि को विपरीत बनाकर मैंने पर का ग्रहण किया, दया पालन करता हूँ, हिंसा करता हूँ, मैं परवस्तु की रक्षा करता हूँ, ऐसी बुद्धि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि करता है। समझ में आया? ज्ञानी की ऐसी बुद्धि नहीं है।

निज आत्मस्वरूप.. यहाँ दो बातें ली हैं। अपने अतिरिक्त सभी वस्तुएँ आओ-जाओ, रहो, टिको, नाश को प्राप्त होओ, उसमें अपना कोई अधिकार नहीं है। उनसे हटकर उपेक्षण करके अपना आत्मा आनन्द ज्ञायकस्वरूप है, उसके स्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। समझ में आया? क्योंकि स्वरूप अन्तर पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। अन्तर का स्वरूप पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। बाहर की किसी वस्तु का ग्रहण-त्याग पुरुषार्थ से नहीं होता। समझ में आया?

तथा यदि किसी अन्य विषय में उलझ जाता,.. है। धर्मी जीव को (स्वरूप) दृष्टि होने पर भी अस्थिरता के कारण कदाचित् कोई रागादि में, पर में लग जाए तो **पश्चात्ताप करता है।** अरे! यह क्या हुआ? यह राग से क्या हुआ? मैं पर का तो कुछ कर नहीं सकता। समझ में आया?

(श्रोताओं को सम्बोधन करते हुए कहा) सब आगे आओ थोड़े-थोड़े, नजदीक-नजदीक। ये सौगनचन्दजी बाद में आये हैं न, और क्यों पीछे बैठे?

यह गाथा पूज्यपादस्वामी इस प्रकार से लेते हैं कि आत्मार्थी है... आगे योगपरायण कहेंगे न? वह अपने आत्मा के अतिरिक्त कोई रजकणमात्र या दूसरा कोई आत्मा, स्वयं

से वहाँ टिकता है या अपने से दूर होता है अथवा अपने नजदीक आता है, ऐसा आत्मा का विषय है ही नहीं। वह वस्तु ही ऐसी नहीं है। समझ में आया? ऐसी पर की उपेक्षणा करके अपनी अपेक्षा करता है। ऐसे गुलाँट खाकर बात की है।

भगवान आत्मा मैं ज्ञान, आनन्दस्वरूप हूँ। ऐसे अन्तर में एकाग्र होकर अन्तर की प्राप्ति, आत्मा के अनुभव की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। कहो, समझ में आया? थोड़ा ऐसा विकल्प आ जाए तो पश्चात्ताप होता है। अरे! क्या हुआ? इससे मुझे लाभ नहीं है। यह क्या हुआ? मुझसे पर में तो कुछ लाभ-अलाभ नहीं है। मुझसे पर में कुछ लाभ-अलाभ नहीं है और पर से मुझमें कुछ लाभ-अलाभ नहीं है, ऐसा निर्णय तो पहले कर लिया है। इसीलिए अपने अतिरिक्त अनन्त जीव, अजीव में उपेक्षाबुद्धि (हो गयी है)। त्याग-ग्रहण का विषय नहीं, ऐसा हो गया हूँ। समझ में आया? ओहोहो! संक्षिप्त में बहुत भर दिया है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि इस जीव को मैं बचा सकता हूँ, मार सकता हूँ, रक्षा कर सकता हूँ, ऐसी कोई वस्तु ही तेरी बुद्धि के विषय में नहीं है। समझ में आया? पण्डितजी! क्या परजीव को आत्मा बचा सकता है या नहीं? बचा सकता है, ऐसा नहीं कहा। उसके आधीन नहीं है, ऐसा कहा। बराबर कहा। समझ में आया? पण्डितजी ठीक आये हैं, वृद्ध हैं.. वृद्ध। यह अन्तर की बात समझनेयोग्य वस्तु है। सौगनचन्दजी! यहाँ तो पर का कुछ कर नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। यह तो कहे दया पालो, बैठ जाओ, चलो, ऐसे यत्न से चलो। वह क्रिया आत्मा से होती ही नहीं, ऐसा कहते हैं। यत्न से शरीर को चलाओ, यत्न से बोलो और पर की ऐसे सम्हाल करो, भाई! अपने शिष्य की, शास्त्र की, परवस्तु की (रक्षा करो)। उसका संरक्षण न हो तो उसका त्याग कर दो, छोड़ दो। कहते हैं, पर का त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। आहाहा!

विशदार्थ – श्लोक नं० ४२ में कहे गये... आगे ४२ आयेगा। योगी योगपरायण, आगे आयेगा। **शब्द को अन्त्यदीपक होने से सभी... 'निशामयति स्पृहयति' आदि क्रियापदों के साथ लगाना चाहिए।** क्या कहते हैं? योगपरायण जीव अपने आत्मा को प्राप्त करता है और पर की उपेक्षा कर सकता है। ऐसे सबमें ले लेना चाहिए। समझ में आया? आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य की एकाग्रता में तत्पर आत्मा, अपना शुद्धस्वभाव है,

उसकी दृष्टि में और उसकी एकाग्रता करने में तत्पर प्राणी **'निशामयति स्पृहयति'** उस सब क्रिया का योगपरायण ऐसा करता है, योगपरायण ऐसा करता है।

स्वात्म-संवेदन करने में जिसे आनन्द आया करता है,.. देखो! जिसे, आत्मा आनन्दस्वरूप है—ऐसी दृष्टि हुई है, पुण्य-पाप में आनन्द नहीं है, परपदार्थ में आनन्द नहीं है। अर्थात् परपदार्थ में मेरा धर्म नहीं है, पुण्य-पाप में मेरा धर्म नहीं है, मेरी पर्याय में मेरा धर्म और आनन्द है, (ऐसा मानता है)। समझ में आया? **ऐसा योगी इस चर, अचर, स्थावर, जंगमरूप समस्त..** चर, अचर की व्याख्या की है। मूल तो चराचर है। फिर स्थावर और जंगम की व्याख्या की है। इस जगत में वस्तु गतिमान हो या स्थिर हो। **समस्त बाहिरी वस्तु-समूह को त्याग और ग्रहण विषयक बुद्धि का अविषय होने से...** समझ में आया? अपने आत्मा के अतिरिक्त कोई भी एक रजकण या कोई आत्मा, मैं उसका ग्रहण अर्थात् रक्षा करता हूँ या पकड़ सकता हूँ या छोड़ सकता हूँ, ऐसा बुद्धि का विषय है ही नहीं। समझ में आया? क्या कहा? दूसरे को मैं पढ़ा सकता हूँ, यह बुद्धि का विषय है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा होवे तो ऐसी बुद्धि का नाम क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्याबुद्धि। जो विषय नहीं है, उसे विषय मानना, वह मिथ्याबुद्धि है। विषय तो है नहीं। समझ में आया? मैं पर को पढ़ा सकता हूँ और पर की रक्षा कर सकता हूँ, मैं शास्त्र की सम्हाल कर सकता हूँ, मेरी सावधानी से पर में कुछ व्यवस्था रहती हैऐसा मानना, वह मिथ्यादृष्टि का भ्रम है। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बुद्धि का विषय है ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! अरे! यह देखता नहीं कि क्या है? वे कहते हैं कि पर का कर्ता न हो तो दिगम्बर जैन नहीं। ऐई! हेमराजजी! पण्डितजी कहते थे, रतनचन्दजी.. अरे! भगवान! यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! जो आत्मा की दृष्टि सम्यक् हुई है, और आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान यथार्थ हुए हैं तो वह ऐसा ही मानता है कि मेरे अतिरिक्त किसी परपदार्थ को ऊँचा-नीचा करना, दूर करना, हटाना, नजदीक लाना, वह मेरी बुद्धि का, मेरे प्रयत्न का विषय ही नहीं है। भाई! आहाहा! अन्दर

पाठ में थोड़ा अन्तर है न, इसलिए पण्डितजी को पूछा था। वह पाठ है न अन्दर? '**हानोपादानबुद्धिविषयत्वाद्**' वहाँ 'अ' डाल देना। बात तो यह बराबर है। अर्थ बराबर लेते हैं। समझ में आया? यह अपने आता है न? बन्ध अधिकार में आता है, यह विषय नहीं, ऐसा आता है। बन्ध अधिकार में आता है। पर को मारना, जिलाना, सुख देना, दुःख देना.. समझ में आया? वह कोई वस्तु बुद्धि का, श्रद्धा-ज्ञान का विषय ही नहीं है, वह प्रयत्न का विषय ही नहीं है, क्योंकि वह प्रयत्न से होता ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! श्वास का लेना-देना, वह अपने प्रयत्न का, ज्ञान का विषय ही नहीं है, क्योंकि वह तो उसके कारण से होता है। उसमें तेरा ज्ञान उसे कर सकता है, ऐसा है ही नहीं। समझ में आया?

तेरे अतिरिक्त अनन्त परपदार्थ हैं। वे स्वयं के कारण से उत्पाद-व्यय से परिणमित हो रहे हैं तो उसमें तेरा अधिकार बिल्कुल किंचित् नहीं है। कहो, उसमें आता है? उसमें से निकलता है? पाठ में ऐसा है या नहीं? क्या नाम है तुम्हारा? शिखरचन्दजी! उसमें है या नहीं? देखो, है? पण्डितजी! है उसमें? देखो! बुद्धि का विषय नहीं है।

बाहिरी वस्तु-समूह.. समूह अर्थात् सब आत्मा और परमाणु। तेरे आत्मा के अतिरिक्त बाह्य परमाणु और जीव, **त्याग और ग्रहण विषयक बुद्धि का अविषय होने से अवश्य उपेक्षणीय रूप इन्द्रजालिया के द्वारा दिखलाये हुए सर्प-हार आदि पदार्थों के समूह के समान देखता है।** इन्द्रजाल में सर्प और हार दिखता है। वह सर्प छोड़ दो। सर्प और हार छोड़ दो। समझ में आया? इन्द्रजाल में सर्प को छोड़ दो और हार को ग्रहण करो, परन्तु इन्द्रजाल में सर्प और हार है ही नहीं। वह तो व्यर्थ कल्पना दिखती है। समझ में आया? नहीं सर्प, नहीं हार है। किसका त्याग-ग्रहण करे? आहाहा! गाथा...!

भगवान आत्मा अपना शुद्धस्वरूप, उसकी दृष्टि और उसमें योगपरायण, अपने में तत्पर रहने की इच्छा है, अभिलाषा है, उससे जो नहीं बनता, उसे बनाने का विषय किसलिए बनावे? कहो, सौगनचन्दजी! यह बात बहुत कठिन है। सब कहते हैं, इतना तो करना पड़े न? इतना तो करना पड़े न? इतना तो करना पड़े न? लो! अपने समुदाय में रहते हैं तो श्रावक को इतना रखना पड़े। समझ में आया? जहाँ-जहाँ अपना सम्प्रदाय है, वहाँ-वहाँ चातुर्मास में रहें तो व्यवस्था बने नहीं तो रहे नहीं। ऐई! मूढ़ है, कहते हैं। तेरी दृष्टि

मिथ्यादृष्टि है। क्यों, धन्नालालजी! आहाहा! हमने जो बीज बोये हैं, उन्हें थोड़ा पोषण देने जाना पड़ता है। हम साधु हैं, त्यागी हैं तो थोड़ा बीज बोया है, धर्म, (वह ठीक से रहे) यह झूठ है, तूने पर में बीज बोया है, यह बात मिथ्या है। यह बो नहीं सकता। पर में तू कुछ कर सकता है, यह बात ही मिथ्या है और है तो उसकी रक्षा करना, सम्हाल करना, वर्ष-वर्ष में जाना, चातुर्मास कर सके... मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं। परवस्तु में रक्षा होना, टिकना, जाना, वह तेरा विषय है ही नहीं। ओहोहो! कहो, क्या होगा इसमें? छगनभाई! ये कार्यकर्ता तो सब करते होंगे या नहीं?

मुमुक्षु : राग करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग करे तो वह राग का विषय है कि बन जाए? यह कपड़े पहनना, टोपी ओढ़ना, टोपी छोड़ना, यह कहते हैं कि तेरी बुद्धि का विषय नहीं है।

मुमुक्षु : पहनना या नहीं पहनना?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहने कौन? यह तो कहते हैं। उसके कारण से आवे, जावे, उसमें तेरी बुद्धि कहते हैं कि मैं पहनता हूँ और छोड़ता हूँ, यह इच्छा करना या छोड़ता हूँ ऐसा मानना, वह दृष्टि मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्त्र कौन उतारता है? ...आहाहा! चाँदमलजी कहते थे।

अरे! भगवान! भाई! तू है और दूसरे हैं या नहीं? तो हैं तो दूसरों में उनके उत्पाद-व्यय की पर्याय होती है या नहीं? उसमें उत्पाद-व्यय की पर्याय भी है, उसमें तू उत्पाद कर, रक्षा कर, और ध्वंस करे, जीवन करे, मरण करे, रक्षा करे, यह कहाँ से आया? समझ में आया? आहाहा! इतनी पुस्तकें बनाऊँ तो पुस्तकें दुनिया में रहे तो ज्ञान रहे। कहते हैं कि यह बुद्धि का विषय ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया? बाहर की वस्तु का रहना, पलटना, व्यय होना, ध्वंस होना, यह सब उस पदार्थ की स्वयं की स्वतन्त्र अवस्था से होता है।

मुमुक्षु : योगी को बुद्धि का विषय नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : योगी अर्थात् धर्मी। योगी अर्थात् क्या?

मुमुक्षु : अज्ञानी का विषय है न, ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी का विषय है ही नहीं, मानता है; इसलिए अज्ञानी है। इसीलिए तो कहा, विषय नहीं है। विषय माना है कि मैं ऐसे बनाऊँ, छोड़ूँ, नाश करूँ, ऐसे टिकाऊँ, ऐसे व्यवस्था रहे, सम्हाल करूँ—ऐसी बुद्धि का विषय ही नहीं है। उनके कारण से रहते हैं, टिकते हैं, नाश को प्राप्त होते हैं। मूढ़ मिथ्यादृष्टि से मानता है (कि मुझसे रहते हैं)। समझ में आया? कहो, पण्डितजी! बराबर है?

मुमुक्षु : दो क्रिया हो जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ....बराबर है। कहते हैं, ठीक कहते हैं पण्डितजी! दो क्रिया हो जाती है। पर की क्रिया आत्मा करे और अपनी क्रिया आत्मा करे, ऐसी दो क्रिया हो जाती है। बराबर है। समझ में आया? ऐसे वृद्ध होवे तो ठीक, तो कुछ चले। वे सब उल्टे मारते हैं। समझ में आया? भगवान! यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तेरी वस्तु ही पर से अत्यन्त भिन्न है। यह कर्म को बाँधना और छोड़ना, वह तेरी बुद्धि का विषय नहीं है। समझ में आया? राग ग्रहण करना और राग छोड़ना, वह भी तेरी वस्तु में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? क्या ग्रहण करे?

कहते हैं, धर्मी जीव... योगी शब्द से (आशय) धर्मी। योगी अर्थात् उन बाबा की बात यहाँ नहीं है। आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु सिद्ध समान सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने यह आत्मा देखा है। यह आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्दकन्द है और पुण्य-पाप का राग आस्रवतत्त्व भिन्न है। देह आदि पर अत्यन्त भिन्न है। यहाँ तो (एक ओर) रागादि परवस्तु तथा एक ओर भगवान आत्मा। अपने आत्मा की ज्ञानबुद्धि, श्रद्धाबुद्धि, आत्मा की दृष्टि, योगपरायण हुई, उसे अन्दर ऐसी उपेक्षा हो जाती है। होना हो, वह हो; मुझसे नहीं होता। जाना हो तो जाओ, मुझसे नहीं रहता।

मुमुक्षु : अलौकिक बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही स्वरूप है। आहाहा! जहाँ-तहाँ अभिमान... अभिमान.. अभिमान (करे)। इष्टोपदेश में, यह इष्टोपदेश है। इसका नाम प्रिय उपदेश है। सेठ! हितकारी उपदेश है कि अपने आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ का किंचित् (कर नहीं

सकता)। इस आँख की पलक ऐसे करना, वह अपना विषय ही नहीं है। होंठ हिलाना, पैर हिलाना, ऐसे चलना... समझ में आया? बराबर दबाकर चलना, पैर ऐसे करना, भिक्षा के लिए जाए तो पैर को ऊँचे लेना, ऐसी चरणानुयोग के शास्त्र में व्यवहार की आज्ञा है। यहाँ इनकार करते हैं। वह तो प्रमाद के भाव का निषेध करने के लिए यह बताया है। यहाँ कहते हैं, पैर को ऐसे उठाना और ऐसे रखना, वह तेरी बुद्धि का विषय, प्रयत्न का कार्य ही नहीं है। तेरा प्रयत्न वहाँ लागू पड़ता ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह मन्दिर बनाना, मन्दिर में बराबर ध्यान रखना, एक चौकीदार रखना, नहीं तो पैसा ले जाए, ऐसा हो जाए। ऐ.. मोहनभाई! तुम्हारे यहाँ करना पड़ता होगा या नहीं? मोरबी। चौकीदार सामने रखना, चौकीदार सच्चा न हो तो एक पत्थर का रखना, ऐसे लकड़ी रखकर। रात्रि में ऐसा दिखे कि कोई चौकीदार खड़ा है। ऐसे पर की रक्षा करने का विकल्प, वह तेरी मिथ्याबुद्धि है। आहाहा! गजब भाई! गृहस्थाश्रम में ऐसा चले? यहाँ तो गृहस्थाश्रम में भी योगी, समकिती ऐसा मानता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

चर, अचर, स्थावर, जंगमरूप.. स्थिर हो या गति करता हो, जड़ हो या चेतन, **समस्त बाहिरी वस्तु..** बाहिर अर्थात् तेरे अतिरिक्त बाहर की वस्तुएँ। **वस्तु-समूह..** सब (वस्तुएँ) **त्याग और गृहण विषयक बुद्धि का अविषय होने से..** तुझसे कोई त्याग-ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिए **अवश्य उपेक्षणीय..** है। वह तो उपेक्षा करनेयोग्य है। आहाहा! कहो कस्तूरचन्दभाई! उस मिल-बिल का क्या करना यह सब? मिल का ध्यान रखे... कपड़े फट न जाएँ, टूट न जाएँ, ऐसा ध्यान रखे। डोरा लगावे, जोड़े। लो! वहाँ लालचन्दभाई को तीन करोड़ की बड़ी मिल हो न? उज्जैन। वहाँ गये थे। सेठ ले गये थे। अब गुजर गये। मनुष्य के बिना चले, हों! एक मनुष्य कहीं-कहीं हो। सब काम तीन करोड़ का। हिन्दुस्तान में कहीं नहीं। अपने आप चलती है। कहा, यह अपने आप चलती है। कहीं डोरा टूट जाए तो एक व्यक्ति खड़ा हो, वह जरा जोड़ दे। डोरा टूट जाए तो पूरा बन्द हो जाए। वह उपेक्षणीय है, तुझसे होता है, यह बात नहीं है। आहाहा! मलूकचन्दभाई! तुम्हें करना है तो यह किया नहीं जा सकता है, इसलिए। कहो, समझ में आया? ओहोहो!

मुमुक्षु : समाधान तो होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समाधान। वस्तु की स्थिति ऐसी है कि पर की एक भी पर्याय, रजकण या आत्मा की अपने से श्रद्धा से, ज्ञान से, वीर्य से, राग से होती नहीं। स्वभाव की पर्याय से भी होती नहीं और विभाव की पर्याय से भी पर में कुछ होता नहीं। समझ में आया? आहाहा! पूरी बुद्धि समेट ली है।

इन्द्रजालिया के द्वारा दिखलाये हुए सर्प-हार आदि पदार्थों के समूह के समान देखता है। इन्द्रजाल का सर्प कैसे छोड़ना? और इन्द्रजाल का हार गले में कैसे डालना? इन्द्रजाल में हार और सर्प दिखाते है न? भाई! सर्प छोड़ दो। परन्तु वहाँ सर्प है ही नहीं। व्यर्थ में क्यों शोर मचाता है? हार बनाया। लाओ, हार पहनते हैं। क्या पहने? हार ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! आँख की एक पलक भी फिराना, वह तेरी बुद्धि का, प्रयत्न का, ज्ञान का, श्रद्धा का, पुरुषार्थ का कार्य है ही नहीं। वह तो उससे स्वतन्त्र होता है। सोगनचन्दजी! सूक्ष्म-सूक्ष्म है। यह वीतरागमार्ग है। बाकी गप्प मारे हों, वह वीतरागमार्ग नहीं है। गप्प समझे? उल्टा कहा हो वह। ऐसा करो, पर की रक्षा (करो)। बेचारे रतनचन्दजी शोर मचाते हैं न? ऐई! पर की दया... कल यह आया था। पर की दया के बहुत दृष्टान्त (दिये थे)। फूलचन्दजी कहे, लाख दृष्टान्त लाओ न! ऐसे दृष्टान्त तो व्यवहार के बहुत हैं। किस अपेक्षा से कथन है, यह समझे बिना? वह तो राग के काल में परजीव बच गया तो इसने बचाया, ऐसा कहने में आया है। होता है क्या? धूल में होता है? वह पर्याय उससे हुई, उसमें तुझसे कहाँ हुई? आहाहा! दया में तो तेरी हिंसा होती है। मैं पर का करूँ, इसमें तेरी हिंसा होती है। तेरी दया नहीं रहती, सुन तो सही! आहाहा!

मुमुक्षु : जीवदया संस्था चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत संस्था है न, भाई! वह तो उसके कारण से चलती है। क्या अपने से चलती है? एक व्यक्ति ने प्रश्न किया था, इतनी-इतनी गौशालाएँ हैं कितने बकरे तैयार किये? लाओ, बताओ। ए... भगवानभाई! वे महाजन। बकरे को अभी तक दूध पिलाया न? अभी तक कितने बकरे बचाये? सब मर जाते हैं। उनकी आयुष्य स्थिति पूरी हो, उसमें बचावे कौन? इतनी-इतनी गौशालाएँ हुई, सैकड़ों वर्षों से है, कितने बकरे हुए। वहाँ से कितने...? उन बकरों को पालकर कितना बेचा और कितना पैसा आया? हमें

खबर है न! गारियाधार में खबर थी। नम्बर आता न दूध पिलाने का? मोदी के यहाँ। मैं साथ में जाता था। ऐसे जबरदस्ती बलजोरी दूध डाले। उसमें एक-एक बच्चे जैसा नहीं है। बोकड़ा समझते हो? बोकड़ा नहीं समझते? बकरी का बाप, गौशाला में नहीं करते? बकरी के छोटे बच्चे को दूध पिलाते हैं। करना या नहीं? यह प्रश्न ही यहाँ नहीं है। कर नहीं सकता, फिर करना या छोड़ना ये बात ही नहीं है। यहाँ उपादान ही नहीं है। आहाहा!

मैं इतना आहार छोड़ दूँ और मैं इतना आहार ग्रहण करूँ। कहते हैं, तेरी बुद्धि के विषय में वह वस्तु ही नहीं है। तुझे किसे ग्रहण करना है? मैं निर्दोष आहार लूँ, सदोष छोड़ूँ। क्या है? छोड़ना-ग्रहण करना तेरी बुद्धि का, प्रयत्न का विषय है? उसके कारण आता है और उसके कारण जाता है? समझ में आया? यह तो त्यागी लोग भी भ्रम में पड़े हैं। मैंने ऐसा छोड़ दिया। छोड़ क्या दिया? धर्म। मैं ज्ञातादृष्टा हूँ, यह धर्म छोड़ दिया। मैंने पर को छोड़ दिया, ऐसा छोड़ दिया, देखो! ऐसे परद्रव्य को छोड़ दिया। इन पच्चीस द्रव्यों में से पाँच द्रव्य चलते हैं, बाकी नहीं चलते। बहुत अच्छा, तुझे मिथ्यात्व चलता है। समझ में आया? तुझे विपरीत बुद्धि जँचती है। आहाहा! यह वीतरागमार्ग है। समझ में आया?

यह इष्ट उपदेश है, देखो! पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि ऐसे उपदेश को इष्ट कहते हैं और दूसरा कोई ऐसा उपदेश करे कि परद्रव्य की रक्षा कर सकता है, मार सकता है, सम्हाल रख सकता है, यह भगवान का उपदेश ही नहीं है। अनिष्ट उपदेश, मिथ्यादृष्टि का उपदेश, अहितकारी उपदेश, आत्मा के श्रद्धागुण का खून करनेवाला वह उपदेश है। समझ में आया? आहाहा! निवृत्त, अत्यन्त निवृत्त है। धन्नालालजी! नवरा को क्या कहते हैं? आत्मा निवृत्त है। निवृत्त अर्थात् पर से भिन्न, पर से रहित। एक रजकण भी चलाने की उसकी ताकत नहीं है। एक रजकण यहाँ से ऐसे करना, वह आत्मा की ताकत ही नहीं है। वह तो उससे चलता है, उससे होता है, उससे चलता है। उसमें तेरा क्या काम है? आहाहा!

मुमुक्षु : शरीर का कुछ करना या नहीं करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : करना या नहीं करना? परन्तु कर सकता ही नहीं। यहाँ कहते हैं, तेरा विषय ही नहीं है। तेरा ज्ञान बहुत उघड़ जाए तो उसमें कर सकता है, ऐसा भी नहीं है। श्रद्धा क्षायिक हो जाए तो कर सकता है, ऐसा नहीं है। केवलज्ञान हो जाए तो उसमें वीर्य

से कुछ काम कर सकता है, ऐसा नहीं है। और ज्ञान, वीर्य मन्द पड़ जाए तो पर में कुछ कर सकता है, ऐसा है ही नहीं। फिर प्रश्न कहाँ है ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : सब अव्यवस्था हो जाएगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : इससे व्यवस्था होती थी, तो अव्यवस्था हो जाएगी ? यही कहते हैं। जो पदार्थ व्यवस्थित कायम है, वह अपनी अवस्था का, व्यवस्था का करनेवाला है। जो पदार्थ है, वही अपने वर्तमान अवस्था, विशेष व्यवस्था का करनेवाला है। दूसरा कोई (पदार्थ) उसकी विशेष अवस्था का, विशेष व्यवस्था का करनेवाला नहीं है। समझ में आया ? यह पूज्यपादस्वामी का इष्टोपदेश है, देखो! उन्होंने कहा न ? परस्पर उपकार है, यह तो हम कहते हैं। वह तो निमित्त का कथन है। उसका उपकार कौन किसका करे ? कौन किसका अपकार करे, कौन किसकी निन्दा करे ? कौन किसकी प्रशंसा करे ? समझ में आया ?

बाहिरी वस्तु-समूह को त्याग और ग्रहण विषयक बुद्धि का अविषय होने से.. समझ में आया ? भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने बन्ध अधिकार में यही लिया है। जो विषय, पर का मरना, जीना, संयोग मिलना, दुःख मिलना, उसकी स्थिति का रहना, उसके हाथ में हथियार का आना, मन-वचन-काया का परिणमन होना, वह सब उसके कारण से होता है, तुझसे नहीं होता। हाथ में लकड़ी है, ऐसे लकड़ी उठायी, वह तेरी बुद्धि का विषय ही नहीं है। हाथ ऊँचा किया, वह बुद्धि का विषय है ही नहीं।

मुमुक्षु : बुद्धि का विषय कहो या जानने का विषय कहो... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बुद्धि के विषय का अर्थ उसका कार्य नहीं। जानना दूसरी बात हो गयी। वह तो जानने का विषय हो गया।

मुमुक्षु : ग्रहण करने की बुद्धि...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ग्रहण-त्याग की बुद्धि का विषय नहीं है।

मुमुक्षु : पर को जानने में बुद्धि जाती है न...

पूज्य गुरुदेवश्री : जाती कहाँ है ? यहाँ तो अपने को जानता है। ...पर के आने-

जाने में त्याग-ग्रहण बुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। तीन काल-तीन लोक में पर का त्याग-ग्रहण अपने अधिकार की बात नहीं है। भगवान वीतराग परमात्मा अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु (है, ऐसा) कहते हैं, तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का ग्रहण-त्याग कर सके तो वह पदार्थ अपनी अस्ति नहीं रखता, उसकी अस्ति नहीं रह सकती। तेरी अस्ति तुझमें तो उसकी अस्ति उसमें। उसकी अस्ति में तुझसे बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं होता। समझ में आया? यह इष्टोपदेश की ५१ गाथा में यह ३९वीं गाथा डाली है, लो! समझ में आया? '**इन्द्रजालोपम**' में यह डाला। यह पाठ में है। '**निःशेषमिंद्रजालोपं**' समझे? '**स्पृहयत्यात्मलाभाय**' योगी योगपरायण अपने आत्मा का लाभ करता है। अपना शुद्धस्वरूप परमात्मा है, उसकी अन्तर एकाग्रता करना, वह आत्मा का लाभ कर सकता है। पर को लाभ पहुँचा दे या पर को अलाभ पहुँचा दे, वह आत्मा के अज्ञानभाव में भी नहीं तो ज्ञानी ऐसी इच्छा कैसे करे? समझ में आया?

तथा चिदानन्द-स्वरूप आत्मा के अनुभव की इच्छा करता है.. इस ओर उपेक्षा कहा। पहले उसकी व्याख्या की। इन्द्रजाल। अब '**स्पृहयत्यात्मलाभाय**' तीसरा पद। **तथा चिदानन्द-स्वरूप आत्मा के अनुभव की इच्छा करता है..** अभिलाषा। अपना आत्मा पवित्र शुद्ध आनन्द है, उसमें एकाग्र होने की भावना करता है, क्योंकि वह अपने से हो सकता है। अपने स्वरूप में अपने श्रद्धा-ज्ञान से एकाग्र होना, वह आत्मा अपने से अपने में कर सकता है। पर का कुछ भी तीन काल में कर नहीं सकता। ओहोहो! जैनदर्शन में बड़ा छिद्र पड़ गया। परद्रव्य का करो। परद्रव्य का न करे? भगवान ने दया का उपदेश दिया है। भाई! तुझे खबर नहीं, भगवान! आहाहा! समझ में आया?

दो के बीच एक सूत्र है। तेरापन्थी और स्थानकवासी। तेरापन्थी और स्थानकवासी में प्रश्न व्याकरण का एक सूत्र है। 'छह काय जीव रक्षणेस्य भगवया तारणेण सुकहीयं' यह शब्द है। हमें तो खबर है। उस सूत्र में.. प्रश्न व्याकरण में ऐसा पाठ है कि 'छह काय जीव रक्षणेस्य' छह काय के जीवों की रक्षा के लिए 'भगवया सुपावेयं सुकहीयं' भगवान ने बहुत प्रवचन कहा है। सेठ! ऐसा वचन है। तेरा तेरापंथी कहते हैं नहीं, भगवान ने छह काय की रक्षा करने के लिए नहीं कहा। पाठ रक्षा करने के लिए है। उस रक्षा का अर्थ पर को नहीं मारने का, भगवान के सूत्र वचन में आया भला कहा। स्थानकवासी उसका अर्थ

करते हैं, छह काय की रक्षा करना, ऐसा भगवान ने 'सुपावेयं प्रवचनं' कहा है। दोनों की बात झूठ है। यह तो हमारे बहुत चर्चा चली थी। तेरापन्थी का वांचन पहले से (संवत्) १९७२ से वाँचन किया था। तेरापन्थी के कर्म, विध्वंसन आदि एक-एक बात की बहुत चर्चा हुई है। ...वह सब है। ...किया है। १५१ बोल की हुण्डी है। सब देखा है। सब गप्प ही गप्प है। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, ऐसा करो, ऐसा करो। 'छह काय जीव रक्षणेस्य' छह काय के जीव की रक्षा के लिए भगवान ने प्रवचन कहा है। यहाँ तो कहते हैं, भगवान ने ऐसा प्रवचन कहा है कि अनन्त द्रव्य हैं, वे तेरे ज्ञान का विषय है। तेरा ज्ञान इतना बड़ा है कि सबको जाननेयोग्य है, ऐसा कहा है। अब तुझमें एकाग्र होकर पुरुषार्थ कर, ऐसा भगवान ने बताया है। प्रवचन में भगवान तो ऐसा कहते हैं। उनकी रक्षा करने को भी नहीं कहते, क्योंकि रक्षा हो सकती नहीं है। पर को नहीं मारना, यह भी नहीं कहते। पर को मार नहीं सकता, फिर क्या? समझ में आया? व्यवहार के कथन आवें, उनका अर्थ समझना कि यह तो वस्तु के स्वरूप में पर में कुछ कर नहीं सकता। ऐसा बताया कि तुझे उन्हें दुःख नहीं देना, उन्हें ऐसा नहीं करना। दुःख देने का जो भाव है, वह छुड़ाते हैं। समझ में आया? गजब बात, भाई!

और अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य किसी भी वस्तु में पहिले संस्कार आदि कारणों से.. संस्कृत में है। **यदि मन से, वचन से, वा काया से, प्रवृत्ति कर बैठता है,..** अपने स्वरूप के अतिरिक्त ऐसे कोई विकल्प आ जाए तो पश्चात्ताप करता है। **वहाँ से हटकर खुद ही पश्चात्ताप करता है.. खुद ही पश्चात्ताप करता है..** अरे! आत्मा! क्या है? पर का अधिकार तो तुझमें है नहीं। तू पर का तो कुछ फेरफार (कर नहीं सकता)। एक तिनका.. (गुजराती में) तणखलो कहते हैं? तिनका, एक तिनके के दो टुकड़े करना आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है? कौन करता है? उसके कारण से होते हैं। पुद्गल है। पुद् (और) गलना। उसकी पर्याय का धर्म है, उससे होता है। तुझसे क्या होता है? समझ में आया? आहाहा! तेरी बुद्धि पर के ग्रहण-त्याग से उपेक्षा कर दे, क्योंकि

तुझसे नहीं होता और तेरे स्वभाव की अपेक्षा कर दे। उससे आत्मा को लाभ होता है। समझ में आया? आहाहा! अपना आत्मा ज्ञायक चैतन्य है, जाननेवाला है। वह पर को जाननेवाला है, ऐसा कहना वह भी उपचार है। दया पालना और हिंसा करना, वह तो है ही नहीं, परन्तु पर को जानता है, वह उपचार से है। अपने को स्वयं जानता है, यह यथार्थ है। समझ में आया? आहाहा!

वीतरागमार्ग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर, सौ इन्द्र की उपस्थिति में, अर्धलोक का स्वामी शकेन्द्र और ईशानेन्द्र जिनके समवसरण में उपस्थित हैं। वे तीन ज्ञान के धनी इन्द्र! उनकी उपस्थिति में भगवान की दिव्यवाणी में आया है। समझ में आया? उनकी उपस्थिति में भगवान की दिव्यवाणी में ऐसा आया, अरे! धर्मी जीव! तेरे आत्मा के स्वभाव में परायण होने में पर का कार्य तुझमें नहीं है और तेरा विषय पर का कार्य नहीं है, किंचित् नहीं है। तू उपेक्षा कर दे और तेरे स्वभाव की अपेक्षा कर। तेरे स्वभाव की अपेक्षा कर, पर की उपेक्षा कर। बस! ऐसा भगवान की वाणी में आया और यहाँ सन्त-मुनि ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसे उपदेश की पद्धति बिगड़ गयी है। सोगनचन्दजी!

मुमुक्षु : यह असली बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : असली बात। ठीक है। सोगनचन्दजी अब थोड़ा आते-जाते हैं। यह तो त्रिकाल सत्य बात है, भाई! यह तो पहले सुनी न हो, इसलिए जरा कठिन लगती है। हम भी लोगों की बात पहले सुनते थे, दिगम्बर है और कोई हुम्मड़ है, क्या है हुम्मड? पहले शुरुआत में, हों! (संवत्) १९७०-७१-७२। कोई हुम्मड़ है। भावनगर में कोई हुम्मड़ है। हुम्मड़ क्या होगा? कोई दिगम्बर नग्न मुनि होगा? समझ में आया? (संवत्) १९७६ में एक बार हम ध्रांगध्रा गये थे। संवत् १९७६। हम बाहर से आते थे तो पूरा संघ आता था। वहाँ एक व्यक्ति बोला। मगनभाई, नहीं? मगनभाई बोले, महाराज! यहाँ रहना है। जंगल में नदी के ऊपर एक डेरी थी। छोटी डेरी। यह क्या? कहा। संवत् १९७६ के वर्ष में। मैंने कहा, यह तुमने क्या किया? एक बार नहीं पूछा, महाराज! आपको तो हमने स्वप्न में दिगम्बर देखा है। उसने कभी मुझे देखा नहीं था। परन्तु स्वप्न में दिगम्बर अर्थात्... वह दिगम्बर कहता था परन्तु क्षुल्लक, लंगोटी देखी। यही शरीर और तुम्हें ही

मैंने लंगोटीवाला देखा है। यह स्थिति कैसे होगी? ऐसा कहा। पहले-पहले यह शब्द सुना था। समझ में आया? मगनलाल था। महाराज! मैंने इस कारण से कहा था कि यहाँ रहना? मेरे स्वप्न में आप आये थे। लंगोटी थी और नग्न मुनि। वे लंगोटीसहित मुनि मानते थे न? खबर नहीं न, इसलिए यहाँ रहने को कहा था। कहा, है अवश्य कुछ बात? समझ में आया? बाद में तो (संवत्) १९७८ से बहुत वाँचन किया।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान आत्मा.. आहाहा! गाथा.. 'इन्द्रजालोपम' जैसे इन्द्रजाल की उपमा में कुछ है नहीं, वैसे तेरे लिए परद्रव्य कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं, भाई! तेरे लिए दूसरी वस्तु तो है ही नहीं। तेरी अपेक्षा से परद्रव्य अवस्तु है। अवस्तु है। पण्डितजी! क्या कहा? इस आत्मा की अपेक्षा से सब द्रव्य, अद्रव्य है। अद्रव्य है, अक्षेत्र है, अकाल है, अभाव है, अवस्तु है। उसकी अपेक्षा से वस्तु हो, तुझे क्या है? बराबर है। एक ही आत्मा है और इसके अतिरिक्त सब वस्तु अपनी अपेक्षा से अवस्तु है। अपना क्षेत्र, वह क्षेत्र है। अपनी अपेक्षा से सब क्षेत्र, अक्षेत्र है। अपना स्वकाल है। अपनी अपेक्षा से समस्त द्रव्यों का काल, अकाल है और अपने भाव की अपेक्षा से सब द्रव्यों का भाव अभाव है। अवस्तु है, अवस्तु है। आहाहा! इन्द्रजाल की उपमा दी है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने में है। यहाँ की अपेक्षा से वह अभाव (स्वरूप) है। इस अपेक्षा से कहा है। इन्द्रजाल है। तेरी अपेक्षा से तो वह वस्तु ही नहीं है, तो किस प्रकार बुद्धि में, श्रद्धा में, ज्ञान में लगाता है? अरे! ऐसा करो, वैसा करो, ऐसा करो। परन्तु क्या है? जगत में तेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु ही नहीं है। तेरी अपेक्षा से वह वस्तु तो अवस्तु है। तेरी अपेक्षा से। तो तुझे अवस्तु का क्या करना है? धन्नालालजी! यह गजब बात! ओहोहो!

(धर्मी जीव) अस्थिर हो जाए तो कदाचित् विकल्प आवे तो वहाँ से हटकर पश्चात्ताप करना, यह तेरे अधिकार की बात है। जरा विकल्प भी आ जाए, पश्चात्ताप करके स्थिर होना, यह तेरे अधिकार की बात है। समझ में आया? यहाँ तो अपनी अपेक्षा से प्रायश्चित्त ले लिया। हट जाना, वह प्रायश्चित्त है। दूसरा प्रायश्चित्त क्या? समझ में आया? दूसरा प्रायश्चित्त ले और दे, ऐसा नहीं है। ओहोहो!

यह मैंने कैसा आत्मा का अहित कर डाला। धर्मी को अपनी स्वभाव की एकाग्रता में से हटकर कोई विकल्प आ जाए तो (पश्चात्ताप करता है कि) मैंने ही मेरा अहित किया। अरे! यह क्या? पश्चात ऐसा नहीं मानता कि मुझे कर्म का उदय आया, इसलिए ऐसा हुआ। ऐसा धर्मी नहीं मानता। मेरा अपराध हुआ, मुझे राग हुआ। कर्म का कोई तीव्र जोर आया, निद्धत निकाचित कर्म का उदय आया तो मुझे राग हुआ, ऐसा बिल्कुल नहीं है। ऐसी बात है ही नहीं। जैसे परद्रव्य में मेरा अधिकार नहीं, वैसे परद्रव्य का मुझमें अधिकार नहीं। समझ में आया? देखो! ओहोहो! एक श्लोक में कितना कहते हैं! वहाँ से हटकर स्वयं पश्चात्ताप करता है। अरे! मेरी वस्तु तो ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसमें रहना, वही मेरे लाभ की वस्तु है। मेरे लाभ की वस्तु तो यह है और यह विकल्प करके मैंने क्या किया? अरे! मेरा अहित हुआ। वहाँ से हटकर पश्चात्ताप करता है। **मैंने कैसा आत्मा का अहित कर डाला।**

दोहा – इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात।
अन्य विषय में जात यदि, तो मन में पछतात।।३९।।

आहाहा! यह भगवान के घर की धर्मकथा है। परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव, जिनकी दिव्यध्वनि में जो उपदेश आया, वही सन्त कहते थे। **इन्द्रजाल सम देख जग,..** मेरे अतिरिक्त पूरा जगत इन्द्रजाल समान है। किसे पकडूँ, किसे छोडूँ, किसे रखूँ, किसे तोडूँ, किसका नाश करूँ? समझ में आया? भांगवुं शब्द तुम्हारे नहीं होगा। हमारे गुजराती में है। भांगवुं अर्थात् तोड़ना। हमारे कोई गुजराती शब्द आ जाते हैं। भंग, भांगे, छे। भंग करना। यह लकड़ी है, वह ऐसे होती है, वह उससे होती है, आत्मा उसे बिल्कुल नहीं कर सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ने ऐसा कहा है, प्रभु! प्रभु ने तेरी प्रभुता ऐसी देखी है कि तेरी प्रभुता से पर में कुछ नहीं होता और उसकी प्रभुता वह नहीं छोड़ता। परमाणु भी ईश्वर है। क्या कहा? ईश्वर है, अपनी शक्ति का ईश्वर है। जड़ ईश्वर है, जड़ेश्वर है। अपनी शक्ति से काम लेता है, पर की अपेक्षा नहीं करता। आहाहा!

तीन ईश्वर हैं। एक स्वभाव ईश्वर, एक विभाव ईश्वर, एक जड़ ईश्वर। यह जड़ेश्वर है। जड़ का अर्थ अजीवतत्त्व की ईश्वरता महत्ता अपनी वस्तु रखती है। अपने में परिवर्तन में पर की सहायता नहीं रखते, इतने स्वतन्त्र परमाणु जड़ेश्वर हैं। समझ में आया? आहाहा! विभाव ईश्वर। मिथ्यादृष्टि विकार का स्वामी होता है, वह विभाव ईश्वर है। वह भी स्वयं से मानत है, कोई कर्म के कारण नहीं। स्वभाव ईश्वर - मैं विभाव और पर से रहित ज्ञानानन्द हूँ, स्वभाव का सहजात्मस्वरूप स्वामी, वह धर्मी स्वभाव-ईश्वर है। अधर्मी विभाव का ईश्वर है। जड़ अपनी सर्व पर्याय का सामर्थ्य करनेवाला ईश्वर है। ओहोहो! समझ में आया? यह अनन्त परमाणु का रजकण है या नहीं? अस्ति है या नहीं? है या नहीं? है, उसमें ऐसा होना, वह उसके कारण से होता है, या अंगुली के कारण से होता है? बिल्कुल नहीं। अंगुली के कारण से इसमें बिल्कुल नहीं होता, इसके कारण से अंगुली में नहीं होता और आत्मा के कारण से अंगुली में नहीं होता और अंगुली के कारण से आता में नहीं होता। समझ में आया?

मुमुक्षु : विभाव....

पूज्य गुरुदेवश्री : विभाव-ईश्वर। पुण्य-पाप का स्वामी होता है, वह विभाव-ईश्वर—मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? पर का स्वामी होता है और पुण्य-पाप का स्वामी होता है, वह विभाव-ईश्वर है। मूढ़ मिथ्यादृष्टि अनादि का है। आहाहा! वह भी विभाव छोड़े तो वह छोड़ सकता है, दूसरा छुड़ा सके, ऐसी ताकत नहीं है। तीर्थंकर की ताकत नहीं कि वे इसके विभाव-ईश्वर को छुड़ा दे।

इन्द्रजाल सम देख जग,.. भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर फरमाते हैं। अरे! आत्मा! तेरे अतिरिक्त सब पदार्थ **इन्द्रजाल सम देख..** इन्द्रजाल की तरह देख। उन्हें पकड़नेयोग्य, छोड़नेयोग्य तेरी वस्तु है ही नहीं। ओहोहो! तेरे सिवाय अनन्त परपदार्थ अपनी अस्ति-मौजूदगी रखते हैं, उनमें तेरा बिल्कुल किंचित् अधिकार नहीं है। समझ में आया? **इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात।** भगवान आत्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप, अपने निज आनन्दस्वरूप का अनुभव और रुचि करो। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति आत्मा है, सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत्शाश्वत् ज्ञानानन्दमूर्ति आत्मा है, उसकी

रुचि करो और दुनिया के परपदार्थ की कर्ताबुद्धि छोड़ दो। मैं पर का कर्ता नहीं होता। मेरी बुद्धि का विषय ही नहीं, वस्तु ही नहीं।

अन्य विषय में जात यदि, कदाचित् धर्मात्मा अपने स्वरूप की रुचि से अस्थिरता से कोई विकल्प पर में जाता है **तो मन में पछतात।** तो मन में पश्चात्ताप करता है। बस! अपने ही अपने में सब है। लाभ लेता है, वह भी अपने में, राग होता है, वह भी अपने में और पश्चात्ताप भी करता है, अपने में—ऐसी बात सिद्ध करते हैं। समझ में आया? पर के साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं है।

मुमुक्षु : पूरे दिन तो सम्बन्ध में रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन काल में कोई सम्बन्ध में है ही नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। कैसा सम्बन्ध? वह वस्तु, वस्तु में नहीं। वह वस्तु वस्तु में नहीं? उस वस्तु में तू है? तुम्हारी वस्तु में वह आ गयी है? भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। भिन्न-भिन्न अपनी पर्याय का काम कर रहे हैं? कहाँ से तुझसे उसमें कुछ हुआ? सम्बन्ध में किस प्रकार आ गया? माने, माने तो चाहे जो माने, मूढ़। समझ में आया? 'धणी को देखे तो धाकणी में' ऐसा नहीं कहते। काली मिट्टी में ढांके ऐसा-ऐसा मुँह देखे। ठीक, बहुत अच्छी बात।

आत्मानुभवी के और भी चिह्नों को दिखाते हैं –

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनिताऽदरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्।।४०।।

अर्थ – निर्जनता को चाहनेवाला योगी एकान्तवास की इच्छा करता है, और निज कार्य के वश से कुछ कहे भी तो उसे जल्दी भुला देता है।

विशदार्थ – लोगों के मनोरंजन करनेवाले चमत्कारी मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग करने की वार्ताएँ न किया करें, इसके लिये अर्थात् अपने मतलब से लाभ-अलाभ आदिक के प्रश्न पूछने के लिए आनेवाले लोगों को मना करने के लिए किया है प्रयत्न

जिसने, ऐसा योगी स्वभाव से ही जनशून्य ऐसे पहाड़ों की गुफा-कन्दरा आदिकों में गुरुओं के साथ रहना चाहता है। ध्यान करने से लोक-चमत्कार बहुत से विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं, जैसा कि कहा गया है – 'गुरूपदेशमासाद्य०'

'गुरु से उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला, धारणाओं में श्रेष्ठता प्राप्त हो जाने से ध्यान के अतिशयों को भी देखने लग जाता है।' अपने शरीर के लिये अवश्य करने योग्य जो भोजनादिक, उसके वश से कुछ थोड़ासा श्रावकादिकों से 'अहो, देखो, इस प्रकार ऐसा करना, अहो, और ऐसा, यह इत्यादि' कहकर उसी क्षण भूल जाता है। भगवन्! क्या कह रहे हो? ऐसा श्रावकादिकों के द्वारा पूछे जाने पर योगी कुछ भी जवाब नहीं देता। तथा-।।४०।।

दोहा – निर्जनता आदर करत, एकांत सुवास विचार।
निज कारजवश कुछ कहे, भूल जात उस बार।।४०।।

गाथा - ४० पर प्रवचन

आत्मानुभवी के और भी चिह्नों को दिखाते हैं – यह चिह्न तो दिखाये, अब आत्मानुभवी धर्मी जीव के अधिक लक्षण कहते हैं।

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनिताऽदरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्।।४०।।

आहाहा! गजब श्लोक है, हों! यह सब लड़कों को समझने जैसा है, हों! ऐसे नहीं कि हम लड़के हैं और ऐसा कैसे समझ में आयेगा? कोई लड़के नहीं, सब भगवान हैं। यह बाहर के शरीर हैं, वह मिट्टी है, वह तुम नहीं हो। भगवान आत्मा है, वह सच्चिदानन्दस्वरूप विराजता है। प्रत्येक बाल, गोपाल, स्त्री का शरीर हो, नपुंसक-हिजड़े का हो, या पशु का शरीर हो, उसमें सच्चिदानन्दस्वरूप है। आत्मा में कोई अन्तर नहीं। ऐसे आत्मा की श्रद्धा को पहिचानो और एकान्त में आत्मा की शान्ति की दृष्टि करके अनुभव करो। यहाँ एक ही बात करते हैं। यही मनुष्यपना पाकर करनेयोग्य है।

अर्थ – निर्जनता को चाहनेवाला.. निर्जनता को चाहनेवाला योगी.. निर्जन। जहाँ मनुष्य न हो, बाह्य साधन न हो, पदचाप न हो। एकान्त.. एकान्त.. हमारा वास एकान्त। धर्मात्मा, अपना अन्तरस्वरूप ज्ञानानन्द प्रभु की एकाग्रता करने को एकान्तवास में रहता है। आहाहा! निर्जनता। निर्जन है न? जनरहित। मनुष्य और पशु आदि न हो, उसे इच्छावाला योगी **एकान्तवास की इच्छा करता है,..**

और निज कार्य के वश से कुछ कहे भी तो.. थोड़ा कुछ बोले भी सही विकल्पादि तो **उसे जल्दी भुला देता है।** भूल जाता है। समाधिशतक में श्लोक है, वह श्लोक है।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंद्वाक्कायाभ्यासतत्परः॥

यह समाधिशतक का है। नीचे आयेगा, हों!

यहाँ कहते हैं **लोगों के मनोरंजन करनेवाले चमत्कारी मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग करने की वार्ताएँ न हुआ करें,..** वहाँ कोई पूछे, महाराज! इसका क्या? अब सुन न! मन्त्र-तन्त्र हमारे पास है नहीं। समझ में आया? एकान्त में जाए और वहाँ मन्त्र-तन्त्र पूछनेवाले हों नहीं। यहाँ तो सब पूछे, महाराज! आपको लब्धि हुई है? अमुक हुआ है? अमुक है? अब छोड़ न, ऐसी तेरी लब्धि की। यह यहाँ कहेंगे, हों! जन के वास में तुझे रुकना पड़े (तो) सब छोड़ दे। एकान्त में जाकर अपने आत्मा का ध्यान कर। समझ में आया?

लोगों के मनोरंजन करनेवाले चमत्कारी मन्त्र-तन्त्र.. समझे? कोई मांडलिया करते हैं न? मांदलिया (ताबीज) नहीं बाँधते? डोरा-धागा करते हैं। मूढ़ है, कहते हैं। ऐसे लोग तेरे पास आयेंगे, इसलिए छोड़ दे। एक ओर जा। लोग स्वार्थ के लोभी मूढ़ लोग पैसे के लोभी, पुत्र के लोभी ऐसे मूढ़ लोग तेरे पास आयेंगे। छोड़ दे, चला जा एकान्त जंगल में। ऐई! शिखरचन्दजी! आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : भला तो कर सके न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन भला कर सकता है ? धूल में। जंगल में आवे तो उससे बात नहीं करते, ऐसा कहेंगे।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें कुछ नहीं था। धर्म की बात नहीं थी। यहाँ तो आत्मा की बात है। समझ में आया ? कोई चमत्कार हो और पूछने आवे तो ऐसे जन को छोड़ दे। असंग में रह। तेरी वस्तु का लाभ कर ले। दूसरे की परवाह छोड़ दे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ४५ गाथा-४०-४१ सोमवार, दिनाङ्क २३-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल ३, वीर संवत् २४९२

यह पूज्यपादस्वामी ने इष्टोपदेश बनाया, उसका उपदेश चलता है। इष्टोपदेश— अपने आत्मा का हितकारी उपदेश। गाथा ४० का विशदार्थ। देखो ! धर्मी जीव की बात चलती है। जिसे अपने आत्मा में आनन्द भासित हुआ है, आनन्द की रुचि हो गयी है। समझ में आया ? मैं आत्मा हूँ, तो मैं आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसे धर्मी जीव को प्रथम में शरीर, वाणी, कर्म, अजीव से तो रुचि हट गयी है और पुण्य-पाप का राग उत्पन्न होता है, उसमें से रुचि हट गयी है तथा अपना शुद्ध चैतन्य आनन्द ज्ञानानन्द प्रभु, उसकी अन्तर में सम्यग्दर्शन के काल में अपना आत्मा आनन्द है, ऐसा अनुभव में, रुचि में आ गया है। समझ में आया ? उसकी बात चलती है।

प्रथम क्या करना ? यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसे पर की उपेक्षा करके, अन्तर की अपेक्षा में आत्मा का अवलम्बन करके, शुद्ध आनन्द है-ऐसी दृष्टि और अनुभव पहले करना। शुरुआत में यह करना। समझ में आया ? अब यहाँ विशेष कहते हैं। जिसका मन, अपना आत्मा आनन्द है और उसमें से मेरी निर्मल पर्याय प्रगट होती है - ऐसी जिसे अन्तर में दृष्टि से चोट लगी है, वह **लोगों के मनोरंजन करनेवाले चमत्कारी**

मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग करने की वार्ताएँ न किया करें,.. ऐसे एकान्त स्थान में रहना चाहता है कि जहाँ कोई ऐसा पूछे कि महाराज! तुम्हारे पास ऐसा कोई चमत्कार है, ऐसी कोई लब्धि होवे तो हमें बताओ, मन्त्र-तन्त्र बताओ - ऐसा पूछनेवाला जहाँ न हो, ऐसे एकान्त स्थान में जाकर अपना ध्यान करता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : मन्त्र-तन्त्र अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कुछ मन्त्र आवे, लब्धि हो जाए, बोले वैसा हो, ऐसी लब्धि हो जाए। मुनि धर्मात्मा उसे फैलाते नही। किसी कारण बिना कहे ऐसा आ जाए और वैसा कोई कारण होवे तो विकल्प आ जाए, परन्तु उसमें हित माने नहीं। मन्त्र बोले, वहाँ उसे कुछ हो जाए, पुत्र हो जाए - पैसा हो जाए। लो! पूर्व के पुण्य का उदय होवे तो, हो!

मुमुक्षु : सामनेवाले का पुण्य होवे तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके बिना कहाँ से होगा? समझ में आया? ऐसा पूछनेवाला कोई न मिले, इस कारण धर्मात्मा-जघन्य सम्यग्दृष्टि है, वह भी; अपने आनन्द की रुचि हुई है, वह जैसे बने, वैसे प्रवृत्ति में नहीं आना और जिसमें अपने को रुकना पड़े, ऐसे स्थान में नहीं रहना - ऐसी उसकी भावना रहती है। समझ में आया?

वार्ताएँ न हुआ करें,.. वह जहाँ बैठे, वहाँ कोई पूछे कि महाराज! आप तो ध्यान करते हो न! आप ध्यान करते हो तो बहुत चमत्कार हुए होंगे। - ऐसा पूछनेवाला जहाँ न हो, ऐसे एकान्त स्थान में अपना ध्यान करने में लग जाए। **इसके लिये अर्थात् अपने मतलब से लाभ-अलाभ आदिक के प्रश्न पूछने के लिए..** अपने मतलब से पूछे कि ऐसा कुछ बताओ कि जिससे पैसा मिले, पुत्र हो जाए, इज्जत मिले, रोग मिट जाए। हमें इतना नुकसान हुआ है तो लाभ हो - ऐसी कोई बात, वस्तु बताओ। ऐसा **प्रश्न पूछने के लिए आनेवाले लोगों को मना करने के लिए किया है..** कि हमारे पास नहीं आना।

ऐसा योगी स्वभाव से ही जनशून्य ऐसे पहाड़ों की गुफा-कन्दरा आदिकों में गुरुओं के साथ रहना चाहता है। अकेला रहे अथवा अकेला न रह सके तो गुरु अथवा साधु की संगति में एकान्तवास में बसना। उसे बाहर का संग और परिचय करने की इच्छा नहीं होती। यह थोड़ा कहेंगे, जनशून्य गुफा आदि में रहना। **ध्यान करने से**

लोक-चमत्कार बहुत से विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं,.. सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप में एकाग्र होने पर कितने ही चमत्कार भी उत्पन्न हो जाए।

मुमुक्षु : .....मार्ग की प्रभावना होवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभावना क्या? प्रभावना अपनी अपने में होती है या बाहर में होती है? समझ में आया? यह भी गौण की बात लिखी है कि किसी समय ऐसा विकल्प आ जाए तो तुरन्त भूल जाए। ऐसा नहीं ऐसा किया करूँ या बनाया करूँ। समझ में आया? ऐसा विकल्प कदाचित् आ जाए तो उसे भूल जाए।

मुमुक्षु : (ऐसे विकल्प को) आत्महितकारी न समझे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह विकल्प अपने को हितकारी है ही नहीं। क्या हितकर है?

मुमुक्षु : सामनेवाले का तो कल्याण हो जाए न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी कल्याण नहीं होता। उसमें कल्याण होता है सामनेवाले का? ठीक है। पैसा मिले,... मिले तो कल्याण हो जाता है? और वे उसके पुण्य बिना मिलते नहीं। धर्मात्मा को ऐसी प्रवृत्ति में ठीक नहीं लगता; इसलिए एकान्तवास में रहने की भावना करता है। लोग तो लाभ-अलाभ की बहुत बातें पूछने आयें, कोई मन्त्र-तन्त्र-जन्त्र ऐसा कोई वचन दो, मन्त्र बताओ कि जिससे मुझे लाभ हो। समझ में आया?

ध्यान करने से लोक-चमत्कार बहुत से.. लोकचमत्कारकारी भाव अन्दर आ जाता है, उत्पन्न हो जाता है, उसमें क्या? **विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं,..** लो! तो भी उनका लक्ष्य नहीं करते। उसमें क्या लाभ? समझ में आया? उपदेश करना, वह भी वाणी का कथन है। उसमें भी विकल्प होता है। उसमें अपने को क्या लाभ? ऐसा कहते हैं। कहो, ये कहते हैं न कि अपने उपदेश दें तो लोगों को लाभ हो, उसमें अपने को निर्जरा होती है। झूठ (बात) है। उपदेश से क्या निर्जरा होती है? वह तो वाणी का विलास, वचन की क्रिया है। उसमें कोई विकल्प आया, वह भी पुण्यबन्ध का कारण है। समझ में आया? और वह हितकर कार्य नहीं है। आहाहा! ऐ... सोगनचन्दजी! कैसे होगा? देवानुप्रिया! आ जाए, आवे, वह दूसरी बात है परन्तु उसमें रुकना और उससे लाभ है - ऐसी बात नहीं मानते। आहाहा! अपनी खान निजानन्द अनन्त आनन्द है। विकल्प आ

जाता है। सम्यग्दृष्टि को भोग का भी विकल्प आ जाता है, परन्तु आकर भूल जाते हैं। उसमें मीठास नहीं आती। रोग की तरह वह विकल्प आया, उसे उपसर्ग जानते हैं। शुभराग, उपदेश करने में आया या दुनिया को बतलाने में आया कि मुनि को भोजन विधि ऐसे देना, ऐसा करना; ऐसा विकल्प आया तो उस सबको भूल जाते हैं; क्योंकि विकल्प में आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

श्लोक कहते हैं। **गुरु से उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला,..** उपदेश पाकर कि तेरा चिदानन्द प्रभु, तेरा स्वभाव तेरे पास है। उसमें सन्मुखता से रहो, विमुखता छोड़ो। समझ में आया? गुरु का उपदेश आया कि भगवान..! लिखा है न? **अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला,..** आत्मा ज्ञायक चैतन्य शुद्ध पवित्र आनन्दधाम में तेरी सन्मुखता रखो; विकल्प आदि से विमुखता हो जाओ। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा उपदेश क्यों दिया? और ऐसा प्रश्न करे, भाई! गुरु ने ऐसा उपदेश क्यों दिया? उपदेश दिया, वह भी विकल्प है। भाई! आता है, परन्तु वह आदरणीय नहीं है – ऐसे वहाँ जोर देते हैं। समझ में आया? भाषा तो ऐसी है कि **'गुरु से उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला, धारणाओं में श्रेष्ठता प्राप्त हो जाने से ध्यान के अतिशयों को भी देखने लग जाता है।'** अपने ज्ञायक चैतन्य में नजर लगाकर एकाकार होने से कोई चमत्कार अन्दर उत्पन्न हो जाए, परन्तु उसे बताना नहीं चाहता और पूछने आवे तो उसे नहीं कहता। तुझे क्या काम है? तेरा आत्मा क्या है, उस ओर जा। समझ में आया? ओहोहो!

मुमुक्षु : त्राटक अर्थात?

पूज्य गुरुदेवश्री : त्राटक अर्थात् अन्दर एकाग्रता। ऐसे त्राटक नहीं करते? नजर करते हैं। ऐसे अन्दर त्राटक (नजर) लगाना। ज्ञायक चैतन्यस्वभाव ऊपर एकाग्र होना। आहाहा!

अभ्यास करते-करते **धारणाओं में श्रेष्ठता प्राप्त हो जाने से..** विशेष निर्मलता होने से **अतिशयों को भी देखने लग जाता है।** अतिशय दिखता है। अन्दर ऐसा चमत्कार दिखता है। उसमें कुछ नहीं है। अपनी शान्ति में एकाग्र होने के अलावा उस वस्तु

में कुछ नहीं। कहो, जमुभाई! क्या करना? इस दुनिया के लिए रुकते हैं? प्रभावना होती है, ऐसा न? प्रभावना किसे कहते हैं? अपना चिदानन्द भगवान शुद्ध आनन्दकन्द धाम है, उसमें लीनता करना, वह प्रभावना है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो निश्चय प्रभावना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वही सच्ची प्रभावना है। व्यवहार प्रभावना उपचार से कथन है, वह वास्तविक नहीं है। प्रभावना के दो प्रकार। तुम्हारे आया है या नहीं? कथन के दो प्रकार, निरूपण दो प्रकार से है। एक निश्चय प्रभावना और व्यवहार प्रभावना। प्ररूपणा दो प्रकार से है। कथन यथार्थ और निश्चय प्रभावना, वह प्रभावना यथार्थ है। आहाहा! समझ में आया? यह तो सबमें ले लेना। शब्द आता है न? सर्वत्र निश्चय-व्यवहार का लक्षण जानना, ऐसा आया है या नहीं? यह बड़ा सिद्धान्त है। टोडरमलजी ने तो बहुत इतना लिया है... ओहोहो! लोगों को खबर नहीं। उन्होंने तो ऐसा कहा कि सर्वत्र निश्चय-व्यवहार का लक्षण ऐसा जानना। कथन दो प्रकार के हैं। प्रभावना का कथन दो प्रकार से है। एक ही प्रकार की प्रभावना सत्य है। पण्डितजी!

मुमुक्षु : एकाग्रता की भावना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अन्तर एकाग्रता की भावना, अन्तर की भावना, अन्तर की भावना। विकल्प आया, वह व्यवहार प्रभावना है, परन्तु उससे क्या हुआ? उसमें तो बन्ध पड़ा। समझ में आया? और वाणी से कुछ लाभ मिला? वह तो उससे-उपादान से मिला है, वाणी से नहीं मिला। उसकी योग्यता से उसे लाभ मिला है। इतना जोर न दे कि वाणी से मैं उसे समझा देता हूँ। धीर हो, धीर हो जा। कहो, सेठ! आहाहा! इतना काल (उपदेश) दूँ तो लोगों को लाभ हो, मुझे भले नुकसान हो। ऐसा है नहीं। ऐसी बात आती है न? हेमचन्द्राचार्य के लिए श्रीमद् ने कहा है न? लोगों का भला हो, हमारा भले चाहे जो हो, परन्तु लोक का कल्याण हो। क्या कल्याण हो? समझ में आया? यहाँ तो अपना आत्मा ज्ञान-आनन्द का धाम चिदानन्दमूर्ति है। उसकी अन्तर में अनुभव करके रुचि करके उस ओर झुकना, वही एक कर्तव्य / कार्य और काम है। समझ में आया? उपदेश लोभी। यह आता है न? मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं आता? कोई धर्म का लोभी (जीव) आ जाए...

आता है या नहीं ? इच्छा उत्पन्न हो जाए तो कह देना, परन्तु उसे चिपक नहीं जाना कि इच्छा उत्पन्न हुई तो उसमें मुझे धर्म का लाभ है। समझ में आया ? आहाहा ! भाई ! दुनिया को धर्म प्राप्त करावे तो तीर्थंकरगोत्र बँध जाए। इसका अर्थ क्या ? विकल्प आया तो बँधेगा। परमाणु बँधे, उसमें आत्मा को क्या लाभ हुआ ? आहाहा !

भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है, उसमें जितना एकाग्र हो, वही अपना लाभ है। इस इष्टोपदेश में यह कहा गया है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी अपने को लाभदायक नहीं है परन्तु तीर्थंकरगोत्र बँधे तो तीर्थंकर प्रकृति के कारण केवली हो जाएगा न ? उससे केवलज्ञान नहीं होगा। समझ में आया ? आहाहा ! शुभभाव हुआ, तीर्थंकर प्रकृति बँधी, उससे केवलज्ञान होगा ? वह शुभविकल्प है, उसे छोड़ेगा, स्थिर होगा, तब केवलज्ञान होगा। तब प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में आयेगा, उसमें तुझे क्या लाभ हुआ। उसके पहले तो केवलज्ञान हो गया। समझ में आया ? यह बात लोगों को बहुत कठिन पड़ती है।

पहले पण्डित बंशीधरजी व्याख्यान में आये थे न ? वे कहें, एकान्त है, एकान्त है। भाई ! उपदेश से पर को लाभ हुआ, ऐसा कहाँ से लाया ? वह तो उसकी योग्यता है, तो उसे वाणी निमित्त पड़ गयी। उसके उपादान में योग्यता थी तो हुआ। वाणी तेरी है तो उससे लाभ हुआ ? वाणी तूने की है ? वाणी का कर्ता आत्मा है ? अरे ! विकल्प का कर्ता आत्मा नहीं। कर्ता माने तो ज्ञाता-दृष्टा रहता नहीं। आहाहा ! देखो ! जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध पड़ता है, उस भाव का भी आत्मा कर्ता नहीं है। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, भगवान ! तेरी वस्तु महानधाम सर्वज्ञ पद अन्दर पड़ा है न ! उसमें एकाग्रता होना, वह तेरी क्रिया, कला है। विकल्प आया, वह तुझे लाभदायक नहीं है। चाहे तो आहारक शरीर बँध जाए, चाहे तो राग से सर्वार्थसिद्धिगति बँध जाए, वह तो बन्ध है। अबन्धस्वभावी भगवान को उससे लाभ नहीं है। ओहोहो ! कैसे ? शिखरचन्दजी !

मुमुक्षु : यह बात चलाने जैसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वार्थसिद्धि का बन्ध पड़े, तीर्थंकर का बन्ध पड़े तो मोक्ष होता है। शास्त्र में टीका में है, तीर्थंकर प्रकृति परम्परा मोक्ष का कारण है। जयसेनाचार्य की

टीका में है, लो! उसका अर्थ क्या? वह तो राग आया, बन्ध पड़ गया, उसे हेय मानता है। सम्यग्दृष्टि तो शुभराग को हेय मानता है। बन्ध पड़ा, उसे तो ज्ञेय मानता है। पर है, वह मेरी वस्तु ही नहीं, मुझे लाभ नहीं। आहाहा! जगत को अन्दर गलगलिया हो जाता है, मानो पर से कुछ हो जाए न।

यहाँ तो क्या कहते हैं? देखो! अहो! **अपने शरीर के लिये अवश्य करने योग्य जो भोजनादिक,..** मुनि, धर्मात्मा आदि कर ले। **उसके वश से कुछ थोड़ासा श्रावकादिकों से..** बोलना पड़े। निर्दोष भोजन ले, आदि। बोलना पड़े अर्थात्? किसी ने पूछा कि जाना है तो क्या है? नाम क्या है? पूछना पड़े न श्रावक को? **'अहो, देखो, इस प्रकार ऐसा करना,..** मुनि की ऐसी क्रिया होती है। उसके लिए आहार-पानी बनाना नहीं। निर्दोष आहार-पानी हो तो देना, ऐसा पहले उपदेश करे। समझ में आया? मुनि उपदेश करे, परन्तु करके भूल जाए। देखो! क्या कहा? **'विस्मरति द्रुतम्.. द्रुतम्'** वेग से भूल जाए, एकदम भूल जाए, उसमें कुछ लाभ नहीं है। आहाहा! भाई! मुनि का ऐसा व्यवहार है कि निर्दोष भोजन बना हो और मुनि आहार करे तो देना। उन्हें बनाकर देना और बोलना कि आहार शुद्ध, वचन शुद्ध। आहार शुद्ध कहते हैं न? क्या कहते हैं? आहार शुद्ध, वचन शुद्ध, मन शुद्ध है। उसमें कहाँ शुद्ध हुआ? उनके लिए तो बनाया है। चौका करके तो बनाया है। तू पानी लाया, बनाया। पानी पाँच सेर, दस सेर कहाँ से लाया? एक पानी की बूँद में असंख्य जीव हैं, असंख्य जीव हैं। आहाहा! निगोद के तो अलग। यह तो जल के इतने जीव हैं। ऐसा पाँच सेर, दस सेर पानी मुनि को देने के लिए (प्रासुक) बनाया, वह क्या है? वह तो उद्देशिक है। समझ में आया? मुनि को ख्याल पड़े कि यह तो मेरे लिए बनाया है, घर में तो दो लोग हैं। पाँच सेर, दस सेर पानी कहाँ से आया? मौसम्बी कहाँ से आयी? दस मौसम्बी का पानी कहाँ से निकाला? उनके लिए बनाया है। प्राण जाए तो भी नहीं लेते। समझ में आया?

मुमुक्षु : किसी जीव ने अभिग्रह किया कि महाराज आवे तो ही पारणा करूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु इस प्रकार नहीं जाते।

मुमुक्षु : बनाया कुछ नहीं परन्तु...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु साधु जाए किसलिए उसका अभिग्रह पूरा करने ? वह साधु का काम है ? बिल्कुल नहीं। अभी तो कहाँ (कोई साधु है) ? यह तो सब दृष्टि मिथ्यात्व की बात है। यह तो सम्यग्दृष्टि हो, उसकी बात चलती है। अभी तो सब गृहीत मिथ्यात्व की बात है। श्रावक भी कहाँ है ? और सच्चे मुनि भी कहाँ है ? किसी को खबर भी नहीं।

यहाँ तो आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप है, उसमें विकल्प आ जाए। मुनि को कहने का, श्रावक को कहने का। मुनि कहे कि तुम ऐसे अभ्यास करो, ऐसे ध्यान करो। ऐसा विकल्प आया परन्तु फिर तुरन्त भूल जाते हैं। क्योंकि उस विकल्प से मुझे लाभ नहीं, ऐसे विकल्प से-शुभविकल्प से मुझे लाभ नहीं। समझ में आया ? आहाहा !

मुमुक्षु : बात मुद्दे की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मुद्दे की बात है। **'अहो, देखो, इस प्रकार ऐसा करना, अहो, और ऐसा, यह इत्यादि'..** यह मार्ग ऐसा है, निर्दोष मार्ग ऐसा है, सम्यग्दर्शन वस्तु ऐसी है, ऐसा उसे कह दे। चारित्र ऐसा निर्मल निर्विकारी होता है। उनके लिए आहार बनाना, उसकी शास्त्र में मनाही है। बनाना नहीं, करना नहीं। बना हो तो मुनि को देना नहीं। समझ में आया ? ऐसा उपदेश देकर भूल जाए, उसी क्षण भूल जाए। आहाहा ! ऐसा उपदेश देकर भी भूल जाए। विकल्प है, पुण्य है, बन्ध है। यहाँ तो अभी कहते हैं उपदेश देने से आत्मा को लाभ होता है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? दूसरे को बचाने का नहीं कहते।

मुमुक्षु : मैंने पूछा था, उसका जवाब नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी तो देर है। अभी आया कहाँ है ? अभी आया नहीं। फिर भूल जाते हैं।

भगवन्! क्या कह रहे हो? पहले थोड़ी बात की, फिर भूल गये। और वापस पूछे, क्या है ? हमारे पास नहीं। भूल जा। **श्रावकादिकों के द्वारा पूछे जाने पर योगी कुछ भी जवाब नहीं देता।** जवाब नहीं देता। क्या हम फुरसत में हैं ? तुम ऐसा बारम्बार पूछते हो। समझ में आया ? पूछे तो जवाब नहीं देते। देखो ! मुनि पूज्यपादस्वामी, वह औषध का बनाया है न ? शास्त्र बनाया है। वैद्य शास्त्र बनाया है। ऐसा कोई विकल्प आ

गया। अन्यमति वैद्य आदि को मानते हों कि हम बराबर हैं, जैन लोग क्या जानते हैं? औषध से कितने रोग मिटते हैं और कितना उपकार होता है, ऐसा कुछ दुनिया में चलता हो तो ऐसा विकल्प आ गया। मुनि जंगल में रहते थे। वनस्पति देखकर ख्याल आ गया कि इसमें यह है। लिख लिया, कह दिया। फिर कोई पूछे कि इसका क्या है? (तो कहे), हमारे पास यह बात है? समझ में आया? वह तो विकल्प आया तो कह दिया। फिर कहे, महाराज! इसका स्पष्टीकरण क्या? उसे कन्दमूल में किस प्रकार प्रयोग करना? चल.. चल..। ऐसा कहते हैं। यह उपदेश दिया और भूल गये। श्रावक कहे, फिर से कहो। हम कुछ फुरसत में हैं? हमें आत्मा का करना है या तुझे उपदेश देने में हमें विकल्प ही करना है? आहाहा! वीतराग का मार्ग! अन्दर वीतरागता उत्पन्न हो, उतना लाभ, बाकी राग उत्पन्न हो, उसमें लाभ नहीं है। लाख बात की बात यह है। पंच महाव्रत के परिणाम से भी आत्मा को लाभ नहीं है। आहाहा! आस्रव है।

मुमुक्षु : सच्चा स्वार्थी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सच्चा स्वार्थी है। पण्डितजी! सच्चा स्वार्थी ही धर्मात्मा है। आहाहा! कहो, मोहनभाई! स्व-अपना प्रयोजन सिद्ध करना है। दुनिया में जो होना हो, वह होओ, रहो, न रहो। दुनिया धर्म समझे, न समझे, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। उसकी योग्यता होगी तो समझेंगे। मेरे विकल्प से मुझे लेप होता है। आहाहा! कहो जमुभाई! क्या करना?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बोले। कहाँ खबर है? यह हमारा धन्धा है? यह हमारा व्यापार है?

मुमुक्षु : .... भाषा .... ज्ञान नहीं होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं कि हमारा ख्याल नहीं। ख्याल नहीं का अर्थ हमारा काम नहीं। जाओ, छूट जाओ। हमारा काम नहीं। हमें तो हमारी एकाग्रता करना, वह हमारा काम है। इसका नाम भाषासमिति है। आहाहा! परद्रव्य की क्रिया से लाभ नहीं और राग के भाव से अपने को लाभ नहीं। चाहे तो पुण्य होओ या शुभ होओ। धर्मात्मा को ऐसी

लगन चिदानन्द में लगी है। आहार (के समय) थोड़ा बोले, पश्चात् भूल जाए। वापस पूछो तो जवाब नहीं देते। इसका कैसे है ? थोड़ा लिखाओ, लिखाओ। तुमने थोड़ी बात की थी, हम भूल गये, लिखाओ। चल.. चल..। लिखना क्या ? अन्दर लिख ले।

मुमुक्षु : चल.. चल.. - ऐसा कहे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चल अर्थात् ? कोई जवाब नहीं देते। चल अर्थात् हमारे पास क्या है ? हमारे पास तो हम वीतरागता का भाव करते हैं, बस ! हमारे में रहना, यही हमारा कर्तव्य और काम है। उपदेश का काम आत्मा का नहीं है। विकल्प का काम आत्मा का नहीं है। शिष्य बनाओ, बहुत शिष्य होवे तो बहुत लाभ है। आत्मा को क्या लाभ है।

मुमुक्षु : धर्म की प्रभावना बहुत होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या बहुत होगी ? उसकी पर्याय में उसे लाभ है, आत्मा को क्या है ? बहुत शिष्य हों तो बहुत लाभ है, ऐसा विकल्प ही मुनि को-धर्मात्मा को नहीं आता। विकल्प आया कि यह दीक्षा ले ले। भूल जाए, राग है। पुण्यबन्ध का कारण है। दूसरा कोई साधु होवे तो उसमें यहाँ क्या लाभ होता है ? ओहोहो ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : धर्म की प्रभावना होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म की प्रभावना यहाँ होती है या बाहर में ? सोगनचन्दजी ! ऐसा है, भगवान ! यहाँ तो भगवान आत्मा प्रभु वीतराग पिण्ड प्रभु है। उसमें एकाग्रता होना, वही धर्म की प्रभावना है। समझ में आया ? कोई विकल्प आ गया, उसे व्यवहार प्रभावना कहते हैं, परन्तु वह तो पुण्यबन्ध का कारण है, उसमें आत्मा को किंचित् लाभ नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? और उससे हजार लोग, लाख लोग धर्म प्राप्त कर गये तो आत्मा को किंचित् लाभ है ? बिल्कुल नहीं। कहो, सोगनचन्दजी ! क्या करना ? कोई साधु चातुर्मास पूरा करके जाए तो कहे, थोड़ा माथु दे। करते हैं न ? भाई ! करते हैं और खबर है न ? थोड़ा प्रत्याख्यान ले लो इतना तो माथु डालो। उसमें तुझे क्या लाभ होगा ? मूढ़ है तेरी दृष्टि के अन्तर में पर में कुछ हो तो तुझे लाभ है ? कोई पर (जीव) त्याग कर दे और कोई त्यागी हो जाए, बहुत व्रत ले ले, तो उससे तुझे लाभ है ? तुझे विकल्प उठा, उससे तुझे नुकसान है। आहाहा ! धीरुभाई ! बहुत मार्ग फेर (अन्तर), भाई ! पूरब-पश्चिम का मार्ग का अन्तर है। आहाहा ! समझ में आया ?

श्रावकादि को थोड़ा कहे। भाई ने तो लिखा है। जघन्य सम्यग्दृष्टि को भी ऐसा होता है। अन्दर राग आवे परन्तु उसकी कर्ताबुद्धि नहीं है। रागुबुद्धि तो फिर कर्ताबुद्धि कहाँ से होगी? और उसमें रुकना कहाँ होगा? रुचि से रुकना कहाँ आया? समझ में आया? पहले ऐसा दृढ़ निश्चय तो करे कि ऐसी वस्तु है, दूसरी वस्तु नहीं।

मुमुक्षु : चश्मा बदलने की आवश्यकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। शास्त्र बनाऊँ, ऐसी पुस्तक बनाऊँ तो लोगों को लाभ होगा। तुझे क्या लाभ है? तुझे विकल्प आया तो पुण्यबन्ध है। पुण्यबन्ध है, बँधता है। उसमें अबन्धपरिणाम नहीं है। ऐई... न्यालभाई!

दोहा – निर्जनता आदर करत, एकांत सुवास विचार।
निज कारजवश कुछ कहे, भूल जात उस बार।।४०।।

जो बन्ध का भाव है, वह तो भूल जाने की चीज़ है। वह रखने की चीज़ नहीं है। आहाहा! उपदेश तो देखो! इष्ट उपदेश। इसका नाम भगवान के मार्ग का उपदेश है। जिस उपदेश में ऐसा कहे कि... उपदेश दो, उपदेश से अपने को लाभ होगा। मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। जैन का उपदेश ऐसा है ही नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : सच्चा उपदेश।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्चा उपदेश है, भाई! आहाहा! लोक में मानो कि हमें पर से लाभ हो जाए। ऐसा थोड़ा-थोड़ा रुकना, हमारे लिए रुक जाओ। रुक जाए तो उसे विकल्प है, बन्ध का कारण है। किसलिए रुके? उत्साह से रुकता है? कमजोरी से आ जाए। कमजोरी के कारण से राग-शुभराग आता है, उसमें लाभबुद्धि नहीं है। उसमें रुकना, ऐसा दृष्टि में नहीं है। आहाहा!

समकिती छियानवें हजार स्त्रियों में स्थित हो, भोग की वासना का विकल्प आया। पश्चात् एकदम अन्दर उतरे, वे दूसरे क्षण निर्विकल्प ध्यान! समझ में आया? वह अशुभ वासना तो कमजोरी के कारण आ गयी, समाधान हुआ नहीं। उसमें सुख मानते नहीं। अशुभ वासना में सुखबुद्धि नहीं है। (वासना) आ गयी, छूट गयी। ध्यान में बैठे (और) आत्मा को स्पर्श कर लिया, आनन्द को स्पर्श कर लिया। क्षण पहले भोग की वासना, क्षण

पश्चात् आत्मा की स्पर्शना! समझ में आया? क्योंकि दृष्टि में उस राग का आदर नहीं था। अशुभराग, जैसे मछली अंगारों में जाये, वैसा अशुभराग है। शुभराग, जैसे मछली जमीन पर आती है, जमीन... जमीन, पानी में से जैसे जमीन पर आवे, वैसा शुभराग का दुःख है। मछली जैसे अग्नि में आवे, वैसा धर्मी को अशुभराग का दुःख लगता है। आहाहा! वीतराग मार्ग यही है, हों! अरे! हमारा धर्म जैसे बाहर में वृद्धि पावे, वैसे तुझे करना, उसका निषेध करते हैं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....बहुत ऐसे पकड़ लिए हैं। पाँच लड़के हैं और दस लाख की पूँजी है। दृष्टान्त दिया। एक व्यक्ति ने पकड़ा कि महाराज यह बात मेरे ऊपर करते हैं। मेरे घर में दस लाख होनेवाले हैं। मैंने तो दृष्टान्त दिया था कि कोई सेठ हो, उसके चार-चार लड़के हों, उसे दस लाख हुए हों और उसे अन्दर से निधान निकला हो। वहाँ उसे ऐसा हो गया कि निश्चित यह मेरे लिए है, निश्चित मैं करूँगा तो मुझे यह होगा। ऐसे के ऐसे।

मुमुक्षु : महापुरुष की कृपा...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दृष्टान्त था। उसमें ले गया। महाराज के मुख में से कुछ भी निकले, कुछ हेतु होता है। लोगों को विश्वास बहुत था न! सम्प्रदाय में विश्वास बहुत था। समझ में आया? महाराज के दर्शन करके संघ को जिमाऊँगा, पाँच-पचास खर्च करूँगा। ऐसा नियम लिया था। ऐसे तो बहुत थे। हमको तो बाद में पता पड़ा कि यह क्या है? यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य बिना कुछ नहीं होता। सेठ! पुण्य के बिना नहीं होता। तुम्हारा असाता का (उदय) मिटे बिना रोग नहीं मिटता। किसी के आशीर्वाद-फाशीर्वाद से नहीं मिटता।

यहाँ तो (कहते हैं), **निर्जनता आदर करत, एकांत सुवास विचार।** एकान्त वास में रहे। जहाँ प्रश्न के उत्तर देना पड़े, उसमें रुकना पड़े, जंजाल में पड़ना पड़े (नहीं), इसलिए एकान्त में रहते हैं। **निज कारजवश कुछ कहे,** स्वयं को कोई कार्य का विकल्प आया, कहना पड़े, बोलना पड़े। बोलना वह तो वाणी है। **भूल जात उस बार।** वह भूल जाता है। उस बात को याद नहीं करता। भगवान को, वीतरागभाव को याद करता है।

भगवान अर्थात् यह वीतरागभाव। ओहोहो! मैं ज्ञायक चिदानन्दस्वभाव, चिदानन्दस्वभाव, चिदानन्दस्वभाव को याद करे, स्मरण करे। यह क्या? विकल्प तो बन्ध का कारण है। ओहोहो! वीतरागमार्ग! समझ में आया? कोई ऐसा कहता है कि अपने को दूसरे का ऐसा नहीं करना कि उसे नहीं मारना। क्योंकि वह जीवे तो, उसका पाप लगेगा, परन्तु अपने को उपदेश देना। भाई! उसे मारना नहीं, किसी को ऐसा करना नहीं। उपदेश देने से अपने को निर्जरा होती है। (ऐसा कहनेवाला) मूढ़ है। उपदेश से निर्जरा किस प्रकार होगी? विकल्प से बन्ध पड़ता है, उपदेश से, वाणी से नहीं। विकल्प आया न? समझ में आया? मुनि को ऐसा कहते हैं, ऐसा पाठ है। कोई मुनि को आहार बढ़ गया हो और दूसरे मुनि यदि आहार खा ले तो उसे निर्जरा हो जाए। ऐसा भगवतीसूत्र में लेख है। हमारे गुरु बेचारे ऐसा करते थे। भोले थे न!

मुमुक्षु : भगवतीसूत्र में निर्जरा कही है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें निर्जरा कही है। किसी साधु को आहार बढ़ गया हो, भिक्षा लेने जाए, वे लोग तो भिक्षा लेने जाते हैं न? तो लापसी लाये थे। उसे खा नहीं सके। बढ़ गयी। हमारे गुरु हीराजी महाराज थे, भद्र थे। स्वयं खाकर तो बैठे थे परन्तु कठिन पड़े तो क्या करे? डाल दो। छाछ डालकर पी गये। क्योंकि शास्त्र में ऐसा आवे कि किसी का बढ़ा हो, खावे तो निर्जरा होती है। अरे! भगवतीसूत्र में ऐसा लेख है।

मुमुक्षु : वह लिखनेवाला...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह लिखनेवाला क्या कहे?

यहाँ तो वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ सन्त का मार्ग ऐसा कहते हैं, सम्यग्दृष्टि का मार्ग ऐसा है कि अपने शुद्ध (स्वरूप में) एकाग्र होना। उसमें कोई शुभविकल्प आ जाए, उसे बन्ध का कारण जानकर भूल जाना। समझ में आया? और निर्दोष आहार-पानी खाने में अपने को निर्जरा होती है, ऐसा माननेवाले मूढ़ हैं। आहार तो जड़ की क्रिया है, उसमें तूने क्या किया? संयम के हेतु से विकल्प आया हो तो वह पुण्य बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : त्याग किया न, ममत्व का त्याग किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो शुभभाव है। दान में शुभभाव हुआ, उसे पुण्यबन्ध हुआ।

शुभभाव हुआ, उसमें क्या हुआ ? अन्तर में एकाग्र होना, वह शुद्धभाव है। आहाहा ! त्याग के ऐसे अर्थ करते हैं। दस प्रकार का त्याग है न ? भाई ! समिति-गुप्ति नहीं ? उस त्याग का ऐसा अर्थ करते हैं ! किसी को शास्त्र देना, वस्त्र-पात्र नहीं परन्तु पुस्तक देना, ज्ञान देना वह त्यागधर्म है, निर्जरा है। पद्मनन्दि पंचविंशति में गाथा में है, अपने व्याख्या हो गयी है। भाई ! ऐसा नहीं है। वह तो विकल्प आया, उसकी बात है। त्यागधर्म तो राग का अभाव होकर स्वभाव में लीनता होना, वह त्यागधर्म है। दूसरे को पुस्तक देना, ज्ञान देना, वह त्यागधर्म है ? निर्जरा है ? बिल्कुल नहीं। आहाहा ! पूरब-पश्चिम का भारी अन्तर, भाई !

पूज्यपादस्वामी... आहाहा ! देखो ! इष्ट उपदेश प्रभु इसे कहा जाता है। दूसरे को या मुनि को ऐसा आहार होना चाहिए,... होना चाहिए, ऐसा विकल्प आया। उसे फिर से पूछे तो भूल जाए। वह विकल्प बन्ध का कारण है। समझ में आया ? दूसरे को उपदेश दिया कोई मनुष्य जाता हो, उसे कहे, भाई ! ऐसा नहीं होता। विकल्प आया। भूल जाए। बन्ध का कारण है, तुझे क्या लाभ है ? वह छोड़े तो तुझे क्या लाभ है ?

मुमुक्षु : भगवान को दृष्टि में रखना वह...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा विकल्प आया, इतना। बन्ध का कारण है। भगवान को विकल्प आया, पार्श्वनाथ भगवान को। राजकुमार थे न, गृहस्थाश्रम में थे, समकिती थे, तीन ज्ञान थे। विकल्प आया, अरे ! क्या करता है ? बस ! जानते हैं कि विकल्प है, वह बन्ध का कारण है। आहाहा ! अभी स्वरूप में मुझे इतनी स्थिरता नहीं है तो मेरी कमजोरी के कारण (विकल्प) आया। कर्ताबुद्धि नहीं, लाभबुद्धि नहीं। आहाहा ! यह वीतरागमार्ग तो वीतरागमार्ग ! एकान्त है, एकान्त है, (ऐसी लोग पुकार करते हैं)। अरे ! सुन न, भगवान ! एकान्त वीतरागता प्रगट करने की ही बात है। एकान्त वीतरागता प्रगट करना। राग-बाग प्रगट करना, वह मार्ग है ही नहीं।

मुमुक्षु : सम्यक् एकान्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, एकान्त है, सम्यक् एकान्त है। पण्डितजी ठीक लेते हैं, हों ! ऐसे पण्डित वृद्ध है, तो भी इन्हें ठीक लगता है। पहले श्रद्धा में तो सत्य लाना चाहिए न ! समझ में आया ? आहाहा ! जिसकी श्रद्धा में ठिकाना नहीं, उसे सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा ?

यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतरागता के पिण्ड प्रभु हैं, तो प्ररूपणा में वीतरागता होने की ही बात आयी है। समझ में आया? राग आया, व्यवहार आता है, व्यवहार अवश्य आता है। वीतरागता पूर्ण न हो तो व्यवहार आता है परन्तु कहते हैं, व्यवहार आया तो भूल जाना, हों! उससे लाभ होगा, यह तो नहीं परन्तु उसे भूल जाना। आहाहा! यह तो पूरे दिन व्यवहार.. आता है न? भाई! 'व्यवहारे धन्धे फँसा' आता है न? 'धन्धे फँसा' योगसार में आता है। 'व्यवहारे धन्धे फँसा' उसी और उसी में। भगवान! तू तो ज्ञान (स्वरूप है)। राग की क्रिया से भिन्न है, ऐसी अपनी क्रिया बिना तुझे लाभ कहाँ है? लाख ऐसा करे या ऐसा करे, चौबीस घण्टे करे, वे सब विकल्प बन्ध का कारण है। समझ में आया?

भूल जात उस बार। ऐसा कहा है न? '**द्रुतम्**' है न? उसी क्षण भूल जाता है। आया, भाव तो आयेगा। शुभभाव है। याद करने की वस्तु नहीं है कि आहा! मानो बड़ा भाव आया, मुझे अच्छा भाव आया। ऐसी वह वस्तु नहीं है। ऐ.. जमुभाई! यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! आहाहा! चिदानन्द ज्ञायकस्वरूप में जितना डोले, एकाकार हो, वही मार्ग है। यहाँ तो आहार देना और आहार लेना, मुनि को आहार देने से संसार परित होगा, (ऐसा लोग कहते हैं)। समझ में आया? सब मिथ्या बात है। अनुकम्पा हुई। अभयकुमार के जीव ने खरगोश की दया पालन की तो संसारपरित हुआ। सब मिथ्या बात है। कपूरचन्दजी! यह सुन लेना। सुनते हैं, बराबर सुनते हैं। पहले दूसरी बात बहुत सुनी है न! तीर्थंकर गोत्र बाँधे, वह लाभदायक नहीं, भाई! यह कहते हैं। उसे क्या लाभ? विकल्प आया। उसमें आत्मा को क्या लाभ? प्रकृति बँधी वह तो जड़ है, उसमें आत्मा में क्या आया?

मुमुक्षु : तीर्थंकर प्रकृति बँधने से मोक्ष होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रकृति से मोक्ष होता है? प्रश्न तो ठीक करते हैं। लोग ऐसा कहते हैं न? इसलिए कहते हैं। वह प्रकृति तो रजकण में, धूल में नामकर्म की प्रकृति पड़ी। उसमें इसका शुभभाव निमित्त पड़ा। उससे इसे क्या लाभ हुआ?

मुमुक्षु : समवसरण होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : समवसरण तो केवलज्ञान होने के बाद होगा। क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का उदय; जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधी है, उस भाव को छेद कर वीतरागता

प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त करेगा, तब तीर्थंकर प्रकृति का उदय आयेगा, तब समवसरण होगा, उसमें आत्मा को क्या ? पर है। तुझे क्या लाभ ? समवसरण हुआ, उसका अर्थ ज्ञान का ज्ञेय है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसके कारण से नहीं, उसकी योग्यता ऐसी है, इस कारण से। उसके कारण से नहीं, वह तो विकल्प है। परद्रव्य में जितना लक्ष्य जाता है, उतना विकल्प है। उसकी योग्यता ऐसी है। वह जीव ऐसा है। भगवान जिसके गर्भ में हो तो माता-पिता अल्प संसारी होते हैं। वे भगवान के कारण से नहीं, उनके (स्वयं के) कारण से हैं। ऐसे ही जीव वहाँ माता-पिता होते है कि जहाँ अल्प भव होते हैं। ऐसी अपनी योग्यता से ही वहाँ है। ऐसे माता के गर्भ में प्रभु आते हैं। वे सीप के मोती। पिताजी तो उसी भव में मोक्ष जाते हैं और माता भी पश्चात् पुरुषवेद में आकर मोक्ष में जाएगी। परन्तु वे तीर्थंकर गर्भ में आये, इस कारण से है, ऐसा नहीं है। उसकी अपनी योग्यता ऐसी थी, तो ऐसा निमित्त तीर्थंकर आ गये।

मुमुक्षु : वे निमित्त हैं उपादान स्वयं का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं का है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : धारी हुई बात ही सब मिथ्या।

पूज्य गुरुदेवश्री : धारी हुई बात मिथ्या होवे तो मिथ्या ही पड़े न ? समझ में आया ? शास्त्र में ऐसा लिखा है कि तीर्थंकर आत्मा जिस माता के गर्भ में आते हैं, वह माता मोक्षगामी.. मोक्षगामी.. मोक्षगामी है। वह भव्य तो है, अल्प काल में मोक्ष में जाएँगी। वह क्या भगवान के कारण से मोक्षगामी है ? स्वयं के कारण से है। ऐसा जीव ही योग्यतावाला है, अल्प संसारी है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यतावाला है। उसमें भगवान आते हैं, बस इतना। समझ में आया ? आहाहा !

मुमुक्षु : यह मार्ग ही अलौकिक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग अलौकिक है। लो, भाई ! अलौकिक मार्ग अर्थात् लौकिक राग और अलौकिक वीतरागता। समझ में आया ? यह ४० गाथा पूरी हुई।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति।।४१।।

अर्थ – जिसने आत्म-स्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है, ऐसा योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता, और देखते हुए भी नहीं देखता।

विशदार्थ – जिसने अपने को दृढ़ प्रतीति का विषय बना लिया है, ऐसा योगी संस्कारों के वश से या दूसरों के संकोच से धर्मादिक का व्याख्यान करते हुए भी नहीं बोल रहा है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि उनको बोलने की ओर झुकाव या ख्याल नहीं होता। जैसा कि कहा है – ''आत्मज्ञानात्परं कार्यं०''

''आत्म-ज्ञान के सिवा दूसरे कार्य को अपने प्रयोग में चिरकाल-तक ज्यादा-देर तक न ठहरने देवे। किसी प्रयोजन के वश यदि कुछ करना पड़े, तो उसे अतत्पर होकर-अनासक्त होकर वाणी व शरीर के द्वारा करे। इसी प्रकार भोजन के लिए जाते हुए भी नहीं जा रहा है, तथा सिद्ध प्रतिमादिकों को देखते हुए भी नहीं देख रहा है, यही समझना चाहिए। फिर-।।४१।।

दोहा – देखत भी नहिं देखते, बोलत बोलत नाहिं।
दृढ़ प्रतीत आतममयी, चालत चालत नाहिं।।४१।।

गाथा - ४१ पर प्रवचन

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति।।४१।।

अर्थ – जिसने आत्म-स्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है,.. भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य का अनुभव हुआ है, दृष्टि हुई है। ज्ञायक चिदानन्द का भान हो गया है। **ऐसा योगी (धर्मात्मा) बोलते हुए भी नहीं बोलता,..** बोलने पर भी नहीं बोलता। वाणी का ज्ञाता है। वाणी का कर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि, अपना ज्ञायक चैतन्य ज्योत प्रभु का लाभ दृष्टि में हुआ है, ज्ञान में अनुभव में आत्मा आया

है। इसके अतिरिक्त वाणी बोली जाती है ? तो कहते हैं, नहीं। बोलते ही नहीं, वह तो मौन है। समझ में आया ?

चलते हुए भी नहीं चलता,.. देह की क्रिया होती है, वह तो जड़ की है। स्वयं नहीं चलता, वह तो जानता है कि होता है। **देखते हुए भी नहीं देखता।** भगवान को देखता है, ऐसे सिद्ध प्रतिमा आदि होवे। नहीं, देखता है तो अपने आत्मा को देखता है। समझ में आया ? आहाहा! वह इसमें है, हों! नहीं ? डोले न, बोले न, उसमें है न ? अधिकार धर्मी जीव, अपना स्वरूप वीतरागस्वरूप का भास हो गया है। मैं तो वीतराग पिण्ड आत्मा हूँ। तो उसे—सम्यग्दृष्टि को...

'जिन्हके हिये मैं सत्य सूरज उद्दोत भयौ, फैली मति किरन मिथ्यात तम नष्ट है।' सम्यग्ज्ञानमति स्फुरित हो गयी है और मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश हुआ है। **'जिन्हकी सुद्दिष्टि मैं न परचै विषमतासौं,...'** विषमता-राग का जिसे आदर नहीं है। समझ में आया ? **'समतासौं प्रीति ममतासौं लष्ट पुष्ट है।'** समता... समता ज्ञातादृष्टा, ऐसे स्वभाव में जिसे रुचि और प्रीति है। **'ममतासौं लष्ट पुष्ट है।'** धर्मात्मा ममता के विकल्प से विरुद्ध हैं। वह ममता मेरी वस्तु नहीं, मुझे नुकसान कारक है, तो उसकी प्रीति नहीं। **'जिन्हकै कटाक्षमैं सहज मोखपंथ सधै,..'** बनारसीदास कहते हैं, देखो! आत्मा ज्ञायक चिदानन्द राग-विकल्परहित, मनरहित, वाणीरहित, देहरहित का सम्यग्दर्शन का भान हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि। **'जिन्हकै कटाक्षमैं..'** जिनकी ज्ञान की एकाग्रता की कटाक्ष में। **'सहज मोखपंथ सधै,..'** मोक्ष का पंथ तो स्वाभाविक रीति से सधता है। ज्ञान की एकाग्रता के सहज कटाक्ष में मोक्षमार्ग प्रगट होता है, संवर-निर्जरा हो जाती है। समझ में आया ?

'मन कौ निरोध जाके तनकौ न कष्ट है..' सम्यग्दृष्टि को मन का तो निरोध है। मन मुझमें नहीं, विकल्प मुझमें नहीं। **'तनकौ न कष्ट है।'** समकिती को शरीर का कष्ट नहीं है। **'तिन्हकै करमकी कलोलै यह है समाधि..'** विकल्प उठता है, वह समाधि है। क्योंकि विकल्प टल जाता है और शान्ति, एकाग्रता होती है। समझ में आया ? विषयभोग भी समाधि है। आहाहा! विकल्प जाल उठता है, उससे भेद करके अपने भिन्न तत्त्व को

पहिचानता है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में हो तो भी। '**तिन्हकै करमकी कलोलै यह है समाधि..**' आहाहा! क्योंकि राग का आदर नहीं और अन्दर शान्ति का आदर है। अतः राग को छोड़कर एकाग्र होता है।

'**डोलै यह जोगासन...**' डोले-चले। चले तो भी वह योगासन में है। '**डोलै यह जोगासन..**' क्योंकि जड़ की क्रिया हिलता-चलता है, हमारे क्या? यहाँ आया न? आया या नहीं? **बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता,..** जड़ की क्रिया होती है, मैं कहाँ बोलता हूँ? और मैं कहाँ चलता हूँ? मैं तो जहाँ हूँ, वहाँ हूँ। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, वहाँ हूँ। चलने की क्रिया में मैं आया नहीं, बोलने की क्रिया में मैं आया नहीं। मैं बोला, मैं चला—ऐसा है नहीं। आहाहा! देखो! वीतरागमार्ग! जिसे गणधरों ने पसन्द किया, इन्द्रों ने माना, समझे? मुनियों ने अनुभव में लिया। सम्यग्दृष्टि ने इसे अन्तर में स्वीकार किया। आहाहा! समझ में आया?

'**डोलै यह जोगासन बोलै वह मष्ट है।**' बोले वह मौन है। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि धर्मी बोले, वह मौन है। क्योंकि मौन के विकल्प में मैं आया नहीं तो वाणी में मैं कहाँ से आया? आहाहा! असंगस्वरूप! राग का संग नहीं तो वाणी, शरीर का संग उसमें कहाँ है? ऐसी दृष्टि में कहते हैं, देखो न! '**डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है।**' समझे? दूसरा कहीं है। '...मन्दिर में' निर्जरा अधिकार का २९वाँ श्लोक है।

दूसरा एक है, २८४ पृष्ठ। देखो! ज्ञानी जीव चाहे घर में रहे, चाहे वन में रहे, मोक्षमार्ग साधता है।

जिन्हकैं सुमति जागी भोगसौं भये विरागी,
परसंग त्यागी जे पुरुष त्रिभुवन में।

अपने शुद्ध संग में पड़ा है। राग का संग भी जिसे अन्तर में है नहीं।

जिन्हकैं सुमति जागी भोगसौं भये विरागी,
परसंग त्यागी जे पुरुष त्रिभुवन में।
रागादिक भावनिसौं जिनिकी रहनि न्यारी,
कबहूं मगन ह्वै न रहै धाम धनमैं॥

शुभराग से जिसकी रहनी-स्थिरता न्यारी-भिन्न है। जिसका आसन भिन्न है।

कबहूं मगन ह्वै न रहै धाम धनमैं॥

धन के मकान और धन में समकिती कभी मग्न नहीं होता। आहाहा! छह खण्ड का राज्य पड़ा हो तो धन और मकान में मग्न नहीं है।

जे सदैव आपकौं विचारैं सरवांग सुद्ध,
जिन्हकै विकलता न व्यापै कहूं मन मैं॥
ते मोख मारग के साधक कहावैं जीव,
ते मोख मारग के साधक कहावैं जीव,
भावै रहौ मंदिर मैं भावै रहौ वन मैं॥१६॥

जो गृहस्थाश्रम में हो तो भी वह अपने निराले तत्त्व को देखता है। वह राग को, भोग को, शरीर की क्रिया, इन सबसे मैं निराला हूँ। निराले का साधन वहाँ भी होता है। चाहे वन में जाए तो भी निराला साधन होता है। देखो! है न? चाहे घर में रहे, चाहे वन में रहे। पर का तो जहाँ सम्बन्ध ही नहीं। अपने शुद्ध चैतन्य के साथ राग का सम्बन्ध नहीं, विकल्प का सम्बन्ध नहीं। विकल्प भी अपने शुद्ध चैतन्य सूर्य से भिन्न तैरता है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधा, वह भाव भी अपने स्वरूप से भिन्न तैरता है। आहाहा!

मुमुक्षु : जाति ही अलग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाति ही अलग है, भात अलग है, फल अलग है, काम अलग है, सब। समझ में आया? यह कहते हैं कि जिसने आत्मस्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त की है, उन मुनि को विशेष स्थिरता है। बहुत स्थिरता है। समकिती को थोड़ी स्थिरता है, परन्तु है असंग। अब यहाँ तो कहते हैं व्यवहार करना। ऐसा व्यवहार करके ऐसा होगा। शरीर की क्रिया से धर्म होता है। सजीव शरीर से, जीवित शरीर से। पर की दया पालने से धर्म होता है। अरे! भगवान! तुझे कहाँ होगा? भाई! इस तेरे परिणाम का नुकसान बहुत कठिन है, भाई! ऐसे परिणाम का फल इस समय भी दुःखदायक है। बहुत कठिन पड़ेगा। समझ में आया? भगवान ऐसी चीज़ नहीं है, हों! आहाहा! तेरी चीज़ तो प्रभु! रागरहित है, देहरहित है। तू राग और देह की क्रिया से लाभ मानेगा तो भगवान! तुझे बहुत नुकसान

होगा। श्रद्धा में आत्मा को नास्तिरूप कर दिया है और राग तथा शरीर की क्रिया को अस्तिरूप कर दिया है। आहाहा! समझ में आया? तो कहते हैं...

मुमुक्षु : लाभ तो नहीं माने परन्तु अपने से होवे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या होवे? वह ज्ञानी तो ज्ञाता हो गया। वह राग देह की क्रिया से होवे तो वह उसके कारण से होता है। मुझे क्या? उससे मुझे लाभ है? उस शुभयोग से मुझे सम्यग्दर्शन होता है, देह की क्रिया से मुझे धर्म होता है, भगवान को भी देह की क्रिया से निर्जरा हुई। अरे! भगवान! आहाहा! तेरा अस्तित्व, वह तूने कहाँ लगा दिया? आहाहा!

आचार्य महाराज पूज्यपादस्वामी दिगम्बर सन्त मुनि वनवासी... वनवासी सन्त, पुकार करते हैं कि अहो! जहाँ राग से, पर से पृथक् अपने आत्मा का भान, दर्शन, ज्ञान स्थिरता हुई, बोले तो भी नहीं बोलता; चले तो भी नहीं चलता; देखे तो भी नहीं देखता। यह चीज़... जगत से है। इसकी बात की है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४६ गाथा-४१ मंगलवार, दिनाङ्क २४-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल ४, वीर संवत् २४९२

पूज्यपादस्वामी ने यह इष्टोपदेश बनाया है। इसका स्वरूप यहाँ ४१वीं गाथा में कहते हैं, देखो।

विशदार्थ – जिसने अपने को दृढ़ प्रतीति का विषय बना लिया है,.. पहली बात। जिसे आत्मा का हित करना है, आत्मा का आनन्द प्राप्त करना है, उसे आत्मा की दृढ़ प्रतीति द्वारा पहले आत्मा को विषय बना लेना चाहिए। क्या कहते हैं? यह आत्मा एक समय में आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप है। जिसे आत्मा का लाभ लेना हो, धर्म करना हो, सुखी होना हो तो उसे आत्मा को दृढ़ प्रतीति का विषय बनाना चाहिए। समझ में आया? श्रद्धा-ज्ञान में आत्मा को ऐसा दृढ़ प्रतीति में लेना चाहिए कि मैं तो ज्ञान

और आनन्द हूँ। मेरी वस्तु में शुद्धता और परिपूर्णता भरी है। आत्मा को ऐसी दृढ़ प्रतीति का विषय बनाना चाहिए। वह इसका पहला हित का कार्य है। समझ में आया? देखो! उसमें पहले यह करना, ऐसा नहीं कहा। व्यवहार पहले करना, निमित्त मिलाना, (ऐसा नहीं कहा)।

भगवान आत्मा एक समय में चैतन्यबिम्ब ज्ञायकस्वरूप पड़ा है, उसे इसकी प्रतीति में-दृढ़ प्रतीति का विषय बनाना चाहिए। इसकी श्रद्धा का विषय आत्मा होना चाहिए। समझ में आया? विश्वास का विषय आत्मा होना चाहिए। मैं आत्मा आनन्द और शुद्ध हूँ, ऐसा विश्वास का विषय बनाना चाहिए। जिसे धर्म करना हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति करनी हो तो उस सम्यग्दर्शन का विषय आत्मा को बनाना चाहिए। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा योगी.. धर्मी। अपना स्वरूप परिपूर्ण शुद्ध आनन्द और ज्ञान ही हूँ; मेरी वस्तु पर में नहीं और पर मुझमें नहीं। स्वभाव की ऐसी दृढ़ प्रतीति करता है, उसे ऐसा नहीं रहता कि पर में फेरफार करना या पर से मुझमें फेरफार होना, यह नहीं रहता। बहुत यह तो एकदम अन्तर के हित का पन्थ है। बहुत थोड़े शब्द में महान पदार्थ का परमार्थ स्वरूप बताया है। समझ में आया?

ऐसा योगी... धर्मी। मुझे तो मेरा काम करना है। काम करने का अर्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उसका आश्रय तो द्रव्यस्वभाव है। समझ में आया? कर्म को भूल जाए कि कर्म आये हैं और वैसा है, यह कुछ है ही नहीं। यह मुझमें है ही नहीं। मुझे यह कर्म आदि, शरीर आदि दखल करते हैं, ऐसा मुझमें है ही नहीं। आहाहा! पहले विश्वास, श्रद्धा, रुचि, प्रतीति (करना)। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, उसे ध्येय बनाकर अपना कार्य करने के लिए स्वभाव की अभिमुखता कभी छोड़ना नहीं। समझ में आया?

संस्कारों के वश से.. कुछ राग के कारण, जैसे दारिद्रयता आ जाए तो उसे कोई चाहता है? मृत्यु आवे, उसे कोई चाहता है? इसी प्रकार कोई निर्बलता के कारण कोई राग आता है, तो उस कारण राग में जरा जुड़ता भी है, परन्तु भला नहीं जानता। **दूसरों के संकोच से धर्मादिक का व्याख्यान करते हुए..** ऐसा संयोग हुआ कि व्याख्यान करना

पड़े, उपदेश देना पड़े। तो कहते हैं **(व्याख्यान करते) हुए भी नहीं बोल रहा है,..** उस समय उसकी अभिमुखता उसमें (बोलने में) नहीं है।

मुमुक्षु : बोलने में संकोच करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : संकोच अर्थात्? संकोच का अर्थ पर्याय में उसकी योग्यता ऐसी है कि दूसरा कहता है कि तुम हमें उपदेश दो, तो ऐसा राग आ जाता है। वह संकोच है। समझ में आया? धर्म लोभी प्राणी को देखकर अपने में अपनी कमजोरी के कारण से राग आया तो राग से धर्मादि उपदेश हो जाओ तो हो जाओ। वह नहीं बोलता, क्योंकि धर्मी जीव को दृढ़ प्रतीति का विषय तो आत्मा है, तो बोलने का और राग का स्वामी नहीं है, उनकी अभिमुखता नहीं है, उनकी सन्मुखता नहीं है; सन्मुखता तो स्वभावसन्मुख है। समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द पिण्ड सिद्धस्वरूप प्रभु, धर्मी जीव को श्रद्धा में तो उसकी सन्मुखता है और रागादि आ जाए और धर्म-उपदेश भी हो, तो भी उसकी विमुखता है; अभिमुखता नहीं। आहाहा! समझ में आया? विकल्प आया, वह दोष आया। जैसे दरिद्रता की कोई इच्छा करता है? वैसे ही राग आया तो उसकी भावना करता नहीं।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति की सन्मुखता का भाव हुआ है, परन्तु उसमें रह नहीं सकते और ऐसा विकल्प आ जाए तो ऐसा समझना कि वे बोलते ही नहीं है। बोलते होने पर भी बोलते नहीं, क्योंकि उनके अभिप्राय में उसका स्वामीपना नहीं है। आहाहा! समझ में आया? धर्मी की डोर अपने शुद्ध स्वभाव के सन्मुख उसकी डोर लगी हुई है। परसन्मुख की अभिमुखता विकल्प से आ जाए तो अभिमुखता, वह सन्मुखता ठीक है— ऐसा अन्तर रुचि में नहीं होता। इस कारण से बोलते होने पर भी बोलते नहीं। आहाहा! **ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि उनको बोलने की ओर झुकाव..** मैं बोलूँ, ऐसे विकल्प की ओर भी उनका झुकाव नहीं है। आहाहा! समझ में आया? दृष्टि में, ज्ञान में जहाँ अपने निधि देखते हैं, वहाँ अपना-धर्मी का झुकाव है, झुकाव है, अभिमुखता है, ख्याल है। समझ में आया? रतिभाई! गजब बात, भाई! आहाहा!

जिसमें से—आत्मा में से आनन्द-माल निकलता है, ऐसी चीज़ आत्मा प्रतीति का

दृढ़ विषय हो गया तो उसकी सन्मुखता में बहुत रुचि से, प्रेम से परिणमता है और ऐसा कोई बोलने आदि का विकल्प आ जाए तो भूल जाता है। अर्थात् बोलता है तो भी नहीं बोलता। क्योंकि झुकाव नहीं है। संस्कृत में है। '**तत्राभिमुख्याभावात्**' आहाहा! गाथा बहुत अलौकिक है। धर्मी को व्यवहार का, दया, दान का विकल्प आ जाए तो भी उसकी अभिमुखता नहीं है, उसकी सन्मुखता नहीं है, उसका आदर नहीं है, उसका स्वामी नहीं है, उसमें हितबुद्धि नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

बोलने की ओर झुकाव या ख्याल नहीं होता। जैसा कि कहा है.. समाधि शतक का श्लोक है।

आत्मज्ञानात्परं कार्य, न बुद्धौ धारयोचिरम्।
कुर्यार्धवशात्किंचिद्रावक्कायाभ्यासतत्परः॥

आत्म-ज्ञान के सिवा.. ओहो! धर्मी जीव ने निधान देखा है तो नजर वहाँ ही रहती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जंगल में दिशा (दस्त करने) को गया हो और पाँच करोड़, पाँच अरब का कलश मिल गया, लक्ष्य में आ गया.. समझ में आया? कोई न देखे, ऐसा ढाँक दे और यहाँ आवे परन्तु उसका लक्ष्य वहाँ है। कब निकालूँ? कब निकालूँ कोई आवे नहीं, उससे पहले मैं निकाल लूँ। समझ में आया? ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव ने अपने शुद्ध आत्मा का निधान श्रद्धा-ज्ञान में देखा है। मैं ही अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, प्रभुता का पिण्ड मैं ही आत्मा हूँ। उसमें एकाग्र होकर उसकी दशा कब प्रगट करूँ, ऐसी सन्मुखता धर्मी को आत्मसन्मुख रहती है। कहो, वजुभाई!

मोह ने जगत को मार डाला है। यह करना और यह करना और यह करना। समझ में आया? क्या कर सकते हैं। प्रभु! एक रजकण, आँख की पलक भी ऊँची-नीची होती है, वह तेरे अधिकार की बात नहीं है। वह तो जड़ के परमाणुओं की गति होने की योग्यता से गति होती है। समझ में आया? और विकल्प, राग उठता है, वह भी उसके काल में, उसके समय में ऐसा उपाधि भाव कमजोरी के कारण होता है, (परन्तु) उसका आदर नहीं है। शुभभाव दया, दान, भक्ति आदि का भाव आया, छूट गया, उसका आदर नहीं, कर्ता

नहीं, भोक्ता नहीं। आहाहा! धर्मी की शर्तें (कठिन है)। सम्यग्दृष्टि की शर्त में आत्मा वर्तता है। उसकी शूरता में आत्मा वर्तता है। समझ में आया? इसके अतिरिक्त ऐसा विकल्प आवे तो **आत्म-ज्ञान के सिवा दूसरे कार्य को अपने प्रयोग में चिरकाल-तक ज्यादा-देर तक न ठहरने देवे।** आ जाए अवश्य, शुभराग भी आ जाए, अशुभराग तो बहुत थोड़ा आता है, शुभराग आ जाए तो भी लम्बे समय तक रखता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : पूरी जिन्दगी व्यवहार पालता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पाले? भगवान! इसे खबर नहीं। प्रभु! तेरी निधि में.. आहाहा! परिपूर्ण परमात्मा चैतन्य ज्योत विद्यमान है। उसमें करना क्या है? समझ में आया? क्या पंच महाव्रत को पालना? वह तो व्यवहारनय का कथन है। उस समय में आते हैं, इस कारण से (कहा है)।

मुमुक्षु : है तो सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : है सही तो, इनकार कौन करता है? है तो स्वामीरूप से है? करनेयोग्य है, ऐसा है? हितकर है? अपने स्वरूप में से है? उसके स्व आश्रय से राग उत्पन्न हुआ है? धन्नालालजी! पण्डितजी! आहाहा!

भगवान तेरी वस्तु की दृढ़ प्रतीति स्वभाव में पहले करना और उस स्वभाव की दृढ़ प्रतीति हुई तो स्वभाव की सन्मुखता के अतिरिक्त उसे कोई बात रुचती नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया?

अपने प्रयोग में चिरकाल-तक... प्रयोग में अर्थात् वह राग आ गया। शुभ आया, कोई दया का, कोई दान का, कोई उपदेश का, कोई भक्ति का, कोई तीर्थयात्रा का आया, तो हो। पश्चात् **ज्यादा-देर तक न ठहरने देवे।** अपने ज्ञायकस्वभाव की दृढ़ प्रतीति हुई है कि में तो ज्ञायक आनन्द चैतन्य हूँ। समझ में आया? उस समय आनेवाला राग आया, टिकने नहीं देता। स्व-सन्मुख होकर उसको छोड़ देता है। समझ में आया? आहाहा! गजब मार्ग, भाई!

मुमुक्षु : टिकने नहीं देता तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : स्व-स्वभावसन्मुख होकर छूट जाता है। तोड़ता भी नहीं। छूट

जाता है, छोड़ता भी नहीं। स्वभावसन्मुख होवे तो उत्पन्न नहीं होता, उसे छोड़ता है, ऐसा कहने में आता है। भाई! वस्तु तो ऐसी है। समझ में आया?

ओहो! अपना ज्ञायक चैतन्यभगवान भण्डार! महा भगवान! चैतन्य भगवान! - ऐसा जिसकी प्रतीति में, श्रद्धा में, भरोसे में आत्मा चढ़ गया है, (उसे) भगवान भरोसे में आ गया है। समझ में आया? उसे रागादि आते हैं तो उनकी अभिमुखता / सन्मुखता होती नहीं। हेयबुद्धि से होकर वे भाव छूट जाते हैं।

मुमुक्षु : पहले निश्चय है या व्यवहार?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले निश्चय कहा न।

मुमुक्षु : पहले व्यवहार है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या व्यवहार आया? कहाँ व्यवहार कहा? यह बात तो कल बहुत की थी। स्वाश्रय के बिना पराश्रय का व्यवहार कहे कौन? निश्चय स्वाश्रय है, पर्याय पराश्रय है। व्यवहार का लक्ष्य परसन्मुख है, निश्चय का लक्ष्य स्वसन्मुख है, तो पहले परलक्ष्य करे तो फिर स्वलक्ष्य हो, ऐसा है? समझ में आया? ऊपर चढ़ना हो, दादर.. दादर कहते हैं न? मंजिल। तो पहले भोंयरे उतरे तो मंजिल चढ़ सके, ऐसा है? भोंयरा समझते हो? बीच में कमरा हो, नीचे भोंयरा हो और ऊपर मंजिल हो। किसी को ऊपर चढ़ना है, तो पहले नीचे उतरने के बाद ऊपर चढ़ेगा, ऐसा है? इसी प्रकार भगवान एक समय में अन्तर्मुख चिदानन्द परमात्मा विराजमान है... (उसका लक्ष्य करने में पहले परलक्ष्य करना, ऐसा है?) थोड़े नजदीक आओ, भाई! बाहर थोड़ी धूप है। आहाहा!

बात यह है कि धर्म करना है, परन्तु धर्मी कैसी वस्तु है, उसकी प्रतीति में आयी नहीं तो धर्म करेगा कहाँ से? समझ में आया? बहिर्मुख की वृत्ति तो अनादि से है ही। बहिर्मुख की वृत्ति, राग की मन्दता, भक्ति-पूजा आदि तो अनन्त बार किये हैं, तो बहिर्मुख होवे तो अन्तर्मुख होगा, ऐसा सिद्धान्त नहीं है। भोगीभाई! भाई! वस्तु की स्थिति ऐसी नहीं है।

भगवान आत्मा अन्तर्मुख परमात्मा निजस्वरूप है, तो जहाँ अन्तर्मुख आश्रय किया, श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति अन्तरविषय बनाकर हुए, (पश्चात्) राग है, उसे व्यवहार हो, पराश्रय

भाव रहा है, जब तक स्वाश्रय पूर्ण न हो, जब तक स्वाश्रय पूर्ण न हो, तब तक पराश्रयभाव है। पहले स्वाश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्रगट किये हैं, परन्तु पूर्ण चारित्र की स्थिति स्व-आश्रय से पूर्ण न हो, तब तक चारित्र की विपरीतता में पराश्रय का राग आये बिना नहीं रहता। उसे व्यवहार कहते हैं। समझ में आया?

श्रद्धा-ज्ञान का विषय तो स्व भगवान आत्मा परिपूर्ण वस्तु है। श्रद्धा-ज्ञान तो हुए, स्वरूप का आश्रय लेकर चारित्र भी थोड़ा हुआ। उस स्व आश्रय में पूर्ण एकाग्रता नहीं है, चारित्र पूर्ण नहीं है, तो उस चारित्र में से एक भाग विपरीतता—राग, पराश्रय का भाव उत्पन्न होता है, उसे परसमय कहते हैं, व्यवहार कहते हैं, पराश्रयभाव कहते हैं, उपाधि कहते हैं, उसे बन्ध का भाव कहते हैं, तो पहले बन्ध का भाव और फिर मोक्ष का भाव, ऐसा है नहीं। बन्ध भाव का भाव तो अनादि से है।

मुमुक्षु : व्यवहार अकेले दोष के ही अर्थ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पराश्रय में दोष के ही अर्थ में है। हाँ, परन्तु स्व आश्रय दृष्टि हुई, वहाँ पूर्णता स्व आश्रय में न हो, तब तक व्यवहार पराश्रय का भाव आये बिना नहीं रहता। उसे व्यवहार कहते हैं। उसका उत्साह नहीं होना चाहिए। ऐसा कहते हैं। उसका उत्साह नहीं होना चाहिए कि आहा! मुझे व्यवहार आया, मुझे आया व्यवहार।

मुमुक्षु : वहाँ तो प्रयोजनवान कहा था...

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या प्रयोजनवान? जाना हुआ प्रयोजनवान कहा था। आदरणीय प्रयोजनवान नहीं कहा था। बारहवीं गाथा है न? जाना हुआ प्रयोजनवान है, भगवान, बापू! तेरी ऋद्धि ऐसी है, भाई! उसकी ऋद्धि की खबर नहीं, इसलिए ऋद्धिरहित बाहर की वस्तु में झपट्टे मारता है। मानो यह करूँ, यह करूँ, यह करूँ। भाई! यह कर-करके तो तेरी जिन्दगी अनन्त काल गया। समझ में आया?

अपनी स्वचैतन्यमूर्ति... स्व आश्रय वह निश्चय-नहीं आता? आता है? समयसार बन्ध अधिकार में आता है। जहाँ निश्चय और व्यवहार का प्रकरण चला है वहाँ। 'स्वाश्रयो निश्चय' अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। आता है न? वजुभाई! यह तो अपने समयसार बहुत प्रचलित है न, इसलिए... उसमें... अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं)। 'स्वाश्रयो

निश्चय, पराश्रयो व्यवहार:' इसका अर्थ क्या है ? पहले अकेला पराश्रय करे तो स्व आश्रय हो, ऐसा है ?

मुमुक्षु : लोग मानते तो हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : माने तो अनादि से मानते हैं। अपनी निधान की वस्तु की दृष्टि नहीं। मानो तो अनादि काल से मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया ? यह तो कल कहा था न ? समयसार ४१३ गथा.. अनादिरूढ़, व्यवहारमूढ़, निश्चय अनारूढ़—ऐसे तीन शब्द पड़े हैं। भगवान आत्मा निश्चय का स्व-आश्रय हुए बिना व्यवहार के राग को व्यवहार जाननेवाला कौन रहा ? वह तो अनादिरूढ़ व्यवहार है, मूढ़ है। अनादिरूढ़ व्यवहार मूढ़, वह पहले होता है, उसके पश्चात् निश्चय (होता है)-ऐसा है ? समझ में आया ? क्या कहा ? अनादिरूढ़ व्यवहारमूढ़ पहले और फिर निश्चय आरूढ़ (-ऐसा है) ?

मुमुक्षु : व्यवहाराभास है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहाराभास है; व्यवहार है ही नहीं। समझ में आया ? व्यवहार तो कब कहलाता है ? निश्चय होवे तो साथ में व्यवहार पराश्रय राग रह गया, उसे व्यवहार कहते हैं। है, वह बन्ध का कारण। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आता है; देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि आते हैं, परन्तु है बन्ध का कारण ? स्व-आश्रय ही मुक्ति का कारण है। समझ में आया ? गजब, भाई परन्तु! इसे चैतन्य का माहात्म्य (आया नहीं)। कुछ न कुछ पराश्रयभाव होवे तो मेरा आत्मा खुलेगा... आहाहा! कुछ न कुछ पराश्रय मेरी दृष्टि पर के ऊपर होवे तो मेरी दृष्टि अन्तर्मुख होगी। इसका अर्थ क्या ? आहाहा! समझ में आया ? बहुत सीधी और सरल बात है, परन्तु लोगों ने विपरीत कर डाली है।

मुमुक्षु : स्वाश्रय निश्चय, पराश्रय व्यवहार, एक समय की पर्याय में है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों एक समय में है, एक समय में है। स्व का आश्रय लेकर जितने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए, वह संवर-निर्जरा है। उसी समय में पूर्ण स्व-आश्रय नहीं है, पराश्रय रहता है, राग है, पराश्रय है, एक साथ में है। वह तो छुड़ाया है। भगवान ने पराश्रित व्यवहार छुड़ाया है। आचार्य ने बन्ध अधिकार में नहीं कहा ? भगवान जब पर के जीवन-मरण, सुख-दु:ख नहीं कर सकता, ऐसे अध्यवसान को छुड़ाया है तो आचार्य

कहते हैं कि हम तो ऐसा जानते हैं कि भगवान ने जब परद्रव्य की क्रिया करना या हिंसा आदि छोड़ना, ऐसा अध्यवसान छुड़ाया है तो हम तो जानते हैं कि पराश्रित समस्त व्यवहार ही छुड़ाया है। पराश्रित समस्त व्यवहार ही छुड़ाया है अर्थात्? कि पर की क्रिया करने का अध्यवसाय से मानता है, वह तेरी मिथ्या बात है। हम तो ऐसा मानते हैं कि भगवान ने पराश्रय की सन्मुखता ही छुड़ाई है। समझ में आया? आता है या नहीं? आचार्य अमृतचन्द्राचार्य स्वयं कहते हैं।

मुमुक्षु : परन्तु पहले होवे, उसे कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पहले होवे अर्थात् क्या? उसका अर्थ क्या? स्व आश्रय हुआ तो पराश्रयभाव है। नहीं है? स्वाश्रय पूर्ण हो गया? दृष्टि हुई है, उसमें स्वाश्रय आत्मा का भान हुआ, तो उस समय में उसकी स्थिरता पूर्ण हो गयी? स्थिरता पूर्ण नहीं होती। जितना पराश्रय रहता है, उतना राग आये बिना नहीं रहता। साथ में है। नैगमनय से कथन है कि राग कारण और वीतराग कार्य, ऐसा परमात्मप्रकाश में कैसे कहा? पहले राग है, विकल्प है और पश्चात् निर्विकल्पता, ऐसा कैसे कहा? राग कारण और वीतरागता कार्य है नहीं, परन्तु राग का लक्ष्य छोड़कर अन्तर वीतरागता-स्व के आश्रय से प्रगट की तो पूर्व के राग को नैगमनय से कारण कहने में आता है। वह तो पूर्व की बात हुई। यह तो हुआ, स्व आश्रय हुआ। स्व आश्रय पूर्ण नहीं, पराश्रय रहता है, उसका नाम व्यवहार है। बस! एक साथ है। एक छूटने का उपाय और एक बँधने का कारण। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों साथ चलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों साथ हैं न? कर्मधारा, ज्ञानधारा। पुण्य-पाप अधिकार में आता है न? स्वरूप की एकाग्रता की धारा भी चलती है और जितनी कमजोरी है, उतना शुभराग भी चलता है। कर्मधारा है, बन्धधारा है। पण्डितजी! आता है या नहीं?

मुमुक्षु : ज्ञानधारा, कर्मधारा साथ में रहती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : साथ चलती है। कर्मधारा साथ चलती है, उसमें आत्मा का आश्रय है? उससे लाभ है? आहाहा! अरे..! परन्तु क्या हुआ? इसे चैतन्यवस्तु की महिमा ही नहीं है। इसे यह राग है, राग आया न? वास्तव में तो राग परद्रव्य है, निश्चय में स्वद्रव्य

है ही नहीं। समझ में आया ? (ऐसा कहे), परद्रव्य है न ? परद्रव्य है न ? परन्तु परद्रव्य है तो तू स्वद्रव्य है ? समझ में आया ? व्यवहार है तो निश्चय है ? ऐसा है ही नहीं। यह एक अंगुली है तो दूसरी अंगुली है ? दोनों अपने-अपने से है। व्यवहार है तो निश्चय है ? ऐसा है ही नहीं। निश्चय अपने स्वाश्रय से होता है, व्यवहार पराश्रय से होता है। दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न है। समझ में आया ? एक समय में दोनों भिन्न वस्तु है। ओहोहो!

मुमुक्षु : ऐसा कहा न कि दोनों नयों को छोड़ना नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ना नहीं, इसका अर्थ वह नहीं है, ऐसा नहीं मानना, ऐसा। राग है, भेद है, ऐसा नहीं मानना, ऐसा नहीं है। जानो कि है, इतना। आदर (द्रव्य का) है, ऐसा जानना। समझ में आया ? व्यवहारनय की श्रद्धा-'है' इतना जानो, परन्तु छोड़ने योग्य है ऐसा जानना।

मुमुक्षु : तो तीर्थ का नाश हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ गुणस्थान भेद है, वह व्यवहारनय का विषय है। वह रहा नहीं। चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ अथवा सम्यग्दर्शन की पर्याय भेद है, व्यवहार है, वही व्यवहार हुआ। त्रिकाल निश्चय हुआ तो एक समय की सम्यग्दर्शन की पर्याय व्यवहार है। एक समय की पर्याय व्यवहार है। पर्याय का नाश होता है तो तीर्थ रहता नहीं। समझ में आया ? गजब बात, भाई! अरे! तेरे... आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, **दूसरे कार्य को अपने प्रयोग में चिरकाल-तक ज्यादा-देर तक न ठहरने देवे।** आहाहा! पराश्रितभाव भी अधिक समय न रहने दे। अभिमुखता स्वरूप... स्वरूप... स्वरूप... स्वरूप (की ओर रहे)। आहाहा! अभिमुखतास्वरूप... समझ में आया ? एक पुस्तक पढ़ने की रट लगी हो और दो-पाँच पृष्ठ रह गये हों। पढ़ते.. पढ़ते.. पढ़ते, उसमें पिताजी बुलावे, जाना पड़े, परन्तु... आहाहा! कैसा काम होगा ? थोड़े में निपट जाएगा ? शीघ्र निपट जाए ऐसा होगा ? क्या होगा ? मुझे तुरन्त पढ़ना है। ऐसा होता है या नहीं ? अजितप्रसादजी! कथा होवे न ? कथा पढ़ते-पढ़ते दो पृष्ठ रह गये हों, सौ से डेढ़ सौ पढ़ लिये हों, वहाँ पिताजी बुलावे, ऐ.. लखु! अन्दर यह पूरा करके अभी पाँच मिनिट में (आना), बुलावे तो वहाँ पढ़ लूँ, ऐसा नहीं चलता, सत्ताप्रिय बाप हो। इसे उठना

ही पड़े, वह पुस्तक रखकर। ऐसा भागे। इसका लक्ष्य वहाँ है, हों! वह जाए भले, इसके मन में है कि शीघ्रता से काम हो जाए, ऐसा साधारण काम सौंपे तो शीघ्र हो जाए, शीघ्र हो जाए, थोड़े काम में हो जाए, ऐसी भावना है या नहीं? समझ में आया?

इसी प्रकार भगवान आत्मा अपनी शुद्ध श्रद्धा का ध्येय आत्मा को बनाया है। उसमें से निकलकर जरा रागादि आते हैं, वे शीघ्र अल्प काल में छूट जाएँ, अल्प काल में छूट जाएँ तो मैं मुझमें एकाग्र हो जाऊँ। ऐसी लगन धर्मी को लगती है। आहाहा! कहो, मोहनभाई! धर्मी.. बापू! आहाहा! रंग लगा अन्दर से प्रभु का, वह रंग छूटता नहीं। समझ में आया? 'ए रंग साना रे, बीबे बीजी भातुं पड़े' लकड़ी का बीबा होता है न? बीबा नहीं होता? छापने का। वह बराबर कोतरे हो तो छाप पड़े। बूटा होवे तो लोचा पड़े। समझ में आया?

मुमुक्षु : कपड़ा भी बेकार जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! कपड़ा क्या, अभी आया था न? उस दिन लड़का कहता था, भूपेन्द्र... भूपेन्द्र। अहमदाबाद, बहुत हजारों का लेने आया था। उसके बीबा घिस गये होंगे। वह यहाँ आया था, तब कहता था। कितने हजार के! बड़ा (काम) है न! पाँच-पाँच लाख की आमदनी है न? 'भूपेन्द्र डाइंग प्रिन्टिंग' अभी आया था। किसलिए आये हो? अहमदाबाद आया था तो आपके दर्शन करने आया हूँ। बीबा बहुत रखता है न? बीबा कितना? बहुत कहता था कौन जाने, कितना बीबा? हजारों के, हों! कितने हजारों के! बड़ा काम रहा न! इसलिए घिस गये हैं। अच्छी छाप पड़ती नहीं और उसकी छाप बाहर में बहुत प्रसिद्ध है। भूपेन्द्र डाईंग और प्रिन्टिंग वर्क्स, मुम्बई। साड़ी का खाता। लकड़ी का बीबा, ओहो! लकड़ी लेने आया है। अच्छी छाप करने के लिए। यहाँ कहते हैं, आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान में आत्मा को विषय बनाये बिना उसकी उत्कीर्णता अच्छी नहीं होती। समझ में आया? रागादि आवे तो भूल जाए।

किसी प्रयोजन के वश यदि कुछ करना पड़े,.. राग आया, शुभभाव आया, अरे! विषय की वासना भी आ गयी और उसमें जुड़ गया। **तो उसे अतत्पर होकर- अनासक्त होकर..** स्वामीपना न रखकर, एकरूप नहीं करके, भिन्न रखकर **वाणी व**

शरीर के द्वारा करे। करे का अर्थ वाणी द्वारा शरीर (द्वारा) हो जाए। विकल्प में एकत्व नहीं होता। समझ में आया?

इसी प्रकार भोजन के लिए जाते हुए भी नहीं जा रहा है,.. लो! धर्मात्मा भोजन लेने नहीं जाता। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का जिसे भोजन है.. आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है। भगवान आत्मा ही अतीन्द्रिय आनन्द है। उसके स्वाद के समक्ष भोजन लेने जाता है, वह नहीं जाता। वह तो शरीर का निर्वाह नहीं होता और विकल्प आया है तो जाता है, परन्तु अन्तर में भाव में अभिमुखता नहीं है। अपने अन्तर्मुख में से सन्मुखता छूटती नहीं है। खाता हो, पीता हो, चलता हो, ऐसा कहते हैं, देखो! लगन लगी, लगन। समझे? परस्त्री के लगन कैसी लगती है! देखो! स्वप्न में दिखायी दे। अरे! स्वप्न में ऐसा दिखायी दे, वह है। हो नहीं कुछ। लगन लगती है न, लगन। यह रही। इसी प्रकार आत्मा की अन्दर में इसे लगन लगनी चाहिए। मैं पूर्णानन्द प्रभु! अहो! परमात्मपर्याय मेरी परमात्म शक्ति में से निकलती है। दूसरा कोई साधन है ही नहीं। ऐसी प्रतीति, श्रद्धा, ज्ञान हुए तो भोजन लेने जाता है परन्तु वह जाता नहीं।

कल बताया था, वह नहीं (बताया था)? बनारसीदास का। '**भावै रहौ मंदिरमैं भावै रहौ वनमैं**' बोलता है परन्तु योगासन, नहीं आया था? बोलता है तो भी योगासन है, बोलता है तो मौन है। आहाहा! अपने आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ की जैसी पर्याय होने की वैसी उसमें होती है, उसमें अपनी विशेषता तो है नहीं, तो उस ओर का उसे अभिप्राय नहीं रहता। कि मैंने बनाया या ऐसा किया या वैसा किया, सब छूट गया है। राग आया, तो भी कहते हैं, भोजन लेने जाता है, तथापि अन्दर में तो आनन्द का बहुत अनुभव करूँ, विकल्प छूट जाए और मैं अन्तर में आनन्द के अनुभव में घुस जाऊँ। ऐसा धर्मात्मा भोजन लेने जाता है, तो भी भोजन नहीं करता, ऐसा कहा गया है। आहाहा!

सिद्ध प्रतिमादिकों को देखते हुए भी.. यहाँ तो सिद्ध प्रतिमा ली है, देखो! सिद्ध भगवान की प्रतिमा होती है न? सिद्ध प्रतिमा होती है न? खाली भाग। ऐसे सिद्ध को (देखे) देखता है तो भी नहीं देखता क्योंकि उसका लक्ष्य विकल्प है, तो भी उसकी अभिमुखता नहीं है। देखो! भगवान के दर्शन में भी उसकी अभिमुखता दृष्टि में है नहीं।

मुमुक्षु : उसमें जीव खो जाए तब तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : ...राग हो। आहाहा! वे कहते हैं न, जिनबिम्ब के दर्शन से निध्धत और निकाचित कर्म तोड़ डालता है। धवल में आता है। परन्तु वह कौन सा जिनबिम्ब? समझ तो सही, वह तो निमित्त का कथन है। साक्षात् त्रिलोकनाथ हो, तो भी क्या उनकी सन्मुखता से सम्यग्दर्शन होता है? समझ में आया? तो यह प्रतिमा और मन्दिर देखने से सम्यग्दर्शन हो जाता है? यह तो शुभभाव; अशुभ न हो तो आता है, लक्ष्य जाता है। बस! इतना। वह शुभभाव भी इससे होता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! और शुभभाव आया तो उसके आत्मा में सन्मुखता में विशेष वृद्धि होगी, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बात, भाई! सम्मेदशिखर का आता है न 'एक बार वंदे जो कोई नरक पशु (गति) न होई'। उसमें क्या हुआ? नरक, पशु नहीं होगा। ऐसा शुभभाव होवे तो स्वर्ग मिले। उसमें क्या हुआ? जन्म-मरण का अन्त कहाँ हुआ? सम्मेदशिखर की लाख यात्रा करे तो क्या है? अरे.. अरे..!

मुमुक्षु : दूसरे पदार्थ से मोक्ष पाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे पदार्थ से मोक्ष पाते होंगे? उनसे? आहाहा! यहाँ एक साधु आये थे। सम्मेदशिखर के दर्शन से ४९ भव बाकी रह जाते हैं। उनसे कहा, यह शास्त्र भगवान का नहीं है। परद्रव्य के आश्रय से जन्म मरण का अन्त होगा, ऐसा कहे वह भगवान का शास्त्र नहीं है, तो वे कहने लगे, नहीं, नहीं। आत्मा है, आत्मा है, परन्तु आत्मा क्या है? आत्मा के आश्रय बिना तीन काल में जन्म-मरण नहीं छूटता। साक्षात् भगवान समवसरण में विराजते हों, उनकी सन्मुखता का भाव शुभभाव है। पण्डितजी! आहाहा!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : सामने ही थे। तो क्या है? वहाँ अन्तर सन्मुख नहीं हुआ। तो क्या करे? भगवान से कोई चीज़ मिलती है? आहाहा! लोगों ने तो ऐसा लगा दिया।

मुमुक्षु : बारह सभा में देवी-देवता, मुनि, आर्यिका दौड़कर जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो क्या है? वह शुभभाव है। उसकी सन्मुखता से सम्यग्दर्शन होता है? अन्तर में जब स्व-आश्रय लिया। पहला भूल गया, तब सम्यग्दर्शन होता है।

आहाहा! वह बीच में आता अवश्य है, भक्ति विनय आता है परन्तु वह आता है, वह पराश्रयभाव है। पराश्रयभाव से स्वाश्रयभाव का किंचित् भी सहारा मिलता है, (ऐसा है नहीं।) भगवान! मार्ग कोई अलग है। यह तो वीतरागमार्ग है। समझ में आया? उसमें भक्ति आदि उड़ा दी और एक ने भक्ति में धर्म मान लिया। समझ में आया? ऐसा है ही नहीं। भक्ति दो प्रकार की है। अपनी भक्ति से जन्म-मरण का अन्त आता है, पर की भक्ति से शुभभाव होता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बस। बाकी पराश्रयभाव होता है, उसे भूल जा, भूल जा। भूल जा, अन्तर में आ जाओ, अन्तर में आ जाओ। सम्मेदशिखर के दर्शन किये तो आहाहा! (हो जाता है)। यहाँ ये लोग कहते हैं, शत्रुंजय है न? शत्रुंजी नदी में नहावे, उसके भव उड़ जाते हैं। धूल में भी नहीं है। नदी में बहुत मछलियाँ नहाती हैं।

मुमुक्षु : धर्मबुद्धि से नहावे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पानी के स्नान से क्या होता है? उल्टा-पाप लगता है। पानी के बेचारे असंख्य जीव मरते हैं।

मुमुक्षु : आत्मा नदी संयम...

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा नदी संयम... अन्दर स्नान कर, बाहर में क्या है? माँस खानेवाली मछलियाँ भी करती हैं, उसमें क्या हुआ? समझ में आया? वीतरागमार्ग ऐसी वस्तु है, भाई! उसे लक्ष्य में लिए बिना, स्व का आश्रय किये बिना, उसका तीन काल में कल्याण कहीं नहीं होगा। पूरी जिन्दगी भक्ति करो, व्रत पालो, पूजा करो, वह शुभभाव है। उसमें जन्म-मरण (मिट जाते हैं)। और संवर-निर्जरा हो जाती है, ऐसी वस्तु नहीं है। आहाहा!

यहाँ क्या कहते हैं? मुनि भोजन लेने जाते हैं तो कहते हैं, भूल जाओ। **नहीं जा रहा है,..** लो! समझ में आया? कल कहा था न? भाई! भोजन बढ़े तो खा जाना, निर्जरा होगी। और दूसरे को आहार-पानी देने में निर्जरा होती है। 'एकान्त सो निर्जरा', भगवतीसूत्र में

ऐसा पाठ है। '...एकान्त सो निर्जरा' तथारूप के साधु को यदि श्रावक श्रमणोपासक आहार-पानी दे 'एकान्त से निर्जरा' पाप किंचित् नहीं, एकान्त निर्जरा है। वह वस्तु ही खोटी है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें क्या ? समझ में आया ? ऐसा है नहीं, भाई ! निर्जरा कहाँ से होगी ? निर्जरा तो अपने स्वरूप का आश्रय करे तो निर्जरा होती है। निर्जरा क्या पर के आश्रय से होती है ? यह आता है या नहीं ? चेतनजी ! भगवतीसूत्र में आता है। हमारे तो एक-एक सूत्र की चर्चा हुई थी। एक सूत्र में से तेरापंथी निकले, एक सूत्र में से स्थानकवासी जोर देते हैं और एक सूत्र में से निर्जरा होती है, ऐसा मान लेते हैं। समझ में आया ? साक्षात् भगवान हो तो भी आहार देने का भाव है, वह शुभ है। समझ में आया ? आहाहा ! उसे देकर भूल जाए, कहते हैं। अन्तर में चला जाए। चलो, भाई ! अन्तर में आओ, अन्तर में आओ। पर की अभिमुखता नहीं, स्व की अभिमुखता है। आहाहा !

मुमुक्षु : ऊँची में ऊँची सिद्ध प्रतिमा...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊँची में ऊँची ले ली। अच्छी में अच्छी सिद्ध प्रतिमा हो तो क्या है ? परवस्तु है। सिद्ध प्रतिमा भी पर है।

यहाँ कहते हैं **देखते हुए भी नहीं देख रहा है,..** देखने का जरा शुभविकल्प आया, परन्तु अभिमुख नहीं है। अभिमुख तो अन्तर में है। आहाहा ! 'जिसका पक्ष लेकर बोलूँ, वह मन में सुख माने,' आनन्दघनजी कहते हैं। 'मेरी मुझे निरपक्ष उसे न छोड़ी' जिसका पक्ष लेकर बोलूँ तो कहे, हाँ; यह बात बराबर है। जिसका पक्ष छोड़कर बोलूँ तो कहे, नहीं; नहीं। ऐसा आनन्दघनजी में आता है, हों ! 'माडी मुनि निरपख केण ही न मुकी, जिसका पक्ष लेकर बोलूँ वह मन में सुख माने, जिसका पक्ष छोड़कर बोलूँ वह मन में मन ताने, माडी मुनि निरपख केण ही न मुकी।' सुमति कहती है, समझे न ?

मुमुक्षु : हिन्दी में...

पूज्य गुरुदेवश्री : हिन्दी में ? सुमति कहती है। यह तो हिन्दी में है। आनन्दघनजी

का पद है। आहाहा! 'माडी मुनि निरपख केण ही न मुकी,' किसी ने मुझे लोंच कराया और किसी ने मुझे स्थापित करके किसी ने मुझे उत्थापित करके और किसी ने मुझे प्रतिमा में धर्म मनवाया। जैसा मानते हैं, वैसा मानूँ तो कहे, आहाहा! बहुत अच्छा। सोगनचन्दजी! और उससे विरुद्ध कहूँ तो कहे, भ्रष्ट हो गया है, उन्हें छोड़ दो। परन्तु यह तुम्हारे बड़े गुरु हैं न? वे पलट गये, अब नहीं। समझ में आया? उनके पक्ष को छोड़कर दूसरी सत्य बात कहे तो कहते हैं, यह नहीं, यह नहीं। यहाँ व्यवहार का पक्ष स्थापित करके यदि लाभ मनवावें तो कहे, बराबर है। क्योंकि शास्त्र में व्यवहार को साधन कहा है, व्यवहार को हेतु कहा है, व्यवहार को कारण कहा है। आया है या नहीं? छहढाला में नहीं आया? 'नियत को हेतु' ऐसा कहा है। निश्चय का कारण कहा है। अब सुन तो सही! वह तो व्यवहार से ऐसी चीज़ आती है, उसे निमित्त की अनुकूलता गिनकर निमित्त कहा। निमित्त को अनुकूल कहते हैं। अनुकूल को निमित्त कहते हैं। उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि अनुकूल है तो यहाँ काम होता है। ऐसा नहीं है।

यह चर्चा ली थी। तुमने उसे अनुकूल कहा है या नहीं? फूलचन्दजी ऐसा कहते हैं, भाई! अनुकूल का अर्थ ही निमित्त है। सुन न! तुमने व्यवहार को अनुकूल कहा न? परन्तु अनुकूल का अर्थ निमित्त है। अनुकूल अर्थात् वहाँ सहायता करता है? यह चर्चा की थी उसमें। अनुकूल और अनुरूप दो वस्तु है। निमित्त को अनुकूल कहते हैं, सामने नैमित्तक को अनुरूप कहते हैं। समझ में आया? घड़ा बनता है तो कुम्हार अनुकूल है और उसे घड़े की पर्याय अनुरूप है। दोनों पृथक्-पृथक् कार्य है। किसी का कार्य कोई करे (ऐसा नहीं है)। कुम्हार घड़ा बनावे ऐसा, तीन काल-तीन लोक में नहीं है।

मुमुक्षु : परन्तु कुम्हार के बिना घड़ा नहीं बनता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुम्हार के बिना ही सब घड़े बने हैं। अपनी पर्याय से, अपनी उत्पाद से बने हैं। बाकी मिट्टी के स्कन्ध अपनी उत्पादपर्याय से घड़ा बनाते हैं। वह मिट्टी अभिमुख होकर, ऐसा यहाँ है न? भाई! यहाँ अभिमुख, सन्मुख नहीं डाला? वहाँ भी फूलचन्दजी ने डाला है। मिट्टी ही उस कार्य में सन्मुख है। उस पर्याय में सन्मुख है तो बनता है। क्या कुम्हार सन्मुख है?

मुमुक्षु : कार्य में कुम्हार होता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कार्य में कुम्हार नहीं रहता। कुम्हार तो कुम्हार में है और काल तो एक है। यहाँ पर्याय उत्पन्न हुई, वहाँ कुम्हार की पर्याय का राग है। हाथ चलता है। दोनों पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं। क्या उसमें वह है? दोनों एक है? यह पर्याय है, और वह भी है। तो अनादि से यह है? एक सत् का अंश है, वह इस सत् का अंश है? समझ में आया? हो, होने का कौन निषेध करता है? मोहनभाई! भारी विवाद, भाई! यह तो सीधी-साधी सत्, उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् (की बात है)।

यहाँ तो कहते हैं, राग का भी उत्पाद हो जाए तो धर्मी को ध्रुव सन्मुख की दृष्टि नहीं छूटती और राग के उत्पाद में अभिमुखता नहीं होती। आहाहा! स्वयं से राग उत्पन्न होता है, हों! कर्म से नहीं। आहाहा! 'कर्म विचारै कौन भूल मेरी अधिकाई अग्नि सहे...' तो कहता है नहीं, यह आर्ष वाक्य नहीं है। ऐसे के ऐसे शोर मचाने जैसे पके हैं। सब आर्ष वाक्य न्याय से होते हैं। समकिती भी न्याय से कहता है, वह भगवान का ही वाक्य है। समझ में आया? वे कहें, नहीं। आर्ष वाक्य नहीं। 'अग्नि सहे घनघात लोह की संगति पायी।' लोहे ने अग्नि का संग किया तो घन पड़ते हैं। अग्नि ने लोहे का संग किया तो घन पड़ते हैं। अग्नि लोहे का संग न करे तो घन नहीं पड़ते। भगवान आत्मा कर्म के संग का लक्ष्य करे तो राग उत्पन्न होता है, दुःख ही होता है। समझ में आया? यही दुःख है।

यहाँ कहते हैं, धर्मी भोजन लेने जाता है, तथापि नहीं जाता। झुकाव कहाँ है? झुकाव तो अन्दर है। अभिमुखता नहीं। कब छूट जाऊँ? कब एकाग्र हो जाऊँ? कब छोड़कर लीन होऊँ? ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि को स्वसन्मुख की रहती है। **सिद्ध प्रतिमादिकों को देखते हुए भी नहीं देख रहा है,..** आहाहा! वे कहें, जिनबिम्ब से समकित होता है। यहाँ कहते हैं, जिनबिम्ब को देखता है तो भी नहीं देखता। लो! यह इष्ट उपदेश। वह तो धवल में निमित्त का कथन था। सिद्ध प्रतिमा को देखने से विकल्प आया तो भी नहीं देखता। (निज) भगवान को देखता है। आहाहा! समझ में आया? यह कहे, जिनप्रतिमा से सम्यग्दर्शन होता है। मिथ्यात्व का नाश, टुकड़े हो जाते हैं। अरे! भगवान! तू क्या कहता है? गजब! मार्ग को मरोड़कर कचोटकर मरोड़ डाला है। मार्ग तो है वह है। यह दो-पाँच

मन्दिर बना दे, इसलिए धर्म का खिताब दे दे। जाओ, पाँच-पाँच लाख के मन्दिर (बनाओ)। धर्म हो जायेगा। धूल में भी धर्म नहीं है। सुन न! धर्म धुरन्धर। इन धीरुभाई को इनके पिता को इतना बड़ा खिताब दे दे। पाँच लाख खर्च करके एक मन्दिर बनावे। मन्दिर तो जड़ की पर्याय है, वह तो पर की पर्याय है, वह क्या तुझसे होती है?

मुमुक्षु : सेठ से बनता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ से बिल्कुल नहीं बनता। कौन बनावे? मलूकचन्दभाई बनाते हैं?

मुमुक्षु : तो कौन बनाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बनावे? बनावे जड़। कुछ समझता नहीं, ऐं..ऐं. हो जाता है। इसे इसके काम की मुख्यता नहीं लगती और उस काम की मुख्यता लगती है, नहीं करना इसलिए। कहो, समझ में आया? बात आवे, तब सब बात अन्दर में आती है।

यहाँ तो कहते हैं, आहाहा! वाह.. रे.. वाह..! उसकी उस समय की जो पर्याय होनेवाली है, उसे कौन रचे? कौन क्षेत्रान्तर करे? कौन कालान्तर करे? कौन रूपान्तर करे? आहाहा! जिस समय में जिसकी जो पर्याय होनेवाली है, उसे आगे-पीछे करने में इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र समर्थ नहीं हैं। वह ज्ञाता का ज्ञेय है। उसे तू जान न! हुआ, वह मुझसे नहीं; उससे हुआ है।

यहाँ तो कहते हैं सिद्ध प्रतिमा देखता है, तथापि नहीं देखता। यह कथन आचार्य का नहीं? और धवल का कथन आता है, इन दो में विरोधता आती है? आचार्य के कथन में कभी विरुद्धता आती ही नहीं। धर्मी सन्त, धर्मात्मा पूज्यपादस्वामी, वीरसेनस्वामी, धर्मात्मा सन्त थे। कोई कथन में विरोध है ही नहीं। दिगम्बर सन्त आचार्यों परम्परा की बात अनुभव में लेकर कहते हैं। इन दिगम्बर सन्तों में कोई विरोध नहीं है। सब वीतराग के उत्तराधिकारी हैं। ये वीतराग के उत्तराधिकारी हैं। आहाहा! समझ में आया? देखो! यह शब्द।

पहले मुनि ने यह कहा है थोड़ा-थोड़ा देखो! यह शब्द, देखता है तथापि नहीं देखता। डालो सिद्ध में। पाठ तो इतना है न? '**पश्यन्नपि न पश्यति**'.. '**पश्यति**' क्या?

सिद्धप्रतिमा देखे तो उसे देखने में अपनी पर्याय देखता है। राग आया, उससे छूटकर अन्दर किस प्रकार जाऊँ? परसन्मुख का राग, वह तो बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : बहुत ऊँची बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहली बात है। ऊँची कहो तो ऊँची। ऐ.. न्यालभाई! पहले सम्यग्दर्शन में यह भाव आये बिना नहीं रहता। शुभभाव भगवान को देखे तो भी उससे मुझे लाभ नहीं। मैं तो अन्तर आश्रय करूँ, उतना लाभ है। सोगनचन्दजी! आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान के दर्शन से सिर झुक जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के दर्शन, उन भगवान के दर्शन या इस भगवान के? भगवान ऐसा कहते हैं। भगवान ऐसा कहते हैं कि तेरे स्व-आश्रय में तेरे दर्शन से तुझे लाभ है। हम ऐसा कहते हैं तो तू हमको मानता है या नहीं? भगवान ऐसा कहते हैं। यह क्या कहते हैं? मुनि कहते हैं, वह भगवान कहते हैं। भगवान की वाणी में ऐसा आया कि जितना स्व आश्रय लेकर धर्मी को स्व दृढ़ता हुई है, उसमें से हटकर जितने व्यवहार के विकल्प आदि आते हैं, उनकी अभिमुखता नहीं है, ऐसा केवलज्ञानी कहते हैं। समझ में आया? भगवान दूसरा कहते हैं और मुनि दूसरा कहते हैं और मार्ग दूसरा है, ऐसा है नहीं। शास्त्र भी ऐसा कहते हैं, मुनि भी ऐसा कहते हैं, सर्वज्ञ परमेश्वर भी ऐसा कहते हैं। वस्तु ऐसी है। वस्तु भी ऐसी है।

भगवान आत्मा की जितनी स्वसन्मुख की दृष्टि, एकाग्रता हुई, वह मोक्ष का मार्ग है। परसन्मुखता आती है, पूर्ण एकाग्रता स्वाश्रय नहीं हुआ इसलिए। स्वाश्रय नहीं हुआ इसलिए। पर के कारण से नहीं। स्वाश्रय, एकाग्रता नहीं है, अपना एकाकार पूर्ण विषय बनाया नहीं तो इतना राग आ जाता है। हो, सागरोपम तक होता है। तैंतीस सागर तक सर्वार्थसिद्धि के देव को वाँचन का विकल्प आता है। तो क्या है? हो, पढ़ो। आता है। स्वभाव की सन्मुखता छोड़कर उसमें लाभ है, ऐसा नहीं मानते। आहाहा! समझ में आया? **यही समझना चाहिए।** लो!

दोहा – देखत भी नहिं देखते, बोलत बोलत नाहिं।
दृढ़ प्रतीत आतममयी, चालत चालत नाहिं।।४१।।

पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, देखो! यह इष्ट उपदेश है। यह हमारे भाई शुकनचन्दजी कहते हैं, सच्चा उपदेश है। यह सच्चा उपदेश है, भाई! बाकी जाओ, लुटाओ, आओ-जाओ, हमें कुछ नहीं। समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा शक्ति का पिण्ड है न, प्रभु! शक्ति की पूजा करो। यह करते हैं न? शक्ति की पूजा करते हैं। काठी लोग होते हैं न? वे शक्ति की पूजा करते हैं। अपना आत्मा अनन्त शक्ति का पिण्ड, शक्ति का ईश्वर आत्मा है। आत्मा को शक्ति बिना चलता नहीं। ऐसा कहते हैं कि ईश्वर को शक्ति के बिना नहीं चलता, ऐसा कहते हैं। हम मोरबी गये थे न? वहाँ शक्ति का मन्दिर है। मोरबी के पास एक 'शनाला' गाँव है। वहाँ गये थे न? वहाँ मकान है न? पानाचन्दभाई ने वह बनाया है न? दलीचन्द भाई के भाई का। वहाँ गये थे न? शाम को आहार करके शक्ति का मन्दिर है, वहाँ गये तो बाबाजी कहे, आओ, पधारो, पधारो। वह तो बेचारे को ऐसा कि जैन महाराज आये हैं। मैंने कहा, यह शक्ति नहीं। वह कहने लगा शक्ति के बिना ईश्वर को चलता नहीं। कहा, बराबर है। आत्मा को ज्ञान-दर्शन शक्ति के बिना चलता नहीं। वह ईश्वर है, दूसरा ईश्वर कौन है?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभराग आता है, वह आये बिना नहीं रहता। मन्दिर तो बनने का हो तो बनता है। वह कोई बना नहीं सकता।

उपदेश में ऐसा है कि धर्मी को मन्दिर बनाने का भाव आये बिना नहीं रहता। बनता है उसके कारण से है। भक्ति का भाव है न? शुभभाव आये बिना नहीं रहता। जब तक स्वाश्रय पूर्ण न हो, तब तक पराश्रितभाव छूटते नहीं। भक्ति, पूजा ऐसे भाव आते हैं, परन्तु वे भाव, उनसे यह चीज़ बनती है, ऐसा नहीं है। और यह चीज़ बनी तो शुभभाव है, ऐसा नहीं है। और यह शुभ है तो वह संवर-निर्जरा है, ऐसा नहीं है। यह बात लोगों को... निश्चय-व्यवहार दो हैं। है नहीं, तो भी व्यवहार बीच में है, परन्तु व्यवहार बीच में आता है वह हेयबुद्धि से आता है। समझ में आया? उसका निषेध कर दे तो तत्त्व का निषेध होगा। क्योंकि सम्यक् भूमिका मन का धर्म जब तक पूर्ण वीतरागता न हो और मन का धर्म न छूटे, तो मानसिक शुभभाव, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा का भाव आये बिना नहीं

रहता। नहीं आता, ऐसा कहे तो वह दृष्टि को समझता ही नहीं, वह तत्त्व को नहीं समझता, वह पर्याय को नहीं समझता, व्यवहार को नहीं समझता, निमित्त को नहीं समझता। ऐसी बात है, भाई!

दृढ़ प्रतीत आतममयी, चालत चालत नाहिं। लो, यह ४१ वीं गाथा हुई। अब ४२ वीं गाथा कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नाऽवैति योगी योगपरायणः।।४२।।

अर्थ – ध्यान में लगा हुआ योगी यह क्या है? कैसा है? किसका है? क्यों है? कहाँ है? इत्यादिक विकल्पों को न करते हुए अपने शरीर को भी नहीं जानता।

विशदार्थ – यह अनुभव में आ रहा अन्तस्तत्त्व, किस स्वरूपवाला है? किसके सदृश है? इसका स्वामी कौन है? किससे होता है? कहाँ पर रहता है? इत्यादिक विकल्पों को न करता हुआ, किन्तु समरसीभाव को प्राप्त हुआ योगी जो अपने शरीर तक का भी ख्याल नहीं रखता, उसकी चिन्ता व परवाह नहीं करता, तब हितकारी या अहितकारी शरीर से भिन्न वस्तुओं की चिन्ता करने की बात ही क्या? जैसा कि कहा गया है – 'तदा च परमैका०'

यहाँ पर शिष्य कहता है, कि भगवन्! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशा का हो जाना कैसे सम्भव है?

उस समय आत्मा में आत्मा को देखनेवाले योगी को बाहिरी पदार्थों के रहते हुए भी परम एकाग्रता होने के कारण अन्य कुछ नहीं मालूम पड़ता।।४२।।

दोहा– क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आतम राम।
तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम।।४२।।

प्रवचन नं. ४७ गाथा-४२ बुधवार, दिनाङ्क २५-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल ५, वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश, पूज्यपादस्वामी कृत। हितकारी उपदेश किसे कहते हैं, वह यहाँ कहते हैं। ४१ गाथा चली है। यहाँ तो जिसे आत्मा में आनन्द है, ऐसी रुचि हो गयी है; धर्मात्मा को आत्मा में आनन्द है - ऐसी रुचि हो गयी है। उसे अपने अतिरिक्त शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श में सुखबुद्धि नहीं है। सुखबुद्धि नहीं है, क्योंकि पर में सुख नहीं है। समझ में आया?

यहाँ तो विशेष बात करते हैं। योगपरायण की बात चलती है। जिसमें आनन्द, आत्मा की दृष्टि अपने स्वरूप पर होती हे, तो उसे आत्मा का आनन्द अपने में है, ऐसा भासित होता है। वह आनन्द अपने में है-ऐसा कहो या धर्म अपने में है-ऐसा कहो। अपने स्वभाव में धर्म है; पर में सुख नहीं अथवा धर्म नहीं है। पुण्य-पाप के भाव में सुख नहीं, धर्म नहीं। समझ में आया? अपना आत्मा ज्ञानानन्द सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसमें आनन्द है। उसी आनन्द का पर्याय में, स्वभाव में एकाग्र होकर प्रगट अनुभव करना, इसका नाम धर्म है। इसका नाम धर्म है। समझ में आया?

धर्मी को अन्तर आनन्द की लगन लगने से कैसा अभेदभाव होता है और भेदभाव किस प्रकार से छूटता है, यह बात ४२वीं गाथा में कहते हैं। ४२ को कहते हैं न? बयालीस।

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नाऽवैति योगी योगपरायणः।।४२।।

अहो! शरीर से बालक हो, शरीर से स्त्री का लिंग हो, शरीर से पुरुष का अथवा पशु का देह हो, तो भी भगवान आत्मा उस देह से भिन्न अपने आत्मा का सम्यक् भान में, दृष्टि में अनुभव हुआ है, तो कहते हैं कि उस आनन्द में परायण होने के कारण **ध्यान में लगा हुआ योगी..** देखो! प्रीति-रुचि जमी है, उसमें एकाग्रता होती है। समझ में आया? **ध्यान में लगा हुआ योगी, यह क्या है?** ओहो! भगवान आत्मा... पर में सुख नहीं, तो पर का कार्य मेरा नहीं। पुण्य-पाप में सुख नहीं तो वह कार्य भी मेरा नहीं और मेरी सत्ता में अनन्त

गुण हैं, उसमें आनन्द प्रगट करनेयोग्य है। उसे प्रगट करनेयोग्य है। उसे प्रगट करने के लिए अन्तर में एकाकार होता है।

कहते हैं, **यह क्या है?** इस विकल्प की भी जिसे आवश्यकता नहीं। आहाहा! यह क्या है? पर क्या है? वह तो मुझमें ही नहीं। मेरा कार्य पर में नहीं है। पुण्य-पाप के भाव मुझमें नहीं तो वह मेरा कार्य नहीं, तो वह क्या है - उसका सवाल यहाँ नहीं। समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा अपने में-निज में अतीन्द्रिय आनन्द का मार्ग एक बार देख लिया हो, अनुभव में आत्मा आनन्द (स्वरूप) है, ऐसा जान लिया हो; उसे फिर उसमें लीन होने में, उस आनन्द में तल्लीन होने में, 'यह क्या है?'—ऐसा विकल्प वहाँ नहीं होता। ओहोहो! समझ में आया?

कैसा है? कैसा स्वरूप है? यह तो पहले अनुभव में आ गया है। कैसा है? यह भी एक विकल्प है। ओहो! दया, दान, भक्ति, व्रत का विकल्प तो कहीं रहा! आत्मा कैसा है? यह अनुभव तो दृष्टि में हो गया है। कैसा है-ऐसे विकल्प की आवश्यकता नहीं है। स्वरूप की स्थिरता करने में... आहाहा! जम जाता है, जम जाता है।

एक मनुष्य बढ़िया पकवान खाता हो तो पहले पकवान लिया, तब भाव पूछा, तोल पूछा। खाने समय क्या है और कैसा है, उसका विकल्प कहाँ है? उत्कृष्ट वस्तु आती है न? बहुत उत्कृष्ट। बर्फी कसदार। दस रुपये का एक सेर। लाओ, पाँच सेर ले लिये। तोलकर लिया। तोल का माप भी ले लिया, परन्तु जब खाता है, तब विचार होता है? यह बर्फी कैसी है? कैसी क्या वह तो बर्फी के आनन्द का अनुभव लेता है। आनन्द का अर्थात् वहाँ दुःख का अनुभव, ऐसा। समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रत्यक्ष भाव का विचार नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होता। इस भाव की बर्फी है। बर्फी कहते हैं न? बर्फी नहीं होती? उसमें मावा डाला हो, पिश्ता, बादाम और चिरौंजी, क्या कहलाता है? मूसली, मूसलपाक आता है न? मूसली, सफेद मूसली सफेद सालमपाक आता है। ऐसी, इस तरह बर्फी होती है न ऐसा पोची, पोची, पोची होती है। सब पूछ लिया। भाव पूछ लिया, तोल लिया। खाते समय यह कैसा है? ऐसा विकल्प कहाँ है?

इसी तरह पहले, आत्मा कौन है ? कैसा है ? क्या स्वरूप है ? स्वामी किसका है ? यह सब निर्णय कर लिया। मैं आत्मा हूँ। कैसा हूँ ? आनन्द आदि अनन्त गुणमय हूँ। समझ में आया ? किसका है ? अपना आत्मा है। कैसा है ? अनादि सत् है। कहाँ है ? यहाँ मुझमें है। कहाँ है क्या ? समझ में आया ? इत्यादि विचार करके पहले निर्णय कर लिया है। आहाहा!

यह इष्टोपदेश तो कहता है कि तेरी आनन्द में रुचि हो गयी, वही पहला धर्म है। समझ में आया ? पहले में पहले शुरुआत (यहाँ से है)। शुभाशुभभाव में आनन्द नहीं है, शरीर में नहीं है, इन्द्रियों में नहीं है। आठ वर्ष का बालक भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और मेंढ़क... क्या कहते हैं ? मेंढ़क, उसे भी अपने में आनन्द भासित होता है। आत्मा आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द (स्वरूप है)। वह अतीन्द्रिय आनन्द। इन इन्द्रियों के विषयों में कल्पना से मानता है या नहीं ? कि मुझे ठीक है, ठीक है, ठीक है। वह दुःख है। उससे विरुद्ध आत्मा में आनन्द है। समझ में आया ? खाने-पीने बैठे। ऐसा बढ़िया रस हो। पूड़ी ऐसी.. समझे न ? क्या कहलाता है ? मैदा की। मैदी की पूड़ी हो, समझे ? साटा.. साटा हो ऐसे। घेवर (हो)। खाते समय कोई विकल्प है कि यह कैसी वस्तु है ? मिठास लगती है तो उसमें चिपट जाता है।

मक्खी को भी शक्कर की मिठास आती है। मक्खी को भी शक्कर की मिठास आती है तो चिपट जाती है। चिपट जाती है या नहीं ? बालक के बर्तन में रोटी, घी और शक्कर पड़े हों। खाते-खाते दो-चार दाने पड़े हों और गीले हो गये। वहाँ मक्खी आयी, फिटकरी के दाने में से... फिटकरी समझे ? फिटकरी का रस लेने पर मिठास नहीं लगी। चीनी में मिठास लगी। मिठास लगी तो बालक शक्कर लेकर खाता है। शक्कर पर उसके पंख चिपट जाते हैं। तो भी उड़ती नहीं है, क्योंकि मिठास लगी है। समझ में आया ? आहाहा! मक्खी जैसा छोटा प्राणी, जिसे मन नहीं है, मन नहीं और जिसे कान नहीं। मन नहीं, कान नहीं। चौइन्द्रिय है। उसे भी मन नहीं है, कान नहीं है। सुनती नहीं, विचारती नहीं। मन का विचार नहीं, हों! वह विचार तो है। एकेन्द्रिय को भी अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा है। समझ में आया ? एकेन्द्रिय प्राणी है, उसे भी अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा है।

मक्खी को भी अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा है। मन और कान के अतिरिक्त। ओहो! जो स्वाद आया... उसकी सूँड है न, सूँड? उसे निकालती नहीं। बालक शक्कर को पकड़े, उसे छोड़ती नहीं।

इसी प्रकार आत्मा... पुण्य-पाप का स्वाद तो फिटकरी जैसा है। इन्द्रिय के विषय में कल्पना उठती है, वह जहर जैसा स्वाद है। समझ में आया? सुन्दर शब्द, इज्जत-कीर्ति, रूप, सुन्दर आकृति, रस, गन्ध, सुगन्ध, गजरा, फूलझाड़, स्पर्श, मक्खन, मलमल का स्पर्श। उसमें विकल्प उठता है, वह तो दुःखरूप जहर है। ऐसे ज्ञानी ने पहले राग को जहररूप है, ऐसा जान लिया है। मक्खी ने फिटकरी का स्वाद जान लिया है। उसके ऊपर से उठकर वह शक्कर पर बैठती है। स्वाद में इतनी लीन है, तल्लीन है कि उठती नहीं। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव ने पुण्य-पाप के विकल्प और इन्द्रिय के विषय में दुःख है, जहर है-ऐसा जान लिया है। समझ में आया? आहाहा!

जैसे शक्कर का दाना है न..? (गुजराती में) गांगडो कहते हैं न। इसी प्रकार आत्मा आननद की डली है। डली.. बड़ी डली है। उसमें एकाग्र होकर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान में और स्वरूपाचरण में उसके आनन्द का स्वाद ले लिया है। समझ में आया? आहाहा! क्यों? अजितप्रसादजी! सम्यग्दृष्टि को ऐसा हो गया है। सम्यग्दर्शन में प्रतीति हो गयी कि यह आनन्द है। ज्ञेय बनाकर ज्ञान हो गया और उसमें स्वरूपाचरण स्थिरता भी हो गयी है। ओहो!

मुमुक्षु : इतना हो गया तो क्यों, कैसे, यह प्रश्न ही नहीं रहता।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रश्न नहीं रहता। अब उसमें-अन्दर में लीन होने का कार्य करता है। आहाहा! न्यालभाई! आहाहा! गजब बात, भाई! यह इष्टोपदेश।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में स्वाद है। कहाँ स्वाद है? दिखाओ, लाओ। किसमें स्वाद है? पैसे में? मकान में? होली है, राग है। सेठ! यह कहते हैं, पैसे में प्रत्यक्ष सुख दिखता है। पड़े हों परन्तु लक्ष्य जाए वहाँ आकुलता उत्पन्न होती है। परद्रव्य के आश्रय से विकल्प-राग उठता है तो दुःख उत्पन्न होता है। भले पड़े हों, उसमें है तो क्या है? समझ

में आया ? इसी प्रकार स्त्री, कुटुम्ब-परिवार सब सामग्री पड़ी हो, वहाँ लक्ष्य जाता है, परद्रव्य पर लक्ष्य जाता है, वही राग, अशुभराग की आकुलता-दुःख है। मूढ़ को भान नहीं है। मानता है कि हमारे मजा है, सुखी हैं। मूढ़ है। मिथ्यादृष्टि पर में सुख मानते हैं।

छह खण्ड के राज में पड़ा हुआ सम्यग्दृष्टि है। आता है न ? 'भरत घर में वैरागी।' यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं। यह सिंहासन, इन्द्राणी जैसी छियानवें हजार रानियाँ (हों)। यह नहीं, यही नहीं। अरे ! मेरा विकल्प पर की ओर जाता है, वह जहर, दुःख, दुःख, अग्नि, अग्नि है। अग्नि है, दुःख है, उपसर्ग है, रोग है। आहाहा ! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि जीव रोग मानते हैं। आहाहा ! भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत ज्ञान और आनन्द का ढ़ेर, डली है। ऐसी दृष्टि में भान तो हो गया है। अब कहते हैं कि योग परायण, यह शब्द पड़ा है। योगी योग परायण—यह पहले अपने आ गया था। योग परायण तक के शब्द ले लेना। आया था न पहले ? ३९, देखो ! वहाँ से ले लेना। समझे ? '**निशायमति निश्शेषमिन्द्र-जालोपमं**' यह सब ले लेना।

जैसे-जैसे आत्मा अपने स्वरूप की सम्हाल में आता है, वैसे-वैसे उसे अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की वृद्धि होती है। आहाहा ! इसका नाम निर्जरा है। समझ में आया ? निर्जरा का अर्थ—शुद्धि की वृद्धि। संवर का अर्थ—शुद्धि। भगवान आत्मा महान अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप महान पदार्थ प्रभु है। उसकी अन्तर में रुचि जम गयी है और पश्चात् उसमें परायण है। योगी स्वरूप में एकाग्र होनेवाला, योगस्वरूप में एकाग्र होने में तत्पर है, उसे **क्यों है ? कहाँ है ? इत्यादिक विकल्पों को न करते हुए..** आहाहा ! गाथा बहुत ऊँची, भाई ! अभी सवेरे और दोपहर तो मक्खन आता है। समझ में आया ?

करनेयोग्य यह है। चाहे जितने लाख, अनन्त भव करे परन्तु यह समझे बिना, यह अनुभव किये बिना इसकी मुक्ति नहीं है। समझ में आया ? समझकर, पहिचानकर, करते-करते अन्दर आत्मा की पहिचान करना कि आत्मा आनन्द ज्ञायक है और उसकी रुचि करके उसमें रमना, वही करना है। समझ में आया ? पहले समझ ले कि वस्तु क्या है ? किस प्रकार प्रगट होती है ? प्रगट होने के पश्चात् कैसी तत्परता उसमें होती है ? उसका यहाँ ज्ञान कराते हैं।

अपने शरीर को भी नहीं जानता। आहाहा! देखो! समझे? शरीर परद्रव्य है, उसके ऊपर से लक्ष्य छूट गया है। परायण कहते हैं न? योगी परायण कहना है न? भान तो हुआ है, परन्तु फिर उसमें तत्पर हो गये हैं। योगी अर्थात् स्वरूप में अपना योग अर्थात् वीर्य से जुड़ान करनेवाले योग में परायण हैं। अपनी एकाग्रता में तत्पर है, उसे शरीर क्या है, उसका ख्याल छूट गया है। आहाहा! तल्लीन हो गया। देखो! यह मुनि है, देखो! गजसुकुमार है। खबर नहीं शरीर में क्या होता है? मुझमें अनुभव होता है, उसका विकल्प नहीं। आहाहा! समझ में आया? निर्विकल्प आत्मा के अनुभव में मैं अनुभव करनेवाला और यह अनुभव पर्याय, ऐसा ही विकल्प नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भारी धर्म, भाई।

अभी धर्म को ऐसा कर डाला है। शुभयोग, बस! क्षायिक समकित होता है, शुभयोग व्यवहार मोक्षमार्ग है। अरे! भगवान! अरे प्रभु! तेरी रुचि से उसे छोड़ दिया है। महान पदार्थ आनन्दकन्द अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु का प्रेम छोड़कर शुभभाव में प्रेम किया, वह आत्मा का खून करता है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा की दशा को घातता है, हिंसा करता है। परप्राणी की हिंसा करो, न करो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। पर की हिंसा कौन कर सकता है? पर की करे कौन? और पर की दया भी कौन करे? आहाहा! अरे! शोर मचाते हैं। इसलिए तो बड़े प्रश्न उठे हैं। पर की दया, वह धर्म है। अरे! भगवान! परसन्मुख होने से धर्म होता हो तो स्वसन्मुख होने की आवश्यकता क्या है? पूरा भगवान तो पड़ा रहा और परसन्मुख, परसन्मुख, परसन्मुख से धर्म होगा? यह तो अनादि काल से परसन्मुखता का आचरण किया है। आहाहा! अरे, पण्डिताई भी कहाँ गयी? समझ में आया? साक्षरा.. साक्षरा होते हैं न? साक्षरा। ऐसा उल्टा करे तो राक्षसा। उल्टा हो गया। प्रभु! पूर्णानन्दस्वरूप का अनादर करके इस शुभराग की क्रिया में धर्म मानना, यह महा मिथ्यात्व का पोषण है। समझ में आया?

यहाँ तो (कहते हैं) शुभयोग में सुख नहीं है, दुःख है, ज़हर है। भगवान शुभयोग से पार पड़ा है, ऐसी दृष्टि में आनन्द का स्वाद आ गया। लीनता में मैं कौन हूँ? ऐसे विकल्प का अवकाश नहीं है। आहाहा! समझ में आया? चौथे गुणस्थान में भी निर्विकल्प उपयोग होता है, तब मैं कौन हूँ, ऐसा विकल्प नहीं होता। समझ में आया? सम्यग्दर्शन में आत्मा

का प्रथम निर्विकल्प उपयोग होता है, वहाँ भी मैं कौन हूँ ? और कहाँ हूँ ? ऐसा विकल्प नहीं रहता। आहाहा ! अरे ! यह बात छंछेड़ने योग्य है। चर्चा करके निर्णय करनेयोग्य है। आहाहा ! अरे ! हित का काल आया। यह भव हित के लिए है। भव के अभाव के लिए भव है। इसमें भव का भाव के लिए भव बनावे (वह तो विपरीतता है।) आहाहा ! समझ में आया ?

वाह ! पूज्यपादस्वामी ! लेख में आता है कि यह इष्टोपदेश जैन का उपनिषद है। पहले अन्दर लिखा है। यह इष्टोपदेश जैन का उपनिषद है। उनका उपनिषद तो समझने जैसा। यह तो परम सत्य का उपदेश है। समझ में आया ? ऐसा उपदेश करना, ऐसा यहाँ आया या नहीं ? भाई ! पंचम काल में करना या चौथे काल में ? इस पंचम काल में ऐसा उपदेश करना और ऐसी वस्तु है, ऐसा पंचम काल के मुनि कहते हैं। स्वयं उपदेश करते हैं और अपनी दशा ऐसी है। आहाहा ! भले विकल्प राग है, परन्तु है अन्दर में तीन कषाय का अभाव। आनन्द की मौज में पड़े हैं। मुनि किसे कहें ! आहाहा ! प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है। समझ में आया ? चौथे, पाँचवें गुणस्थान में अल्प / कम स्वसंवेदन है। छठे-सातवें में प्रचुर स्वसंवेदन है। ओहोहो ! आनन्द झरना रे झरे, भगवान के अन्तर में से ! आहाहा ! समझ में आया ? भगवान अपने स्वरूप में इतना तत्पर हो गया कि बाहर के शरीर में क्या होता है, उसका भी लक्ष्य नहीं। ओहोहो ! समझ में आया ? ऐसा किये बिना इसे निर्जरा और मुक्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

बाहर में शुभ आदि परिणाम हों, व्रतादि का, उपदेशादि का भाव हो, वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : शरीर पर भी लक्ष्य नहीं जाता तो बगल में सिंह खड़ा है, उसकी तो बात क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बात कहाँ है ? देखो ! शरीर '**नाऽवैति**', '**स्वदेहमपि नाऽवैति**' '**स्वदेहमपि नाऽवैति**' संस्कृत नहीं, इसका संस्कृत नहीं। मूल श्लोक का संस्कृत। मूल श्लोक संस्कृत ही है, उसकी छाया सादी भाषा में नहीं है। मूल संस्कृत है। अन्वय तो साधारण है।

अपने शरीर को भी नहीं जानता। वह तो '**स्वदेहमपि नाऽवैति**' इसे भिन्न करके नहीं कहा। विशदार्थ। ओहोहो! घर में एक लाख रुपये का नया गहना आवे न, पाँच-पचास लाख की आमदनी हो और लाख रुपये का गहना (लिया हो) दागिना समझते हो? जेवर.. जेवर..। आभूषण। और बढ़िया कारीगरीवाला हो। आहाहा! ऐसा हार, चगदा और ऐसे लटकता हो। घर के पच्चीस व्यक्ति देखने आवें। अरे! आसपास के पड़ोसी आवें। पाड़ोसी कहते हैं? पड़ोसी। क्या है? क्या है? क्या है? ओहोहो! कहते हैं, ऐसी धूल जैसी वस्तु को देखने पूरा घर आ जाये, तो भगवान जैसी चीज़ को देखने तू न जाये? आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

श्रेयांसकुमार को खबर पड़ी कि आज मेरे घर में प्रभु पधारनेवाले हैं। समझे? स्वप्न आया न? स्वप्न। एक कल्पवृक्ष सूखता है। ऐसा स्वप्न आया। निमित्त ज्ञानी ने कहा, ऐसा लगता है तुम्हारे यहाँ आज भगवान पधारेंगे। बारह महीने के उपवास हो गये हैं। कल्पवृक्ष सूखते हैं। अभी भरत के कल्पवृक्ष वे हैं। उन्हें बारह महीने से आहार नहीं मिला। तुम्हारे आँगन में आयेंगे। ओहोहो! हें! प्रभु पधारेंगे! ओहो! ऐसे राजकुमार, चरमशरीरी हैं, अन्तिम शरीर है। अभी राजकुमार है, रानियाँ हैं। हों तो क्या है? आहाहा! भगवान पधारेंगे। देखो! यह बाहर के भगवान। अन्दर के भगवान के लिए कितनी समीपता होने से (मिलें)? आहाहा! ओहो! भगवान आये। आहार किस प्रकार देना? क्या लेने आये हैं? उनके पास तो सब सम्पत्ति थी। यह क्या है? एकाग्र हुए और आठ भव पहले का जातिस्मरण हो गया। कहो, यहाँ तो शरीर दिखता है, आत्मा नहीं दिखता। आठ भव के शरीर का तो नाश हो गया है, उनका आत्मा यह है। समझ में आया? मति ऐसी निर्मल हो गयी, ऐसी एकाग्रता अन्दर में हो गयी। आठवें भव में ये मेरे पति थे, मैं पत्नी थी। अरे! भाई! अवधिज्ञान नहीं और तुमने यह कहाँ से निकाला? मतिज्ञान की धारणा का एक भेद है। आहाहा! समझ में आया? इतनी उनके आत्मा की ताकत है।

राजकुटुम्ब में रहे हुए राजा हैं। शरीर पर हीरा-माणिक जड़े हुए हैं, जरी के कपड़े की शॉल थी। भगवान आते हैं, एकदम शॉल बाँध दी। छोटे भाई आते हैं न? कमर बाँधकर। कमर बाँधकर आते हैं। ऐसे राजकुमार, ऐसे शॉल पड़ी थी। भगवान जहाँ पधारे

तो एकदम उठ गये। सिंहासन से उठ गये। शॉल बाँधकर गये। दो छोर लटकते थे। भगवान के निकट जाते हैं। आहाहा! एकाग्र होते हैं, वहाँ आठ भव का ज्ञान होता है। क्या है? लोग तो शंका करें कि ऐसा नहीं होता। अरे! सुन तो सही। समझ में आया? मतिज्ञान, परोक्षज्ञान की धारणा में से आया। केवलज्ञानी का नहीं बदलता, वैसे इनका (ज्ञान) नहीं बदलता। समझ में आया? मतिज्ञान में ऐसा देखा, ओहो! मैं आत्मा, इनकी पत्नी थी। आठ भव पहले। बहुत भव व्यतीत हो गये न? व्यतीत हो गये तो क्या है? ये पति थे। शरीर नहीं रहा। यही आत्मा मेरा पति था और मैं पत्नी थी। ओहो! निरालम्ब मति के ख्याल में ऐसी बात आ गयी। केवलज्ञानी भी स्वीकारे कि तेरी बात सत्य है। समझ में आया? आहाहा! पश्चात् आहार-पानी देते हैं। वे तो बाहर के भगवान। यह अन्दर का भगवान। समझ में आया?

दृष्टि हुई है और स्थिरता करके अन्दर में भगवान को समीप लाता है। अन्तर में एकाग्र होकर भगवान को समीप लाते हैं। आता है न? नियमसार में नहीं आता? समीप में वर्तता है, नहीं आता। आत्मा समीप में वर्तता है। वह सब शैली यह है। समीप में वर्तता है, वह इसमें भी आता है, श्वेताम्बर में अनुयोग द्वार में आता है। समझ में आया? भाषा तो कितनी ले ली होवे न? अनुयोग द्वार में आता है। '...' ऐसा पाठ है। आहाहा! परन्तु ऐसा है '...' जिसका आत्मा समीप में वर्तता है। राग, पुण्य, विकल्प, निमित्त नहीं। समझ में आया? अपने श्रद्धा-ज्ञान में भगवान समीप में दिखता है, कहते हैं। बाहर के भगवान में इतना उल्लास आ गया और जातिस्मरण हो गया, भव का-जाति का। यह आत्मजाति। आहाहा! इस आत्मजाति का भान हो गया।

शरीर क्या है? खबर नहीं। समझ में आया? बीच के आठ भव का ख्याल छोड़कर वह बात पकड़ ली। समझ में आया? बीच में कितने वर्ष, कितने विकल्प, कितने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव छोड़कर वह पकड़ लिया। वजुभाई! आहाहा! तेरी शक्ति, अचिन्त्य शक्ति! भगवान आत्मा के एक मतिज्ञान में परलक्ष्यी धारणा का इतना विकास! आहाहा! समझ में आया? सब भूल गये। ये मेरे पति और मैं पत्नी, इतना भास हो गया। मुनि को ऐसे (आहारदान) दिया था, वह ख्याल में आ गया। ऐसे आहार देते थे, ऐसे लेते थे, ऐसे लेते थे, देते थे, यह ख्याल आ गया। नि:शंक हो गये। बात ऐसी हुई थी।

इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने **अनुभव में आ रहा अन्तस्तत्त्व,..** अन्तःतत्त्व एकाग्रता में समीप में आ गया। देखो! समझ में आया? पहले समझ तो ले यह कैसा है? यह बात कैसी है? ऐसी है। ऐसे किये बिना तेरा कभी छुटकारा हुआ नहीं। **अनुभव में आ रहा अन्तस्तत्त्व, किस स्वरूपवाला है?** ऐसा विकल्प भी नहीं। समझ में आया? कैसे स्वरूप वाला है? अनन्त आनन्द आदि स्वरूपवाला है। यह निश्चय तो पहले हो गया है। आहाहा! **किस स्वरूपवाला है?** ज्ञान आनन्द आदि अनन्त गुणस्वरूपवाला आत्मा है, वह अनुभव में पहले ले लिया है। स्थिरता के काल में कैसे स्वरूपवाला है, ऐसा विकल्प नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इस उपदेश का नाम यथार्थ उपदेश है। राग से लाभ होता है और इससे लाभ होता है, यह मिथ्या उपदेश है। समझ में आया? आहाहा! सन्त पूज्यपादस्वामी महामुनि बालब्रह्मचारी मुनि हैं और महा छठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले सन्त महन्त हैं। वे आत्मा को निकालकर दिखाते हैं, देखो! आत्मा ऐसा है। समझ में आया? दिगम्बर मुनि जंगल में रहनेवाले। आहाहा!

किसके सदृश है? किसकी उपमा लागू पड़ती है? ऐसा कोई विकल्प नहीं है। सिद्ध जैसा है, ऐसा विकल्प नहीं है। **किसके सदृश है?** इस आत्मा को किसकी उपमा लागू पड़ती है? उपमा किसकी लागू पड़ती है? सिद्ध जैसा है। यह तो पहले कहा है। **इसका स्वामी कौन है?** आत्मा पहले निर्णय किया है कि स्वामी मैं हूँ। अखण्डानन्द चिदानन्दस्वरूप का मैं स्वामी हूँ, दूसरा कोई स्वामी नहीं। स्वस्वामी सम्बन्ध मेरा मेरे साथ है। मेरी स्वस्वरूप लक्ष्मी का मैं स्वामी हूँ। ऐसा विकल्प भी उस समय में नहीं है। आहाहा! ऐसी उत्कृष्ट बात पंचम काल के लिए पूज्यपादस्वामी ने बनायी होगी? तब किसके लिए बनायी है? पंचम काल के तो मुनि हैं और पंचम काल के अन्त तक ऐसा उपदेश रहेगा। इसलिए तो बनाया है।

किससे होता है? यह किससे हुआ है? स्वयं से। द्रव्य अनादि-अनन्त सत्ता से विराजमान है। अपनी सत्ता से अनादि से विराजमान है। किसी की सत्ता से हुआ नहीं। ऐसा भी विकल्प नहीं है। आहाहा! **कहाँ पर रहता है?** कहाँ रहता है, उसका विकल्प नहीं। असंख्य प्रदेश में रहता है, ऐसा विकल्प नहीं। आहाहा! यह तो लीन होते हैं न? निर्णय तो पहले हुआ है। अब लीन होते हैं, इस कारण से विकल्प नहीं है।

मुमुक्षु : पहले ऐसे विकल्प हो गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले हो गये हैं और उन्हें छोड़कर निर्विकल्प हुए हैं। पश्चात् भी विकल्प आता है कि स्वरूप ऐसा है, परन्तु तल्लीन होते समय विकल्प नहीं आता, ऐसा कहना है न? यहाँ तो कहते हैं, ऐसा विकल्प, ऐसा विकल्प, वह तो व्यवहार है। पंचास्तिकाय में यह आया न? यह श्रद्धायोग्य है, यह श्रद्धा करनेयोग्य है, यह छोड़नेयोग्य है, ये सब तो विकल्प हैं, व्यवहार हैं। यह व्यवहार तीर्थ के बोल हैं। यहाँ कहते हैं, छोड़ उन्हें। आहाहा! उन्हें धर्म मानना, लो! यह व्यवहार तीर्थ है, मोक्षमार्ग है।

मुमुक्षु : उसमें लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! लिखा। क्षण-क्षण में शुभ घटता है न? इस अपेक्षा से कहा है। बाकी तो शुद्ध का जोर है, उससे तिरता है। समझ में आया? भगवान परमानन्द की मूर्ति प्रभु, उसकी जमी है रुचि जिसे, इस कारण से स्थिर होता है। उसे क्षण-क्षण में वृद्धि होती है। शुभराग के विकल्प में आरोप देकर ऐसा कहा जाता है कि उससे वृद्धि होती है। गजब बात! प्ररूपणा में बदलाव हो गया। इष्टोपदेश, देखो यह इष्टोपदेश है। निमित्त का भी आया, उपादान का भी आया, निश्चय का भी आया, इसमें सब बात आयी है। लो! निमित्त धर्मास्तिकायवत् है। ध्यान में यह विकल्प है, वह विघ्नकारी है, कहते हैं।

कहाँ पर रहता है? अपने असंख्य प्रदेश में रहता है, यह विकल्प भी नहीं। कोई कहता है न? कहीं रहता होगा, बैकुण्ठ में रहता है और ऐसा है तथा वैसा है। कहीं रहता नहीं। भगवान यहाँ रहता है। अपने असंख्य प्रदेश की सत्ता-भूमि। असंख्य प्रदेश की सत्ता, वह अपनी भूमि है। वह अपनी भूमि है। असंख्य प्रदेश, अपनी भूमि में आत्मा रहता है। आहाहा! आकाश-फाकाश में नहीं।

मुमुक्षु : आकाश, आकाश में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आकाश, आकाश में है। ठीक कहा पण्डितजी ने। रुचिवाले हैं। पुराने पण्डित भी यदि सुलटे पड़ जाएँ तो अभी धर्म की यह वस्तु नयी आयी है। समझ में आया? गड़बड़-गड़बड़ करे, अरे! भगवान! ऐसे भड़के। ऐ.. सोनगढ़ का है। यह सोनगढ़ का है? सोनगढ़ की पुस्तक है? यह है, इसका सोनगढ़ की पुस्तक में स्पष्टीकरण

है। उसमें है, उसका अर्थ खोलकर रखा है। सेठ! तब वे कहते हैं, ऐ.. सोनगढ़ का है। सोनगढ़ का नहीं, भगवान! यह है परमात्मा का। यह पाठ है, इसका तो अर्थ चलता है। देखो!

विकल्प होता है, तब तक एकाग्रता नहीं होती और एकाग्रता हुए बिना निर्जरा नहीं होती, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा! **इत्यादिक विकल्पों को न करता हुआ,..** इत्यादिक -वगैरह। **किन्तु समरसीभाव को प्राप्त हुआ..** अब सामने आया। शान्त.. शान्त.. अपना समरसी स्वरूप है, जिसमें विकल्प वृत्ति का उत्थान होता है, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। स्वभाव में विकल्प का, वृत्ति का उत्थान हो, वह तो बन्ध का कारण है। भगवान आत्मा तो अबन्धस्वरूपी है। राग तो संसार का बीज है। भगवान मोक्ष का बीज है। भगवान आत्मा मोक्ष का बीज है। उसमें एकाग्र होकर निर्जरा और मोक्ष उसमें से प्रगट होता है। समझ में आया? यह व्यवहार राग में से (प्रगट) नहीं होते। आहाहा! राग पलटकर निश्चय होता है, ऐसा और कोई कहता है। अरे! भगवान! ऐसी बात तो पाँच-सात वर्ष से आयी है, हों! अभी इससे विशेष आया, तब यह अभी आया। पहले नहीं करते थे। इतनी सब विपरीत बात (नहीं करते थे)। व्यवहार से होता है, ऐसा ढीला-ढीला कहे।

कहते हैं कि **समरसीभाव को प्राप्त..** शान्त.. शान्त.. शान्त.. भगवान आत्मा अकषायस्वरूप वीतरागबिम्ब आत्मा है। उसमें एकाग्र हुआ तो समरस, समरसी, समताभाव, अरागीभाव, वीतरागी पर्याय उत्पन्न हुई। **समरसीभाव को प्राप्त हुआ योगी..** धर्मी। **अपने शरीर तक का भी ख्याल नहीं रखता,..** समझ में आया? **उसकी चिन्ता व परवाह नहीं करता,..** पहले समकिती को उसकी चिन्ता नहीं थी। अपनी कमजोरी से विकल्प था। शरीर में भूख लगी है तो आहार लूँ परन्तु यह कमजोरी का विकल्प भी अब नहीं है, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया?

अपने शरीर तक का भी ख्याल नहीं रखता, उसकी चिन्ता व परवाह नहीं करता, तब हितकारी या अहितकारी शरीर से भिन्न.. हितकारी या अहितकारी शरीर से भिन्न वस्तुओं की चिन्ता करने की बात ही क्या? जहाँ शरीर की भी चिन्ता नहीं। जहाँ अन्दर आनन्द के अनुभव में एकाग्र होकर पड़े हैं, वहाँ शरीर से भिन्न वस्तु, यह

चिन्ता, यह हितकर है और यह अहितकर है, यह बात ही जहाँ नहीं। ये पंच परमेष्ठी हितकर हैं और यह अहितकर है, यह नहीं – ऐसा उसमें कुछ है ही नहीं। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त से कथन आवे या नहीं? पंच परमेष्ठी हितकर है। व्यवहार हितकर में निमित्त है न! यहाँ तो व्यवहार का विकल्प ही उड़ा दिया। आहाहा! समझ में आया? व्यन्तर, व्यन्तर के सुख की कल्पना तो देखो! अज्ञानी तो ऐसा देखता है कि यह बैकुण्ठ है। व्यन्तर का पल्योपम का आयुष्य आदि हो। उसके देव देखो, देव-देवी... ओहोहो! यह तो बैकुण्ठ है। अज्ञानी को तो बैकुण्ठ दिखता है। वहाँ से आया तो बैकुण्ठ में से आया, वहाँ जाये तो बैकुण्ठ में आया, ऐसा अज्ञानी को दिखता है। भगवान का बैकुण्ठ अन्दर में आनन्दकन्द पड़ा है। एक बार देखा कि यह आत्मा तो आनन्दस्वरूप है। मैं आनन्द से बाहर निकल जाता हूँ। वापस हटकर अन्दर जाता है। समझ में आया?

कहते हैं कि जहाँ अपने शरीर की भी दरकार नहीं तो शरीर की बाहर की वस्तु हितकारी-अहितकारी का विकल्प है ही नहीं। यहाँ बैठे हैं, यहाँ कंकर लगते हैं, ऐसा लगता है, यह स्थान अच्छा नहीं है, ध्यान बहुत चलता है, उसमें यह लगता है, हवा बहुत तेज आती है, ऐसा कहते हैं मूल तो। यहाँ हवा बहुत तेज आती है, यहाँ बाघ आदि का शोर आता है। ऐसे विकल्प उन्हें नहीं होते। समझ में आया?

जैसा कि कहा गया है – 'तदा च परमैका०' तत्त्वानुशासन। **यहाँ पर शिष्य कहता है, कि भगवन्! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशा का हो जाना कैसे सम्भव है?** गाथा का अर्थ अब आता है। **उस समय आत्मा में आत्मा को देखनेवाले..** यह तत्त्वानुशासन का श्लोक है, इसका अर्थ है। समझ में आया? कथन अभी तो बाद में है। पहले लिखा गया है। समझ में आया? छापने में अन्तर पड़ गया है। पहले यह चाहिए, पश्चात् यह चाहिए। हो जाए, हो जाए। पहले यह चाहिए। तत्त्वानुशासन के श्लोक का अर्थ।

उस समय आत्मा में.. भगवान आत्मा अपने प्रेम का लड्डू खाता है, वह आनन्द का अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आठ वर्ष का बालक भी सम्यग्दृष्टि हो, तो

अन्दर में एकाग्र होता है, तब ऐसा अनुभव होता है। समझ में आया? **आत्मा में आत्मा को ही देखनेवाले..** आत्मा को आत्मा में ही देखनेवाले। यह आत्मा, यह आत्मा। **योगी (धर्मी) को बाहिरी पदार्थों के रहते हुए भी..** बाहर में पदार्थ हों, नहीं-ऐसा नहीं। इस श्लोक के पश्चात् तत्त्वानुशासन का श्लोक रखा है। शून्यासन वस्तु है। अकेली शून्य वस्तु है, ऐसा नहीं। समझ में आया? बाह्य पदार्थ से आत्मा शून्य है, परन्तु अपने स्वभाव से आत्मा अशून्य है। इस श्लोक के बाद यह श्लोक रखा है। कोई और एकान्त वेदान्त में न ले जाए। वे कहते हैं न, शून्य हो जाओ, शून्य हो जाओ। परन्तु शून्य हो जाओ-वस्तु क्या है? विकल्प से शून्य हो जाओ, विकल्प से शून्य, पर से शून्य (हो जाओ)। पर से शून्य होना, परन्तु स्व क्या है? स्व अशून्य है, वस्तु है। अशून्य नहीं। पर की अपेक्षा से शून्य है, अपनी अपेक्षा से अशून्य है। पर की अपेक्षा से अभाव है, अपनी अपेक्षा से भाव है। अपनी अपेक्षा से अस्ति है, पर की अपेक्षा से नास्ति है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

मुमुक्षु : पर की अपेक्षा से नास्ति कही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पर की अपेक्षा से नास्ति है। है ही नहीं, अपने में है ही नहीं, अभाव है, नास्ति है। समझ में आया? परन्तु अकेली नास्ति नहीं। स्वरूप अस्ति-नास्ति है। अपने अनन्त गुण से अस्ति है, पर से नास्ति है। इस श्लोक के पश्चात् यह श्लोक लिया है। धन्नालालजी! कोई शून्य-शून्य कर ले, ऐसा नहीं है। शून्य हो जाओ। परन्तु वस्तु क्या है? वस्तु शून्य नहीं, वस्तु अशून्य है। पर से शून्य है। समझ में आया? अपना स्वभाव अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द से भरपूर पदार्थ है। वह अस्ति है। उसमें एकाग्र होने से विकल्प आदि की नास्ति होती है, वस्तु की नास्ति नहीं होती। वस्तु की अस्ति से शुद्धता होती है। अस्ति है, उसकी पर्याय में शुद्धता होती है। आहाहा!

यह कहते हैं न कि मुक्ति होती है, तब ज्योति में ज्योति मिल गयी। यह तो अपनी अस्ति का नाश हुआ। अपनी अस्ति का ही नाश हो गया। सिद्ध हुए। सिद्ध हुए या अभाव हुआ? पण्डितजी कहते थे, सत्यानाश। बंशीधरजी कहते थे, सिद्ध भगवान हुए तो एक में दूसरे मिल गये। सत् का नाश हो गया, सत् का नाश हुआ। सत् का नाश कभी नहीं होता। एक व्यक्ति पूछता था, भगवान है, वहाँ भी सबके चबूतरे अलग? सबकी सत्ता अलग?

सबकी सत्ता अलग। सिद्ध में भी सबकी सत्ता अलग। किसी की सत्ता किसी में मिलती नहीं। एक सिद्ध अनन्त सिद्ध से शून्य है। आहाहा! सिद्ध जहाँ विराजते हैं, वहाँ उनके पेट में निगोद भी है। हो, परन्तु उससे शून्य है, वे अपने स्वभाव से अशून्य अर्थात् अस्ति है। आहाहा! यह तो कोई तत्त्व! ऐसा का ऐसा शून्य-शून्य है, ऐसा नहीं है। इस श्लोक के पश्चात् श्लोक लिया है। आज देखा था, हकार साथ में ले लेना। यह कितना है? १७२ है न? वह १७३ है।

उस समय परम एकाग्रता धारण करने से योगी अपने आत्मा में केवल अपने आत्मा को देखता है और इसलिए बाह्य पदार्थों के रहते हुए भी उसे आत्मा के सिवा अन्य कुछ दिखायी नहीं देता। पश्चात लिखा है।

अत एवान्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः।
शून्याशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते॥१७३॥

अन्य पदार्थ से शून्य होकर भी यह आत्मा अपने स्वभाव से स्वरूप से शून्य नहीं हो सकता। स्वरूप से तो महान सत्ता विराजमान है। विकल्प छोड़ दो, विकल्प छोड़ दो (ऐसा कहे), परन्तु छोड़े क्या? अस्ति महान पदार्थ में एकाग्र होने पर विकल्प उत्पन्न नहीं होते, इसका नाम छोड़ना कहने में आता है। वजन तो अस्तित्व में होना चाहिए, इसने नास्तित्व में वजन दे दिया। समझ में आया? **शून्याशून्य स्वभाववाला आत्मा अपने आत्मा के द्वारा प्राप्त होता है।** वापस दोनों लिए, हों। **अन्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः।** और **शून्याशून्यस्वभावो** दोनों इसके स्वभाव हैं।

प्रवचनसार में सप्तभंगी में यह आता है। शून्य-अशून्य प्रवचनसार में आता है। पर से शून्य, अपने से अशून्य। अशून्य अर्थात् पूरा पदार्थ भरपूर है। आनन्द का पिण्ड प्रभु अस्ति है। उसमें एकाग्र होने से विकल्प की नास्ति (होती है)। राग से शून्य है, अपने भगवान आत्मा से भरपूर अशून्य है। ऐसी शुद्धता की एकाग्रता होती है, वही संवर और निर्जरा है। समझ में आया?

बाह्य पदार्थ रहते हुए परम एकाग्रता होने के कारण बाह्य पदार्थ चला नहीं जाता। ऐसा कहते हैं। है न? **बाह्य पदार्थ रहते हुए भी...** अपने अतिरिक्त बाह्य पदार्थ

कहीं चले नहीं जाते। अद्वैत का अनुभव हुआ तो दूसरी वस्तु कहीं चली नहीं जाती। दूसरी वस्तु तो है, उसमें है। नहीं? अद्वैत का अनुभव हुआ, मेरा आत्मा एक ही है, दूसरा कुछ नहीं। यह तो तेरी अपेक्षा से दूसरे नहीं, उनकी अपेक्षा से सब पदार्थ हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हैं, सब हैं। वेदान्त कहता है, एक अद्वैत है। बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं। बाह्य पदार्थ नहीं है तो तू भी नहीं है। बाह्य का अभाव और तेरा सद्भाव, दोनों तुझमें रहे ही नहीं।

बाहिरी पदार्थों के रहते हुए भी परम एकाग्रता होने के कारण.. देखो! बाह्य पदार्थ हों, उसमें क्या है? तो भी एकाग्रता होने के कारण। **अन्य कुछ नहीं मालूम पड़ता।** दूसरी वस्तु शरीर, कर्म, बाहर में होने पर भी। होने पर भी कहा न? **रहते हुए भी..** अपना भगवान आत्मा, अहो! यह परम कथा, धर्म कथा, अमृत की कथा है। समझ में आया? भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति, बाह्य पदार्थ होने पर भी अपने स्वरूप में एकाग्रता के कारण उनका ख्याल नहीं रहता। ख्याल नहीं रहने से बाह्य पदार्थ चले जाते हैं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? लो!

परम एकाग्रता होने के कारण अन्य कुछ नहीं मालूम पड़ता। कुछ मालूम नहीं रहती। इसलिए कोई वस्तु ही नहीं है, ऐसा नहीं है। वह तो अन्तर एकाग्रता में दूसरी वस्तु का ख्याल नहीं है। समझ में आया? ऐसी अपनी तल्लीनता में (होता है)। यहाँ भी होता है न? किसी के साथ बात करता हो, तब बारात चली जाए तो भी खबर न रहे। बैंडबाजे बजते हों, परन्तु विचार में तल्लीन हो गया हो कि ऐसा करना है, ऐसा करना है, ऐसा करना है। पुत्र का विवाह है, उसमें दो लाख खर्च करना है, उसका ऐसा करना है। विचार में लीन होवे तो बारात जाती हो, बैण्ड बजता हो तो खबर नहीं पड़ती। एक के ऊपर लक्ष्य हो गया तो दूसरे के ऊपर लक्ष्य नहीं रहता।

यह आत्मा अपने स्वरूप में एकाग्र होता है, तब दूसरी चीज़ रहो, यहाँ हो, दूसरी चीज़ हो, उसका ख्याल नहीं रहता। ख्याल नहीं रहता, इसलिए दूसरी चीज़ चली जाती है, ऐसा भी नहीं है और दूसरी चीज़ चली जाए तो यहाँ ख्याल चला जाए, ऐसा नहीं है।

वह दूसरी चीज़ तो सदा रहती है। समझ में आया? तू ख्याल छोड़ दे। आहाहा!

दोहा– क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आतम राम।
तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम।।४२।।

क्या है? कैसा है? किसका है? और किसमें है? **कहाँ यह आतम राम।** विकल्प छोड़ दे। है, वह है, यह तो तुझे निश्चय हो गया है। अनन्त गुण का धाम असंख्य प्रदेशी,... मैं सत्तास्वरूप हूँ। समझ में आया? अनन्त गुण का स्वामी हूँ, ऐसे विकल्प पहले हुए थे, वे अब ध्यान के काल में छोड़ दे।

तज विकल्प निज देह न जाने,.. तज विकल्प निज देह न जाने,.. जहाँ विकल्प छोड़कर देह की खबर न रहे। **योगी निज विश्राम।** अपने में विश्राम लेता है। आहाहा! भगवान आत्मा में एकाग्र होता है, वह अपना विश्राम है। वह संसार की थकान उतारता है। आनन्दधाम में एकाग्र होकर विश्राम लेकर विश्राम लेता है, इसका नाम विश्राम है। यह नहीं कहते? थोड़ा विश्राम लो, थोड़ा आराम लो, आराम लो, आराम लो। थोड़ा आराम करो, भाई! आठ दिन आराम लो। आराम क्या है? धूल में आराम है।

मुमुक्षु : यह अपूर्व विश्राम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अपूर्व विश्राम है। भाई! अन्तर में तू महान पदार्थ है न! दृष्टि करके एकाग्र हो, तेरा निज विश्रामस्थान है। इसमें मोक्ष का धाम उत्पन्न होता है।

अब आचार्य कहते हैं कि पहला प्रश्न यहाँ आया। **यहाँ पर शिष्य कहता है, कि भगवन्! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशा का हो जाना कैसे सम्भव है?** यह क्या बात करते हो? ऐसी दशा होती किस प्रकार है? इसकी गाथा आयेगी। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४८ गाथा-४३-४४ गुरुवार, दिनाङ्क २६-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल ६, वीर संवत् २४९२

आचार्य कहते हैं, धीमन्! सुनो समझो –

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति।।४३।।

अर्थ – जो जहाँ निवास करने लग जाता है, वह वहाँ रमने लग जाता है। और जो जहाँ लग जाता है, वह वहाँ से फिर हटता नहीं है।

विशदार्थ – जो मनुष्य, जिस नगरादिक में स्वार्थ की सिद्धि का कारण होने से बन्धुजनों के आग्रह से निवासी बनकर रहने लग जाता है, वह उसमें अन्य तरफ से चित्त हटाकर आनन्द का अनुभव करने लग जाता है। और जो जहाँ आनन्द का अनुभव करता रहता है, वह वहाँ से दूसरी जगह नहीं जाता, यह सभी जानते हैं। इसलिए समझो कि आत्मा में अध्यात्म में रहनेवाले योगी अननुभूत (जिसका पहले कभी अनुभव नहीं हुआ) और अपूर्व आनन्द का अनुभव होते रहने से उसकी अध्यात्म के सिवाय दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं होती।।४३।।

दोहा – जो जामें बसता रहे, सो तामें रुचि पाय।
जो जामें रम जात है, सो ता तज नहिं जाय।।४३।।

यह इष्टोपदेश चलता है। ४२ गाथा हुई। तुम्हारे में बयालीस कहते हैं न? उसमें ऐसा आया कि यह आत्मा, अपना स्वरूप शुद्ध आनन्द है, उसकी दृष्टि लगाकर, उसमें लीन होता है। देखो! यह मुख्य कर्तव्य। सब जाना, सब माना, उस सबका सार आत्मा एक समय में शुद्ध पूर्णस्वरूप सामान्य ध्रुव है; उस ओर झुकाव करके लीन होता है तो उसे संवर और निर्जरा विशेष होते हैं। उस समय में मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? कैसा हूँ? ऐसे विकल्प भी नहीं है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में ऐसी रुचि जम जाती है और

उसमें तत्परता हो जाती है तो ऐसे विकल्प नहीं होते कि मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? और किसका अनुभव करता हूँ? तो शिष्य का प्रश्न हुआ।

यहाँ पर शिष्य कहता है, कि भगवन्! मुझे आश्चर्य होता है.. है? ऊपर है। यह आगे-पीछे लिखा गया है। **मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशा का हो जाना कैसे सम्भव है?** महाराज! आप तो ऐसी कोई बात करते हो, **ऐसी विलक्षण..** आत्मा आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द में जम जाए तो उसे मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? कैसे हूँ? इसका विकल्प भी नहीं, ऐसी दशा होती है। समझ में आया? तो शिष्य कहता है, मुझे तो आश्चर्य होता है। ऐसी विलक्षण, जगत से भिन्न, विभिन्न और अनादि काल से नहीं जानी हुई, ऐसी दशा का हो जाना किस प्रकार सम्भव है? समझ में आया? ऐसी दशा का हो जाना कैसे सम्भव है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उसका उत्तर कहते हैं।

आचार्य कहते हैं, धीमन्! तेरा प्रश्न बहुत अच्छा है, इसलिए हे बुद्धिवन्त! सुनों अथवा समझो। '**धीमन्निबोध**' ऐसा शब्द है न? भाई! अन्दर संस्कृत है। हे बुद्धिवन्त! तू समझ। भगवान आत्मा का अन्तर अतीन्द्रियस्वरूप का आनन्द हुआ और उसकी दृष्टि उसमें लग गयी तो उसमें लीन होता है। किस प्रकार? यह कहते हैं, देखो!

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति।।४३।।

अर्थ – जो जहाँ निवास करने लग जाता है,.. पहले लौकिक दृष्टान्त दिया है। जहाँ मनुष्य का वास जिस मकान में, जिस गाँव में होता है, वहाँ उसे प्रीति जम जाती है। जिस गाँव में, किसी मकान में या किसी झोंपड़े में जहाँ जिसका निवास होता है, वहाँ उसे प्रीति जम जाती है। वहाँ से उसे निकलना ठीक नहीं पड़ता। समझ में आया? लौकिक में भी जहाँ मकान ऐसा हो, अरे! अपना झोंपड़ा हो। समझ में आया? परन्तु वहाँ पाँच, दस, पच्चीस वर्ष से रहता हो तो वहाँ उसे प्रेम हो जाता है कि मुझे यहीं अच्छा है। उसे वहाँ प्रीति होती है। उस प्रीति को कोई हटा नहीं सकता।

वह वहाँ रमने लग जाता है। वहाँ वह प्रीति करता है। **और जो जहाँ लग जाता है, वह वहाँ से फिर हटता नहीं है।** मकान में जैसे प्रीति हो गयी तो वहाँ से

निकलता नहीं। छोटा गाँव हो, बहुत पैसेवाला हो, परन्तु उसे छोटे गाँव में से निकलना नहीं रुचता। अभी तो बहुत वैसा हो गया है, इसलिए निकल जाते हैं। मकान बनाते हैं। अब तो पूरी लाईन बदल गयी है, परन्तु पहले तो पैसेवाले होते थे न, तो अपने छोटे गाँव में रहे। बस! हमारे गाँव में मकान है।

मुमुक्षु : अभी तो सब बेच डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबको बेच डाला। हो गया, जाओ। ऐई! मलूकचन्दभाई! तुम्हारा आया इसमें। मकान बेच डाला 'नाग्नेश' का। परन्तु यहाँ तो पहले छोटे गाँव में भी... कहा था न? उमराला जैसा छोटा गाँव, चार-पाँच हजार की आबादी। मकान था, पैसेवाले नहीं थे तो बेच डाला। बाद में पैसेवाला हुआ तो उसकी माँ कहे, भाई! अपना पुराना मकान चाहे जितने पैसे ले तो भी ले लेना चाहिए। माता! परन्तु किस प्रकार लेना? वह भी पैसेवाला है, जिसने मकान लिया, वह भी पैसेवाला है। मुझे कैसे देगा? हमने तो पाँच सौ-सात सौ में दिया था। अभी तो पन्द्रह रुपये उपजे तो बड़ा मकान है, परन्तु माता! वह किसलिए मुझे देगा? तो कहा - जाओ तो सही, भाई! उसने जाकर कहा, मेरी माता को उसका मकान चाहिए। पुरान मकान लेना है। क्या है? हमें तो बेचना है। कीमत क्या? कीमत दस हजार होगी। हमारा पुराना मकान है, पन्द्रह सौ का मकान था, उसके दस हजार! ले, रख दस हजार। उसको लगा, मैं भूला। दस हजार देकर ले लिया। हमारा पुराना मकान। हमारा जन्म वहाँ हुआ था। मेरी माता को वहाँ प्रेम है। वहाँ से हटना उसे सुहाता नहीं।

विशदार्थ - जो मनुष्य, जिस नगरादिक में स्वार्थ की सिद्धि का कारण होने से.. देखो! नगरादिक।

मुमुक्षु : अपनी स्वार्थ की सिद्धि देखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह तो वहाँ सिद्धि दिखती है। **नगरादिक में स्वार्थ की सिद्धि का कारण होने से बन्धुजनों के आग्रह से..** बन्धु आग्रह करे कि वहाँ तुम्हारी दुकान छोड़ना नहीं नाग्नेश की। ये तो सब पैसेवाले हो गये तो बाहर चले गये। अब अहमदाबाद का नहीं छोड़ते। समझ में आया? यह सबके लिए है न! यह तो दृष्टान्त है।

बन्धुजनों के आग्रह से निवासी बनकर.. देखो! भाई! अपना मूल गाँव नहीं छोड़ना, भाई! अपने माता-पिता का दस पीढ़ी का गाँव है, उसे नहीं छोड़ना, वहाँ रहना। अपने सन्तोष रखना। वहाँ **रहने लग जाता है, वह उसमें अन्य तरफ से चित्त हटाकर आनन्द का अनुभव करने लग जाता है।** देखो! हमारे तो यहीं आनन्द है, बस! हमारा गारे का छोटा मकान है। साधारण है, वह हमारे अच्छा है। समझ में आया? आनन्द अर्थात्? वहाँ मजा मानता है कि हमारा यह गाँव अच्छा है। **वहाँ से दूसरी जगह नहीं जाता, यह सभी जानते हैं।** दुनिया जानती है। छोटे गाँव में पड़े हों, पैसेवाला है, वहाँ रहता है, आनन्द मानता है। वहाँ से प्रीति छूटती नहीं।

इसलिए समझो कि आत्मा में अध्यात्म में रहनेवाले योगी.. भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द का रसकन्द प्रभु आत्मा है, ऐसी धर्मी को अन्तर्दृष्टि, रुचि हो गयी है। समझ में आया? और फिर उसमें लीन होता है कि जिसे तू विभिन्न आश्चर्यकारी दशा कहता है, ऐसी हो जाती है। उसमें से बाहर निकलने का भाव नहीं होता। अन्तर अतीन्द्रिय आत्मा का स्वाद आता है, उसे दूसरा स्वाद लेने की वृत्ति नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? यह धर्म... यह धर्म। अपना अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा की अन्तर्दृष्टि की, यह सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? और उसमें विशेष लीनता जम गयी तो मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? ऐसे विकल्प नहीं होते। ऐसी विभिन्न आश्चर्यकारी दशा उत्पन्न होना असम्भवित नहीं है। वह असम्भवित नहीं है। नगर का दृष्टान्त दिया कि ऐसा तो लोग भी करते हैं, तो आत्मार्थी परमात्मा का स्वरूप अपने में देखता है। अपनी प्रतीति-भरोसे का विषय आत्मा हो गया है, तो उसमें लीन होने में विशेषता क्या है? समझ में आया? कहो, समझ में आया? हरिभाई!

आत्मा में अध्यात्म में रहनेवाले योगी.. भगवान आत्मा.. क्यों? कि विषयसुख में तो आकुलता लगती है; आत्मा में अनाकुलता लगती है। समझ में आया? विषयसुख पराधीन दिखता है, आत्मा का आनन्द स्वाधीन दिखता है। अपना आनन्द धर्मी को स्वाधीन दिखता है। पंचेन्द्रिय अर्थात् यह शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। पराधीन दिखता है, आकुलता दिखती है, इन्द्रिय के विषय में बन्ध का कारण दिखता है। भगवान अनाकुल

आनन्द के विषय में एकाकार होकर बन्ध का छेद देखता है। समझ में आया? यह निर्जरा का अधिकार है न? विशेष निर्जरा करने की दशा की बात है। समझ में आया?

भगवान आत्मा अपनी पूर्णानन्द की पेढ़ी अन्दर देखता है तो पेढ़ी से हटना नहीं चाहता। पाँच-पच्चीस लाख की पूँजी हो और पेढ़ी बराबर चलती हो तो वहाँ से निकलता है? देखो! मलूकचन्दभाई को। थोड़ा भी भाग रखा है, वहाँ से हटते नहीं क्योंकि थोड़ा भाग होगा तो लड़के से माँगना मिटेगा। क्यों, मलूकचन्दभाई! यह तो एक दृष्टान्त है। ऐसे दूसरों बहुतों को ऐसा है न! ऐ.. कानजीभाई! कानजीभाई ने तो पहले से सब भाग (हिस्से) किये हैं। लड़कों का और अपना। फिर किसी को पूछना न पड़े। जिसमें जिसकी पेढ़ी जमी हुई है, उस पेढ़ी में से हटना नहीं चाहता।

मुमुक्षु : उसमें मजा पड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस! उसमें मजा पड़ा है। यहाँ कहा न? हमारे यहाँ गुंगा खाता था, गुंगा। गुंगा समझते हो? नाक का मैल। दाँत में रखकर उसे जीभ छुआता था। छोटी उम्र की बात नहीं की थी? ६०-६५ वर्ष पहले, हम दस-बारह वर्ष की उम्र में पढ़ते थे। पाठशाला में एक भावसार था। भावसार नहीं होता? समझे? भावसार जाति होती है। उसका नाम सुन्दरजी था। स्थानकवासी जैन था। वह नाक में से निकालकर दाँत में पकड़कर जीभ छुआता था। उससे कहा, अरे! सुन्दरजी! यह क्या करता है? अरे! भाई! मुझे आदत पड़ गयी है। बेचारा ऐसा कहता था, हों! नाक का मैल निकालकर दाँत में लगाकर, जीभ छुआकर जीभ से स्वाद लेता था।

मुमुक्षु : खा जाता था या फैंक देता था?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कौन जाने? परन्तु वह करता था। इतना ख्याल में रह गया। स्वाद लेता था, इतना ख्याल में रह गया। उससे हमने कहा था, हों! भाई! क्योंकि पाठशाला में हम तो मुख्य... क्या कहलाता है वह? ऐई! मॉनीटर, क्या कहलाता है वह? मुख्य होता है न? दूसरा कुछ शब्द होगा। मास्टर-बास्टर न होवे तो मैं लड़कों को पढ़ाता था। उस समय दूसरा कोई शब्द था। पाठशाला का बड़ा लड़का। वह बेचारा कहे, भाई! मुझे आदत पड़ गयी है। ऐसा बेचारा कहता था, हों! मुझे आदत पड़ गयी है। यह गुंगा खाने की,

उसका रस चाटने की। उसे वह टेव मिटती नहीं, तो जिसे आत्मा के आनन्द का स्वाद आया, वह उसमें से कैसे हटे ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा देखो ! यह धर्मी की दृष्टि आत्मा के आनन्द पर है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने में आनन्द देखता है, भासता है, अनुभव करता है। आहाहा ! उसमें एकाकार तल्लीन होने से ऐसी विलक्षण विभिन्न आश्चर्यकारी दशा उत्पन्न होती है कि जिससे निर्जरा होती है। अशुद्धता का नाश होता है और शुद्धि की वृद्धि होती है। कहो, समझ में आया ? विषयों को पराधीन, बन्धन का कारण, आकुलता और वे मिलें नहीं। पर होवे या न होवे। वह तो आत्मा का आनन्द स्वाधीन, स्वाश्रय, अनाकुल, बन्धनरहित चीज़ है। अन्दर में जितनी एकाग्रता हो, उतना आनन्द प्रगट होता है। आहाहा ! समझ में आया ? यह तो निश्चय की बात में आनन्द है और निर्जरा है, यह बात सिद्ध करते हैं। व्यवहार किस प्रकार से बन्ध का कारण है, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! कल नहीं कहा था ? कल बात कही थी न ? पुस्तक की। निकालो, भाई ! ४४ में विशेष आयेगा। '**अगच्छंस्तद्विशेषाणा-मनभिज्ञ**' ४४वीं गाथा है। भले इन्होंने देह का अर्थ किया है, विशेष का, परन्तु वास्तव में तो अपने विशेष को भी देखता नहीं, ऐसा कहना है। देखो ! यहाँ ८४ बोल में रात्रि को विशेष कहा था, समझ में आया ? यशोविजयजी श्वेताम्बर में हुए हैं महामहोपाध्याय। समझ में आया ? तीन सौ-साढ़े तीन सौ वर्ष पहले महामहोपाध्याय हुए। बुद्धिवाले थे, क्षयोपशम था। जिसे जिसकी रुचि हो, वह कहे न ? उन्होंने ८४ बोल में दिगम्बर की भूल निकाली थी। उनकी भूल निकाली थी अपने हेमराजजी ने। हेमराज पाण्डे। हमारे पास ८४ बोल है। दोनों के हैं। इनके भी हैं, उनके भी हैं। यशोविजयजी ने निकाली, वह यह है। देखो !

उन्होंने एक बोल ऐसा निकाला कि 'निश्चयनय पहले कहे, पीछे ले व्यवहार; भाषा क्रम जाने नहीं, जैनमार्ग को सार। नहीं निश्चय में शिष्य गुरु, क्रिया क्रियाफल योग, कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, विफल सब है संयोग; तातैं तो मिथ्या मति जैन क्रिया परिहार, व्यवहारी सो समकिती, कहे भास व्यवहार।' देखो क्या कहते हैं ? कि दिगम्बर लोग अनादि से जैन की परम्परा में पहले निश्चय हो तो व्यवहार होता है, ऐसा कहते हैं। ऐसा उन्होंने जान लिया था। पण्डितजी ! महामहोपाध्याय की पदवी थी। बनारस की। वे भी कहते हैं कि दिगम्बर लोग पहले निश्चय कहते हैं। देखो ! निश्चयनय पहले कहे, क्यों ?

यह सनातन धर्म है। सनातन वस्तु का स्वरूप है। क्यों? - कि जो नयज्ञान है, नय, तो नयज्ञान प्रमाणज्ञान के बिना नहीं होता और प्रमाणज्ञान सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता और सम्यग्दर्शन सामान्य ध्रुव के अवलम्बन बिना नहीं होता। समझ में आया?

भगवान आत्मा... उसमें ४४ में तो बहुत कहेंगे। आत्मा सामान्य एक स्वरूप ध्रुव है। जिसकी दृष्टि में निमित्त तो नहीं, विकल्प तो नहीं परन्तु अपनी विशेषता के प्रकार भी नहीं। अपने विशेष प्रकार भी दृष्टि का विषय नहीं। पण्डितजी! रात्रि को नहीं आये थे। कल आये थे? हाँ आये थे। ये नहीं थे। कल रात्रि को तो बहुत चर्चा हुई थी। समझ में आया? आत्मा एक समय में पूर्ण शुद्ध ध्रुव है, ऐसी दृष्टि हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; और सम्यग्दर्शन हुए बिना श्रुतज्ञानप्रमाण नहीं होता; और श्रुतज्ञानप्रमाण हुए बिना प्रमाण का अवयव ऐसा नय नहीं होता। प्रमाण अवयवी है, निश्चय और व्यवहारनय अवयव हैं; अतः पहले सम्यग्दर्शन हुए बिना, निश्चय की दृष्टि हुए बिना उसे नय होते ही नहीं। पहले व्यवहारनय और फिर निश्चय, यह वस्तु में है ही नहीं। समझ में आया? जुगराजजी! समझ में आया? क्या कारण है? कि वस्तु एक स्वरूप त्रिकाल है। शुद्ध ध्रुव अभेद ज्ञायक की दृष्टि में आये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के साथ भावश्रुतज्ञान होता है। भावश्रुतज्ञान प्रमाण है। भावश्रुतज्ञान के दो भेद—अवयव निश्चय और व्यवहार है। ज्ञान निश्चय को जानता है और रागादि व्यवहार है, उसे जानता है। दृष्टि का विषय अभेद है। समझ में आया?

पहले '**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो**' (समयसार गाथा ११) यह महासिद्धान्त। जैन शासन का, वस्तुदर्शन का त्रिकाली मन्त्र है। समझ में आया? भगवान आत्मा अपना सामान्य-अविशेष स्वरूप, सामान्य अर्थात् अविशेष स्वरूप। भेद नहीं, गुणभेद नहीं, पर्यायभेद नहीं, राग नहीं, निमित्त नहीं। ऐसी अपनी पूर्ण वस्तु की दृष्टि किये बिना इसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। पहले सम्यग्दर्शन इसके आश्रय से होता है और यह दर्शन हुआ तो साथ में श्रुतज्ञान भावप्रमाणज्ञान पर्याय में हुआ। दर्शन भी पर्याय है और श्रुतज्ञान की पर्याय भी, प्रमाण भी पर्याय है। समझ में आया? यह पर्याय है न? यह पर्याय है न? यह कहाँ गुण है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्याज्ञान। यह और कैसा ज्ञान? समझ में आया? यहाँ निश्चयनय पहले कहे, यह उसने पकड़ लिया है। दिगम्बर जैन सनातन धर्म में निश्चय पहले कहते हैं। बात सत्य है। यह निश्चय पहले कहते हैं। कहते हैं नहीं, ऐसा होता है। होता है। वे लोग कहते हैं कि पहले व्यवहार, बाद में निश्चय। तो तुम लोग भी ऐसा प्रश्न बारम्बार करते हो। पहले व्यवहार, पहले व्यवहार, पहले व्यवहार - तो तुम सब श्वेताम्बर के बाप हो गये। धन्नालालजी! वह पन्थ इस प्रकार से निकला था, क्योंकि अपनी मूल दृष्टि भूल गये। मुनिपना जो अप्रमत्तदशा है, वह तो नग्नपना होता है तो अन्तर्दृष्टिपूर्वक नग्नदशा आ जाती है। उस दशा को भूल गये। बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा। दिगम्बर पन्थ ही अनादि का था। बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा तो कपड़े बिना निभ सके नहीं। कपड़े लेकर मुनिपना है, ऐसा मानने लगे, तो दृष्टि पलट गयी। समझ में आया? ऐसा होता ही नहीं। अन्दर में अनुभवदृष्टि होती है और मुनिपने के योग्य स्थिरता होती है, तो उसे वस्त्र ग्रहण का राग उत्पन्न होता ही नहीं, यह वस्तुस्थिति ऐसी है। सम्प्रदाय की दिक्कत की है, ऐसा नहीं। ऐसा राग ही उत्पन्न नहीं होता कि उसका वस्त्र पर लक्ष्य जाए। वह भूमिका ऐसी है। समझ में आया?

मुनि की छठी (गुणस्थान की) भूमिका ऐसी है कि उसमें आहार अधः (कर्मी अथवा उद्देशिक) करने का विकल्प नहीं; वस्त्र-पात्र लेने का राग उत्पन्न हो, ऐसी वह भूमिका ही नहीं है। समझ में आया? वस्त्र ग्रहण का भाव हो गया और मुनिपना मान लिया। दृष्टि बदल गयी। फिर उसे व्यवहार पहले हो गया कि व्यवहार करो, व्यवहार करो। भाई! भक्ति करो, व्यवहार करने से निश्चय होता है। यहाँ अनादि सनातन वीतरागमार्ग में निश्चय होवे तो व्यवहार है। अपने द्रव्य का आश्रय लिया, सम्यक्त्व हुआ, तब ज्ञान प्रमाण हुआ तो दो नय हो गये। एक नय सामान्य को देखता है, एक नय विशेष रागादि देखता है, तो नय है। नय है तो उसका निक्षेप भगवान की मूर्ति आदि व्यवहार हो गया। निक्षेप, वह ज्ञेय है। नय विषयी है, वह विषय है। जबकि निश्चयनय प्रगट हुआ तो भगवान की प्रतिमा के निक्षेप का शुभराग में उसका आदर आ गया। समझ में आया? आहाहा! वस्तु की स्थिति ऐसी है। किसी ने बनायी नहीं, अतः निश्चय पहले है। समझ में आया?

निज द्रव्य का आश्रय लिए बिना सम्यग्ज्ञान हुआ कहाँ से ? और सम्यग्ज्ञान हुए बिना नय आये कहाँ से ? नय तो प्रमाणज्ञान का अवयव - भाग है। श्रुतज्ञान प्रमाण है, अवयवी है, नय अवयव है। अवयवी के बिना अवयव कैसा ? शरीर ही नहीं तो उसके अंग-उपांग है, ऐसा कहाँ से आया ? समझ में आया ? यह कहते हैं, वह यथार्थ कहते हैं। भूल निकालते हैं, वह बराबर निकालते हैं। निश्चय ही पहले कहते हैं। पहले कहे निश्चय, तो निश्चय ही पहले है। व्यवहार क्या पहले होगा ? व्यवहार तो अन्ध राग है, भेद है। पण्डितजी ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : निश्चय होगा, तब तो व्यवहार (कहलायेगा) ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तब तो व्यवहार जाननेयोग्य हुआ। रागादि हुए, वह व्यवहार है। पंच महाव्रत के परिणाम आते हैं, वह व्यवहार है परन्तु अन्दर निश्चय अनुभव-दृष्टि हुई, स्थिरता हुई, निश्चय है, वहाँ व्यवहार है। निश्चय पहले होता है, पश्चात् व्यवहार होता है, ऐसी वस्तु की स्थिति है। समझ में आया ? पश्चात् साथ में है, ऐसा कहने में आया है।

यहाँ तो यही पुकार करते हैं। सब पण्डितों को कहा था। तब दिखाया था (संवत्) २००३ के वर्ष, २९ वर्ष हुए। यहाँ विद्वत् परिषद का अधिवेशन था न ? तब बताया था। देखो ! यह क्या है ? देखो ! यह लिखते हैं, व्यवहार पहले निश्चय बाद में। वे कहते हैं, दिगम्बर पहले निश्चय कहते हैं, फिर व्यवहार होता है। ऐसा प्रश्न तो तुम सबका होता है। व्यवहार चाहिए, पहले व्यवहार चाहिए, पहले व्यवहार चाहिए। वह होवे तो निश्चय होता है। निश्चय का हेतु कौन ? समझ में आया ? ऐई ! आहाहा ! सामान्य वस्तु... अभी आयेगा, हों ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा निमित्त से हटकर, राग से हटकर, पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, गुण-गुणी भेद का लक्ष्य छोड़कर, एक स्वरूप भगवान आत्मा '**भूदत्थम**' भूतार्थ.. भूतार्थ.. भूतार्थ.. सत्यार्थ.. सत्यार्थ.. त्रिकाल है, ऐसी अन्तर्दृष्टि करने से '**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो**' यह भगवान का वचन है। समयसार ११वीं गाथा। तीन काल-तीन लोक में बदले नहीं, ऐसी सत्य बात है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन हुआ तो साथ में उसे सम्यग्ज्ञान, श्रुतज्ञान हुआ। श्रुतज्ञान साथ में है, श्रुतज्ञान हुआ तो उसमें दो भाग पड़

गये। एक सामान्य को देखनेवाला नय, एक विशेष को देखनेवाला नय। विशेष को देखनेवाले को व्यवहार कहते हैं, सामान्य को देखनेवाले को निश्चय कहते हैं। दोनों को साथ में देखनेवाले को प्रमाण कहते हैं। समझ में आया? यह वस्तु ऐसी है, परन्तु गड़बड़ बहुत हो गयी।

यहाँ भी आचार्य पूज्यपादस्वामी कहते हैं, भाई! जहाँ अपने स्वरूप की दृष्टि जम गयी, ज्ञायक चिदानन्द की पहले दृष्टि जम गयी, कि मैं तो आनन्द हूँ, आनन्द का स्वाद लेने में जहाँ तत्पर हुआ तो उसमें ऐसे विकल्प कैसे रहेंगे? समझ में आया? व्यवहार कैसे रहेगा? ऐसा कहते हैं। पहले भी जब स्वभाव का अनुभव किया, तब भी व्यवहार गौण हो गया और निश्चय स्वभाव की मुख्यता हो गयी। निश्चय, वह मुख्य नहीं; मुख्य, वह निश्चय हो गया। समझ में आया? मुख्य जो त्रिकाल भगवान अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए निश्चय स्वाश्रय है, व्यवहार पराश्रय है, परन्तु निश्चय में भी मुख्य, वह निश्चय है; निश्चय, वह मुख्य नहीं है। अपना प्रयोजन सिद्ध करने को एक समय में ध्रुव सामान्य की ओर झुके बिना उसकी निर्मल एकत्व की पर्याय प्रगट नहीं होती। इसलिए मुख्य द्रव्य सामान्य है, उसे मुख्य करके निश्चय कहा। उसका आश्रय करके सम्यग्दर्शन होता है, उसे प्रमाणज्ञान और पश्चात् नय होते हैं। समझ में आया? आहाहा! इसी और इसी में गड़बड़। खबर नहीं, सम्प्रदाय की क्या परम्परा चली आती है। आचार्य-सन्त-मुनि-सर्वज्ञ क्या कहते हैं, इसकी खबर नहीं और हमें धर्म करना है, हम धर्म करते हैं। व्यवहार करो, व्यवहार करो। व्यवहार तो आता है न? आता है न? परन्तु कौन आता है? सुन तो सही! समझ में आया?

भगवान आत्मा की निधि सामान्य चिदानन्द प्रभु की जिसे दृष्टि हुई, उसे आनन्द का प्रेम हो गया। राग का और निमित्त का प्रेम उठ गया। समझ में आया? धर्मी को राग और निमित्त का प्रेम उठ गया। आता है, होता है, जाननेयोग्य है, आदरनेयोग्य नहीं है। कहते हैं, अपूर्व आनन्द का जहाँ अनुभव हुआ... क्या कहते हैं? देखो!

इसलिए समझो कि आत्मा में अध्यात्म में रहनेवाले योगी अननुभूत.. अनन्त काल में नहीं अनुभव हुआ ऐसा। **अननुभूत (जिसका पहले कभी अनुभव नहीं**

हुआ).. आनन्द का अनुभव अनन्त काल में कभी हुआ था ? समझ में आया ? सम्यग्दर्शन में आनन्द का अनुभव हुआ, परन्तु पश्चात् भी विशेष आनन्द का अनुभव हुआ, ऐसा अनुभव पहले नहीं हुआ था। आहाहा ! अपूर्व आनन्द आता है, ऐसा कहते हैं। प्रत्येक समय में अपूर्व आनन्द आता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? भगवान आत्मा अकेला अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है। अतीन्द्रिय आनन्द, वह आत्मा। नित्यानन्दमय स्वरूप भगवान, बस ! अतीन्द्रिय नित्यानन्द प्रभु आत्मा है।

आत्मा का विश्वास किसे कहें ? मुझमें आनन्द है, विषय में आनन्द नहीं। विषय की ओर के झुकाव के राग में आनन्द नहीं। समझ में आया ? पर की ओर की आकुलता, मेरी ओर की अनाकुलता; पर की ओर की पराधीनता, मेरी ओर की स्वाधीनता; पर की ओर का बन्ध का कारण, स्व-आश्रय निर्जरा का कारण। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई तो कहते हैं अननुभूत। क्षण-क्षण में उसे विशेष आनन्द ऐसा आता है कि पहले इतनी आनन्द की पुष्टि हुई नहीं थी। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द में लवलीन-एकाकार होता है। **अननुभूत और अपूर्व आनन्द का अनुभव होते रहने से..** देखो ! **उसकी अध्यात्म के सिवाय दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं होती।** समझ में आया ?

अग्नि की ज्वाला सुलगती हो, उसमें से निकले और ठण्डे पानी में पड़ा हो बर्फ, वहाँ से निकलकर अग्नि में जाएगा ? समझ में आया ? अपना शान्त.. शान्त.. शान्तस्वभाव, अकषाय भगवान आत्मा की जहाँ दृष्टि हुई तो उसमें लीनता हुई तो बाहर किसलिए निकले ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? बाहर के विकल्प कि मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ, ऐसा विकल्प करे किसलिए ? कहो, शशीभाई ! आहाहा ! संसार में लवलीन नहीं हो जाते ? मरे तो भी खबर नहीं पड़े, लो ! लड़कों में ऐसी प्रीति हो, लड़की के लिए हो। मेरा दुःख नहीं, तुम ध्यान रखो। ऐसा कहे। अपने पुत्र के प्रति और स्त्री के प्रति इतनी प्रीति होती है। तुम्हें कैसे है ? ऐसा पूछे तो कहे, मुझे मत पूछो। तुम्हें कैसे है ? कहता है या नहीं ? अर्जुनभाई ! मुझे तो सध रहा है, और ऐसा कहे। मुझे तो बुखार और यह सध रहा है। परन्तु तुम्हें कैसे है ? क्या होली है परन्तु तुझे ? ऐसी प्रीति लगी है। उस प्रीति में अपने दुःख को भी भूल जाता है। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : लगन किसे कहे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : लगन कहलाये दु:ख की। धूल की लगन है। ऐसे यहाँ सुख की लगन हो गयी है। ओहो! मेरा आत्मा आनन्द अनाकुल शान्तस्वरूप है। बाहर विकल्प क्या करना ? समझ में आया ? विकल्प तो राग है, दु:ख है, बन्ध का कारण है, आकुलता है। आहाहा! समझ में आया ?

दोहा – जो जामें बसता रहे, सो तामें रुचि पाय।
जो जामें रम जात है, सो ता तज नहिं जाय।।४३।।

जो जामें बसता रहे, सो तामें रुचि पाय। जिसमें जिसका ज्ञान बसा, वहाँ उसकी रुचि होती है। **जो जामें रम जात है,..** वहाँ रम जाता है। समझ में आया ? ये परस्त्री के लम्पटी, देखो न! शरीर में जीर्ण हो जाए, क्षय हो जाए, रोग हो जाए, मृत्यु देखे थोड़े काल में, तो भी उस प्रीति को नहीं छोड़ते। समझ में आया ? और सब अर्पणता वहाँ कर दी है। करना क्या ? अब जाना कहाँ ? जहाँ पड़ा हो, वहाँ पड़ा रहे। अज्ञानी भी जहाँ लीन होकर पड़ता है, यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा... देखो! रुचि कराते हैं और रुचि होने के पश्चात् लीनता कहाँ करनी, वह समझाते हैं। रागादि आते हैं, वे करनेयोग्य नहीं। व्यवहार करनेयोग्य नहीं। आवे तो वहाँ से हटकर यहाँ आ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! व्यवहार का तो अभाव.. अभाव, निश्चय का आदर.. आदर। समझ में आया ?

जो जामें बसता रहे, सो तामें रुचि पाय। जिसकी जिसे आवश्यकता ज्ञात हो, वहाँ-वहाँ उसका वीर्य स्फुरित हुए बिना नहीं रहता। क्या कहा ? जिसे जिसकी आवश्यकता ज्ञात हो, उसकी आवश्यकता में उसके वीर्य की स्फुरणा हुए बिना नहीं रहती। समझ में आया ? 'प्रभु तुम जागण रीति सौ जग देखता हो लाल, निज सत्ता से शुद्ध सबको पेखता हो लाल'। हे नाथ! हमारी सत्ता भी आप तो शुद्ध देखता हो। समझे ? 'प्रभु तुम जागण रीति प्रभु तुम जागण रीति सौ जग देखता हो लाल, निज सत्ता से शुद्ध सबको पेखता हो लाल'। प्रभु! आप भी ऐसा देखते हो। समझ में आया ? हमारी निजसत्ता शुद्ध, शुद्ध, शुद्ध और पवित्र है। ऐसी जिसे दृष्टि हुई, वह उसमें लीन होता है, उसमें से क्या बाहर निकले ? समझ में आया ? उसमें प्रीति जम जाती है। प्रीति जमे वहाँ रमता है। रमता है, वहाँ से बाहर नहीं निकलता, ऐसा कहते हैं। शिष्य के प्रश्न का उत्तर दिया।

तुझे आश्चर्य लगता है, तुम तो ऐसी विलक्षण विभिन्न दशा की बात करते हो वह किस प्रकार सम्भव है ? किसलिए सम्भव नहीं ? सुन तो सही ? समझ में आया ? कहो, समझ में आता है या नहीं इसमें ? ऐई ! विद्यार्थियों ! समझ में आता है या नहीं इसमें ? खेलने में रुचि हो तो कितनी लगती है ! पढ़ने का हो तो मुश्किल से आवे। खेलने लगा हो और थोड़ा छोड़कर आया हो तो शीघ्र वहाँ खेलने जाए। मैं.. मैं.. और तू.. तू.. ऐसा कुछ करते हैं न ? क्या सब खेल करते हैं ? वहाँ करते थे। वहाँ पन्द्रह दिन थे न राजकोट। तूफान करते थे। पीछे पकड़ रखते थे और एक लड़का ऐसे-ऐसे करता था। ऐसे अलग-अलग खेल करते थे। दस जनों ने एक के बाद एक पकड़ रखे। दस जनें। एक व्यक्ति फिर उसको पकड़ने जाए। ऐसा कुछ था अवश्य। पीछे खेलते थे। उसमें ऐसा रस है कि नीचे कंकर हों, काँटे हों, धूल उड़ती हो। नीचे राख थी। किसान का घर था न पीछे ? अकेली राख उड़े.. उड़े.. उड़े। परन्तु प्रीति लगी, उसमें से हटे ? घण्टे-पौन घण्टे ऐसा करे, तब ठीक पड़े। इसी प्रकार जिसे भगवान आत्मा के आनन्द की रुचि लगी है। धर्मी की आत्मा के आनन्द की रुचि लगी है तो वह व्यायाम करने में से हटता नहीं। व्यायाम करता है पौन घण्टे ? ऐसा और ऐसा और ऐसा। समझ में आया ?

सो ता तज नहिं जाय। उसे छोड़कर नहीं जाता। अपने आनन्द को छोड़कर बाहर कौन जाए ? ऐसी दशा होना सम्भवित है, असम्भवित नहीं।

जब दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता, तब क्या होता है? उसे आगे के श्लोक में आचार्य कहते हैं-

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्ध्येते न विमुच्यते।।४४।।

अर्थ - अध्यात्म से दूसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, शरीरादिक की सुन्दरता-असुन्दरता आदि धर्मों की ओर विचार नहीं करता। और जब उनके विशेषों को नहीं जानता, तब वह बन्ध को प्राप्त नहीं होता, किन्तु विशेषरूप से छूट जाता है।

विशदार्थ – स्वात्मतत्त्व में स्थिर हुआ योगी जब अध्यात्म से भिन्न दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता, तब उस स्वात्मा से भिन्न शरीरादि के सौन्दर्य–असौन्दर्य आदि विशेषों से अनभिज्ञ हो जाता है और जब उनकी विशेषताओं पर ख्याल नहीं करता, तब उनमें राग–द्वेष पैदा न होने के कारण कर्मों से बँधता नहीं है, किन्तु व्रतादिक का आचरण करनेवालों की अपेक्षा भी कर्मों से ज्यादा छूटता है।।४४।।

दोहा – वस्तु विशेष विकल्प को, नहिं करता मतिमान।
स्वात्मनिष्ठता से छुटत, नहिं बँधता गुणवान।।४४।।

गाथा - ४४ पर प्रवचन

जब दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब क्या होता है? उसे आगे के श्लोक में आचार्य कहते हैं– शिष्य का प्रश्न है।

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयेते न विमुच्यते।।४४।।

आहाहा! देखो, **अध्यात्म से दूसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी,..** अध्यात्म अर्थात् भगवान आत्मा, अपने निजस्वरूप में विराजमान आनन्द प्रभु है, ऐसी सम्यग्दृष्टि को दृष्टि हुई है, ऐसा अध्यात्मी जीव। **दूसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ..** आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त, ध्रुव के अतिरिक्त दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता हुआ। समझ में आया? **शरीरादिक की सुन्दरता–असुन्दरता आदि धर्मों की ओर विचार नहीं करता।** शरीर, उसकी सुन्दरता, असुन्दरता, बाहर शरीर में कैसे रहता है? वाणी में कैसे है? बाहर का स्थान कैसा मिला? ऐसी सुन्दर, असुन्दरता की विशेष अवस्था, बाहर के सुन्दर असुन्दर धर्म की ओर विचार नहीं रहता। अपना परमानन्द सुन्दरस्वरूप, उसकी जिसे लय लगी है.. समझ में आया? आहाहा!

सुन्दरता–असुन्दरता आदि धर्मों की ओर विचार नहीं करता। और जब उनके विशेषों को नहीं जानता,.. क्या कहते हैं? जब अपनी विशेष दृष्टि नहीं, अपनी दृष्टि भी सामान्य पर है। समझ में आया? धर्मी की दृष्टि सदा सामान्य ध्रुव पर ही रहती है। अपने

विशेष पर भी जहाँ लक्ष्य नहीं तो परपदार्थ की विशेषता देखकर, विशेष देखकर, हों! वह पर्यायबुद्धि जहाँ नहीं रही, तो पर को पर्यायबुद्धि विशेष को देखकर जैसे राग-द्वेष होते हैं, वैसे राग-द्वेष उसे नहीं होते। समझ में आया?

अपना विशेष स्वभाव भी जहाँ लक्ष्य में नहीं, लक्ष्य में जोर तो सामान्य ध्रुव का है। क्या कहते हैं? समझने में जरा सूक्ष्म बात है, हों! एक समय में सामान्य (स्वरूप है), चाहे जैसा विकल्प हो, लड़ाई में हो, परन्तु अन्तर की दृष्टि का विषय तो सामान्य ध्रुव की ओर रुचि का परिणमन हो गया है। वह सामान्य के ऊपर से हटता नहीं है। समझ में आया? अपने सामान्य में से विशेष का लक्ष्य नहीं तो बाह्य पदार्थ की द्रव्य ध्रुवता, गुण ध्रुवता के अतिरिक्त पर्याय की विशेषता देखकर यह विशेष ऐसा है, ऐसी पर्यायदृष्टि का जहाँ निषेध हुआ, वहाँ अपनी द्रव्यदृष्टि का जहाँ आदर हुआ तो परपदार्थ की विशेषता का भी आदर नहीं रहा। विशेष देखने में नहीं रहा। समझ में आया? क्या कहा?

उनके विशेषों को नहीं जानता,.. नहीं जानता का अर्थ—विशेष जो परपदार्थ की पर्याय है, वह पर्याय उसकी इतनी है, ऐसी इसकी दृष्टि नहीं है। समझ में आया? केवलज्ञानी को देखकर भी, विशेष पर्याय को देखकर उसे प्रीति नहीं होती। आहाहा! अपनी सामान्य पर दृष्टि है और विशेष में अभी पूरा स्थिर नहीं, कमजोरी के कारण राग आता है। यह केवलज्ञान की पर्याय है, इसलिए राग आया, ऐसा नहीं। समझ में आया? जहाँ अपना सामान्य ध्रुव पर धर्मी की दृष्टि है, वहाँ अपने विशेष का भी जहाँ आदर नहीं, वहाँ परपदार्थ का ज्ञान करने में विशेष के विशेष का, इस स्त्री के सुन्दर शरीर की पर्याय तो विशेष है, तो विशेष है, उस पर उसका लक्ष्य नहीं है। विशेष है, इसलिए यह ठीक है-ऐसा लक्ष्य ही नहीं है। विशेष के कारण से राग नहीं होता। समझ में आया?

अपने में रागादि होते हैं तो वे परपदार्थ की विशेष अवस्था है, इसलिए हैं—ऐसा नहीं है। क्योंकि अपनी दृष्टि सामान्य ध्रुव पर पड़ी है। विशेष पर उसकी दृष्टि का जोर नहीं है। अपने विशेष पर जोर नहीं, तो पर के विशेष के कारण राग-द्वेष हो जाएँ-ऐसा नहीं होता। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात है। इष्टोपदेश। देखो न! **'अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञ'** अनभिज्ञ है, वह तो अनभिज्ञ है। विशेष का जोर है नहीं।

भले अधिकार में देहादि लिया, परन्तु अपने विशेष की ओर भी जोर नहीं है। समझ में आया?

यह तो सम्यग्दर्शन में आत्मा शुद्ध आनन्द की दृष्टि हुई तो माणेकस्तम्भ तो रोपा गया। फिर अब लगन लगी आत्मा की। उसकी बात करते हैं। समझ में आया? कन्या के विवाह करने जाते हैं, तो सब भूल जाते हैं, लो! गाली दे हमारे यहाँ काठियावाड़ में। विवाह करने आवे न? विवाह को क्या कहते हैं? शादी। फिर यहाँ गाली बहुत दे। गाली तो सामनेवाले को दे, क्योंकि उसकी दृष्टि कन्या लेने पर है। लाख काली बात कर परन्तु मैं कन्या लेने आया हूँ। गाली पर लक्ष्य नहीं देता। बहुत वर्ष पहले की बात है। (संवत्) १९५७ में देखा था। १९५७ के वर्ष। समझे न? भीखालाल की बहिन का विवाह था। मैंने पहले-पहले सुना। छोटी ग्यारह वर्ष की उम्र 'वरनी माँ तो मोचीडा..' ऐसा बोलते थे। 'वर तारे आवी मोजडी क्यां थी?' ऐसा सुना हुआ था। संवत् १९५७ के वर्ष। ग्यारह वर्ष की उम्र। यह श्वेताम्बर का मन्दिरमार्गी का है न वहाँ। उमराला में। वहाँ विवाह हुआ था। हमारे फावाभाई नहीं? उनकी बहिन का विवाह था। १९५७ के वर्ष, ग्यारह वर्ष की उम्र थी। वहाँ यह बोलते थे। कहा, यह क्या बोलते हैं? 'वर तारे आवी मोजडी क्यां थी रे, वरनी माँ मोचीडा ने गयी हथी रे..?' अर र..! ये क्या बोलते हैं? कहा? यह १९५७ के वर्ष की बात याद है। बाद में तो ऐसा कहीं सुना नहीं।

मुमुक्षु : ६५ वर्ष हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इतने वर्ष हो गये। समझ में आया? बोलते हैं या नहीं? भाई! वह वर सुनता था। बोले नहीं। गम्भीर.. गम्भीर.. समझ में आया या नहीं? मोजडी पहनते हैं न? मोजडी। तो हमारे यहाँ ऐसा बोले, वर तारे आवी मोजडी कहाँ से आवी? ऐसी मोजडी फर्स्टक्लास। निश्चित इसकी माँ मोजीडा के घर गयी थी, उसने दी लगती है। ऐसा बोले तो भी (कुछ बोले नहीं)। क्योंकि उसका विशेष पर लक्ष्य नहीं है। सामान्य स्त्री लेनी है, वह लक्ष्य उसका है। सब बात को छोड़कर तेरी कन्या को ले जाना है।

इसी प्रकार धर्मात्मा का किसी विशेष पर लक्ष्य नहीं है, सामान्य पर (लक्ष्य है)। विशेष पर लक्ष्य नहीं है। हमारा आत्मा ध्रुव चिदानन्द प्रभु है, उसके साथ लगन लगी है

तो दूसरे को देखते नहीं। आहाहा! समझ में आया? अपने कहाँ ऐसा प्रसंग होगा? उस दिन तो हमारे रिश्तेदार होते हैं न! इसलिए जीमने गये थे। वहाँ वे बोलते थे। कहा, ऐसा क्या बोलते हैं? ऐसा तब था, हों! यह क्या बोलते हैं? अर र..! बनियों में (ऐसा)? बनियों में ऐसा बोला जाता था परन्तु वह सामने देखे नहीं, मुस्काये नहीं। कुटुम्बियों ने कहा होगा, हँसना नहीं, हों! गम्भीरता रखना। मभो समझे न? गम्भीरता रखना।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, माणेकचन्दभाई! माणेकचन्दभाई को सब खबर होगी। ये तो गाँव में रहते हैं न? मिट्टी का मकान डाले ऐसे हैं यह तो। भले चाहे जैसा हो तो भी। बोल-बोल न करे ऐसे होशियार व्यक्ति हैं। कोई देख जाए तो क्या करे? यहाँ कहते हैं, अन्दर पूँजी देखता है। वीरचन्दभाई! भगवान आत्मा.. आहाहा! मेरा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, उसकी जहाँ धर्मी को दृष्टि हुई और उसकी ही लगन करके एकाग्र होता है। दूसरों की उपेक्षा करता है। दूसरों की दरकार नहीं करता। ओहोहो!

कथन पद्धति कैसी की है? देखो! '**आभिमुख्येनाप्रतिपत्ता**' ऐसा है न? अन्दर है न? '**देहादविशेषाणां सौन्दर्यासौन्दर्यादिधर्माणामनभिज्ञ आभिमुख्येनाप्रतिपत्ता**' उसके सन्मुख लक्ष्य है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐसा पाठ है। समझ में आया? ओहोहो! दिगम्बर सन्तों की कथन पद्धति! अल्प शब्दों में महान भर दिया है। भावलिंगी सन्त थे। सन्त-मुनि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते थे। सच्ची चारित्रदशा अनुभव में थी। समझ में आया? उनके श्लोक और उनके भाव की क्या बात करना! क्या कहते हैं? देखो! '**अगच्छंस्तद्विशेषाणाम**' आया है न? '**प्रवर्तमानस्तस्य स्वात्मनाऽन्यस्य देहादिविशेषाणां**' शरीर, भोजन, अच्छी इज्जत, सुन्दर पर्याय, इज्जत की, रूप की, गन्ध की, रस की, स्पर्श की - इन विशेषों पर लक्ष्य नहीं है क्योंकि अपने विशेष के ऊपर से लक्ष्य छूट गया है। अन्तर सामान्य ध्रुव पर दृष्टि आ गयी है तो विशेष का ज्ञान करते हैं, परन्तु विशेष का आश्रय करने की दृष्टि छूट गयी है। समझ में आया? धर्मी को परपदार्थ की पर्याय को देखकर सुन्दरता, असुन्दरता भासित होती है, ऐसा है ही नहीं। आहाहा!

वास्तव में तो भगवान आत्मा ध्रुव सामान्यस्वरूप का जहाँ अनुभव-सम्यग्दर्शन हुआ तो कहते हैं, उसकी दृष्टि में तो सामान्य ही तैरता है। सामान्य की ओर अन्तर्मुख

परिणमन हो गया है। अन्तर्मुख हो गया है, परिणमन अन्तर्मुख हो गया है। समझ में आया? बहिर्मुख जो विकल्पात्मक परिणमन था, अकेला राग के साथ एकत्व होकर बहिर्मुख होता था, वह अन्तर्मुख हो गया। अन्तर्मुख में तो सामान्य ही अनुभव में आता है। समझ में आया?

धर्मी **उनके विशेषों को नहीं जानता, तब वह बन्ध को प्राप्त नहीं होता,..** क्या कहते हैं? थोड़ा सूक्ष्म कहते हैं, हों! टीका में इतना स्पष्टीकरण नहीं है। वास्तव में तो अपने विशेष को जानता नहीं, पर के विशेष को जानता नहीं तो विशेष को देखकर जो राग और द्वेष अनुकूल और प्रतिकूल में आनेवाला था, वह उसे होता ही नहीं। इसलिए उसे बन्ध नहीं होता। समझ में आया? **किन्तु विशेषरूप से छूट जाता है।** देखो! क्या कहते हैं? पर की विशेषताएँ और अपनी विशेषताओं पर जहाँ लक्ष्य और जोर नहीं, वहाँ अपने सामान्य की ओर के जोर से **विशेषरूप से छूट जाता है।** विशेषरूप से शुद्धता बढ़ जाती है, ऐसा कहते हैं। भाई! ऐसे विशेषपने का लक्ष्य नहीं तो शुद्धता की विशेषता बढ़ जाती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? गाथा में तो बहुत गूढ़!

'अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञ जायते।' एक सामान्य की ओर, ज्ञायक की ओर दृष्टि घुँटती-घुँटती है तो दूसरे के और अपने विशेष की ओर का दृष्टि का जोर नहीं है। विशेष का जोर नहीं तो विशेषता उत्पन्न होती है। क्या कहा समझे?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बढ़ गयी... बढ़ गयी... समझ में आया?

आहाहा! उस समय मुनि का हृदय क्या काम करता होगा? श्लोक बनते होंगे तब अलौकिक काम करते हैं। उनके भाव अलौकिक काम करते हैं। आहाहा! यह तो भावलिंगी सन्त हैं ऐसे भणकार इसमें उठते हैं। वजुभाई! आहाहा!

कहते हैं, भगवान आत्मा अपनी अन्तर एकाग्रता का विषय तो सामान्य है। समझ में आया? चैतन्य अभेद पर जहाँ एकाग्रता है, वहाँ अपने भेद का भी जोर नहीं तो पर के भेद, विशेष अवस्था का भी जोर नहीं, अत: उस पर की विशेषता के जोर में जो राग-द्वेष होकर बन्ध होता था, वह पर की विशेषता, स्व की विशेषता, नहीं रही, अपने सामान्य की

अन्दर में एकाकार विशेषता हुई तो पर्याय में विशेष शुद्धता प्रगट हो गयी। वह निर्जरा हुई, पहला बन्ध था। विशेषता के लक्ष्य में और पर की विशेषता में बन्ध का कारण होता था। अपने विशेष आश्रय से या पर के विशेष देखने से यह ठीक, अठीक ऐसी पर्याय दिखती थी, द्रव्यदृष्टि नहीं थी तो बन्ध होता था, बन्ध होता था। वही दृष्टि जब सामान्य ध्रुव पर गयी तो अपने सामान्य की ओर लक्ष्य रखनेवाले धर्मी को अपने विशेष पर जोर नहीं तो परपदार्थ की जो विशेषता अवस्था है, ठीक-अठीक, उस ठीक-अठीक के कारण उसे प्रीति-अप्रीति नहीं उत्पन्न होती। समझ में आया? प्रीति-अप्रीति जो ठीक-अठीक विषय को देखकर उत्पन्न होती थी, वह नहीं उत्पन्न होती तो अपने सामान्य पर जोर है, तो निर्जरा की विशेषता उत्पन्न होती है।

मुमुक्षु : पर्याय निर्मल होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्मल होती जाती है। विशेष बढ़ता जाता है। विशेष को देखता नहीं तो विशेष बढ़ जाता है। गजब बात, भाई! आहाहा! समझ में आया? अजितप्रसादजी! आहाहा! वाह रे.. वाह..! अमृत की रेलमछेल चलती है पीछे। उसमें से निकला हुआ यह भाव है। उसे कहते हैं कि अरे! भगवान! भाई! '**अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञ जायते**' पर में तो जिसका ज्ञान ही जोर नहीं करता। पर विशेष में तो ज्ञान का जोर ही नहीं है। अपने सामान्य को देखकर जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान यथार्थ हुआ है और अपने सामान्यस्वरूप के जोर में, अपने विशेष और पर के विशेष का जोर नहीं है तो अपने सामान्य के जोर में विशेषता बढ़ जाती है। शुद्धि बढ़ जाती है, धर्म बढ़ता है, निर्जरा होती है और मोक्ष सन्मुख होता है। समझ में आया? आहाहा! समझ में आया?

विशेषरूप से छूट जाता है। वाह! अभी अर्थ में तो ऐसा आयेगा, हों! '**विशेषेण व्रताद्यनष्ठातृभ्योऽतिरिकेण तैर्मुच्यते**' व्रतादि के विकल्प हैं, उनसे भी विशेष जोर सामान्य पर है तो निर्जरा बहुत बढ़ जाती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! छठवें गुणस्थान में व्रतादि के विकल्प हैं, उसकी अपेक्षा अभेद में-सामान्य में विशेष स्थिर हुए तो निर्जरा बहुत बढ़ गयी। निर्जरा बढ़ गयी, व्रत छूट गये, वहाँ निर्जरा बढ़ गयी। वे कहें, व्रत है तो निर्जरा होती है। अरे! सुन तो सही, प्रभु! आहाहा! व्रत के भाव तो विशेष हैं, विकल्प हैं, राग विशेष

है। निर्मल पर्याय विशेष नहीं, वह तो राग विशेष है, तो राग विशेष से निर्जरा होती है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं अर्थ में भी लिखा है, हों! **व्रतादिक का आचरण..** उसको अर्थ नहीं आया। तो व्रत में शुद्धि हुई, ऐसा लिख डाला है। यह है न? समझे बिना अर्थ करते हैं। आचार्य का क्या अभिप्राय है, (वह नहीं देखते)। व्रत से निर्जरा होती है, ऐसा (अर्थ किया है)। यहाँ तो कहते हैं, **व्रतादिक का आचरण करनेवालों की अपेक्षा भी कर्मों से ज्यादा छूटता है।** छठे गुणस्थान में व्रतादि विकल्प हैं, परन्तु वहाँ से छूटकर अन्दर में एकाकार हुआ तो विशेष निर्जरा हो गयी। प्रमाद काल में निर्जरा अल्प थी और राग का बन्ध था। व्रत में से छूटकर यहाँ लीन हुआ तो शुद्धि विशेष बढ़ गयी। विशेष निर्जरा बढ़ गयी। तो क्या व्रत से निर्जरा थी? समझ में आया? प्रमाद काल में विकल्प था, जितनी शुद्ध स्वभाव के आश्रय में निर्मलता है, उतनी तो संवर-निर्जरा है, परन्तु व्रतादि के काल के अतिरिक्त अन्तर में विकल्प तोड़कर निर्विकल्प हुआ तो विशेष (निर्जरा हुई)। यह व्रत है और यह विशेष है, वह सब तो छूट गया, तो निर्जरा विशेष हो गयी, शुद्धि की वृद्धि हुई, शुद्धि की वृद्धि हुई। समझ में आया?

इसका विशदार्थ है। थोड़ा कहा न? अर्थ लिया, उसका विशद अर्थ है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४९ गाथा-४४-४५ शनिवार, दिनाङ्क २८-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल ९, वीर संवत् २४९२

पूज्यपादस्वामी ने बनाया हुआ इष्टोपदेश है। इसकी ४४ गाथा चलती है। देखो! इष्ट-उपदेश—अपना हित किससे हो, उसका यहाँ उपदेश चलता है। धर्मी जीव उसे कहते हैं कि सामान्य चैतन्यस्वरूप अपना जो त्रिकाली ध्रुव स्वरूप है, उसमें दृष्टि करके स्थिर होता है, उसे धर्मी कहते हैं। समझ में आया? पण्डितजी को आने दो। क्या कहा, समझ में आया? धर्म करनेवाले का भाव अपने ध्रुवस्वभाव पर झुकता है। समझ में आया?

इसमें शब्द में क्या समझ में आये ? कहाँ गये ? मगनभाई यहाँ नहीं ? यहाँ स्थान था न। समझ में आया ? यह तो तुम्हारे भतीजे पर लक्ष्य गया था। इसे समझ में आता है या नहीं ?

स्वात्मतत्त्व में.. ऐसा पहला शब्द पड़ा है। देखो ! स्व आत्मतत्त्व। स्व-अपना, आत्मभाव ज्ञायक परम शुद्ध आनन्द ध्रुवस्वभाव को यहाँ स्व-आत्मतत्त्व कहते हैं। समझ में आया ? भगवान आत्मा स्व-अपना आत्मतत्त्व, स्वभाव तत्त्व, जानन-दर्शन-आनन्द आदि शाश्वत् असली एकरूप स्वभाव को यहाँ आत्म-स्व-आत्मतत्त्व कहते हैं। शरीर, वाणी, स्व-आत्मतत्त्व नही। पुण्य-पाप के भाव भी आत्मतत्त्व नहीं। यहाँ तो विशेष भाव भी आत्मतत्त्व नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? क्या कहा ? यह शरीर, वाणी, मन तो आत्मा है नहीं; अन्दर पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत आदि विकल्प उठते हैं, वह भी आत्मा नहीं। उसकी विशेष अवस्था जो है, वह भी पूर्ण आत्मा नहीं; इसलिए स्व-आत्मतत्त्व, ऐसा शब्द लिया है।

स्व-भगवान अपना असली स्वरूप त्रिकाली ज्ञायकभाव अथवा परमपारिणामिक स्वभाव स्वत: स्वभावभाव, वह स्व आत्मतत्त्व है। आहाहा ! उसमें **स्थिर हुआ..** धर्मी उसमें दृष्टि लगाकर **स्थिर हुआ योगी..** योगी अर्थात् धर्मी। आहाहा ! यह इष्टोपदेश है। अपना हित स्व आत्मतत्त्व ज्ञायक पूर्ण अभेद है, एकरूप स्वरूप है। उस पर दृष्टि लगाने से और उसमें स्थिर होने से अपना शुद्धता का हित-प्रयोजन सधता है। अपना प्रयोजन आनन्द की प्राप्ति, वह प्रयोजन, स्व-आत्मतत्त्व ज्ञायकभाव पूर्ण ध्रुवस्वरूप में दृष्टि लगाकर स्थिर होता है, उसे अपना प्रयोजन—आनन्द की प्राप्ति—सिद्ध होता है। समझ में आया ? इसका नाम इष्ट उपदेश। इसमें अपना हित सधता है।

जब अध्यात्म से भिन्न.. भगवान आत्मा एकरूप स्वभावी भगवान ध्रुवस्वरूप, अनन्त गुण होने पर भी एक स्वरूप। ऐसे अध्यात्म आत्मा से भिन्न, पहले कहा था कि **स्वात्मतत्त्व में स्थिर हुआ योगी..** अब कहते हैं **अध्यात्म से भिन्न..** अपना स्व आत्मा ज्ञायकस्वभाव शुद्ध आनन्द से भिन्न **दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता,..** दूसरी जगह पुण्य-पाप आदि के विकल्प में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। समझ में आया ? स्व-आत्मतत्त्व चिदानन्द प्रभु, अनाकुल आनन्दभाव में दृष्टि करके, स्थिरता करनेवाला, स्वहित साधनेवाला,

उसे अपने आत्मस्वभाव से अन्य पुण्य-पाप के शुभ आदि परिणाम में भी प्रवृत्ति नहीं होती। भारी सूक्ष्म, भाई! समझ में आया? पहली बार सुननेवाला तो भाग जाए, ऐसा है। क्या कहते हैं? हम जो बात मानते हैं, वह सब चली जाती है।

यहाँ तो कहते हैं, देखो! **तब उस स्वात्मा से भिन्न..** जब अपना स्वभाव शुद्ध ध्रुव अभेद एक में प्रवृत्ति होने से, उसमें दृष्टिपूर्वक स्थिरता होने से, अपने आत्मा के अतिरिक्त शुभाशुभ परिणाम में भी जिसकी प्रवृत्ति नहीं। **तब उस स्वात्मा से भिन्न शरीरादि के सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि विशेषों से अनभिज्ञ हो जाता है..** शरीर की अवस्था कैसी है? मनोज्ञ है या अमनोज्ञ है? बाहर में मेरी प्रतिष्ठा विशेष है या अप्रतिष्ठा है? इन सब विशेषों से अनभिज्ञ हो जाता है। समझ में आया? मैं आत्मा मेरे शुद्धस्वभाव-सन्मुख झुकाव से, जिसका झुकाव अध्यात्म अर्थात् आत्मस्वभाव से, बाह्य वस्तुओं पर झुकाव नहीं तो आत्मा के अतिरिक्त जो शरीरादि बाह्य पदार्थ हैं, उनकी विशेषता का वह ज्ञान नहीं करता, विशेषता से अनभिज्ञ है। आहाहा! शरीर में कैसे होता है? शरीर कैसे रहता है? ठीक रहता है या नहीं? ऐसा कुछ लगता है या नहीं? हड्डियों में ऐसा हो गया। इन सब शरीर की अवस्थाओं से अनभिज्ञ हो जाता है।

मुमुक्षु : बेखबर हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बेखबर हो जाता है। आहाहा! समझ में आया?

और जब उनकी विशेषताओं पर ख्याल नहीं करता,.. वास्तव में तो भगवान आत्मा अपना सामान्य एकरूप स्वभाव पर झुकने से उसकी जो विशेषताएँ हैं, पर्याय की विशेषताओं की ओर भी उसका झुकाव नहीं है। अपनी विशेष दशा की ओर भी उसका झुकाव नहीं है। समझ में आया? आहाहा! भारी सूक्ष्म बात, भाई! लोगों ने सुनी न हो तो ऐसा लगे, यह तो क्या होगा? ऐसा वीतराग का मार्ग होगा? भगवानजीभाई! यह सामायिक करना, प्रौषध करना, प्रतिक्रमण करना, यह किया और वह किया, अमुक नहीं खाना, लो! इसमें कोई राग मन्द हो जाए तो मिथ्यादृष्टि सहित पुण्यबन्ध हो जाए, मिथ्यादृष्टि से आत्मा बँध जाए। उसमें आत्मा की खिलावट और आत्मा खुले, ऐसा नहीं होता। समझ में आया?

कहते हैं कि भगवान आत्मा.. समझ में आया ? अपने शुद्धभावस्वभाव-सन्मुख झुकने से... यह शरीर आदि तो पर है, वाणी पर है, कर्म पर है। वास्तव में तो पुण्य-पाप का राग उठता है, वह भी पर है और अपनी वर्तमान विशेष अवस्था है, वह अवस्था तो सामान्य की ओर ढलती है। समझ में आया ? अपना झुकाव सामान्य की ओर है। अपना झुकाव पर की ओर तो नहीं परन्तु अपनी विशेषताओं की ओर भी झुकाव नहीं। रतिभाई! गजब बात, भाई! ऐसा महँगा धर्म ? लोग कहते हैं न कि ऐसा ? परन्तु प्रभु तेरी चीज तो सत् और सहज और सरल है, परन्तु बात यह है कि इसने श्रद्धा में महंगी कर डाली है। समझ में आया ? ऐसी वस्तु क्या है ? ऐसे कैसे प्राप्त हो ? ऐसे कैसे हो ? इस प्रकार इसने प्रयत्न में दखल कर डाला है।

महान पदार्थ मौजूद आनन्दकन्द सत् सच्चिदानन्द प्रभु को दृष्टि में समीप लाना चाहिए। इसके अतिरिक्त दृष्टि में राग, पुण्य को और बाह्य पदार्थ को समीप लिया, यह तो इसकी दृष्टि का दोष है। समझ में आया ? जिसकी अन्तर्दृष्टि में पूर्णानन्द प्रभु को समीप लाना चाहिए अथवा उसके सन्मुख होना चाहिए, वही है—ऐसा दृष्टि में आना चाहिए, ऐसा न मानकर, दृष्टि में राग, पुण्य यह मैं हूँ, ऐसा उन्हें समीप लाकर उनके अस्तित्व का अनादि से स्वीकार करता है। कहो, धीरुभाई! समझ में आया या नहीं इसमें ? ऐई! जीतू! लड़कों को समझ में आता है या नहीं इसमें ? आत्मा है न ? इसमें आत्मा की बात है। इसमें कहाँ शरीर धूल की बात है ?

भगवान आत्मा में दो अंश—एक त्रिकाली सामान्य ध्रुव अंश और एक वर्तमान विशेष अंश। अब कर्म, शरीर तो कहीं पर में रहे और पुण्य-पाप के विकल्प भी वास्तव में पर-आस्रवतत्त्व में गये। अपने आत्मा में दो अंश-एक सामान्य ध्रुव कायम और एक उसकी वर्तमान विशेष दशा-अवस्था। जब अपना कार्य सिद्ध करना है, शान्ति लाना है, आनन्द लाना है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करना है तो वह आनन्द की ही प्राप्ति है। उसे वर्तमान अवस्था जो राग पर, पर के ऊपर, जो लक्ष्यगत है, उसका ही अस्तित्व स्वीकारता है, वह तो दुःखरूप है। वह तो मिथ्यादृष्टिपना है। उसमें पूरा भगवान आत्मा एक समय में स्व-आत्म पूर्णानन्द प्रभु दृष्टि में ओझल हो जाता है। राग, पुण्य और पर को

स्वीकार करने से अपना पूरा आत्मा ढंक जाता है, ओझल हो जाता है और जब अपना शुद्ध स्वरूप परमानन्द की दृष्टि और स्थिरता करता है तो परवस्तु ओझल हो जाती है। उसका— वस्तु का विशेष ज्ञान नहीं रहता और अपने विशेष का भी ज्ञान नहीं रहता। आहाहा! अपना विशेष सामान्य पर रहा। सामान्य का ज्ञान हुआ, उसमें भले विशेष के ज्ञान का प्रकाश होता है। यह विशेष है, ऐसा ज्ञान करने की आवश्यकता नहीं रहती। कहो, समझ में आया?

जब उनकी विशेषताओं पर ख्याल नहीं करता,.. भगवान आत्मा अपना ध्रुवस्वरूप, कायमी असली परमात्मस्वरूप की एकाकार दृष्टि करने से, उसे अपनी विशेषताओं का भी ख्याल नहीं तो परपदार्थ की विशेषताओं का तो ख्याल होता नहीं। **तब उनमें राग-द्वेष पैदा न होने के कारण..** पर की विशेषताएँ देखने से यह ठीक-अठीक है, ऐसा होने से मिथ्यादृष्टिरूप से राग-द्वेष होते थे। समझ में आया? और अपनी विशेषताएँ देखने से, अपनी एक समय की अवस्था देखने से, उसका आश्रय करने से तो राग उत्पन्न होता था। राग उत्पन्न होता था, द्वेष उत्पन्न होता था। अपना शुद्ध आत्मस्वभाव कायमी चैतन्यस्वभाव पर लक्ष्य करने से, दृष्टि देने से पर की विशेषता और अपनी विशेषता में जो एकत्वबुद्धि, राग-द्वेष आदि थे, वे राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। समझ में आया? भारी बात, भाई!

जब उनकी विशेषताओं पर ख्याल नहीं.. इसका अर्थ यह कि परपदार्थ की विशेषताओं में यह ठीक-अठीक है, उसका ख्याल नहीं, तो परपदार्थ के विशेष में जो ठीक-अठीक से राग-द्वेष उत्पन्न होते थे, उस विशेषता का लक्ष्य नहीं और अपने सामान्य का लक्ष्य है तो पर की विशेषता में जो राग-द्वेष होते थे, वे नहीं होते और अपनी विशेषता का आश्रय करके जो राग-द्वेष उत्पन्न होते थे, कषाय उत्पन्न होती थी, वही सामान्य का आश्रय करने से, अपने विशेष का आश्रय छोड़ दिया तो उसके जो राग-द्वेष उत्पन्न होते थे, वे नहीं होते। समझ में आया? गजब भाई यह तो!

मुमुक्षु : यह सम्यग्दर्शन का विषय।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विषय। सम्यग्दर्शन का विषय कहो, चारित्र का विषय कहो, ज्ञान का विषय कहो। दर्शन-ज्ञान और चारित्र का आश्रय तो द्रव्य है। समझ में आया?

तीनों का आश्रय तो द्रव्य है, अतः तीनों ने जहाँ द्रव्य का आश्रय लिया, तो विशेष और पर का आश्रय रहा नहीं।

मुमुक्षु : उसके बाद क्या करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करे ? निर्जरा हो जाती है। फिर क्या करना ? फिर करना कहाँ रहता है ? ठीक पूछते हैं कि बाद में क्या करना ?

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण शुद्ध ब्रह्म आनन्दकन्द सामान्य है। सामान्य अर्थात् सदृश एकरूप की दृष्टि हुई, उस पर एकाकार हुआ तो उसकी दृष्टि सामान्य पर रही, तो विशेष पर लक्ष्य जाकर जो राग-द्वेष उत्पन्न होते थे, इस सामान्य के आश्रय से राग-द्वेष उत्पन्न नहीं हुए और शान्ति की उत्पत्ति हुई। अकषायभाव (उत्पन्न हुआ), यह कहते हैं। विशेषता के लक्ष्य से भ्रमसहित जो राग-द्वेष उत्पन्न होते थे, वह अपने ज्ञायकतत्त्व पर दृष्टि होने से दृष्टिपूर्वक वीतरागता की विशेषता की वृद्धि होती है। आहाहा! समझ में आया ? आचार्य ने ऐसी शैली से बात रखी है न! बहुत संक्षिप्त में।

मुमुक्षु : बहुत सूक्ष्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म परन्तु यथार्थ है न! यही है न! सूक्ष्म कहो तो भी यही है न। दूसरी वस्तु ही कहाँ है ? समझ में आया ? सूक्ष्म है, ऐसा जाननेवाला जानता है, उसे सूक्ष्म कहाँ रहा ? सूक्ष्म है, ऐसा जाननेवाले को सूक्ष्म कहाँ रहा ? समझ में आया ? वह तो प्रगट हुआ।

ज्ञायक चैतन्य प्रभु जो दृष्टि में नहीं था और दृष्टि में जो वर्तमान अवस्था राग-द्वेष या पर की अवस्था (थी), उसका जो अस्तित्व था, वह दृष्टि में से उड़ गया और आत्मा प्रत्यक्ष हो गया। ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप उस महासत्तास्वरूप मैं हूँ, ऐसी दृष्टि जम गयी तो महासत्ता प्रगट दृष्टि में आयी। और अपने ज्ञान में वही ज्ञेय आया। सूक्ष्म है परन्तु बाकी नहीं रहा। समझ में आया ? पण्डितजी! आहाहा! ज्ञान में ज्ञेय आ गया, फिर सूक्ष्म कहाँ रहा ? ज्ञान में ज्ञेय यह आत्मा है, ऐसा ख्याल आ गया।

जैसे एक ज्ञान की पर्याय में वर्तमान पर्याय का, राग-द्वेष का और वर्तमान संयोग का ख्याल था, वह तो मिथ्यादृष्टिपना था। भगवान आत्मा ओझल में रह गया था। चिदानन्द

प्रभु यह वस्तु.. यह वस्तु.. यह वस्तु सामान्य की ओर ज्ञान झुकने से ज्ञान में सामान्य ज्ञेय हो गया, कुछ बाकी नहीं रहा। नहीं ज्ञात हो, ऐसा बाकी नहीं रहा। समझ में आया ?

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि **जब उनकी विशेषताओं पर ख्याल नहीं करता, तब उनमें राग-द्वेष पैदा न होने के कारण कर्मों से बँधता नहीं है,..** यह तो एक नास्ति से बात की है। पहले विशेषताओं पर लक्ष्य करने से ठीक-अठीक बुद्धि जो थी, वह ठीक-अठीक बुद्धि गयी और ठीक-अठीकपने का राग-द्वेष भी गया। अपने सामान्यस्वभाव पर दृष्टि करने से विशेषताओं के लक्ष्य से जो राग-द्वेष करता था, वे रहे नहीं। उसके कारण से बन्ध होता था, वह भी रहा नहीं।—तो हुआ क्या ? यह तो बन्ध नहीं हुआ, तो अस्तिरूप से हुआ क्या ? **किन्तु व्रतादिक का आचरण करनेवालों की अपेक्षा भी कर्मों से ज्यादा छूटता है।** देखो ! क्या कहते हैं ? मुनि आदि छठवें गुणस्थान में या पाँचवें गुणस्थान में पंच महाव्रत या बारह व्रत के विकल्प थे। मुनि को विकल्प थे। अन्दर सामान्य में जहाँ स्थिर हुए तो व्रत के विकल्प के स्थान पर जितनी निर्जरा थी, उसकी अपेक्षा स्थिर हुआ, तब विशेष निर्जरा हो गयी। व्रत के विकल्प छूट गये तो विशेषता निर्जरा की हो गयी। समझ में आया ? भारी सूक्ष्म (बात)। इस अन्तिम शब्द का अर्थ उसमें दूसरा किया है कि व्रतादि से छूटता है। ऐसा नहीं है। यहाँ तो व्रतादि से छूटने से निर्जरा होती है, ऐसा अर्थ है। समझ में आया ? क्या कहते हैं।

जब धर्मात्मा अपने शुद्ध ध्रुवस्वरूप में लगे हैं तो व्रतादि के विकल्प जो पाँचवें और छठे गुणस्थान में थे, शुभराग था, उसे छोड़कर जहाँ स्वसन्मुख हुआ तो निर्जरा विशेष बढ़ गयी, सामान्य का विशेष आश्रय करने से, छठवें गुणस्थान में जो पंच महाव्रत के, (पाँचवें में) बारह व्रत के विकल्प थे, तब सामान्य का आश्रय थोड़ा था और विकल्परहित जहाँ विशेष आश्रय हुआ, स्वभाव का विशेष आश्रय हुआ तो विकल्प छूट गये और यहाँ विशेष दशा प्रगट हो गयी। विशेष शुद्धि की वृद्धि हुई। समझ में आया ? गजब बातें, भाई ! ऐसा धर्म वीतराग का ! झट कुछ पकड़ में आये नहीं। अजितप्रसादजी ! भाई ! नहीं पकड़ में आवे, ऐसी वस्तु नहीं है। ऐसा अभ्यास किया नहीं। इसे इसका माहात्म्य आया नहीं। माहात्म्य नहीं आया, माहात्म्य आया नहीं। समझ में आया ? और ऐसा मान रखा है कि ऐसा

करने से ऐसा होता है और ऐसा होता है तथा यह होता है - ऐसा मान रखा है। विशेष लक्ष्य बाहर है, उसमें कुछ धर्म हो जाएगा, ऐसा मान रखा है। विशेष से कुछ धर्म नहीं होता। विशेष के आश्रय से और विशेष में धर्म होता नहीं। विशेष में धर्म होता है परन्तु सामान्य का आश्रय करने से होता है। समझ में आया?

विशेष दशा में विशेष का आश्रय करने से धर्म नहीं होता। विशेष अपनी पर्याय— दशा में आश्रय करने से धर्म नहीं होता। पुण्य-पाप के विकल्प का लक्ष्य करने से और आश्रय करने से धर्म नहीं होता। बाह्य संयोग का लक्ष्य करने से और निमित्त का आश्रय करने से धर्म नहीं होता। भारी सूक्ष्म, भाई! परन्तु भगवान आत्मा एक समय में ध्रुव सामान्य शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसका आश्रय लिया विशेष ने, आश्रय लिया विशेष ने परन्तु विशेष सामान्य में लीन हुआ, तो विशेष का विशेष में लक्ष्य नहीं रहा। समझ में आया? अब क्या कहते हैं इसमें? वजुभाई! समझ में आया? इसमें कुछ समझ में नहीं आता। सिरपच्ची है। वहाँ जाति में बोलना हो न धड़ाका-भड़ाका (करना हो तो खबर तो पड़े) ऐ.. त्रिभुवनभाई! वह मार्ग लेना हो, अमुक में, अमुक में, दीक्षा लेता हो वहाँ मिथ्यात्व का अनुमोदन करना हो, वहाँ ठीक पड़े। मलूकचन्दभाई! वहाँ समझ में भी आये कि हम कुछ करते हैं, काम करते हैं। समझ में आया? आहाहा!

आचार्य महाराज इष्टोपदेश-हितकारी वाक्य कहते हैं। वाचक हितकारी है तो वाच्य हितकारी किस प्रकार होगा? हितकारी वाच्य-भाव। हितकारी भाव तो त्रिकाली स्वात्म ज्ञायकमूर्ति के आश्रय से हितकारी भाव प्रगट होता है। पर्याय के आश्रय से, निमित्त के आश्रय से, राग के आश्रय से अपना हितकारी भाव प्रगट नहीं होता। भगवान पूज्यपादस्वामी ऐसा उपदेश करते हैं। आहाहा! दिगम्बर सन्तों की बलिहारी है न! ऐसी बात संक्षिप्त में इस प्रकार रखते हैं कि पूरे ब्रह्माण्ड को छोड़कर अन्दर में घुस जा। आहाहा! समझ में आया? तेरे देव, गुरु और शास्त्र का लक्ष्य करने से भी राग होता है, कहते हैं। समझ में आया? परद्रव्य का लक्ष्य करने से राग होता है, उनका आश्रय करने से भी राग होता है। रागी है। स्वभाव के आश्रय से निर्जरा की विशेषता होती है। समझ में आया? आहाहा! नये लोगों को ऐसा लगे क्या है यह? यह किस प्रकार का कहते हैं?

कहते हैं **व्रतादिक का आचरण..** व्रत, तप। समझ में आया? व्रत और तप का आचरण करनेवाले से भी अधिक लाभ होता है क्योंकि व्रत के विकल्प के समय अपने स्व-आत्मा का आश्रय था, परन्तु अल्प था और विकल्प में पराश्रय का जरा विकल्प उठा था, इतना पुण्यबन्ध था, उसे छोड़कर स्वात्मा में विशेष आश्रय लिया तो विशेष विकल्प छूट गये। और विशेष निर्जरा हो गयी। समझ में आया? आहाहा! आस्रव रुक गया, आस्रव के कारण से बन्ध होता था, वह रुक गया और आत्मा के आश्रय से विशेषता का लक्ष्य नहीं रहा। तो विशेषता बढ़ गयी। अपने विशेष का और पर के विशेष का आश्रय नहीं रहा और स्व-आत्मा का विशेष आश्रय रहा तो पर्याय में विशेषता-निर्जरा की शुद्धि बढ़ गयी। आहाहा! कहो, समझ में आया? जवानों को यह समझ में आता है या नहीं? इन सबको भविष्य में तैयार होना पड़ेगा। अभी बहुत गड़बड़ चलती है। आहाहा! परन्तु गजब बात है। कहो, यह ४४ गाथा (पूरी) हुई। लो!

दोहा – वस्तु विशेष विकल्प को, नहिं करता मतिमान।
स्वात्मनिष्ठता से छुटत, नहिं बँधता गुणवान।।४४।।

श्लोक के शब्द हिन्दी में हैं। **वस्तु विशेष विकल्प को,..** भगवान आत्मा अभेद शुद्ध ध्रुवस्वरूप का लक्ष्य करने से विशेष के विकल्प के भेद का लक्ष्य नहीं करता। पर का लक्ष्य तो नहीं करता परन्तु अपने में पर्यायभेद का भी जिसे लक्ष्य नहीं रहता। समझ में आया? अभेद भगवान आत्मा का अन्तर्लक्ष्य करने से जो हित सिद्ध होता है। तो विशेष का लक्ष्य नहीं रहता। **नहिं करता मतिमान।** उसे मतिमान कहते हैं, देखो! बुद्धिमता, बुद्धिमता उसे कहते हैं कि जो विशेष का आश्रय-लक्ष्य छोड़कर सामान्य के आश्रय में पड़ा है, विशेष का भेद नहीं करता और सामान्य ध्रुव सन्मुख में लीन होता है, उसे बुद्धिमता कहते हैं। आहाहा! भले क्षयोपशम-जानपना कम-ज्यादा हो... समझ में आया? उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। बुद्धिमता उसे कहते हैं कि जहाँ सामान्य का लक्ष्य ही छोड़ देना। सामान्य से राग से लाभ होता है, यह बात तो है नहीं। समझ में आया? दुनिया को समझावें तो उसमें से अपने को थोड़ा लाभ मिले।

मुमुक्षु : कितना प्रतिशत?

पूज्य गुरुदेवश्री : थोड़ा मिलता होगा। दसवाँ भाग। ये गरासिया कहते हैं। गरासिया कहते हैं कि जमीन कोई बिके और धर्म हो, उसका दसवाँ भाग मिले, ऐसा कहते हैं। यह जमीन होती है न? जमीन, उसमें कुछ धर्म होता हो तो उसका दसवाँ भाग मिलता है। एक बार कहते थे। यह प्रवचनमण्डप का जब शिलान्यास हुआ, तब कहता था। यहाँ दरबार था, गुजर गया, तखुभाई था, यहाँ धर्म होगा, उसमें हमको गरासिया को दसवाँ भाग तो मिलेगा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : देते समय अर्थात्? यहाँ धर्म करनेवाले होंगे तो ठीक है, इतना जो शुभविकल्प हुआ, इतना शुभ हुआ। इतना किया होता तो। बाकी लोभ (होवे) कि इस पैसे का ऐसा होगा और इसका ऐसा होगा (तो अशुभ है)। यहाँ धर्मी जीव धर्म करेंगे, यह ठीक है, ऐसा जो शुभविकल्प हुआ हो तो पुण्य बँधेगा। यह वहाँ करेगा और उसके कारण से यहाँ होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार यहाँ उपदेश देनेवाले का जो विकल्प है, वह तो पुण्यबन्ध है। उसमें आत्मा को लाभ कहाँ है? देखो! दुनिया समझे तो उसकी पर्याय का यहाँ लाभ आता है, बिल्कुल नहीं, बिल्कुल नहीं। आहाहा! कहते हैं कि बुद्धिमता तो उसे कहते हैं, अपने शुद्धचिदानन्द में विशेष का विकल्प नहीं करता, विशेष का विकल्प नहीं करता, विकल्प करके समझाता है और उससे आत्मा को लाभ है, ऐसा तो है नहीं। ऐ.. धन्नालालजी!

मुमुक्षु : पर्याय का लाभ नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय का क्या लाभ है? पर की पर्याय तो उसके पास रही। यहाँ विकल्प उठाया तो विकल्प तो राग है। स्वात्मतत्त्व में बुद्धिमता जितनी अन्दर स्थिर होती है, वही विशेषता निर्जरा होती है। उसका नाम लाभ है। आहाहा! लोगों को ऐसा कि अपन दुनिया को समझावे न, तो लाभ हो, अपने को लाभ हो। बहुतों को मिले तो अपने को लाभ होता है। धूल में भी नहीं। दृष्टि मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : प्रभावना होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन प्रभावना? वह तो विकल्प है, उसे व्यवहार प्रभावना कहते

हैं। वह तो बन्ध का कारण है। उसमें आत्मा को क्या लाभ हुआ। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र में पादमूल...

पूज्य गुरुदेवश्री : पादमूल का अर्थ क्या हुआ? पादमूल का अर्थ क्या है? विकल्प है। विकल्प से आत्मा को लाभ क्या हुआ? उसका पादमूल है तो उसे यहाँ क्या लाभ हुआ? भगवान के समीप में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हुआ तो भगवान को क्या लाभ हुआ?

मुमुक्षु : भगवान की समीपता से अपने को लाभ हुआ न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान से तो हुआ ही नहीं, परन्तु भगवान को क्या लाभ हुआ? और यहाँ क्षायिक समकित हुआ तो भगवान से क्या हुआ? क्षायिक समकित तो स्वभाव के समीप गया, तब क्षायिक समकित हुआ है। ऐ.. पण्डितजी!

मुमुक्षु : भगवान के पादमूल से होवे तो सबको हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबको हो जाए। वह तो अपने समीप में सामान्य पर एकाकार हुआ तो क्षायिक समकित हो गया। स्वयं के कारण से हुआ है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त वह तो कहने में (आता है) दूसरी एक चीज़ है, वह जानने की वस्तु है। समझ में आया? आहाहा! लोगों को अभी कितनों को भ्रम है, अपन दुनिया को समझाते हैं न, उसमें से लाभ मिलेगा। धूल में भी नहीं। तेरी दृष्टि मिथ्या है। श्रद्धा में मिथ्याभ्रम है। समझ में आया? *थोड़े नजदीक आओ। यहाँ जगह है। पीछे धूप में बैठे हैं।* कोई कहे ऐसा निकाला कहाँ से? निकाला है कहाँ? है। अरे! भगवान! देख तो सही! ओहोहो! इसके ख्याल में बैठ जाए, ऐसी बात है। समझ में आया? इसका आत्मा मध्यस्थता से स्वीकार करे, ऐसी तो बात है। भगवान! तेरी शुद्धता ध्रुवता में समीपता से लाभ है या विशेषता की समीपता में लाभ है? या विकल्प से लाभ है? या दूसरे समझ जाएँ, उससे तुझे लाभ है? आहाहा! कहो, मोहनभाई! तो फिर कराते किसलिए हैं? ऐसा एक व्यक्ति कहता था। सोगनचन्दजी कहते थे (कि) तो मन्दिर किसलिए बनाते हो? कौन बनाता है? वह तो उस समय में होता है और बनानेवाले का शुभभाव होवे तो निमित्त

कहने में आता है परन्तु उस शुभभाव से हुआ, ऐसा नहीं है और शुभभाव आये बिना रहता नहीं है परन्तु फिर भी उस शुभ विशेष से आत्मा को लाभ नहीं है। लाभ नहीं है परन्तु आये बिना रहता नहीं है। समझ में आया? शुभराग आये बिना रहता नहीं, शुभभाव से जीव को शान्ति का / धर्म का लाभ नहीं है, तथापि आये बिना रहता नहीं। उसे ही व्यवहार कहते हैं। आहाहा! जिससे लाभ नहीं, उसे व्यवहार कहते हैं; जिससे लाभ हो, उसे निश्चय कहते हैं। लाभ नहीं तो किसलिए करते हो? परन्तु आये बिना रहता नहीं। जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक ऐसा शुभराग भूमिका के योग्य आता है। आओ, परन्तु उससे लाभ नहीं है। आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया?

नहिं करता मतिमान। स्वात्मनिष्ठता से छुटत,.. यह एक शब्द है। भगवान आत्मा स्व-आत्मतत्त्व में निष्ठा, निष्ठा-स्थिरता, उसमें एकाग्रता से ही छूटता है। बस! एक ही बात। **नहिं बँधता गुणवान।** उसको-गुणवान को बन्धन नहीं होता। कहो, समझ में आया? कहाँ गये भाई? अलवर। जवान। नहीं आया? अलवर का आया है न? उनके साथ में है न? नहीं है। बाहर बैठे हैं। यह ४४ गाथा (पूरी) हुई।

और भी कहते हैं-

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।४५।।

अर्थ – दूसरा दूसरा ही है, इसलिए उससे दुःख होता है, और आत्मा आत्मा ही है, इसलिए उससे सुख होता है। इसीलिए महात्माओं ने आत्मा के लिए उद्यम किया है।

विशदार्थ – पर देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरह से भी उन्हें आत्मा या आत्मा के सदृश नहीं बनाया जा सकता। जब कि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्मा के मान लेने से) दुःख ही होगा। कारण कि दुःखों के कारणों की प्रवृत्ति उन्हीं के द्वारा हुआ करती है, तथा आत्मा अपना ही है, वह कभी देहादिकरूप नहीं बन सकता। जब कि ऐसा है, तब उससे सुख ही होगा। कारण कि दुःख के कारणों को वह अपनाता ही

नहीं है। इसी लिए तीर्थंकर आदिक बड़े-बड़े पुरुषों ने आत्मा के स्वरूप में स्थिर होने के लिए अनेक प्रकार के तपों के अनुष्ठान करने में निद्रा-आलस्यादि रहित अप्रमत्त हो उद्यम किया है।।४५।।

दोहा - पर पर तातें दुःख हो, निज निज ही सुखदाय।
महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय।।४५।।

गाथा - ४५ पर प्रवचन

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।४५।।

ओहोहो! देखो! ४५ में क्या कहते हैं? **दूसरा दूसरा ही है,..** आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध ध्रुवस्वरूप परमानन्दमूर्ति है, उससे पुण्य-पाप के विकल्प, शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव-गुरु-शास्त्र पर, वे पर ही हैं।

मुमुक्षु : देव-गुरु पर?

पूज्य गुरुदेवश्री : देव-गुरु-शास्त्र (पर हैं)। यहाँ पुण्य-परिणाम भी पर है तो परपरिणाम का निमित्त भी पर है। **दूसरा दूसरा ही है,..** दूसरा अर्थात् अपने शुद्ध ध्रुवस्वरूप के अतिरिक्त दूसरे पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव, शरीर, देव-गुरु-शास्त्र, प्रतिमा, मन्दिर, सम्मेदशिखर और भगवान का समवसरण, यह सब पर है। **दूसरा दूसरा ही है, इसलिए उससे दुःख होता है,..** दूसरे को अपने में अपनाने से दुःख होता है। अपने ध्रुवस्वभाव में, दूसरे मेरे हैं-ऐसा अपनाने से (मानने से) दुःख होता है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : इसका अर्थ ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा अर्थ है। तुम्हारे मित्र को पूछो।

मुमुक्षु : पैसे से दुःख होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे से नहीं, यहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष्य करने से दुःख

है, परद्रव्य है इसलिए। पैसा धूल तो कहीं रह गयी। ऐ.. मलूकचन्दभाई! आहाहा! अपने आत्मा के अतिरिक्त जितने दूसरे, दूसरे और स्वयं। दो भाग हैं। अपना आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप, उसके अतिरिक्त दूसरे पुण्य-पाप राग, सर्व पदार्थ देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार सम्मेदशिखर और शत्रुंजय। **इसलिए उससे दुःख होता है,..** कारण कि दूसरे को अपना मानने से दुःख ही होता है क्योंकि दूसरे पदार्थ अपने नहीं होते और अपना स्वरूप पररूप कभी नहीं होता। पररूप जो पररूप है, उसे अपने में अपनाने से यह मेरा है और मुझे लाभदायक है, मुझे आश्रय करनेयोग्य है, इस प्रकार दूसरे को अपने मानने से दुःख ही होता है। समझ में आया? दूसरी भाषा से कहें तो अपने अतिरिक्त दूसरे पदार्थों को अपने मानने से मिथ्यात्व की आकुलता ही उत्पन्न होती है। समझ में आया?

दूसरा दूसरा ही है, इसलिए उससे दुःख होता है,.. क्योंकि दूसरा अपने से भिन्न, वह भिन्न ही है। उसे अपने को लाभ करनेवाला है, अपना है—ऐसी मान्यता दुःख उत्पन्न करनेवाली है। उसे दूसरा दुःखरूप है, ऐसा कह दिया। मिथ्यात्वभाव—पर को अपना मानता है, वह दुःखरूप है तो परपदार्थ भी दुःखरूप है। निमित्त से वह परपदार्थ दुःखरूप है। समझ में आया? यह इष्ट उपदेश है।

आत्मा आत्मा ही है, इसलिए उससे सुख होता है। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानमूर्ति प्रभु आत्मा को आत्मा कहते हैं। उस आत्मा को आत्मा से माना तो सुख होता है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, वही मैं हूँ, ऐसी दृष्टि करने से आत्मा, आत्मा का हुआ, वहाँ आनन्द होता है। समझ में आया? दिगम्बर आचार्य का छोटा ग्रन्थ... समझ में आया?

दूसरा दूसरा ही है, इसलिए उससे दुःख होता है,.. एक और दो, बस! एकड़े एक और बिगड़े दो। समझ में आया? क्या कहते हैं तुम्हारे में? बगड़े, बगड़े। बगड़े अर्थात् बिगाड़ होता है। समझ में आया? अपना भगवान आत्मा ज्ञायक चिदानन्द आनन्दस्वरूप से दूसरी वस्तु को अपनी मानने से बिगाड़ होता है, मिथ्यात्व का लाभ होता है। समझ में आया? क्यों पण्डितजी? परन्तु इसमें क्या हुआ? भगवान को अपना मानने में दुःख है?

मुमुक्षु : बिगाड़ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिगाड़ है?

मुमुक्षु : एकत्वबुद्धि।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकत्वबुद्धि में दूसरे को अपना माना परन्तु वह दूसरा तो अपना है नहीं और उससे अपने में लाभ ही नहीं। साक्षात् भगवान त्रिलोकनाथ हो या वाणी हो। वाणी पर में नहीं आती ? अरे! सुना नहीं। लोगों ने वीतरागमार्ग सुना नहीं। आहाहा! अरे! ये लोग कहते हैं कि दिव्यध्वनि से लाभ नहीं होता। भगवान! दिव्यध्वनि तो पर में गयी। समझ में आया ? उस पर के आश्रय से तो दुःख ही होता है। आहाहा! शोर मचावे न लोग। कहो, भगवान के पास जाकर, पूज्यपादस्वामी को कहो कि ऐसा कैसे ? ऐ.. वजुभाई! आहाहा! भाई! यह तो स्थिर होने की वस्तु है। प्रभु! अन्दर समझकर समा जाने की वस्तु है, फुदक्के मारने की वस्तु नहीं है। आहाहा!

कहते हैं कि **आत्मा आत्मा ही है, इसलिए उससे सुख होता है।** दो बातें की। भगवान आत्मा ही उसे कहते हैं। पुण्य-पाप तो आस्रव है, शरीर आदि अजीव है, पर तो पर ही है, तो आस्रव से लेकर परपदार्थ को अपने ज्ञायकस्वभाव में अपने मानना, वह मिथ्यात्व का दुःख है और भगवान आत्मा शुद्ध ध्रुव ज्ञायक मैं हूँ, आत्मा को आत्मा का मानने में सुख की उत्पत्ति है। मोक्षमार्ग की उत्पत्ति है अर्थात् आनन्द की उत्पत्ति है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

इसीलिए.. इस कारण से। कारण रखा है। इस कारण से, इस हेतु से, ऐसी वस्तु की स्थिति होने से। **महात्माओं ने आत्मा के लिए उद्यम किया है।** लो! सन्तों ने धर्मात्मा ने अपने आत्मा के लिए अन्तर में उद्यम किया है। अन्दर में समाने का उद्यम किया है, बाहर आने का उद्यम उन्होंने छोड़ दिया है। आहाहा! समझ में आया ? भाई! तीर्थंकरगोत्र बाँधे तो केवली हो जाए। बाहर के लक्ष्य से पुण्यभाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधता है। यहाँ तो कहते हैं, वह पुण्यभाव दुःखरूप है। इस समय दुःखरूप है। जो दुःखरूप है, वह सुख का कारण होगा ? ऐसा लिखा है, तीर्थंकर प्रकृति परम्परा केवलज्ञान का कारण है। टीका में लिखा है, लिखा है, अब सुन तो सही। समझ में आया ? यह तो ऐसा भाव आया था, वह है तो दुःखरूप, पराश्रयभाव। वह परद्रव्य है। उसे समझे तो मुझे लाभ होगा, यह दृष्टि तो मिथ्यात्व है परन्तु ऐसा भाव नहीं, तथापि जितना परद्रव्य का आश्रयभाव हुआ वह

दु:खरूप है। इस कारण से आत्मा ने आत्मा का आश्रय लिया तो अपने शुद्ध आत्मा को शुद्ध रखा, अंगीकार किया, तो सुख होता है। उसे मोक्षमार्ग होता है, पर को अपनाता है, उसे बन्धमार्ग उत्पन्न होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अपना भगवान शुद्ध चैतन्य आनन्द को अपनाना - यही मैं हूँ, ये रागादि मैं नहीं, तो सुख उत्पन्न होता है, सुख की उत्पत्ति होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन-सत्यदर्शन, सत्यज्ञान, सत्यचारित्र तीनों शान्तिरूप हैं, उनकी उत्पत्ति होती है। और परवस्तु से मुझे लाभ है, पर है तो मुझे लाभ है, ऐसी दृष्टि से मिथ्यात्व और राग-द्वेष का लाभ होता है, दु:ख का लाभ होता है। आहाहा! (लोग) चिल्लाने लगते हैं। पण्डितजी! बहुत से पण्डित कहते हैं, अरे! एकान्त हो जाता है। अरे! कानजीस्वामी.. परन्तु कानजीस्वामी का कहाँ है? यह तो भगवान का है।

मुमुक्षु : पूज्यपाद आचार्य कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस गाथा का पुकार है। यह क्या है? विशेषता का आश्रय छोड़ दिया, पश्चात् स्व और पर दो का भेद करता है। समझ में आया? आहाहा! जिसे स्व-आत्मा का हित करना हो, उसे आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त, दूसरे विकल्प से लेकर परपदार्थ को अपना मानना नहीं। अर्थात् उसके लक्ष्य से, उसके आश्रय से मुझे लाभ होता है, यह मान्यता मिथ्यात्व का दु:ख उत्पन्न करती है। आहाहा!

मुमुक्षु : अजब गजब है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अजब गजब है। वीतरागमार्ग है न! भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। आहाहा! राग का उत्पन्न होना, व्रत का, उपदेश का, दूसरे का हित कैसे हो, ऐसा विकल्प बन्ध का कारण है, दु:ख का कारण है, अपना स्वरूप नहीं है।

भगवान आत्मा 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम, वीजुं कहिये केटलुं कर विचार तो पाम' श्रीमद् ने कहा है न? श्रीमद् में आत्मसिद्धि में आता है। उन्होंने आत्मसिद्धि बनायी है।

'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम,
वीजुं कहिये केटलुं कर विचार तो पाम'

समझ में आया ? इसका अर्थ भी नहीं समझते। श्रीमद् क्या कहना चाहते हैं ? ऐसे के ऐसे स्वयं पक्ष बाँधकर, वाड़ा बाँधकर पड़े हैं। ऐ.. न्यालभाई ! न्यालभाई तो सब देख आये हैं न ! यह तो वीतरागमार्ग है, बापू ! यहाँ कहीं वाड़ा और पक्ष की बात नहीं है। कोई व्यक्ति पूजा की बात नहीं है। व्यक्ति-आत्मा अपनी पूजा करे, तब देव-गुरु-शास्त्र की पूजा का शुभभाव यथार्थ आता है। आहाहा ! समझ में आया ?

विशदार्थ – पर देहादिक अर्थ, पर ही है। पर देहादिक अर्थ अर्थात् पदार्थ। **पर ही है।** पुण्य-पाप के भाव भी परपदार्थ है। शुभ-अशुभभाव होते हैं न ? वे भी परपदार्थ है। देहादिक में सब ले लेना। यहाँ तो अशरीरी भगवान और यहाँ शरीर के साथ सम्बन्ध। यहाँ अकेला अशरीरी आत्मा। **देहादिक अर्थ,..** अर्थात् देह, वाणी, पुण्य-पाप के भाव, देव-गुरु-शास्त्र, सम्मेदशिखर और शत्रुंजय। सिद्धगिरि... सिद्धगिरि। कितने ही (कहते हैं) सिद्धगिरि में मोक्ष जाते हैं। सिद्धगिरि में रहे... वे काशी में जायें तो करौत ले तो एकावतारी हो। वैष्णव में (ऐसा मानते हैं)। इसी प्रकार यहाँ यदि सिद्धगिरि में मरण होवे तो (मोक्ष में जाए)। यहाँ कहते हैं, मूढ़ है। सिद्धगिरि तो यह आत्मा है। समझ में आया ? जिसमें से सिद्धपर्याय प्रगट होती है, ऐसा भगवान सिद्धगिरि है। वह सिद्धालय है। आत्मा सिद्धालय है, आत्मा स्वयं है। समझ में आया ? उसके समीप में जाए, उसे सिद्धि होती है। अकेला सिद्धालय.. नीचे सिर फोड़े, पर्वत में ऊपर ९९ वें बार जाए और आये, नीचे उतरे। ९९ बार पूर्व-उत्तर ऐसा कहते हैं। ऐई ! आता है न तुम्हारे 'पूर्व नवाणु बार ऋषभ जिन शत्रुंजय गये थे' तो अपने ९९ यात्रा करें तो अपना कल्याण हो जाए। ९९ क्या, करोड़ ९९ कर तो उससे निर्जरा और धर्म नहीं है, ले ! ऐई ! तब ऐसा हुआ था, हों ! तुम्हारे पिताजी आये थे और बराबर यह बात हुई थी। पहले-पहले आये थे। एकदम भड़क गये। हाय.. हाय.. ! वहाँ से आये और बात यह निकली।

वे श्वेताम्बर कहते हैं, करोड़ पूर्व। पूर्व आता है न ? कितनी बार वहाँ ऋषभदेव भगवान शत्रुंजय आये थे, इसलिए वह सिद्धगिरि है, इसलिए उसकी सेवा करे, वहाँ जाए तो मुक्ति हो जाए। ये लोग कहते हैं, सम्मेदशिखर को 'एक बार वंदे जो कोई' परन्तु उसमें क्या हुआ ?

एक बार भी वंदे कोई, सिद्ध भगवान शुद्ध ध्रुव चिदानन्द प्रभु का आश्रय एक बार ले तो जन्म-मरण का नाश हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! यहाँ है, सम्मेदशिखर तो यहाँ (अन्दर) है। आहाहा! सम्मेदशिखर। वीतराग का शिखर यह परमात्मा है।

कहते हैं, **देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरह से भी उन्हें आत्मा या आत्मा के सदृश नहीं बनाया जा सकता।** क्या कहते हैं? किसी प्रकार भी आत्मा को परवस्तुरूप नहीं बनाया जा सकता। आत्मा या आत्मा के सदृश। पुण्य-पाप को आत्मा या आत्मा के सदृश भी पुण्य-पाप को और परपदार्थ को नहीं बनाया जा सकता। आहाहा! आत्मा ज्ञायक चैतन्य भगवान प्रभु के अतिरिक्त पुण्य-पाप, देव-गुरु-शास्त्र आदि सबको आत्मा या आत्मा के सदृश नहीं बनाया जा सकता। अपना आत्मा भिन्न तत्त्व है। पर को आत्मा नहीं बनाया जा सकता और आत्मा सदृश भी नहीं बनाया जा सकता, ऐसा कहते हैं। उसके जैसा तो है या नहीं? नहीं। पर आत्मा जैसा है ही नहीं। भगवान है न? तीर्थंकर है न? वे तो अपने जैसे हैं या नहीं? इस आत्मा के जैसे वे हैं या नहीं? नहीं। आहाहा! आचार्य-दिगम्बर सन्त यह बात करते हैं, हों! मारफाड़.. जगत में क्या होता है? समाज समतौल रहेगी या नहीं? समाज मेरी बात सुनकर विषमता उत्पन्न करेगी या नहीं? मार्ग ऐसा है। आगम के सत्य रहस्य का उद्घाटन यह है। समाज समभाव से रहो या विषमभाव हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? परन्तु वापस बीच में आये बिना रहता नहीं, यह व्यवहार न माने तो वह मोही मूढ़ है। व्यवहाररूप से व्यवहार मानना, वह बराबर है। आदर नहीं है। समझ में आया? परन्तु व्यवहाररूप से व्यवहार है। शुभराग है, पूजा है, मूर्ति आदि है। व्यवहाररूप से व्यवहार है। है, उसे मानना। है, ऐसा मानना परन्तु आदरणीय मानना नहीं। आहाहा! गजब बात, भाई!

देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरह से भी.. किसी प्रकार से भी **उन्हें..** अर्थात् पुण्य-पाप आदि परद्रव्य को। **आत्मा या आत्मा के सदृश नहीं बनाया जा सकता।** सिद्ध को भी आत्मा जैसा बनाया जा सकता है या नहीं?

मुमुक्षु : सिद्ध भी पर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर है? ठीक, है, पुराने व्यक्ति हैं। वैष्णव में से आये हैं। इन पुराने

दिगम्बर को (बात) जँचती नहीं। समझ में आया?

भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द प्रभु है, ऐसे आत्मा को, पर को अपने आत्मा जैसा या आत्मारूप बनाया नहीं जा सकता। पर तो पररूप रहता है। 'जिनप्रतिमा जिन सारखी' जिन सारखी-ऐसा कहा है न? परन्तु वह जिन सरीखी बनायी नहीं जा सकती। वीतरागरूप से वह बनायी नहीं जा सकती, ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा! 'जिनप्रतिमा जिन सारखी' वीतराग जैसी बनायी जा सकती है? वीतरागभाव जो अपना स्वभाव है, उसके जैसी यह बनायी जा सकती है? कि इसे ऐसा बनाओ। वीतरागभाव है, ऐसी बनाओ, अपना स्वभाव जैसी बनाओ। कहाँ से बने? आहाहा!

पर देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरह से.. किसी प्रकार से, किसी भी प्रयत्न से, किसी भी तरह से, किसी भी उद्यम से। **उन्हें आत्मा..** पर को आत्मा **या आत्मा के सदृश नहीं बनाया जा सकता।** ओहो! **जबकि ऐसा है, तब उनसे (आत्मा या आत्मा के मान लेने से) दुःख ही होगा।** देखो! जब पर को अपना आत्मा बनाया नहीं जा सकता, पर को अपने आत्मा के जैसा बनाया नहीं जा सकता, तो पर से दुःख ही होता है। इन लड़कों से दुःख होता होगा? मलूकचन्दभाई! पैसे से, लड़कों से, स्त्री, पुत्र, देव-गुरु-शास्त्र से यहाँ तो दुःख है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! धूल में भी वहाँ सुख नहीं है। आहाहा! परपदार्थ को अपने और अपने जैसे बनाया नहीं जा सकता तो पर के आश्रय से तो दुःख ही होता है। आहाहा! आकुलता ही उत्पन्न होती है, विकल्प और राग ही उत्पन्न होता है। वह दुःखरूप है। ओहोहो!

समाधिशतक में कहा है, हों! वृक्ष को अग्नि लगाने से... होता है। ऐसा है न कुछ? सिद्ध जैसा ध्यान करने से भी वैसा होता है। एक गाथा है। वृक्ष में अग्नि लगने से स्वयं से घर्षण कर वृक्ष जल जाता है और सिद्ध के दर्शन करने से... परन्तु उसका अर्थ क्या? यह चीज़ है। सर्वज्ञ परमात्मा जैसी मेरी चीज़ मेरे पास है, मैं ही हूँ। इस प्रकार अपने स्वरूप को अपनाने से अपने को धर्म-शान्ति होती है। पर को अपनाने से ऐसा कभी नहीं हो सकता। समझ में आया? वह तो दुःख ही होता है। अब इसका कारण बताते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५० गाथा-४५ रविवार, दिनाङ्क २९-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल १०, वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश की ४५वीं गाथा चलती है। क्या कहते हैं? देखो! **पर देहादिक अर्थ, पर ही है।** है ४५ गाथा? विशदार्थ। विशदार्थ यह आत्मा शुद्ध आनन्द ज्ञानघन है, इससे जितने शुभ-अशुभराग और कर्म, शरीर आदि सब पर है। वह पर ही है। **किसी तरह से भी उन्हें आत्मा या आत्मा के सदृश नहीं बनाया जा सकता।** किसी भी पुरुषार्थ से, प्रयत्न से इस राग को, विकल्प को, शुभ आदि को और शरीरादि को अपने रूप नहीं बनाया जा सकता।

मुमुक्षु : अनन्त शक्ति है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त शक्ति कैसी? अपने को सम्हालने में। अनन्त शक्ति अपने सन्मुख होकर स्थिर होने में अनन्त शक्ति है। समझ में आया? आत्मा के सदृश भी बना नहीं सकते। आत्मारूप तो बना सकते नहीं। शुभाशुभराग, शरीर, कर्म आदि, देव-गुरु-शास्त्र या सब परपदार्थ, वे आत्मा के सदृश या आत्मारूप, आत्मा पर को बना नहीं सकता।

जबकि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्मा के मान लेने से) दुःख ही होगा। क्या कहते हैं। भगवान आत्मा शुद्ध चिद्घन आनन्दकन्द स्वरूप है, वह पर को अपना कर नहीं सकता तो पर के लक्ष्य से और पर के आश्रय से जो रागादि उत्पन्न होते हैं, वह दुःख ही है। अपना पदार्थ शुद्ध चैतन्य का, अन्तर स्व विषय सामान्य को लक्ष्य में से छोड़कर जितना परपदार्थ के प्रति आश्रय या लक्ष्य जाता है, वह सब दुःख का ही कारण है।...

यह आत्मा और पर, दो चीज़ यहाँ कहते हैं। आत्मा एक समय में शुद्ध आनन्द अनाकुल चैतन्यतत्त्व है। समझ में आया? *थोड़े नजदीक आओ। बाहर लोग हैं।* आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वभाव सम्पन्न आत्मवस्तु है। वह आत्मा पुण्य-पाप का राग और शरीर, कर्म को अपना बना नहीं सकता। वे परपदार्थ जितने शरीर आदि या शुभपरिणाम आदि हैं, उनका आश्रय करने से उसमें दुःख ही है।

मुमुक्षु : संवर, निर्जरा होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : संवर, निर्जरा किस प्रकार? संवर, निर्जरा वह कहते हैं कि आत्मा सुखरूप है तो आत्मा सुख का कारण है। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आनन्दमूर्ति है तो वह सुख का ही विषय और सुख का कारण है। वह स्व आश्रय, शुद्ध चैतन्यमूर्ति का अन्तर आश्रय करना, सामान्य पर लक्ष्य करके विशेष में शुद्धि होना, वही अपना हित है, वही यहाँ इष्टोपदेश में कहते हैं। कहो, समझ में आया? अपना लक्ष्य छोड़कर जितना शुभ-अशुभ राग में (लक्ष्य) जाता है, वे परपदार्थ हैं, वे दुःखरूप हैं। कहो, सेठ! ओहोहो! **दुःख ही होगा।**

कारण कि दुःखों के कारणों की प्रवृत्ति उन्हीं के द्वारा हुआ करती है,... भगवान आत्मा एक समय में शुद्ध ध्रुव है। उसका आश्रय, आत्मा का आश्रय, वह सुखरूप है। इसके अतिरिक्त जितना परपदार्थ के प्रति लक्ष्य जाता है, आश्रय से या लक्ष्य से, जितने रागादि उत्पन्न होते हैं, समझ में आया? वह सब राग दुःख की प्रवृत्ति का कारण होने से दुःख ही है। उसके द्वारा दुःख होता है। ओहोहो! समझ में आया? चैतन्य ज्ञायक शुद्धस्वरूप अपना-सामान्य का अन्तर्लक्ष्य करने से विशेष दशा में आनन्द का विषय होने से आनन्द उत्पन्न होता है, इसका नाम संवर और निर्जरा है और परलक्ष्य में जितने विकल्प उत्पन्न होते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप का राग (होता है), अथवा उपदेश देने का राग (होता) है, वह सब दुःख की प्रवृत्ति है। समझ में आया?

भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप के लक्ष्य से, ध्येय से शुद्धि करता है, इसके अतिरिक्त शुद्धि का दूसरा उपाय नहीं है। दूसरे में उपाय मान लेना कि मैं दया, दान, व्रत, भक्ति करता हूँ तो मुझे शुद्धि होगी, यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। समझ में आया? और मैं दूसरे को उपदेश देता हूँ, तो मुझे ज्ञान की वृद्धि होगी, शुद्धि होगी, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति दुःख का कारण है। कहो, हरिभाई!

मुमुक्षु : ..... पढ़ाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ पढ़ाते नहीं। जो विकल्प आया, वह दुःखरूप है। परपदार्थ का कर सकता हूँ, यह मान्यता तो मिथ्यात्व है, परन्तु परपदार्थ में लक्ष्य जाता है, राग होता

है कि मैं पढ़ाता हूँ, वह राग स्वयं दुःखरूप है। समझ में आया?

कारण कि दुःखों के कारणों की प्रवृत्ति उन्हीं के द्वारा.. परद्रव्य के लक्ष्य से जो राग उत्पन्न हुआ, वह दुःख का कारण है। समझ में आया? आहाहा! कितने ही व्यामोह में (मानते हैं कि) हम दुनिया को समझा देते हैं और दुनिया धर्म प्राप्त कर जाए तो मुझे लाभ होगा। यह मिथ्यादृष्टि का व्यामोह है। समझ में आया? मैं दूसरे को समझाऊँ तो मेरी ज्ञानशक्ति, शान्तिशक्ति बढ़ जाएगी। दूसरे को समझाते, समझाते मेरी शुद्धि बढ़ जाएगी, यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। ऐसा है नहीं। जुगराजजी! मार्ग बहुत अलग है। आहाहा! बल्लभदासभाई! आहाहा!

भाई! तेरी वस्तु पूर्णानन्द प्रभु है न! उस ओर सामान्य का लक्ष्य करके जितनी शुद्धि की वृद्धि होती है, वह स्वभाव के आश्रय से होती है। संवर, निर्जरा, मोक्ष का मार्ग वह मोक्षस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से मोक्ष का कारण उत्पन्न होता है। समझ में आया? मैं दुनिया को समझा दूँ, मैं बहुत समझा सकता हूँ और वे लोग बहुत ज्ञान प्राप्त करते हैं, मैं भी बहुत ज्ञानवान हूँ तो लोगों को समझा सकता हूँ और उससे मुझे लाभ है, यह दृष्टि मिथ्या है, मिथ्यादृष्टि है। ऐई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन शुद्धि की वृद्धि करे? अपनी शुद्धि की वृद्धि अन्तर के आश्रय से करे, वह शुद्धि की वृद्धि है। ... विकल्प भी दुःख का कारण है। पण्डितजी! आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वाणी, वाणी के कारण से निकलती है। पर का तो कुछ किया ही नहीं। तीर्थंकरगोत्र बाँधने का विकल्प आया, वह भी दुःखरूप है, ऐसा कहते हैं। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधा, वह भाव दुःखरूप है। परद्रव्य के आश्रय से हुआ है, इतना अपना लक्ष्य चूक गया है। बन्ध है। यहाँ तो दुःख की विशेष व्याख्या है। दुःख और सुख की व्याख्या ही यहाँ ली है। समझ में आया? यहाँ तो राग उत्पन्न होता है.. समझ में आया? पर का हित करने का, तो पर का हित तो कर नहीं सकता परन्तु अपने में जो विकल्प उठता है, वह दुःखरूप है। आहाहा! वीतरागमार्ग। वह कोई...

तेरी शुद्धि, संवर, निर्जरा होवे वह शुद्ध भगवान आत्मा अपना आनन्दस्वरूप है, उसका अन्तर में आश्रय हुआ, एकाकार हुआ, उतना जीव को शुद्धि का लाभ है। समझ में आया? समझे? खतौनी कर डालते हैं कि कैसी प्रभावना करता है, कैसा भाव है, लोगों में कैसा लाभ होता है, इसे भी लाभ होता है। समझ में आया? ऐसी वस्तु नहीं है। ऐ.. वजुभाई!

मुमुक्षु : कोई काम करता होवे तो उसका उत्साह टूट जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्साह भंग होगा तो स्वभाव पर दृष्टि जाएगी। ऐ.. मलूकचन्दभाई! यह दलाली करता है, अभी काम करना है, उसका उत्साह भंग हो जाएगा। 'होशिडा मत होंश न कीजै' ऐसी एक सज्झाय आती है। यह बहुत वर्ष पहले संसार में पढ़ी थी। चार सज्झायमाला आती है। भाई! यह विकल्प उठाना (दु:खरूप है)। समझ में आया?

एक और दो बात है। भगवान आत्मा अपना आनन्द और शुद्धस्वरूप अकेला है, उसमें अन्तर एकाकार होकर जितनी शुद्धि प्रगट करता है, उतना अपना लाभ है और जितने विकल्प उठाता है, चाहे तो प्ररूपणा का हो, शास्त्रज्ञान का हो, समझाने का हो, समझ में आया? सब विकल्प दु:खरूप, दु:ख का कारण, संयोगी चीज़ प्राप्त होने में निमित्त है। स्वभाव की प्राप्ति में वह कारण नहीं है। आहाहा! कहो, बल्लभदासभाई! गजब बात, भाई!

आत्मा आत्मा ही है। अब परद्रव्य की बात (बन्द की)। भगवान आत्मा ज्ञायक चैतन्य शुद्धस्वरूप का पिण्ड प्रभु है, वह आत्मा आत्मा ही है। वह आत्मा, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, उस भावरूप आत्मा कभी होता ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! एक जीव को भी धर्म प्राप्त करावे तो... श्रीमद् में आता है, तो तीर्थंकर गोत्र बाँधे। वह प्रसन्न हो जाता है।

मुमुक्षु : कौन प्राप्त करावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्राप्त करावे नहीं, उसे ऐसा कि अपन दूसरे को प्राप्त करावें तो अपने को तीर्थंकरगोत्र बाँधेगा। वह तीर्थंकरगोत्र बाँधे, उसमें उत्साह है, वह दृष्टि मिथ्यात्व है, उसे तीर्थंकरगोत्र बँधता ही नहीं। ऐई! न्यालभाई! ऐसा कि अपन दूसरे को समझावें,

दूसरे समझें तो अपने को बहुत लाभ हो। तेरी दृष्टि मिथ्यात्व है। समझ में आया? बोलने की शक्ति भी न हो, विकल्प भी न हो और स्वरूप की ओर एकाग्रता हो, वही शुद्धि का कारण है। वाणी हो, न हो; विकल्प हो, न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। अपना शुद्ध भगवान आत्मा परमानन्दमूर्ति के अन्तरलक्ष्य में सामान्य का अभेद का, एकरूप का जितना लक्ष्य किया, आश्रय किया, बस! उतनी शुद्धि उत्पन्न हुई, वह अपना लाभ है। समझ में आया?

कहते हैं (कि) **आत्मा आत्मा ही है, वह कभी देहादिकरूप नहीं बन सकता।** भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप का पिण्ड कभी रागरूप, शरीररूप होता ही नहीं। पररूप नहीं होता तो आत्मा दु:खरूप का कारण होता ही नहीं। समझ में आया? जरा सूक्ष्म पड़े परन्तु मूल चीज़ यह है। यह इष्टोपदेश है। समझ में आया? लोगों की गड़बड़ ऐसी हो जाती है कि अपन पढ़ लो, सीख लो, लोगों को सिखला देंगे, अपना समझा देंगे, अपने को लाभ होगा। तेरी दृष्टि पर मिथ्यात्व में पड़ी है। समझ में आया? आहाहा! ऐ.. चिमनभाई! परन्तु गजब बातें भाई!

अपने को इतना विशेष ज्ञान हो तो समझा सकें, लोगों को उत्तर दिया जा सके, लाभ हो। मूढ़ है। वह तो परावलम्बी ज्ञान में लाभ माना। तेरी दृष्टि मिथ्यात्व हो गयी। आहाहा! और विकल्प आया, उसमें तूने लाभ माना, और कोई निर्विकल्प आत्मा के ध्यान में स्थिर है, उसे लाभ नहीं मानता। (ऐसा कहे कि) वह तो अकेला ध्यान करता है। समझ में आया? अन्दर में किसी को समझावे, बाहर प्रसिद्ध हो (तो लाभ होता है)। ऐई! दास! क्या कहा? दास का प्रश्न आया। दास को बहुत वर्ष पहले एक ने पूछा था कि अपने को समझे उसमें लाभ है या दूसरे को समझावे उसमें लाभ है? दास को पूछा था। दास ने क्या जवाब दिया, खबर नहीं। बहुत वर्ष पहले की बात है। खबर है? इसे खबर नहीं। दिवालीबाई ने तुमको पूछा था। अब याद आया? कितने वर्ष पहले की बात है, वह दिवालीबाई, लीली की गोराणी। एक बार तुमने कहा, वह मुझे याद है। कितने वर्ष पहले? इसे पूछा था। परिवर्तन के पहले की बात है। ३१ वर्ष पहले की बात है। समझ में आया? ऐसे समझ (हुई हो) और शीघ्र व्याख्यान दे, लोगों को समझावे, उसे लाभ हो। (और यह तो) अकेला बैठा रहे।

मुमुक्षु : प्रभावना है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में प्रभावना नहीं। प्रभावना किसे कहना? प्रभावना की व्याख्या क्या? जिसकी श्रद्धा में शल्य पड़ा है, उसे व्यवस्थित चलता नहीं। कहाँ से व्यवस्थित चले? न्यालभाई! आहाहा! शशिभाई!

यह तो इष्टोपदेश है। पूज्यपादस्वामी एकदम दो टुकड़े (भाग करते हैं)। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द भगवान की अन्तर्दृष्टि, सामान्य अभेद की दृष्टि और अभेद का लक्ष्य करके एकाग्र हुआ, वही तुझे लाभ की वस्तु है क्योंकि आत्मा दुःख का कारण नहीं है, दुःख का विषय नहीं है। सुख का कारण है और सुख का विषय है। समझ में आया? आहाहा! वे तो अभी (ऐसा कहते हैं), शुभयोग से ऐसा होता है और दूसरे को ऐसा होता है। स्वयं भी जरा भ्रम में पड़ जाए। व्यामोह में। पाँच-पचास हजार लोग एकत्रित हों तो.. वाह! ...उपदेश... वाह...! स्वयं भ्रम में पड़ जाए की मुझमें कुछ लगता है। दूसरे कदर करें, इसलिए इसे ऐसा लगे कि मुझमें कुछ लगता है। मूढ़ हो गया है, कहते हैं। आहाहा! बाबूभाई! कैसा होगा यह? कल अजब-गजब का कहते थे। आहाहा! भाई! यह तो वीतराग प्रभु का मार्ग है। आत्मा वीतरागस्वरूप विराजमान है, उसका आश्रय करने से भी अन्तर में जितनी शुद्धि अन्तर के आश्रय से प्रगट करे, वह जीव को लाभ है; बाकी जितने विकल्प आदि उठते हैं, वह दुःख का कारण, दुःख की प्रवृत्तिरूप है। आत्मा के लाभ में बिल्कुल मदद जरा भी नहीं है। आहाहा! वीतरागमार्ग...

मुमुक्षु : आपके जैसे गुरु ही ऐसी बात कर सकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह देखो न! यह पूज्यपादस्वामी क्या कहते हैं? क्या कहते हैं? देखो!

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्। यह एक पद रखा है। जितनी भगवान अपने शुद्धस्वरूप का आश्रय, प्रवृत्ति अपनी छोड़कर जितने विकल्प उठते हैं— दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप और दूसरे को उपदेश देने का विकल्प उठता है, उसमें दुःख.. दुःख.. और दुःख है। कहो, छगनभाई! तुम तो बहुत कार्य करते थे। कैसे कहलाते हैं ये? कार्यकर। कांग्रेस कार्यकर्ता।

यहाँ तो भगवान परमात्मा पूज्यपादस्वामी द्वारा भगवान कहते हैं। भाई! यह आत्मा तो सुखरूप है न, प्रभु! उस सुखरूप का अर्थ जो शुभराग या शरीर, वाणी, मन से रहित यह आत्मा है, आत्मा ही सुखरूप है। आत्मा का जितना आश्रय किया, पर का आश्रय छूटा, उतनी शुद्धि का लाभ हुआ। आत्मा सुखरूप है, उसे विषय बनाया तो आनन्द का लाभ है। शुद्धि का लाभ है, इसका अर्थ आनन्द का लाभ है और जितना परद्रव्य का आश्रय करके विकल्प उठा, वह सब दुःख का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्ष अधिकार (पाहुड़) में कहा, '**सदव्वाद्दो सुग्गई, परदव्वादो दुग्गई**' स्वद्रव्य से सुगति। भगवान चैतन्य प्रभु, एक समय में पूर्ण शुद्ध ध्रुव आनन्द है, उसका ही आश्रय करने से स्वद्रव्य से सुगति होती है। सुगति अर्थात् शुद्धपरिणमन, शुद्धपरिणमन। अपना शुद्धपरिणमन स्वद्रव्य के आश्रय से होता है। '**परदव्वादो दुग्गई**' परद्रव्य साक्षात् त्रिलोकनाथ तीर्थंकर विराजते हों, उन पर लक्ष्य जाता है, वे सब विकल्प दुःखरूप हैं। ओहोहो! भगवान की दिव्यध्वनि सुनने में राग आता है, वह प्रवृत्ति दुःखरूप है, ऐसा कहते हैं। ऐ.. शशीभाई!

भाई! आत्मा किसे कहना? प्रभु! आत्मा तो विकल्प से रहित निर्विकल्प चिदानन्दमूर्ति है, ऐसे भगवान आत्मा को रागादि उत्पन्न हों तो वह अनात्मा है, और अनात्मा से आत्मा को लाभ माने तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐई! मलूकचन्दभाई! न्याय से, न्याय से समझेंगे या नहीं? न्याय-लॉजिक से। यह कहीं तोड़-मरोड़कर बात नहीं है। समझ में आया? यह तो कहते हैं, उत्साह भंग होगा। यह तो उत्साह भंग होकर अन्दर में समायेगा तो लाभ होगा। न्यालभाई! आहाहा!

भगवान आत्मा शुद्ध चिद्घन प्रभु का आश्रय करना, वह एक ही लाभ का कारण है अर्थात् सुखरूप दशा उससे ही उत्पन्न होती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपने आश्रय से उत्पन्न होते हैं।

मुमुक्षु : बन्ध तो दुःखरूप ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध नहीं, भाव। भाव दुःखरूप है। आस्रव है न? सुख का घात है। भाई! आत्मद्रव्य ही सुख का कारण है। समझ में आया? आहाहा! लोगों को यह बात रुचना कठिन पड़ती है। चिमनभाई! भाई!

मुमुक्षु : पुण्य को भी पाप के समान मानना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह दु:खरूप है। विकल्प उत्पन्न होता है, वह दु:खरूप है, भाई! ऐसे व्यामोह में न पड़ जा कि हमें बहुत पढ़ना और लोगों को समझाना और ऐसी संस्था चलाना है, यह व्यामोह है। आहाहा! तेरी दृष्टि में विपरीतता है। कहो, अजितप्रसादजी! चारों ओर माँग आती है, कोई जाएगा नहीं, कहते हैं। ऐसा ये कहते हैं। मुश्किल से सीधे चढ़ा है, उसमें बीच में डाला यह। यह सीधा ही नहीं है। जिसे सत्य की शरण नहीं और असत्य के विकल्प से लाभ मानता है, वह सीधे चढ़ा ही नहीं है। सरेडे समझे? सीधा। यह सीधा रास्ता ही नहीं है। सरेडे हमारी गुजराती भाषा है। सरेडे अर्थात् सीधा। आहाहा!

भगवान आत्मा **देहादिकरूप नहीं बन सकता।** जैसे पर को आत्मा बना नहीं सकते, आत्मा पररूप नहीं हो सकता। ओहोहो!

मुमुक्षु : जो जिस रूप है, वह उस रूप ही रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस रूप ही रहेगा। भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब है, आनन्दकन्द है। वह पर को तो अपना बना नहीं सकता परन्तु आत्मा, पर रागरूप कभी बन नहीं सकता। समझ में आया? जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, आहारकशरीर बँधता है, उस भावरूप आत्मा नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं। आत्मा उस रूप नहीं हो सकता तो उससे आत्मा को लाभ कहाँ से होगा? आहाहा! गजब शैली।

मुमुक्षु : कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन हो या जो हो, सत्य यह है। सत्य यही है। आहाहा!

कहते हैं, आत्मा **कभी देहादिकरूप नहीं बन सकता।** भगवान! पहले ऐसा कहा था आत्मा पर को अपना नहीं कर सकता। समझ में आया? भगवान आत्मा में ऐसी ताकत नहीं कि राग को, तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध को, शरीर को अपना बना ले। अपना कर सके, ऐसी आत्मा में ताकत नहीं है और आत्मा पररूप हो जाए, रागरूप हो जाए, पुण्यरूप हो जाए, जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, उस रूप हो जाए, आत्मा उस पररूप हो जाए - ऐसा आत्मा में कभी नहीं होता। आहाहा! कहो, दास! वैद्य-वेदक का प्रश्न तुमने

वहाँ नहीं किया था? उमराला (में) किया था। यहाँ आने से पहले। ३१ वर्ष। यह सब याद है। इन्हें कहाँ-कहाँ रखा और किस प्रकार रखता था। समझ में आया? आहाहा!

वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ सन्त महन्त परमात्मा का पन्थ... आहाहा! उनका पन्थ प्रभु आत्मा शुद्ध वीतराग अविकारी स्वभावस्वरूप भगवान है। वह भगवान आत्मा जिस भाव से बन्ध पड़े, उस भावरूप क्या हो जाता है? कि आत्मा को लाभ हो जाए? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्या आत्मा उस रागरूप, शुभरूप हो जाता है कि आत्मा को लाभ हो जाए? आहाहा! व्यामोह तो कहाँ तक चला गया! उपदेशक को भी उसमें भ्रमणा हो गयी। वह भी भ्रम में पड़ा। जैसे दूसरे कहे राग को, पुण्य को धर्म मानना नहीं। यह कहे, इससे धर्म मानना। पर से लाभ मानना और दान के अधिकार में ऐसा आवे, लो! दूसरे को ज्ञानदान दे तो केवलज्ञान प्राप्त करे, ऐसा उसमें आवे, लो! वहाँ उसको गलगलिया हो जाए। अरे! सुन न! पद्मनन्दिपंचविंशतिका में चार दान का अधिकार चलता है न? वहाँ ऐसा आया है।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान ज्ञानस्वरूप अपने चिदानन्द में एकाग्र होता है, वह ज्ञानदान है। समझ में आया? अपना चिदानन्द प्रभु, अपने में एकाकार होकर ध्यान करता है, उसमें जो शुद्धि प्रगट हुई, वह अपने को दान दिया। उससे केवलज्ञान होगा। पर को दान और पर को समझाने के विकल्प में से केवलज्ञान होगा?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : जैसे हो, वैसे इसे कर डालना। आहाहा! वे तो ऐसा कहते हैं, शुभयोग से निर्जरा होती है। शास्त्र का स्वाध्याय करे, बहुत पढ़े (तो निर्जरा होती है)। अरे! भगवान! परद्रव्य के ऊपर तो जितना लक्ष्य जाए, उतना दुःखरूप है, भाई! तुझे खबर नहीं, बापू! तो तुझे समाने का समय नहीं मिलेगा क्योंकि वहाँ ही तुझे रुकना है और उसमें से तुझे लाभ लेना है। इसलिए अन्तर्मुख सन्मुख होने का प्रसंग नहीं मिलेगा, निवृत्त नहीं होगा, भाई! आहाहा! समझ में आया?

देहादिकरूप नहीं बन सकता। परन्तु क्या बात करते हैं? पहले तो ऐसा कहा कि भगवान प्रभु आत्मा, आत्मा उसे कहना कि शुद्ध आनन्दघन शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वभाव।

उसकी ताकत नहीं कि पर को अपनी तरह बना दे और आत्मा की ताकत नहीं कि आत्मा पररूप हो जाए। आहाहा! समझ में आया? और पररूप हुए बिना लाभ किस प्रकार होगा? रागरूप हो जाता है? आत्मा तो आत्मारूप शुद्ध चिदानन्दरूप रहता है। समझ में आया? भगवान ज्ञानानन्द प्रभु, वह शुद्ध चैतन्यरूप रहता है, वह रागरूप नहीं रहता, वह रागरूप नहीं हो जाता। अपना शुद्धस्वरूप अन्तर में सामान्य में जितनी एकाग्रता करके लीन हुआ, वह आत्मा के आश्रय से आत्मारूप होकर लीन हुआ है तो वह पर्याय भी आत्मारूप है। समझ में आया? आहाहा! कहो, समझ में आया?

जब कि ऐसा है, तब उससे सुख ही होगा। क्या कहते हैं? भगवान आत्मा शुद्ध ब्रह्मानन्दमूर्ति, उस रागरूप नहीं होता, तो वीतरागरूप रहेगा तो उसके आश्रय से सुख ही होगा। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा अकषाय शान्तस्वरूप आत्मा रहता है, तो वह रागरूप नहीं होता तो वह सुखी ही होगा, आत्मा को आनन्द ही होगा। समझ में आया? परद्रव्य का आश्रय छूट गया, स्वद्रव्य का आश्रय रहा तो वह तो सुखरूप आत्मा है। निर्विकारी परमब्रह्म वीतरागस्वरूप आत्मा है तो उसका आत्मा पररूप हुआ नहीं तो अपने रूप रहा तो सुखी हुआ। शशीभाई! आहाहा! समझ में आया?

कारण कि दुःख के कारणों को वह अपनाता ही नहीं है। टीका में '**तस्याविषयत्वात्**' उसका विषय ही नहीं है। दुःख का भगवान विषय ही नहीं है। ओहोहो! जो कुछ पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव उठते हैं, वे दुःखरूप हैं। उनका आत्मा विषय ही नहीं है। अथवा उनका विषय करने से दुःख होता है, ऐसा आत्मा ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया? क्यों प्रवीणभाई! हिम्मतभाई आये हैं? नहीं आये। ऐई! धर्मदासभाई! यह कितने ही कहते थे, ये भावनगरवाले आवें, तब अच्छा आता है रविवार को। क्यों? हीरालालजी! आहाहा!

भगवान! तुझमें तो विकल्प उठे, वह भी दुःखरूप है। चाहे तो १४८ प्रकृति के बन्ध में जितने विकल्प उठें, वे सब दुःखरूप हैं। और तेरा आत्मा रागरूप कभी नहीं होता तो दुःखरूप आत्मा होता नहीं। समझ में आया? भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दरूप है, उसकी दृष्टि और आश्रय करो, उसमें दुःख है ही नहीं। वह-आत्मा तो आनन्द का कारण

है। आहाहा! परवस्तु दुःख का कारण, भगवान आत्मा सुख का कारण। समझ में आया? यह विषय ही नहीं है। अर्थात् भगवान आत्मा प्रभु कभी अपना शुद्धस्वभाव छोड़कर रागरूप होता ही नहीं। दुःखरूप होता ही नहीं, दुःख का विषय ही नहीं है। दुःख को अपनाता ही नहीं, पर को एकरूप करता ही नहीं। ऐसा भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप में स्थिर होने को ऐसी वस्तु है।

इसीलिए तीर्थंकर आदिक बड़े-बड़े पुरुषों ने आत्मा के स्वरूप में स्थिर होने के लिए.. लो! महा तीर्थंकर आदि, गणधरों, सन्तों ने अपने स्वरूप में अन्तर्दृष्टि करके समाने का प्रयत्न किया। अन्तर में स्थिर होने का प्रयत्न किया। आहाहा! समझ में आया? हमारा चाहे जो हो परन्तु दुनिया का सुधरना चाहिए। यह बात ही मिथ्या है। ऐ... बल्लभदासभाई! आता है न? श्रीमद् में एक पत्र आता है। हेमचन्द्राचार्य के लिए। उन्होंने ऐसा कहा कि हमारा चाहे जो हो परन्तु समाज का जैनपना रहना चाहिए। परन्तु यह वस्तु ही खोटी है। यहाँ ऐसा मार्ग है। समाज का क्या होता है और समाज की ओर का लक्ष्य है, वह सब दुःखरूप है। मेरा क्या होता है? मेरा तो शुद्ध की ओर का आश्रय वह मेरा है। पर के आश्रय से आत्मा को लाभ होता है और उस पर को भी लाभ होता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि निमित्त बनने की भी ताकत अपना शुद्धस्वभाव प्रगट किया हो तो सामने शुद्धस्वभाव प्रगट करने में वह निमित्त पड़ता है। जहाँ दृष्टि ही मिथ्यात्व है, वहाँ पर में निमित्त भी नहीं पड़ता। समझ में आया? यह और क्या कहा?

मुमुक्षु : फिर से कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर से कहो। जयन्तीभाई जरा ऐसे नजर करे। जो कोई ऐसा मानता है कि हमारा जो होना हो वह होओ, परन्तु समाज को लाभ हो। इसका अर्थ क्या? समाज की पर्याय का लाभ तू कर सकता है? हमारा चाहे जो हो, इसका अर्थ क्या? हमारा शुद्ध चैतन्य है, उसका आश्रय हमें नहीं करना। हमें तो पर का करना है। वह तो राग है। राग में लाभ माना तो मिथ्यादृष्टि है। पर जो शुद्ध अपनी पर्याय से लाभ लेता है, उसमें वह आत्मा निमित्त भी नहीं हो सकता। वह कर्ता है उसमें निमित्त, हों! स्वयं निमित्त बनता है, ऐसा नहीं। समझ में आया? जिसकी दृष्टि में ही विपरीतता है, परद्रव्य के आश्रय से, मेरा

चाहे जो हो, पर का कल्याण होओ, मैं पर का तो कर दूँ और थोड़ा पर को लाभ हो जाए। मेरा हो जाएगा, मेरी ताकत है। यह दृष्टि ही विपरीत है। समझ में आया? बल्लभदासभाई! आहाहा! शशीभाई! समझ में आया? ऊँची (वस्तु) है, अन्दर हों!

आत्मा उसे कहते हैं, वह तो अकेला शान्त वीतरागरस का (पिण्ड है)। विकल्प उठता है, उसके अभाव-स्वभाववाला आत्मा है। विकल्प जो उठता है, उसके अभाव-स्वभाववाला आत्मा है, तो उस आत्मा से आत्मा का लाभ होता है। समझ में आया? परन्तु उस आत्मा से पर का लाभ होता है और उस आत्मा से पर का विकल्प उठता है, उससे आत्मा को लाभ होता है, ऐसा नहीं है। अनात्मा से आत्मा को लाभ हो, ऐसा नहीं है। जो विकल्प उठता है, वह अनात्मा है। अनात्मारूप आत्मा होता नहीं और अनात्मा को आत्मा बना सकता नहीं। अनात्मा राग को आत्मा बना सकता नहीं और आत्मा अनात्मारूप हो सकता नहीं। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : तीन काल में नहीं हो सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन काल में नहीं होता परन्तु ऐसा बने किस प्रकार? आहाहा! समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग देव ने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे-जाने हैं, उनकी वाणी में आया; वाणी में आया वही मुनियों ने अन्तर्मुख होकर समझ लिया और अन्तर्मुख अपने से समझे तो वाणी को निमित्त कहने में आता है। ये मुनि और सन्तों की वाणी में ऐसा आया कि तेरा स्वचैतन्य भगवान अनाकुल आनन्दस्वरूप मिटकर कभी रागरूप, पररूप होता नहीं। पररूप होता नहीं तो पर से तुझे दुःख ही होता है। आत्मा पररूप होता नहीं तो पर से तुझे दुःख ही होता है और परवस्तु को आत्मा बनाया नहीं जा सकता तो पर तुझे दुःखरूप है, आत्मा सुखरूप है। समझ में आया?

फिर से, जो शुभराग हुआ... समझ में आया? अरिहन्त, सिद्ध... यह आता है न? तीर्थंकरगोत्र सोलह प्रकार से बँधता है। सोलह प्रकार से (सोलहकारणभावना से) तीर्थंकरगोत्र बँधता है या नहीं? क्या कहा? सोलह प्रकार नहीं? सोलहकारणभावना। यहाँ तो कहते हैं कि षोड्शकारणभावनारूप आत्मा होता नहीं और षोड्शकारणभावना को आत्मारूप आत्मा बना नहीं सकता। आहाहा! समझ में आया? बाबूभाई! आहाहा!

भाई! भगवान चैतन्यज्योति प्रभु, आत्मा शान्ति का दल है। वह शान्ति का दल भगवान, वह विकल्प को कैसे अपना जैसा बना दे? और भगवान शान्तरूप प्रभु आत्मा, वह रागरूप कैसे हो जाए? पर को बनावे किस प्रकार और पररूप किस प्रकार हो जाए? आहाहा! समझ में आया? (अमृतचन्द्राचार्यदेव) कहते हैं, टीका करते-करते मेरी शुद्धि हो जाएगी। आता है या नहीं? हिम्मतभाई ने अर्थ किया है।... आहाहा! भगवान! तेरा सत् का मार्ग परमेश्वर का कहा हुआ अलौकिक मार्ग है। इसके ख्याल में भी आया नहीं। झाटकिया! क्या है यह?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बाँधता है? किसने बाँधा है? ऐसा कहते हैं, किसने बाँधा है? आत्मा ने बाँधा है? आत्मा उसरूप हुआ है तो बाँधे? कहो! वह तो परद्रव्य है। राग भी परद्रव्य है। आहाहा! क्या आत्मा परद्रव्यरूप हो जाता है? और परद्रव्य को आत्मा आत्मारूप कर सकता है? ...समझ में आया? आहाहा! प्रभु! तेरा मार्ग अन्तर से अलौकिक मार्ग है।

भगवान आत्मा सामान्य चैतन्य ज्योत प्रभु का आश्रय करने से आत्मारूप वह पर्याय होती है तो उसमें धर्म और आनन्द है। आहाहा! वह तो पहले आ गया न? पर के विशेष का आश्रय छोड़ा, अपने विशेष का आश्रय छोड़ा। अपने राग का तो ठीक, अपनी पर्याय निर्मल है, उसका आश्रय छोड़ा। पर के विशेष का आश्रय छोड़ा, अपने विशेष का आश्रय छोड़ा। भगवान सामान्य ज्ञायकस्वरूप की ओर अपनी विशेष दशा उस ओर ढली तो उस विशेष का आश्रय छूटने से आत्मा में विशेषता उत्पन्न होती है। विशेषता अर्थात् संवर और निर्जरा। समझ में आया? ऐ.. धीरुभाई!

यहाँ दूसरे प्रकार से कहा, वहाँ विशेष का कहा था। ये रागादि परद्रव्य हैं, वे दुःखरूप हैं। भगवान उस दुःख को आत्मारूप बना नहीं सकता और आत्मा आनन्द है, वह दुःखरूप हो नहीं सकता। आहाहा! समझ में आया? इस कारण से सन्तों ने एकाग्र होकर अपना साधन कर लिया, ऐसा कहते हैं। ऐई! आहाहा! इस हेतु से भगवान आत्मा अपना स्वरूप छोड़कर राग को अपना बना नहीं सकता और अपना स्वरूप रागरूप हो

जाए, ऐसा नहीं होता। अपने में एकाग्रता होती है, सामान्य का लक्ष्य करने से जो विशेष उत्पन्न हुआ, उससे लाभ है। इस कारण से सन्तों ने अपने सामान्य का आश्रय करने का प्रयत्न किया। आहाहा! समझ में आया? इस कारण से, इस हेतु से, सन्तों ने-मुनियों ने अपना शुद्ध ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा, उसमें स्थिर होने का प्रयत्न किया। कहो, समझ में आया या नहीं? यह तुम्हारे साथ मेहमान आये हैं इन्हें। ऐई! झाटकिया! यह तो लॉजिक से बात चलती है, लॉजिक से-न्याय से बात आती है।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अनाकुल आनन्दकन्द स्वरूप है, उसमें जो विकल्प उठता है, वह तो विकार है। क्या विकार को आत्मा बना सकता है? आत्मा क्या विकाररूप हो सकता है? पर के कारण से दुःखी है और अपने कारण से सुख है। समझ में आया? आहाहा! लोगों को भ्रम पड़ गया, भ्रम। भाषण करे और ऐसा आवे और लाखों लोग... आहाहा! और वे भी सामने देखे.. वाह.. वाह..! वाह रे वाह, मानो दोनों व्यक्ति तिर गये। ऐ.. बल्लभदासभाई! लोगों को मन भी हो जाता है। ऐसी भाषा होवे न तो दस-दस हजार लोग सुनते हैं और ऐसे नजर करते हैं। परन्तु तुझे क्या है? किसका भ्रम तुझे घुस गया है, मिथ्याश्रद्धा का? समझ में आया? ऐसे होने का भाव, वाणीरूप होने का भाव, ऐसा विकल्प आया उसरूप होने का? क्या है तुझे? तू नहीं हो सकेगा विकल्परूप और वाणीरूप, तुझे भ्रम घुस जाएगा कि मैं ऐसी भाषा करूँ और मुझे ऐसा विकल्प हो तो मैं आगे बढ़ा। ऐसा दिखाऊँ। आगे बढ़ा। धूल में भी बढ़ा नहीं। मिथ्यात्व में गहरे गया है। समझ में आया?

इसीलिए भगवान कहते हैं कि इस कारण से तीर्थंकर आदि महासन्तों ने अपने स्वरूप की सम्हाल करके एकाकार हुए। समझ में आया? आहाहा! **इसीलिए तीर्थंकर आदिक बड़े-बड़े..** सन्त, चक्रवर्ती आदि अपने आत्मा के ध्यान में लीन हुए। बस, काल हो, न हो, हमें कुछ काम नहीं। व्यवहार का ज्ञान हो, न हो, उसके साथ हमें कारण नहीं। व्यवहारश्रद्धा में लोगों को लाभ होता है, उसके साथ मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं। लाभ है ही नहीं। विकल्प व्यवहार छूट जाता है, उससे मुझे लाभ नहीं है। ओहोहो! सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, उससे मुझे लाभ नहीं है। मैं परद्रव्यरूप नहीं होता, वह तो दुःख का कारण है। ओहोहो! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प दुःख का कारण है। व्यवहाररत्नत्रय

को आत्मा अपने स्वरूप कर सकता है ? व्यवहाररत्नत्रय को अपने स्वरूप कर सकता है ? और आत्मा व्यवहार-रत्नत्रयरूप हो सकता है ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! ऐ प्रवीणभाई !

बड़े-बड़े पुरुषों ने आत्मा के स्वरूप में स्थिर होने के लिए अनेक प्रकार के तपों के अनुष्ठान करने में.. अनेक प्रकार के तप अर्थात् स्वरूप में स्थिर होने के लिए अन्तर में प्रयत्न किया। सामान्य पर लक्ष्य करने का प्रयत्न किया। बस ! वही करनेयोग्य है। समझ में आया ? ऐ.. दास ! क्या है यह ? कौन करे ? आत्मा वाणी में आता है ? वाणी वहाँ जाती है ? क्या है ? आहाहा !

मुमुक्षु : तप....

पूज्य गुरुदेवश्री : तप अर्थात् यह। इच्छा निरोधरूपी आनन्द में लीन होना, वह तप है। क्योंकि इच्छा है, वह विकल्प है, दुःखरूप है। छोड़, वह मेरा द्रव्य नहीं; मेरा द्रव्य तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसमें दृष्टि लगाकर ध्यान में मस्त हुए। बड़े-बड़े पुरुषों ने यह किया। आहाहा ! समझ में आया ? महाजन पुरुषों ने, महाजन पुरुषों ने यह किया। महाजन.. महाजन..। महाजन कहा। समझ में आया ? महाजन लोगों ने यह किया। आहाहा !

मुमुक्षु : महाजन वह बड़े पुरुष ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बड़े पुरुष हुए।

आत्मा के स्वरूप में स्थिर होने के लिए.. एक ही बात, किस प्रकार से अन्तर में लीन होऊँ, बस एक ही बात, इससे मुझे लाभ होता है। बाहर निकलना या विकल्प से मुझे लाभ नहीं है। अन्तर में ज्ञायकमूर्ति में दृष्टि है, उसमें एकाकार होने का प्रयत्न किया, उससे शुद्धि का लाभ है, संवर-निर्जरा का उससे लाभ है। विकल्प से संवर-निर्जरा का कोई लाभ नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय से आत्मा को संवर-निर्जरा का लाभ नहीं है, ऐसा कहते हैं। चिल्लाने लगे, हों, लोग। सुन नहीं सकते। अरे ! सुन न ! भगवान को छोड़कर जितना राग आया, वह भगवानरूप हो जाता है ? भगवान आत्मा की ताकत है कि रागरूप हो ? और राग में ताकत आत्मा की है कि राग को आत्मा बना दे ? समझ में आया ? भगवान भगवान शुद्ध चैतन्य ज्ञायक ज्योतिरूप पिण्ड पड़ा है। वह रागरूप नहीं होता, ऐसा जानकर

राग से लाभ नहीं, वह दु:खरूप है, ऐसा जानकर धर्मात्मा ने अपने ज्ञायकस्वरूप में दृष्टि लगाकर स्थिरता का प्रयत्न किया। समझ में आया?

निद्रा-आलस्यादि रहित अप्रमत्त हो उद्यम किया है। देखो! प्रमत्तपने का विकल्प छोड़कर अन्तर उद्यम किया। ओहोहो! निद्रा-आलस्य आदि लिया है, समझे न? क्यों? '**आत्मार्थं कृतोद्यमा विनिहिततपोनुष्ठानभियोगा संजाताः**' बस, इतना। अन्दर इतना है। अर्थात् कि यहाँ आलस, निद्रा आ जाए, ऐसा नहीं। क्योंकि अपना काम करना है तो स्व के आश्रय से काम करना है। स्व के आश्रय में इतने जागृत रहते हैं कि जागृति में आलस या निद्रा नहीं आती। अपने स्वरूप की जागृति में प्रयत्न करके अपने आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त कराया। बस! समझ में आया?

दोहा - पर पर तातें दु:ख हो, निज निज ही सुखदाय।
महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय।।४५।।

पर पर तातें दु:ख हो,.. भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द के अतिरिक्त चाहे तो विकल्प किसी भी प्रकार का हो। **पर पर तातें दु:ख हो, निज निज ही सुखदाय।** भगवान रागरहित प्रभु आत्मा की दृष्टि और स्थिरता, वही सुख को करनेवाला आत्मा है। **महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय।** मन में निज हितार्थ। देखो! निज हितार्थ। पर का हित हो, न हो। वह विकल्प तो दु:खदायक है। तुझे क्या काम है? ऐ.. बल्लभदासभाई! आहाहा! **महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय।** मन में ऐसा निश्चय किया और अपने हित में लग गये, पुरुषार्थ को (हित में) लगा दिया। इसका नाम अपना कार्य करके केवलज्ञान साध लिया। अपना हित इस इष्टोपदेश में कहने में आया है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

परद्रव्यों में अनुराग करने से होनेवाले दोष को दिखाते हैं-

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति।।४६।।

अर्थ – जो हेयोपादेय के स्वरूप को न समझनेवाला, शरीरादिक पुद्गलद्रव्य को आप (आत्म) रूप तथा अपने को (आत्मा के) मानता है, उस जीव के साथ नरकादिक चार गतियों में वह पुद्गल अपना सम्बन्ध नहीं छोड़ता है, अर्थात् भव-भव में वह पुद्गलद्रव्य जीव के साथ बँधा ही रहता है। उससे पिण्ड नहीं छूट पाता।।४६।।

दोहा – पुद्गल को निज जानकर, अज्ञानी रमजाय।
चहुँगति में ता संग को, पुद्गल नहीं तजाय।।४६।।

प्रवचन नं. ५१ गाथा-४६ सोमवार, दिनाङ्क ३०-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल ११, वीर संवत् २४९२

पूज्यपादस्वामी ने रचा हुआ यह शास्त्र है। इसमें ४५ गाथा हो गयी। (अब ४६वीं गाथा)। ४५वीं गाथा में जो आया, उसे ४६ में विशेष स्पष्ट करते हैं।

दोहा – पर पर तातें दुःख हो, निज निज ही सुखदाय।
महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय।।४५।।

आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ, वह दुःखरूप है। आत्मा स्वयं सुखरूप है। दो चीज़ यहाँ कही है। आत्मा के अतिरिक्त शुभ-अशुभराग, कर्म, शरीरादि परपदार्थ जिनका लक्ष्य करने से, आश्रय करने से, सत्कार करने से दुःख होता है। **निज निज ही सुखदाय।** भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव, वह सुखदाय अर्थात् सुख का दाता है। मोक्षमार्ग का दाता वह आत्मा है। मोक्षमार्ग कहो या आनन्द का दाता। बाकी अपने आत्मा के अतिरिक्त, सब पुद्गलादि पदार्थ दुःखकारी है, क्योंकि पर के लक्ष्य में से दुःख की उत्पत्ति होती है। उसमें सुख की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए महापुरुषों ने अपने शुद्धस्वरूप में प्रयत्न करके शान्ति की प्राप्ति की है। समझ में आया?

अब यहाँ ४६वीं (गाथा)

परद्रव्यों में अनुराग करने से होनेवाले दोष को दिखाते हैं– अपना शुद्धस्वभाव ध्रुव ज्ञायक चिदानन्दस्वभाव का अनुसरण किये बिना, जितना अनुराग पुण्य-पाप का भाव शरीर, कर्म इत्यादि में अनुराग करने से दोष होता है। अपना आत्मा, शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त दूसरी किसी भी चीज़ का सत्कार करने से-ठीक है—ऐसा करने से दोष उत्पन्न होता है। समझ में आया? यह बात कहते हैं।

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति।।४६।।

जो अविद्वान, अविद्वान अर्थात् अविवेकी, जिसे अन्तर में विवेक नहीं कि मैं शुद्धस्वभाव, परमानन्द, वही मुझे आश्रय (करनेयोग्य) और उपादेय है और पुण्य-पाप के भाव और कर्म, वे सब मेरे लिए हेय हैं। समझ में आया? भगवान शुद्धस्वरूप, अपना निज परमात्मस्वरूप, वही मुझे उपादेय है और रागादिक, कर्मादि सब हेय हैं। ऐसा जिसे विवेक नहीं, ऐसा कोई समझता नहीं, (वह अविद्वान है)।

जो हेयोपादेय के स्वरूप को न समझनेवाला,.. अविद्वान की व्याख्या की है। विद्वान अर्थात् बहुत समझा और जाना—ऐसा यहाँ नहीं कहा। अविद्वान अर्थात् अल्प ज्ञान, कम ज्ञान—ऐसा नहीं। अविद्वान का अर्थ भगवान पूर्णानन्द ध्रुवस्वरूप का आदर नहीं करता और रागादि विकल्प तथा परवस्तु का अभिनन्दन, सत्कार करता है। हेय का सत्कार करता है और उपादेय का अनादर करता है। समझ में आया? उसे यहाँ अविद्वान कहा है। ओहोहो! अविद्वान की व्याख्या ही ऐसी की है, देखो!

हेयोपादेय के स्वरूप को न समझनेवाला,.. ऐसा शब्द लिया है। भगवान आत्मा शुद्ध अभेद अखण्ड आनन्दस्वरूप, वह आत्मा; और उसके अतिरिक्त शुभाशुभ विकल्प चाहे जिस प्रकार का हो, उससे लेकर सब कर्म आदि पुद्गल हेय हैं, आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं, सत्कार करनेयोग्य नहीं हैं, वे मुझे लाभदायक हैं—ऐसी बुद्धि करनेयोग्य नहीं है। शुभ-अशुभभाव, कर्म, शरीर, मुझे लाभदायक है—ऐसी बुद्धि करनेयोग्य नहीं है। यह ऐसी बुद्धि करता है कि वे मुझे लाभदायक हैं। ये शुभ-अशुभभाव, कर्म, शरीर मुझे

लाभदायक है – ऐसा माननेवाले को यहाँ अविद्वान, अविवेकी, नासमझ, अज्ञानी कहा है। कहो, समझ में आया?

शरीरादिक पुद्गलद्रव्य.. यह तो सब आया। देखो! अब इसमें शरीर का कार्य नहीं होता, ऐसा आता है या नहीं इसमें? नहीं लिखा? ऐई! क्या कहते हैं यह देखो न? '**पुद्गलद्रव्यं**' एक ही शब्द रखा है। पुद्गलद्रव्य में सब आ गया। कर्म, शरीर, उसका कार्य मेरा है, ऐसा सत्कार करता है... समझ में आया? और अपना शुद्धस्वभाव वह मेरा है, ऐसे सत्कार नहीं करता उसे पुद्गल का समीपपना, सहवासपना, संयोगपना, सम्बन्धपना उसे नहीं छोड़ेगा। जिसका सत्कार करता है, उसका समीपपना उसे नहीं छूटता।

मुमुक्षु : यह तो सत्कार नहीं करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्कार का अर्थ क्या हुआ? सत्कार का अर्थ क्या हुआ? कि वह कर्म मेरा कार्य है, शरीर मेरा कार्य है, पर्याय का कार्य मेरा है, (ऐसा माना वह) उसका सत्कार किया और वहाँ जाकर समीपपना किया। यहाँ भिन्न रहकर यह मेरा कार्य नहीं; मैं तो चैतन्य ज्ञायक स्वरूप हूँ। मेरा कार्य तो स्वभाव की परिणति शुद्ध होना, वह मेरा कार्य है, ऐसा स्वीकार नहीं किया। कहो, समझ में आया?

यहाँ तो बहुत संक्षिप्त शब्द में स्व और पर दो की पहली बात की है। स्व सुखदायक है और पर दुःखदायक है। समझ में आया? चाहे वह विकल्प तीर्थंकरगोत्र का हो तो भी वह दुःखदायक है। समझ में आया? चाहे तो जगत को समझाने का शुभराग हो (तो भी) वह दुःखदायक है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : कषाय का क्लेश तो उस समय नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब क्लेश इसके पास है। कषाय का क्लेश खड़ा है, उसमें अनुमोदन, सत्कार करता है कि यह मुझे ठीक है, इससे मुझे लाभ होगा। यह तो चाबी है चार पैसे सेर तो मण का ढाई। समझते हो? यह चार पैसे सेर नहीं। एक आने का सेर तो मण का ढाई रुपया। समझ में आया? इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि जो कोई प्राणी, अपना शुद्धस्वरूप ध्रुव चिदानन्द अखण्ड सामान्यस्वभाव का सत्कार नहीं करनेवाला, उसे उपादेय नहीं माननेवाला और शुभ-अशुभभाव... ऊपर कहा था न कि वह दुःखरूप है..

समझ में आया ? उस दु:खरूप भाव को हेय न समझकर, उसका सत्कार करता है। अन्दर में शुभभाव आया, उसका समीपपना, सहवास, संयोग, सम्बन्ध करता है; अपने स्वभाव का सम्बन्ध छोड़ता है, उसे पुद्गलस्वभाव, पुद्गलभाव और पुद्गल पदार्थ उसका सहवास नहीं छोड़ेगा। आहाहा! समझ में आया ?

शरीरादिक पुद्गलद्रव्य.. शरीर कर्म इत्यादि का कार्य मेरा है। मैं उसे करनेवाला हूँ। इसका अर्थ कि आत्मा और उस चीज़ दोनों में एकपने की बुद्धि हुई। समझ में आया ? कर्म के सहवास में, सम्बन्ध में समीपपने गया। जो कर्म, शरीर और विकार से समीपपने से अभावस्वभावरूप है, उसके स्वभाव का समीपपना छोड़कर, विकार और कर्म, शरीर आदिक की कोई भी पर्याय मुझे लाभदायक है, अथवा वह मेरा कार्य है, ऐसे स्वभाव को छोड़कर उसका आदर सत्कार करता है तो पुद्गल उसका सम्बन्ध, समीपता नहीं छोड़ता। चार गति नहीं छूटती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ? कहो, रतिभाई! यह पलाखूं कैसे है ?

शरीरादिक पुद्गलद्रव्य.. रजकण से लाभ। एक राग के कण का भी सत्कार करे, इसका अर्थ (वह) ठीक है। मुझसे दुनिया समझती है तो मेरा शुभभाव ठीक है। समझ में आया ? ऐसा भाव ठीक है। नहीं ? यह भाई कहते हैं, सब रुक जाएगा। दुनिया को उपदेश करने का उत्साह छूट जाएगा, ऐसा कहते हैं। दलाल है। कहो, समझ में आया ? आहाहा! भाई! प्रभु! तू तो ज्ञानस्वरूप ज्ञायक आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा है न! उसका आदर न करके किसी भी प्रकार के शुभराग के असंख्य प्रकार, अशुभराग के असंख्य प्रकार उनमें से कोई भी राग और कर्म की १४८ प्रकृतियों में कोई भी प्रकृति बँधे, वह ठीक है, तीर्थंकर प्रकृति बँधे तो ठीक है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, तो उसे तो बँधती नहीं। समझ में आया ? राग की समीपता माननेवाले को तो तीर्थंकरगोत्र बँधता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्योंकि बन्ध और बन्ध का भाव, दो के समीपपने का सत्कार, वह मिथ्यादृष्टिपना है। समझ में आया ? ओहोहो! जिसमें अपने शुद्धस्वभाव का समीपपना है और रागादि का समीपपना छूट गया है, उसे राग और कर्म प्रकृति बँध जाए वह तो समीपतारहित से बँध जाती है। उसका आदर किये बिना बँध जाती है। आहाहा! समझ में आया ?

सर्वार्थसिद्धि का भव हो या महाविदेह में भगवान के समीप में जन्म की भावना (हो)... समझ में आया? इस राग की समीपता का सत्कार है, राग का सत्कार है अर्थात् राग के फलरूप बन्धन (होता है), उसका सत्कार है अर्थात् फलरूप से प्राप्त संयोग का सत्कार है। भगवान ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द की असमीपता, असत्कार है। समझ में आया? रतिभाई! क्या करना इसमें? लोग कहते हैं, यह सब व्यवहार का उत्साह उड़ जाएगा-ऐसा कहते हैं। भाई! समझ तो सही। व्यवहार तो बन्धरूप भाव है। बन्धरूप भाव का सत्कार, वह पुद्गल का-संयोग का सत्कार है। आहाहा! समझ में आया? गजब बात, भाई!

कहते हैं कि जिसके समीप में राग की समीपता है, उसकी दृष्टि मिथ्यात्व है, पर्यायबुद्धि है। उसे ऐसा राग ही नहीं होता कि जिससे तीर्थंकरप्रकृति बँधे, उसे ऐसा राग ही नहीं होता। विमलचन्दजी! आहाहा! भगवान आत्मा अकेला चैतन्यस्वरूप स्वभाव का पिण्ड प्रभु (है), उसके सत्कार से.. इस अस्ति का अर्थ सैंतालीस गाथा में लेंगे, परन्तु हम साथ में लेते हैं। ४६ में नास्ति की बात है, ४७ में अस्ति की बात है। समझ में आया? जिसने अपना स्वभावमात्र ज्ञायक भगवान, दूसरे प्रकार से कहो तो सर्वज्ञ स्वभावी प्रभु भगवान है, ऐसे स्वभाव की समीपता न करके विकल्पादि, रागादि, कर्मादि ऐसे बँधे, ऐसा होवे तो ठीक पड़े, शरीर ऐसा मिले, संहनन ऐसा मिले, शुभराग ऐसा होवे तो बन्ध ठीक पड़े, उसका पुद्गल का सत्कार करने का भाव, वह मिथ्यादृष्टिपना है। समझ में आया? उसे तीर्थंकर प्रकृति का तो बन्ध नहीं पड़ता परन्तु उसे चार गति के पुद्गल के कारणभाव और कार्यभाव समीपता कभी नहीं छोड़ता। आहाहा! समझ में आया?

यह पुद्गलद्रव्य अर्थात् शुभाशुभराग को और कर्म को और शरीर को तथा बाह्य संयोग को **आपरूप..** आपरूप.. आपरूप.. अपना अस्तित्व वहाँ है तो उससे मुझे लाभ है, तो इसका अर्थ कि उसे अपनेरूप ही माना है। जिससे अपने को लाभ माने, उसे अपनेरूप ही माना। समझ में आया? जिसका कार्य अपने से है—ऐसा माना, उसे अपनेरूप ही माना है। समझ में आया? शुभाशुभराग वह मेरा कार्य, वैसी समीपता मानी, उस राग को अपनेरूप माना है। राग को ही अपनेरूप माना है। समझ में आया?

तथा अपने को (आत्मा के) मानता है,.. अपनेरूप अपने मानता है। राग को

आपरूप, कर्म को आपरूप, शरीर को आपरूप, संयोग को आपरूप (मानता है)। समझ में आया? यह तो बहुत संक्षिप्त सिद्धान्त है। यह तो इष्टोपदेश है न? जैन का उपनिषद है, ऐसा अर्थ में लिखते हैं। उपनिषद में क्या है? यह तो अलौकिक बात है। समझ में आया? भगवान आत्मा... आहाहा! 'लाख बात की बात...' आता है न? उसमें पहले वह आया था, उसी और उसी में। 'कोटि उपाय करके ज्ञान करो' ऐसा आता है या नहीं? यह शब्द उसी और उसी में आता है। छहढाला में। कोटि और लाख, दो उपाय आता है न! कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनौ- ऐसा आता है। है? कहाँ गयी छहढाला? उस पद में आता है। सब कहीं याद होता है? धारणा में इतना सब कहाँ से रहे? समझ में आया?

इसका अर्थ, यहाँ दर्शनपूर्वक ज्ञान की व्याख्या कही है न? कितने में? देखो! यह कहते हैं देखो! (चौथी ढाल)

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवे,
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे।
तास ज्ञान को कारन, स्व-पर विवेक बखानो,
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ ॥७॥

यह शब्द है 'कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ॥' (चौथी ढाल गाथा ९)

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ,
तोरि सकल जगदंद-फंद नित आतम ध्याओ ॥९॥

समझ में आया? यहाँ तो पूज्यपादस्वामी इष्ट उपदेश इसे कहते हैं, इष्ट उपदेश इसे कहते हैं कि उपदेश देनेवाले का भाव ही उसे इष्ट नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सर्वज्ञ को तो राग है ही नहीं, परन्तु नीचे चार ज्ञान तो धारण करनेवाले भी शास्त्र की रचना करते हैं न, उस रचना में शुभराग है, हों! समझ में आया? कहते हैं कि शुभराग भी, वह शास्त्र रचा, उसमें शुभराग है, वह अपने को हितकर नहीं है। समझ में आया? इतने शास्त्र रचूँगा तो लोगों को लाभ होगा, तो मुझे कुछ लाभ होगा-ऐसा है नहीं। समझ में आया? क्या रतिभाई?

गणधरों को शास्त्र रचने में जो शुभविकल्प आया, तो कहते हैं कि उसमें मुझे हित

नहीं है। इसका नाम इष्टोपदेश है। आहाहा! गजब बात है! समझ में आया? गणधरों ने ऐसा कहा। कुन्दकुन्दाचार्य, ये पूज्यपादस्वामी के ये शास्त्र रचते हैं या नहीं? शास्त्र रचने में शुभविकल्प है या नहीं? परन्तु कहते हैं कि हम इष्टोपदेश कहते हैं कि विकल्प में आत्मा का हित बिल्कुल नहीं है। समझ में आया? आहाहा! भाई! इतने शास्त्र बनाये। कौन बनावे? उसकी पर्याय मैंने बनायी तो समीपता हो गयी। दोनों एक हो गये, आपरूप हो गया। शास्त्र और आत्मा दोनों एकरूप हो गये। देखो!

(आत्म) रूप तथा अपने को (आत्मा के) मानता है,.. आपरूप पर को अपना मानता है। शास्त्र मैंने रचे, वह आपरूप अपने को मानता है। आहाहा! वीतराग शासन.. समझ में आया? भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप, वीतरागस्वरूप प्रभु आत्मा वर्तमान है, हों! उसकी अन्तर्दृष्टि, आश्रय, अवलम्बन, समीपता हितकर है। इसके अतिरिक्त जितने विकल्प आदि हैं, इस इष्टोपदेश में कहते हैं कि वे सब अहितकर हैं। आहाहा! समझ में आया? तो कहते हैं कि अहितकर है तो लाते किसलिए हो? अरे! सुन तो सही, भगवान! करे क्या? आहाहा! यह व्यवहार करना है ही नहीं। व्यवहार अहितकर है। समझ में आया? व्यवहाररत्नत्रय को हितकर माने, वह मिथ्यादृष्टि पुद्गल के समीप में ही पड़ा है। अपने शुद्धस्वभाव की समीपता से दूर चला गया है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अब स्पष्ट करना है स्पष्टीकरण....

पूज्य गुरुदेवश्री : धीरे-धीरे आता है। आवे तब धीरे-धीरे आवे न। ख्याल है, अभी छूट नहीं गया।

यह तो भाव बीच में निर्बलता से, कमजोरी से आता है, वह बन्धभाव है। वह बन्धभाव है तो स्वभाव का समीपपना होने पर भी ऐसे निश्चय में व्यवहार आता है, उसे व्यवहार कहते हैं। समझ में आया? निश्चय है। स्वभाव समीप, शुद्धस्वभाव की समीपता है, विभाव और संयोग की समीपता है ही नहीं, तथापि जैसे परद्रव्य है, परद्रव्य है, ऐसा विभावभाव परद्रव्यरूप आये बिना रहता नहीं। जैसे परद्रव्य को निकाल नहीं सकते, वैसे उस समय में वह विभाव अभावरूप नहीं कर सकते। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा अपना चैतन्यज्ञायकस्वरूप की समीपता, उसकी समीपता और

विकार और कर्म तथा शरीर से असमीपता (करना), इसका नाम विवेक है। ऐसा होने पर भी आता किसलिए है ? परद्रव्य कैसे है ? ऐसा होने पर भी शरीर क्यों है ? समझ में आया ? दूसरे पदार्थ क्यों हैं ? ऐसे ये (विभाव परिणाम) हैं।

मुमुक्षु : परद्रव्यवत् है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे हैं। वे तो परद्रव्यवत् ही हैं। वस्तु में है ही नहीं, वस्तु है नहीं, वस्तु में है ही नहीं। समझ में आया ? क्यों पण्डितजी ! व्यवहार उड़ जाता है। व्यवहार स्वभाव में से उड़ जाता है। व्यवहार, व्यवहार में रहता है। स्वरूप में सब द्रव्य है ही नहीं। अपने द्रव्य की अपेक्षा से कोई परद्रव्य है ही नहीं—अवस्तु है। व्यवहार भी अपने स्वभाव की अपेक्षा से अवस्तु है, अवस्तु है। भगवान ज्ञायकस्वरूप अभेद ध्रुवस्वभाव के आश्रय से वह स्ववस्तु हुई और उसकी अपेक्षा से विभाव, व्यवहाररत्नत्रय, कर्म, शरीर और धर्म आदि छह द्रव्य, भगवान सर्वज्ञ स्वयं इस वस्तु की अपेक्षा से वह तो अवस्तु हुई। समझ में आया ? यह व्यवहार अपने स्वभाव के कारण से नहीं है। समझ में आया ? जैसे परपदार्थ अपने स्वभाव के कारण से नहीं है। भगवान आत्मा ज्ञायक चैतन्य ज्योत, शुद्धस्वभाव की समीपता में सर्व वस्तु असमीप अर्थात् अवस्तु रह गयी। अवस्तु की समीपता में वस्तु के समीपपने का अभाव (होने से) मिथ्यादृष्टि हो गया। समझ में आया ? यहाँ अज्ञान बताना है न ? यहाँ तो अज्ञान बताना है। अस्ति तो बाद में कहेंगे।

भगवान आत्मा ज्ञायक सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु,.. सर्वज्ञ परमात्मा जैसे पर को पररूप और स्व को स्वरूप से जानते-देखते हैं तो अपने सर्वज्ञस्वभाव भगवान की अपेक्षा से सब परद्रव्य है। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा सर्वज्ञ अकेला ज्ञायक चैतन्यस्वभाव, चैतन्यस्वभाव का उपादेयपना न स्वीकार कर, उससे रहित रागादि विकल्प, भले प्रकृति के बन्ध का कारण हो, परन्तु वे सब परद्रव्य हैं। उसका सत्कार करने से मिथ्यादृष्टिपना है और चार गति का सम्बन्ध वह पुद्गल नहीं छोड़ता। समझ में आया ? उसके सामने देखकर उसका आदर किया तो छोड़ेगा नहीं और बन्ध पड़ेगा, संयोग मिलेंगे, चार गतियाँ मिलेंगी।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या काम छोड़े ? वह तो इसे खबर नहीं। यहाँ तो आदर करे तो

बन्ध पड़ेगा। बन्ध पड़ेगा तो चार गति में भटकेगा, ऐसी बात है। भाषा ऐसी ली है। समझ में आया? आहाहा!

अरे! वीतरागमार्ग! अरे! आत्ममार्ग! अकेला चैतन्य ब्रह्मप्रभु, उसकी समीपता छोड़कर, उपादेय को छोड़कर जो हेयरूप ज्ञेय है—रागादि, कर्मादि वे सब उसमें आ गये, हों! कर्म का कर्ता मैं और कार्य मेरा, शरीर का कार्य मेरा, सब मूढ़ हेय चीज़ को अपनेरूप और अपने को वहाँ मानता है। अपने को वहाँ मानता है। समझ में आया? यहाँ तक लक्ष्य किसका था? वहाँ तक-पर्याय तक आया उसका। समझ में आया? असंख्य समय की पर्याय करते-करते वह पर्याय आयी, उसमें वह पर्याय किसकी थी वहाँ? उसकी। आहाहा!

भगवान आत्मा अपना स्वरूप ज्ञायक चिदानन्द सर्वज्ञस्वभावी का आदर न करके, राग, कर्म, शरीर का कार्य और वह मुझे ठीक है... ठीक है, (ऐसा मानता है)। आहाहा! शास्त्र में बहुत स्वाध्याय करने से विकल्प लग गया, वह ठीक है। तो कहते हैं कि हेय की समीपता ले ली। उपादेय की असमीपता कर दी। आहाहा! गजब बात है! इष्टोपदेश है, यह इष्ट-उपदेश है।

मुमुक्षु : इष्ट-उपदेश का उपदेश।

पूज्य गुरुदेवश्री : इष्ट-उपदेश का उपदेश। आहाहा!

यहाँ भी भगवान आत्मा अपने ज्ञायकस्वभाव के समीप होकर, हित की शुद्धपर्याय स्वभाव के आश्रय से, सामान्य के अवलम्बन से उत्पन्न हो, उसका नाम यहाँ हितकर उपदेश है। समझ में आया? अपने सामान्य की समीपता छोड़कर, विशेष का लक्ष्य करके रागादि का लाभ हो, वह पुद्गल का लाभ है। (उसमें) स्वभाव की समीपता छूट गयी है।

मुमुक्षु : ऐसे उपदेश बिना अज्ञान मिटे ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस भाव के बिना, समझे बिना छूटे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

ओहोहो! आत्मद्रव्य... भगवान का मार्ग उनके पास रहा। यह तो आत्मद्रव्य का मार्ग। भगवान वीतरागी अकषायस्वरूप आत्मा, अकषायस्वरूप आत्मा अर्थात् सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है। अकषाय तो वीतराग के पिण्ड की अपेक्षा से (कहा) और सर्वज्ञ अर्थात् ज्ञान की महानता की अपेक्षा से है। ऐसा भगवान सर्वज्ञस्वभावी, उसके सामान्य का आश्रय न

करके, पुण्य-पाप के विकल्प का-विशेष का आश्रय करके पड़ा है, उसे पुद्गल की समीपता है, स्वभाव की असमीपता है। उसे चार की गति की समीपता / सहवास / सम्बन्ध / संयोग / संग नहीं छूटता। समझ में आया? ऐ.. रतिभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यही कहते हैं। जिसमें सुख माना है, वह वस्तु नहीं छूटती। दु:ख का निमित्त होगा, होगा और होगा। समझ में आया? उसे तो निगोद का शरीर भी मिलेगा। समझ में आया? जिसे पुद्गल का अथवा स्वभाव से विरुद्ध विभाव का समीपपना, सत्कार, अभिनन्दन कहा है न? '**अभिनन्दति**'। प्रशंसा करता है, श्रद्धा करता है। ठीक है... ठीक है, थोड़ा तो ठीक है न? थोड़ा तो ठीक है न? '**अभिनन्दति**' आत्मा पर का सत्कार करता है, ऐसा कहते हैं। जड़ कहाँ सत्कार करता है? '**अभिनन्दति**' - अभिनन्दन देता है। बहुत अच्छा हुआ तुम्हारा। यह नहीं देते बड़ी उपाधियाँ? अभिनन्दन। अभिनन्दन देते हैं। ये सब पास होवें तो देखो न, लड़के के पास जाते हैं, उसके सम्बन्धी हो। क्या कहते हैं? कुछ होगी भाषा? मुबारक लो, भटको अब चार गति में।

मुमुक्षु : मुबारक का अर्थ ऐसा होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, तुम भटकने में पास हुए। भटकने के भाव में पास हुए। जाओ मुबारक, भटको। ऐ.. आशीष!

मुमुक्षु : ऐसा भाव उसमें नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे कब भान था? यह तो कहते हैं न कि हेय-उपादेय का भान नहीं। यह तो यहाँ लगायी है। यहाँ तो यह लगायी है कि हेय-उपादेय का भान नहीं है। इसलिए ऐसे विपरीत भाव खड़क रहा है। आहाहा!

यहाँ तो भगवान ऐसा कहते हैं कि भगवान आत्मा के स्वभाव की शुद्धता का, त्रिकाल ज्ञायकभाव का समीपपना छूटा, उसे विशेष शुद्धि छूट गयी। विशेष शुद्धि छूट गयी। सामान्य स्वभाव त्रिकाल का आश्रय-समीपपना छूटा, उसे विशेष शुद्धि उत्पन्न नहीं हुई। उत्पन्न नहीं हुई का अर्थ विशेषपना छूट गया, ऐसा भाई! समझ में आया? उसकी परपदार्थ में विशेषता, सत्कार, अभिनन्दन (हुआ) कि ठीक है.. ठीक है.. वह पुद्गल के

बन्ध को ठीक कहता है। चार गति में भटकना, उसे वह ठीक कहता है। समझ में आया? यहाँ तो चार गति के भाव और स्वभावभाव दो बात साथ में ली है। बस, एक ही बात।

जो कोई अविद्वान्, अपण्डित अथवा मूर्ख हेय-उपादेय के स्वरूप को न समझनेवाला। भगवान शुद्ध द्रव्यस्वभाव अखण्डानन्द उपादेय है और विकल्प से लेकर १४८ प्रकृति का बन्धभाव और प्रकृति तथा गति, गति का भाव सब हेय है—ऐसा नहीं समझता, वही परपदार्थ को आपरूप अथवा अपने को मानता है। उस पुद्गल को, राग को, विकार को, विभाव को, शरीर को, कर्म को... समझ में आया? ऐसा पुण्य बँधे तो हमारे भगवान के निकट समीपता होगी। ऐसा हमारे पुण्य बँधे तो स्वर्ग में जाऊँगा और स्वर्ग में से भगवान के पास जाऊँगा। तो कहते हैं कि तेरी पुद्गल की ही समीपता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ..... दर्शन करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : दर्शन किसके करना है? पर के दर्शन तो विकल्प है। परद्रव्य पर है। उसके आश्रय से विकल्प उठे, वह दुःखरूप है। यह तो कल बहुत कहा गया है। **पर पर तातें दुःख हो, निज निज ही सुखदाय।** तीन काल में यह बात.. आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भी दुःख के निमित्त हैं। गजब बात! क्योंकि परद्रव्य की ओर का विकल्प उठता है, वह दुःखरूप है। सेठ!

मुमुक्षु : भगवान को द्वेष कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्वेष। भगवान आत्मा के प्रति तुझे क्रोध आया, भाई! समझ में आया? अरुचि, द्वेष, द्वेष अरोचकभाव। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य ज्ञायकस्वरूप है, उसका अरोचकभाव और राग और फल और पुण्य में रोचकभाव, यह भगवान आत्मा के प्रति तुझे द्वेष और क्रोध है। समझ में आया? यह नये सुने, वे चिल्लाने लगें, हों! अरे भगवान! यह चिल्लाहट छूट जाने की वस्तु है।

भाई! तेरा ज्ञानस्वरूप है न, प्रभु! तू तो ज्ञायक है न? किसका करना है? कहाँ निकलना है? और किसमें आना है तुझे? जहाँ तेरे घर में ही ज्ञान का भण्डार भरा हुआ है न चैतन्यबिम्ब। उसकी समीपता का आश्रय छोड़कर, भगवान! तुझे कहाँ जाना है?

पुद्गल में ? चार गति में ? वह तो अनादि से है। ऐ.. चिमनभाई ! यह सब सूक्ष्म बातें हैं। वहाँ मुम्बई में ऐसा नहीं आता, हों ! बड़े दस-दस हजार लोग नहीं समझते, यह तो यहाँ के (लोग हैं)।

उस जीव के... किस जीव के ? भगवान हेय-उपादेय... तेरी चीज़ आत्मा के ज्ञायक स्वभाव के अतिरिक्त, उस सामान्यस्वभाव अकेला ध्रुव उपादेय के अतिरिक्त सब हेय है। समझ में आया ? ऐसी जिसे खबर नहीं। ऐसे अविद्वान्, नासमझ, अज्ञानी पर के साथ सत्कार, पर का सत्कार, अभिनन्दन-अभिनन्दन (करते हैं)। ओहोहो ! शुभभाव अच्छा आया, बहुत अच्छा आया।

मुमुक्षु : अत्यन्त सुख उपजावे ऐसा भाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुरन्त ही दु:ख उपजावे, ऐसा भाव है। कहो, हीरालालजी ! क्या है ? पैसे में तुरन्त सुख उपजे, ऐसा ये कहते हैं।

यहाँ तो कहते हैं भगवान, उस स्वभाव से विरुद्ध का विभाव, जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बाँधे, भगवान ! वह दु:खरूप भाव है। भाई ! वह दु:खरूप है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जानता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जानता है। आहाहा ! यहाँ कहे, षोडशकारण भावना भाते.. आता है न ? दर्शनशुद्धि होवे... क्या कहलाता है ? दर्शनविशुद्धि भावना भाये... आता है न ? हमारे श्रीचन्दजी बहुत बोलते हैं ? कहाँ गये श्रीचन्दजी ! ये बैठे। ये भक्ति में बोलते हैं। क्या आता है वह ? 'दर्शनशुद्धि भावना भाये, सोलह तीर्थंकर पद पाये।' देखो ! फिर धुन चढ़े इनकी। आहाहा ! प्रभु ! तेरा आत्ममार्ग अलग, भाई ! तेरा मार्ग तो स्वभाव सामान्य के आश्रय से वीतरागता उत्पन्न हो, वह तेरा मार्ग है। समझ में आया ?

भगवानस्वरूप प्रभु आत्मा, यह आत्मा भगवान वीतरागस्वरूप त्रिकाल विराजमान है। उसका आश्रय छोड़कर, उसका सत्कार छोड़कर, सूक्ष्म में सूक्ष्म राग की समीपता और सत्कार किया तो कहते हैं कि तेरी दृष्टि विपरीत है। **उस जीव के साथ नरकादिक चार गतियों में..** देखो ! चार गति, हों ! मिथ्यादृष्टि की फल चार गति है, ऐसा कहा है। आहाहा ! भगवान आत्मा अपना त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप भगवान, जिसमें अनन्त परमात्मा पड़े हैं, उसका आश्रय.. आश्रय.. आश्रय.. अवलम्बन, पर्याय में द्रव्य को आश्रय बनाये

बिना, पर्याय में राग और पर का सत्कार करनेवाले जीव को चार गति की समीपता / सहवास नहीं छूटता। समझ में आया?

उस जीव के साथ नरकादिक चार गतियों में वह पुद्गल अपना सम्बन्ध नहीं छोड़ता है,.. परन्तु किसलिए छोड़े? छोड़ने का अर्थ क्या? वह पुद्गल बँधे, वह ठीक है, उसका भाव ठीक है, (ऐसा मानता है) तो वह बँधेगा ही; और बँधेगा तो चार गतियाँ मिलेंगी - ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : बहुत मर्म की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो होवे ऐसी होवे न! कल नहीं कहा था? जाति का। रविवार, कल। एक-दूसरे को समझा सके, वह बड़ा या अपना काम करे, वह बड़ा? ऐसा पूछा था। एक आर्यिका ने ऐसा पूछा था। ३१-३२ वर्ष पहले। परिवर्तन से पहले। समझे? ये हजारों लोग, पाँच-पाँच हजार, दस हजार लोग और जोरदार व्याख्यान, लोगों को ऐसा लगे कि आहाहा! अरे! वह ऊँचा? लो, तुम्हारे चम्पाबेन अन्दर ऐसे स्थित हैं, वह ऊँचा? ३२ वर्ष पहले ऐसा प्रश्न हुआ था। तुम्हारे चम्पाबेन आत्मा का ध्यान करती हैं, वह आत्मा रुचता है उन्हें। उसकी अपेक्षा दुनिया को समझावे वह ऊँचा या ये ऊँचे? ऐसा प्रश्न चला था। ऐई! कल कहा था। दास भी भूल गया था। कहा कि तुमने प्रश्न किया था? कि कुछ खबर नहीं। कहा, दिवालीबाई ने यह प्रश्न किया था? कहे, हाँ! फिर इसे याद आया। यह बात इनके मुँह से हुई थी। यह दुनिया को ऐसे डोलना, भाषा जड़ और विकल्प उठता है, वह जड़-राग। आहाहा! और यह वाणी जड़।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन ठिकाने पड़े? धूल? ऐसी जहाँ दृष्टि है, उसकी तो मिथ्यादृष्टि है, उसे तो समझाने में यह निमित्त भी नहीं होगा।

मुमुक्षु : ऐसे अभिप्रायवाला निमित्त नहीं होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त इसे तो हुआ नहीं परन्तु वह हो, उस काल में और यह निमित्त, ऐसा इसे नहीं बनता। ऐसा मुझे कहना है। समझ में आया? आहाहा! अरे! भाई! बापू! मार्ग क्या है, इसकी तुझे खबर नहीं है। समझ में आया? ऐई! रतिभाई! वीतराग के

माणिकचौक में वीतरागता बँटती है। आहाहा! वह हितकर है। एक ही हितकर है, भाई! भगवान आत्मा अपनी समीपता छोड़कर जितने रागादि हैं, उनमें ठीक करते हैं, दूसरा ऐसा माने कि यह ठीक करता है.. समझ में आया? वे सब पुद्गल के समीप पड़े हैं। उनकी चार गति नजदीक में नहीं छूटती। समझ में आया? भाषा कैसी है, देखो न!

'न जातु जन्तोः सामीप्यं' पुद्गल उसकी समीपता नहीं छोड़ता परन्तु छोड़ने का अर्थ? कि जहाँ राग का आदर है, वहाँ पुद्गल का आदर (है और) वह पुद्गल हुआ ही करेगा। ऐसा कहते हैं। छोड़ना-करना इसे कहाँ था? ऐई! शशीभाई! आहाहा! ऐसे पुद्गल परावर्तन का प्रवाह इसके पास बहा ही करेगा। यहाँ गुलाँट खायी नहीं और यहाँ गुलाँट खायी है। समझ में आया? बाह्य ज्ञान को और बाह्य ज्ञान के माहात्म्य को जो करते हैं, वे सब पुद्गल के समीप में वर्तते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह श्लोक ऐसा है। ये सब अन्तिम श्लोक है न? पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश कहते हैं। भगवान! परन्तु आप यह शास्त्र लिखते हो न? कौन लिखता है? हमारे में विकल्प ही नहीं है, तो लिखे कौन? कौन कहे? समझ में आया? और पुस्तक लिखी तो हमारा हित है, ऐसा कौन कहता है? परन्तु कौन कहता है? यह आत्मा इनकार करता है और तू कहता है कि हित है। कौन कहता है? समझ में आया?

उस जीव के साथ नरकादिक.. निगोद नहीं छूटेगा। भाई! ओहोहो! उसे निगोद गति नहीं छूटेगी। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा ज्ञायकमूर्ति प्रभु के आश्रय में पड़ा है। बस! उसे सिद्धगति नहीं छोड़ेगी। सिद्धगति आयेगी ही। इसके अतिरिक्त एक शुभराग भी हितकर है और पर को समझाने का ज्ञान भी हितकर है, ऐसा माननेवाले को निगोद गति नहीं छूटेगी। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो एक चोट और दो टुकड़े हैं। आहाहा!

चार गतियों में.. चार गतियों में निगोद आ गया या नहीं? अनन्त काल वही मुख्य है। ये चार तो साधारण (गतियाँ) हैं। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि सत्कार करता है तो पुद्गल बँधे बिना रहेगा नहीं और पुद्गल का फल तो चार गतियाँ हैं। नरक

के, निगोद के शरीर की इसे चाहना है। ओहोहो! जिसे छोटे में छोटे राग की हितकरबुद्धि है, उसे निगोद के शरीर में उत्पन्न होने की चाहना है। समझ में आया? यहाँ तो नास्ति से बात है न? नहीं छोड़ेगा। आनन्द आयेगा, यह बाद में कहेंगे। यह दूसरे श्लोक में (कहेंगे)।

भव-भव में वह पुद्गलद्रव्य जीव के साथ बँधा ही रहता है। क्योंकि जिसे आत्मा के शुद्धस्वभाव के अतिरिक्त जहाँ अनुमोदन, सन्मति, सत्कार, आदर, हर्ष, उपादेय हुआ, बस! पुद्गल बँधेगा और पुद्गल से उसे कभी छुटकारा होगा नहीं। बस, बराबर है यह बात। समझ में आया?

मुमुक्षु : भूल छोटी और फल बड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भूल छोटी नहीं है। ठीक कहा, बाबूभाई ने। ककड़ी के चोर को फाँसी? नहीं। भगवान ज्ञायक अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु एक सर्वज्ञ प्रभु, ऐसे अनन्त गुण के समाज की चीज़ का उसने अनादर कर दिया। अनन्त महाराजा, एक-एक गुणरूपी महाराणा, महाराजा। एक-एक गुणरूपी महाराजा, बादशाह, ऐसे सर्व गुण का बादशाह आत्मा का उसने अनादर किया। समझ में आया? समझ में आया? बड़े बादशाह को चमड़े के जूते पहनाये। बादशाह गादी पर बैठा था और नूतन वर्ष के दिन वहाँ चुपचाप जूते लेकर गया। एकदम जाकर पहनाये। इतनी भूल? उसमें नूतन वर्ष के दिन जूतों का हार गले में दिया। समझे? इसी प्रकार भगवान आत्मा वीतरागी ज्ञायकबिम्ब प्रभु है। उस बादशाह को राग से, विकल्प से लाभ मानना, वह जूते पहनाने के समान है। समझ में आया? उसे राजा कहे, जाओ।

भव-भव में वह पुद्गलद्रव्य.. भव-भव में अर्थात् कि जितने भव हैं, उन सबमें जीव के साथ बँधा हुआ ही रहता है। **उससे पिण्ड नहीं छूट पाता।** पुद्गल से पिण्ड नहीं छूटता। एक भूतड़ा लगे, तब कहे, बापू! यह भूतड़ा जाता नहीं। भूत आता है न? भूत। व्यन्तर। पिण्ड नहीं छोड़ता। बहुत मान्यता की, किन्तु पिण्ड नहीं छोड़ता। इसी प्रकार जिसे राग के कण और कर्म के पुण्यभाव तथा यह परालम्बी ज्ञान; अपने ज्ञान के अतिरिक्त परालम्बी ज्ञान की महिमा जिसके अन्तर में है... समझ में आया? उसका पुद्गल पिण्ड (साथ) नहीं छोड़ता। आहाहा! समझ में आया? लो, विशेष आयेगा.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५२ गाथा-४६-४७ मंगलवार, दिनाङ्क ३१-०५-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल १२, वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश, ४६ गाथा का हिन्दी। अन्तिम हिन्दी है।

दोहा – पुद्गल को निज जानकर, अज्ञानी रमजाय।
चहुँगति में ता संग को, पुद्गल नहीं तजाय।।४६।।

बहुत संक्षिप्त में (बात की है)। भगवान आत्मा **पुद्गल को निज जानकर,..** अपने उपयोग में राग को अपना जानकर, अज्ञानी राग में रमता है, वह पुद्गल। परमाणु में कहाँ रमता है? समझ में आया? उपयोग-भू, भगवान आत्मा अपने ज्ञानादि व्यापार में राग में रमे, राग में एकत्व हो जाए, वह मिथ्यात्व है, वह संसार है। समझ में आया? पश्चात् गुलाँट करके आत्मा में रमे, ऐसी बात बाद की गाथा में करेंगे। समझ में आया?

भगवान आत्मा अपना महान ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शाश्वत् असली स्वभाव है; उसे भूलकर वर्तमान ज्ञान, दर्शन के परिणाम भाव में, उपयोग में कर्म की ओर के ये पुद्गल मेरे, ऐसा राग (करके) उस राग में रमे, उसका संग पुद्गल नहीं छोड़ता। पुद्गल संग नहीं छोड़ता। स्वयं पुद्गल का संग नहीं छोड़ता; इसलिए पुद्गल संग नहीं छोड़ता, ऐसा। समझ में आया? भगवान आत्मा अपनी वर्तमान पर्याय उपयोग व्यापार में रागादि में रम जाए। राग शब्द से सभी कषायभाव समस्त। उस राग में रमे, वह पुद्गल में ही रमता है। समझ में आया?

पुद्गल को निज जानकर,.. इन रागादि को अपने ज्ञानस्वरूप में अपने मानकर, अपने जानकर (पुद्गल में रमता है)। समझ में आया? ये श्लोक तो बहुत संक्षिप्त में सार और असार दोनों बताते हैं। **हेयोपादेय** कहा है न ऊपर (टीका में)? अविद्वान। भगवान आत्मा बेहद स्वभावी है। समझ में आया?

सवेरे प्रश्न हुआ था। एक परमाणु एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड जाता है, तो पहले राजू जाए, दूसरे राजू जाए, तीसरे राजू जाए, इतना तो अन्तर पड़ता है न? कहाँ गया अरुण? कहाँ गये चिमनभाई? तुम्हारे चिरंजीवी का प्रश्न था। किरीट का था, परन्तु पूछता

था तो वह। यह किरीट इन त्रिभुवनभाई का। एक समय में एक परमाणु, एक काल में सूक्ष्म समय में चौदह ब्रह्माण्ड जाए। पहले समय में इस प्रदेश में स्थित, दूसरे समय में चौदह ब्रह्माण्ड चीरे। क्या उसे खबर है ? उसे खबर है कि दूसरे समय में मुझे ऐसा होगा ? खबर की यहाँ आवश्यकता नहीं है। समझ में आया ? उसका पर्याय स्वभाव कितना है ? एक समय में पर्याय स्वभाव, पहले समय में एक प्रदेश में रहने का था अथवा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गति करने का एक समय था। पर्याय स्वभाव, हों! द्रव्य-गुण एक ओर रहो। दूसरे समय में... यह तो स्वभाव की बात ही अलौकिक है। वे द्रव्य-गुण ऐसे के ऐसे होने पर भी, एक समय में वह परमाणु अचेतन जड़, जिसे बिल्कुल कुछ खबर नहीं कि मैं कौन हूँ, ऐसा परमाणु, भाई! परमाणु का जड़स्वभाव, एक पर्याय एक समय में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गति करे, ऐसा एक पर्याय का स्वभाव; तो दूसरी पर्याय का ऐसा स्वभाव की एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड चीर डाले, ऐसा स्वभाव। चीरे अर्थात् समझ में आता है ? गति में चला जाए। उसमें पहले समय में आठ राजु, चौदह राजु है तो चौदह समय है, ऐसा है नहीं। आहाहा!

बात तो द्रव्यस्वभाव, क्षेत्रस्वभाव, कालस्वभाव, भावस्वभाव की है। वह वस्तु ही अलौकिक स्वभाव है। समझ में आया ? तो एक परमाणु एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड में खण्ड पड़े बिना चला जाता है। समझ में आया ? और वही परमाणु एक समय में अनन्त काले गुणरूप पर्याय में परिणत था, उसी परमाणु का दूसरे समय में अनन्त श्वेतरूप परिणमन हुआ, उस पर्याय का ऐसा ही स्वभाव धर्म है।

जैसे क्षेत्रान्तर होने का पर्याय का स्वभाव एक समय में अचिन्त्य दिखता है, ऐसा उसमें भावान्तर होना, पर्यायान्तर होना, (वह भी पर्याय स्वभाव है)। समझ में आया ? एक समय में अनन्त गुण... काला कहते हैं न ? काला रंग तो दूसरे समय में अनन्त गुना सफेद गुण, सफेद पर्याय। भगवान! यह पर्यायस्वभाव, क्षेत्रस्वभाव, वह स्वभाव कोई अचिन्त्य है! ऐसा भगवान आत्मा... समझ में आया ? क्षेत्रस्वभाव भी ऐसा है कि एक आकाश के प्रदेश में, सब परमाणु स्थूल स्कन्ध सूक्ष्म-सूक्ष्म हो जाए, तो एक प्रदेश अवगाहन देने में निमित्त होने की ताकत रखता है। आहाहा!

मुमुक्षु : एक प्रदेश में अनन्त परमाणु आ जाएँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा लोक आ जाए। यदि सूक्ष्म हो जाए। सूक्ष्म नहीं होते, यह अलग बात है। अगर हो जाए तो एक प्रदेश में पूरा चौदह ब्रह्माण्ड रह सकता है, ऐसी अवगाहनशक्ति की ताकत एक प्रदेश में है। क्षेत्र में इतनी ताकत है। समझ में आया? परमाणु की एक समय की ऐसी ताकत और ऐसे रूपान्तर होने की ताकत है। ओहोहो! समझ में आया? आकाश का अचिन्त्य स्वभाव। कहीं नहीं है, ऐसा नहीं। है, है ऐसा दसों दिशाओं में चला जाए। है... है... है... बाद में नहीं, बाद में नहीं—ऐसा कहीं आता ही नहीं। अनन्त है.. है... ऐसा चला जाए। है.. है.. है.. है..

मुमुक्षु : अनन्त काल .... चला जाए तो उसका अन्त नहीं आता?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्त कहाँ से आवे? परन्तु वह है.. है.. है.. उसका प्रश्न क्या? समझ में आया? ओहोहो! ऐसा तो क्षेत्र का स्वभाव, परमाणु का स्वभाव, आकाश का स्वभाव, अरे! भगवान के - आत्मा के ज्ञान की एक समय की पर्याय... यह सब प्रश्न उठे कहाँ से? कि वह आया था न? भाई! '**जाणदि पस्सदि**' त्रिकाल कैसे है यह? कल दोपहर को आया था न। रात्रि को प्रश्न हुआ था। आज और रास्ते में यह चला था। यह (नियमसार की) ९७वीं गाथा आयी थी न। '**जाणदि पस्सदि सव्वं**' कारणपरमात्मा को। अपना कारण प्रभु, त्रिकाली द्रव्य में ज्ञान, दर्शन त्रिकाल स्वभाव ऐसा है कि कारणपरमात्मा को जानता है-देखता है। जानना-देखना यह और क्या आया? भगवान यह वस्तु, इस पदार्थ में ज्ञान, दर्शन ऐसा स्वभाव है कि कारणपरमात्मा, अनन्त गुणरूप आत्मा (है, उसे जाने-देखे)। एक ज्ञान में अनन्त केवलज्ञान की पर्यायवाला ज्ञान, वह ज्ञान कारणपरमात्मा को जाने और दर्शन उस कारणपरमात्मा को देखे। ऐसा अन्तर उसका स्वभाव त्रिकाल.. त्रिकाल.. त्रिकाल... आहाहा! गजब बात है। अद्भुता अदभुतम्!

इसी प्रकार भगवान आत्मा एक समय में उपयोग करके केवलज्ञान प्राप्त करे। समझ में आया? यह बाद में ४७वें श्लोक में लेंगे। अपने स्वरूप में स्थित होकर केवलज्ञान ले। जैसा अन्दर बेहद ज्ञान-दर्शन कारणपरमात्मा को देखनेवाला पड़ा है। आहाहा! स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव की महिमा की महिमा क्या कहना? समझ में

आया ? वह भगवान का दरबार अनन्त गुण से भरा हुआ भगवान का दरबार है। आत्म भगवान में दरबार पड़ा है। कहते हैं कि उसकी एक समय की दशा तीन काल-तीन लोक एक समय में जाने, वह कोई अतिशय, विशेषता नहीं है। समझ में आया ? एक परमाणु भी एक समय में काले का अनन्त गुणा सफेद हो जाता है। भगवान! यह वस्तु का स्वरूप ही कोई अचिन्त्य, अलौकिक है। समझ में आया ? इसी प्रकार भगवान आत्मा एक समय में राग में रुक जाए.. समझ में आया ? तो भी अनन्त संसार उत्पन्न करता है। समझ में आया ? कहो, समझ में आया या नहीं ? प्रवीणभाई! ऐसा है या नहीं ? है या नहीं ? है, इसमें नहीं— ऐसा कहीं नहीं आता। है... है... है.. समझ में आया ?

ऐसा भगवान आत्मा अपनी ओर का लक्ष्य, आश्रय छोड़कर पुद्गल को निज जानकर.. आहाहा! दृष्टि गुलाँट खा गयी। आहाहा! अचिन्त्य अनन्त माहात्म्यवन्त प्रभु! जिसके दरबार में अनन्त-अनन्त परमात्मा विराजमान हैं। जिसके दरबार में अनन्त परमात्मा विराजमान हैं। आहाहा! उस दीवानखाना में तो राजा को २५-५०-१००-५००-१०००-५०००-१०००० आते होंगे। चक्रवर्ती के महल में बत्तीस हजार। कितने ? परन्तु कितने ? बोलते क्यों नहीं ? खबर नहीं। बत्तीस हजार। बत्तीस हजार देश हैं न! बत्तीस हजार राजा। चक्रवर्ती जैसा राजा। यह वह इन्द्र लो ऊपर, असंख्य देव, लो न! असंख्य देव उसके दरबार में। बड़ा विमान होता है, असंख्य देवों का दरबार भरता है। भगवान आत्मा के दरबार में अनन्त-अनन्त परमात्मा विराजते हैं।

मुमुक्षु : वह सब स्थिति बाहर की और यह मालिकपना (अन्दर में)।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर में धूल में भी नहीं। उसके लिए तो यहाँ कहते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा में असंख्य प्रदेश में अनन्त परमेश्वर ऐसे विराजते हैं। ऐसा भगवान का दरबार है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : बोलने में तो थोड़ा कहने से ज्यादा समझ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त में थोड़ा कहने से ज्यादा समझ में आता है। चिमनभाई! ऐसा कहते हैं, बाहर की बात थोड़ी कहे तो बहुत समझ में आये और अन्दर में अधिक कहे तो भी बराबर नहीं समझ में आता- ऐसा कहते हैं। आहाहा! रुचि अनुयायी वीर्य। जिसकी

आवश्यकता जाने, वहाँ वीर्य उन्मुख हुए बिना नहीं रहता। वल्या बिना नहीं रहता। समझते हो? झुकाव। जिसकी आवश्यकता ज्ञात हो, उसमें वीर्य झुके बिना नहीं रहता। समझ में आया?

भगवान ऐसा आत्मा, सब अनन्त... एक बात और दूसरी आयी। कि जो साधु था न? स्वयं साधु होता है न? आचार्य हो, उपाध्याय हो, उनकी जो यह सब निर्मल पर्याय है न? वह निर्मल पर्याय भगवान में विराजती है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा में उस साधु पद की पर्याय सम्यग्दर्शन से लेकर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-आनन्द की पर्याय चौथे गुणस्थान के योग्य छियासठ सागर आदि रहे। पाँचवें गुणस्थान के योग्य दशा रहे, छठे के योग्य दशा रहे, सातवें के योग्य दशा रहे। वे सब दशाएँ भगवान आत्मा में विराजमान है। आहाहा! भगवान का दरबार भी कितना बड़ा! आहाहा! समझ में आया?

जितनी साधक पर्याय अल्प, अधिक और पूर्ण, वे सब पर्यायें भगवान आत्मा में विराजमान हैं। अनन्त साधु आत्मा में विराजमान हैं। आहाहा! चिमनभाई! समझ में आया इसमें? अरे! भगवान! आत्मा में केवलज्ञान होता है, ऐसा तू मान, तब तो उसका अर्थ यह हुआ कि जितनी साधक पर्याय और केवलज्ञान की अनन्त पर्यायें उसके ज्ञानगुण में सब वर्तमान पड़ी है। उसमें वर्तमान पड़ी है। ऐसे-ऐसे एक गुण की अनन्त-अनन्त साधक पर्याय और पूर्ण पर्याय, ऐसे आनन्द की साधक अपूर्ण पर्याय और पूर्ण पर्याय, वीर्य की ऐसी पर्याय.. आहाहा! इसकी स्वच्छता की, प्रभुता की, विभुता की, कर्ता-कर्म-कर्ण आदि की साधक की जो निर्मल पर्याय और पूर्ण (निर्मल पर्याय) वे सब भगवान के दरबार में पड़ी है। आहाहा! यह भगवान कौन सा? समझ में आया?

ऐसे दरबार को भूलकर, एक राग का कण, मलिन कषाय, अपने उपयोग में... '**अभिनन्दति**' है न यहाँ? उसकी व्याख्या है न यह? समझ में आया? यह तो संक्षिप्त शब्द किये हैं? **अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति** इसका अर्थ किया है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द ऐसे अनन्त-अनन्त दरबार—गुण से—भरपूर प्रभु को विसारकर राग को अभिनन्दता है, राग की प्रशंसा करता है। दया, दान के राग के एक सूक्ष्म कण को भी हितकर स्वीकार करता है। अपने उपयोग में एकत्व करता है, (उसे) पुद्गल संग नहीं छोड़ता क्योंकि तू

संग नहीं छोड़ता तो वह संग किसलिए छोड़े? आहाहा! समझ में आया या नहीं? रविभाई! यह सब साहित्य दूसरे प्रकार का है। आहाहा!

पुद्गल को निज जानकर,.. इसका अर्थ यह कि अपना स्वरूप पूर्णानन्द प्रभु, उसका आदर न करके और राग के सूक्ष्म कण को भी अभिनन्दन दिया, अभिनन्दन दिया, प्रशंसा की, श्रद्धा की (कि) वह मैं हूँ—ऐसी एकत्वबुद्धि की, तो **अज्ञानी रमजाय।** अपने स्वरूप का बेभानी और राग में भानवाला, वह मैं हूँ-ऐसे रमता है। **चहुँगति में ता संग को..** चार गति के संग में से छूटने का भाव उसे नहीं है, तो चार गति का संग उसे नहीं छोड़ता। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : अभिनन्दन का अर्थ वह अच्छा है, इतना ही कहना है, साथ में रहने का कुछ कहा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अच्छा कहे, उसका अर्थ हुआ कि मेरे साथ रहना। बहुत अच्छा है तू। उसका अर्थ क्या हुआ? मेरे साथ रहना, मेरे साथ रहना, इसका अर्थ यह। मेरी श्रद्धा है तेरे ऊपर, विश्वास है। अभिनन्दन का अर्थ ऐसा किया, देखो न! समझे? '**देहादिकमभिनन्दति श्रद्धत्ते**' है न भाई! नीचे संस्कृत में है। '**श्रद्धत्ते**' विश्वास.. विश्वास.. तू भी मेरा साथी है, तू भी मेरा साथी है, तू भी मेरा सगा है, तू भी मेरा (सगा है)। ओहो! मेरा स्व है। मेरा अर्थात् तू मेरा स्व है और मैं तेरा स्वामी हूँ। पण्डितजी! आहाहा!

मुमुक्षु : फिर किसलिए छूटे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नौकरी किसलिए छोड़े? राग मैं हूँ, राग मेरा है और मैं उसका स्वामी हूँ। रक्षा करो। समझ में आया?

दोहा – पुद्गल को निज जानकर, अज्ञानी रमजाय।
चहुँगति में ता संग को, पुद्गल नहीं तजाय।।४६।।

यह विकार इसे छोड़ेगा नहीं। विकार का आदर करता है तो विकार छोड़ेगा नहीं। विकार रहेगा तो चार गति उसे प्राप्त होगी। उसे संसार छोड़ेगा नहीं। ओहोहो! हरिभाई! वहाँ मुम्बई में क्या था? रुपये कमाने में था कुछ वहाँ? धूल में था, धूल। मोहनभाई! कहते हैं कि आहाहा! तेरी पर्याय.. उपादान की योग्यता का अर्थ कि राग में रमे, तो राग का फल

बन्ध और बन्ध का फल संयोग। संयोग उसे छोड़ेगा नहीं। संयोगी भाव को अपना माननेवाले को संयोग, पदार्थ उसे असंग नहीं रखेगा। उसके संग में जोड़ दिया। आहाहा! पूज्यपादस्वामी इतने थोड़े शब्दों में (बात करते हैं)। **पुद्गल नहीं तजाय।** लो! अब यह कहा। अब सुलटा लेते हैं। अब जिस स्वभाव की महिमा की न, (उसकी बात करते हैं)।

आत्मस्वरूप में तत्पर रहनेवाले को क्या होता है?

आचार्य कहते हैं–

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः।।४७।।

अर्थ – देहादिक से हटकर अपने आत्मा में स्थित रहनेवाले तथा प्रवृत्ति–निवृत्ति–लक्षणवाले–व्यवहार से बाहिर दूर रहनेवाले, ध्यानी–योगी पुरुष को आत्म–ध्यान करने से कोई एक वचनों के अगोचर परम जो दूसरों को नहीं हो सकता, ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है।।४७।।

दोहा – ग्रहण त्याग से शून्य जो, निज आतम लवलीन।
योगी को हो ध्यान से, कोइ परमानन्द नवीन।।४७।।

गाथा - ४७ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं– देखो! **आत्मस्वरूप में तत्पर रहनेवाले को क्या होता है?** पहले कहा कि राग में तत्पर रहनेवाले को चार गति नहीं छूटती। उसे पुद्गल संग छोड़ेगा नहीं, तो आत्मा में तत्पर होने से क्या होगा? समझ में आया? **आत्मस्वरूप में तत्पर रहनेवाले को क्या होता है? आचार्य कहते हैं–**

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः।।४७।।

देहादिक से हटकर अपने आत्मा में स्थित रहनेवाले.. पहले परद्रव्य का

लक्ष्य छोड़कर, इतना साधारण लिया। शरीर, कर्म आदि सब बाह्य पदार्थ, उनसे हटकर। **अपने आत्मा में..** भगवान आत्मा, जिसके दरबार में अनन्त आनन्द, अनन्त आनन्दरूपी दरबार पड़ा है। अनन्त ज्ञान, शान्ति, आनन्द ऐसा अपना स्वभाव अचिन्त्य माहात्म्यवन्त है। उसमें जो **देहादिक से हटकर अपने आत्मा में..** देखो! अपने आत्मा में, हों! **स्थित रहनेवाले...** अन्दर भगवान आत्मा में **स्थित रहनेवाले...**

तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षणवाले-व्यवहार से बाहिर दूर रहनेवाले,.. देखो! यह व्यवहार की व्याख्या। कोई कहे कि भाई! प्रवृत्ति वह व्यवहार का लक्षण है, निवृत्ति और दूसरे का लक्षण है, निश्चय का लक्षण है। अशुभ की निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति दोनों व्यवहार का लक्षण है। समझ में आया? अशुभ से निवृत्ति वह संवर होता है, प्रवृत्ति वह राग है। ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा... इसका अर्थ तो बहुत संक्षिप्त हिन्दी में करेंगे। **ग्रहण त्याग से शून्य जो,..** है न भाई इसमें? ग्रहण-त्याग। प्रवृत्ति और निवृत्ति। ग्रहण अर्थात् प्रवृत्ति और त्याग अर्थात् निवृत्ति। अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना से निवृत्ति और दया, अहिंसा, सत्य, दत्त के विकल्प में प्रवृत्ति, दोनों व्यवहारनय के लक्षण हैं। समझ में आया? समझ में आया?

यह और एक तेरापंथी ऐसा कहता है कि पर को बचाने का भाव है, वह पाप है। उसे दुःख न देने का भाव, वह पुण्य है। न देने का भाव। यह तो कहते हैं कि पर को सुख देने का भाव, वह भी पुण्य व्यवहार है और दुःख नहीं देने का भाव, वह शुभ व्यवहार ही है। ऐसी बात है। ओहोहो! समझ में आया? कहो, समझ में आया? यह क्या चलता है? कि भगवान आत्मा जैसे बहिर् राग में स्थित था तो संसार उसे छोड़ेगा नहीं और जो व्यवहार की प्रवृत्ति से बाह्य है, उसे मोक्ष आये बिना रहेगा नहीं। समझ में आया? क्या कहा?

देहादिक से हटकर अपने आत्मा में स्थित रहनेवाले तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षणवाले-व्यवहार से बाहिर.. अन्दर संस्कृत में है न? अभी पण्डितजी को पूछा था। कहा, बहिर् स्थिति और बाह्य, दो शब्द पड़े हैं। बहिर् स्थिति अर्थात् बाहर। बाह्यस्थिति है अर्थात् कि बाहर। इसलिए फिर यहाँ ऐसा कहा कि बहिर् स्थिति है अर्थात् कि दूर, दूर रहना। समझ में आया? बाह्यस्थिति से दूर रहनेवाला। ओहोहो! समझ में आया? जो कोई

आत्मा प्रवृत्ति-निवृत्ति का विकल्प जो शुभ-अशुभ है, अशुभ से निवृत्ति और शुभ से प्रवृत्ति है वह, परन्तु उससे हटकर। क्योंकि प्रवृत्ति-निवृत्ति का भाव ही व्यवहार है। व्यवहार ही बन्ध है। व्यवहार, वही बन्ध है, वही संसार है। समझ में आया? वह भावबन्ध है।

अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति वह भावबन्ध है। भगवान दुःख की जेल में पड़ता है। समझ में आया? आनन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मा उस बाहर में रुकता है (तो) जेल में पड़ता है। धर्मात्मा उस बाहर में से निकल जाता है। समझ में आया? यह तो अलौकिक बात है। चिमनभाई! आहाहा! वहाँ तो ऐसा खोला हो तो एकदम पैसा आवे। ढ़ेर, लो और वापस दवाब पड़े तो भी खबर नहीं पड़े। कैसे चुकाना और कैसे होना? क्या करना यह सब? वर्तमान में सरकार के भारी कठिन काम है न? इतना दो। इनकम टैक्स।

मुमुक्षु : उसका सहारा है तो निश्चिन्त बैठा जाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके सहारे बिल्कुल बैठता नहीं। कल्पना है कि मेरे पास है तो मैं निवृत्ति ले सकता हूँ। यही कहते हैं कि निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों विकल्प बन्ध का कारण है। समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रवृत्ति, निवृत्ति दोनों जेल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जेल है। 'वह दिव्यशक्तिमान जिससे बन्धनों से निकले' आता है न यह? इसका पहला शब्द क्या है?

मुमुक्षु : निर्दोष सुख....

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्दोष सुख, निर्दोष आनन्द लो जहाँ से भी मिले... आहाहा! सोलह वर्ष में (श्रीमद् राजचन्द्र लिखते हैं), हों! चिमनभाई! कितने वर्ष हुए?

मुमुक्षु : १७।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह १६ वर्ष की बात है। समझे? सोलह वर्ष चार महीने। १०८ पाठ बनाये। उसमें से यह एक पाठ है। 'निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द लो जहाँ भी प्राप्त हो वह दिव्य शक्तिमान जिससे बन्धनों से मुक्त हो।'

मुमुक्षु : चाहे जहाँ से अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे जहाँ से क्या धूल में। चाहे जहाँ से अर्थात् ज्ञान है वहाँ से। समझ में आया? यह लज्जा होती है। अर र! सोलह वर्ष चार महीने में ऐसा कहते हैं। ऐई! पोपटभाई! सोलह वर्ष, हों! सोलह वर्ष अर्थात्? और चार माह। श्रीमद् है न? कहते हैं, अरे! प्रभु! आहाहा! अन्दर से पुकार उठी है। निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द लो जहाँ से भी प्राप्त हो... अन्तर में एकाकार होकर किसी भी क्षेत्र और किसी भी काल में हो, परन्तु अन्तर में एकाकार होकर आनन्द को प्रगट कर। वह दिव्य शक्तिमान जिससे बन्धनों से मुक्त हो। वह दिव्य शक्तिमान भगवान जेल में से निकले।

यह प्रवृत्ति-निवृत्ति का विकल्प वह जेल है। जेल है और जहर है। समझ में आया? यह प्रवृत्ति-निवृत्ति की विकल्प उस जेल के बड़े सरिया आड़े पड़े हैं। छोड़... छोड़.. कहते हैं। आहाहा! वे कहते हैं कि व्यवहार से ऐसा होता है। यहाँ तो कहते हैं कि सुन तो सही, प्रभु! इस प्रवृत्ति का, शुभ का किसी भी प्रकार का विकल्प उठे और अशुभ से निवृत्ति का, उन सबका व्यवहार ही लक्षण है। दोनों का व्यवहार ही लक्षण है। उसमें एक की निवृत्ति निश्चय लक्षण और प्रवृत्ति व्यवहार लक्षण, ऐसा है नहीं। आहाहा!

देखो न! आशाधरजी भी उन्हें मुनि मिल गये हैं। उनके शब्द ऊपर से यह टीका अधिक स्पष्ट की है। मुनि भी समर्थ हैं, ऐसा लिखा है, आगे विनय का आयेगा। क्या कहा? विनय। सागरचन्द नामक मुनि हैं, विनयचन्द्र। विनयचन्द्र मुनि होंगे। उनके वचन। समझे? '**विनयचन्द्र नामक मुनि के वाक्यों का सहारा लेकर...**' उनके वाक्यों का सहारा लिया। मुनि कहते होंगे इसका ऐसा... इसका ऐसा... टीका में... ओहो! पण्डित आशाधर गृहस्थाश्रम में पण्डित हैं, हों!

कहते हैं, भगवान आत्मा चाहे मैं ऐसा करूँ, ऐसा विकल्प हो अथवा उससे छूटूँ, ऐसा विकल्प हो। समझ में आया? पर से हटूँ, ऐसा शुभराग हो या पर में दया आदि, ब्रह्मचर्य पालन करूँ, ऐसा शुभराग हो, सब प्रवृत्ति लक्षण व्यवहार का स्वरूप है। उससे **बाहिर दूर..** ऐसा शब्द लिया है। कहा न? बाहिर स्थिति का अर्थ बाहर किया है और बाह्य का अर्थ दूर किया है अर्थात् बाह्य में रहा। बाहर में रहा था, बाहर में रहा था, दूर कर डाला। गुलाँट खा गया है। बाह्य से दूर हो गया। समझ में आया? बाहर में जो स्थित था,

उससे दूर हो गया। ओहोहो! व्यवहार से दूर, व्यवहार से बाहर अर्थात् व्यवहार से दूर। समझ में आया? अब यह कहे कि व्यवहार करते-करते कुछ होगा। धूल में भी नहीं, सुन तो सही। भगवान चिदानन्द को जेल में से निकालने की तुझे खबर नहीं। समझ में आया?

व्यवहार से बाहिर दूर रहनेवाले,.. इतना। अब कौन? **ध्यानी-योगी..** अपने आनन्दस्वरूप में एकाग्र होनेवाला योगी। योगी अर्थात् सम्यग्दृष्टि ज्ञानी। समझ में आया? भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु, जिसके अन्तर दरबार में अनन्त परमात्मा स्थित हैं, उनका साक्षात्कार करनेवाला ज्ञानी, व्यवहार से हटकर अपने में लीन। देखो!

ध्यानी-योगी.. अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप, एकाग्रतारूप योग जोड़नेवाला, एकाग्ररूप योग-जुड़ान करनेवाले पुरुष को, ऐसे आत्मा को। **पुरुष को..** अर्थात् कहीं पुरुष और स्त्री, ऐसा नहीं। ऐसे आत्मा को। समझ में आया? शान्त होकर बाहर की प्रवृत्ति, विकल्पादि से दूर होकर, बाहर से दूर होकर, अन्तर में समीप आकर। बाहर से दूर होकर, अन्तर भगवान अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु के समीप में आनेवाले का नाम ध्यानी-योगी है। समझ में आया? आहाहा!

आत्म-ध्यान करने से.. भगवान आत्मा पूर्णानन्द और अनन्त परमात्मस्वरूप ऐसा अपना कारणपरमात्मा, उसका ध्यान करने से। उपयोग अन्तर में झुकाने से। उपयोग में जो राग की एकता थी, उससे दूर हटने से, भगवान के साथ एकता होने से, शुद्ध चैतन्य परमात्मा निजस्वरूप। आठ वर्ष की बालिका का शरीर हो या मेंढ़क का शरीर हो। देढ़का को क्या कहते हैं? मेढ़क। अपनी प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप विकल्प से हटकर, अपना भगवान आत्मा क्षेत्र से शरीरप्रमाण भले थोड़ा क्षेत्र हो, उसके साथ सम्बन्ध है ही नहीं।

एक परमाणु का अस्तित्व गुण भी एक परमाणु में पूरा रहता है और एक अस्तित्व गुण पूरे आकाश में भी पूरा रहता है, तो वह अस्तित्व गुण बड़ा है और यह छोटा है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? एक अस्तित्व-सत्ता नाम का गुण एक रजकण में, एक क्षेत्र में, एक प्रदेश में व्याप्त कर पूर्ण गुण रहता है और एक सत्ता नाम का गुण सर्व व्यापक आकाश में पूर्ण गुण रहता है। क्षेत्र बड़ा है तो सत्तागुण बड़ा है, ऐसा नहीं है। रहने है, उसमें छोटा-

बड़ा क्या ? समझ में आया ? एक प्रदेश में, रजकण में अस्तित्वगुण रहता है तो वह छोटा (है, ऐसा नहीं है) परन्तु है, उसमें छोटे बड़े की क्या बात है ? है, वह है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा मेंढ़क के शरीर में असंख्य प्रदेशी हो या सवा पाँच सौ धनुष का शरीर बाहुबलीजी का हो। समझ में आया ? तो क्षेत्र छोटा-बड़ा होने से अन्तर में (स्वभाव) छोटा-बड़ा नहीं है। भाव तो बड़ा सबमें समान ही है। समझ में आया ? आहाहा! वह भी अन्तर में ऐसे (उपयोग को) झुकाता है। यह पाँच सौ धनुषवाला जीव भी अपने को ऐसे अन्तर में झुकाता है। क्षेत्र भले बड़ा हो, भाव तो दोनों के परिपूर्ण समान ही हैं। समझ में आया ?

ऐसे अपने आत्मा में ध्यान करने से। वह भी ध्यान था। राग में एकत्व, वह भी ध्यान था—आर्तध्यान (था)। समझ में आया ? यह भगवान ज्ञायक अनन्त गुण का प्रभु, इसमें एकाग्र होने से **कोई एक वचनों के अगोचर..** अरे! जगत के रस के स्वाद की बात नहीं कही जा सकती (तो) इस आत्मा के अतीन्द्रिय वचन अगोचर आनन्द की क्या बात ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? साधारण एक चूरमा का लड्डू खाता है तो उसका स्वाद कैसा होता है ? लाओ बताओ। तुम्हारे ख्याल में है, उसका चित्रामण करके बताओ।

मुमुक्षु : खाँड के बदले नमक डाल दे तो खबर पड़ जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसको खबर पड़े, इसने क्या बताया ?

भगवान आत्मा... एक रस का, संसारी रस का, जड़ रस का... आम का रस लो। समझे ? बहुत मीठी, छोटी और गुठली छोटी, ऊपर की छाल पतली, ऐसा आम होता है न ? आम बहुत प्रकार के होते हैं। ऐ.. जमुभाई! उस आम का रस स्वाद में आया, उसे बताना, भाई! तेरे ख्याल में वह चीज़ आयी है न ? कैसी है बताओ ? लाओ, शब्द में लाओ। मीठी बहुत थी परन्तु, भाई! ओहोहो! और घी की पूड़ी और यह रस। धूल के रस का ख्याल भी पूरा नहीं दे सकता। वह तो धूल है न ? क्या है ?

मुमुक्षु : वर्णन सुनते हुए तो मुँह में पानी आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसी प्रकार यह सुनते हुए आनन्द आना चाहिए, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा... कहते हैं, चैतन्य लड्डू मुझे खाना है। कल भाई विमल कहता

था, धीरुभाई का। मैंने कहा, आत्मा क्या कहता है ? बोल। वे बोल आते हैं न ? ये लड़का बोलेगा थोड़ा। लड़के हैं या नहीं ? आत्मा चैतन्यपिण्ड है। चिमनभाई ने किया है न ? कहाँ गये चिमनभाई ! इन लड़कों को थोड़ा (सिखाया है)। आत्मा चैतन्यपिण्ड है। मेरा कोई कर्ता नहीं। उसे कहा, तेरा पिता नहीं यह धीरु ? यह तो सबका पिता है, कहे। तू कहता है कि मेरा कोई कर्ता नहीं है और फिर यह कर्ता कहाँ से लाया ? चैतन्यपिण्ड है, तो पिण्ड तो लड्डू भी है। लड्डू भी जड़ का ऐसा पिण्ड है। वह खा सकता है ? तो कहे हाँ। तो आत्मा खा सकता है ? नहीं, नहीं, यह नहीं। खा सकता है कहा। सुन तो सही। भगवान आनन्द पिण्ड के आहार की बात चलती है, देखो ! समझ में आया ? पहले यह चीज़ नजर में आये बिना एकाग्र कहाँ होगा ? वह चीज़ कैसी है ? यह लक्ष्य में, दृष्टि में आये बिना एकाग्र कहाँ होना ? किसका भोजन करना ?

मुमुक्षु : फिर इसे लड्डू खिलाना या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो लड़का, बालक है। उसे वापस जीतू कान में कहता था। कहाँ गया जीतू ? उसे कान में कहता था। कोई ऐसा कहे, भूख लगी है। मुझे अभी दे। शाम को भूख लगी न, खाने जानेवाला था न इसलिए। थोड़ा सा लड्डू... कहा, लड्डू है परन्तु नजर तो कर। लड्डू कहाँ है, यह नजर किये बिना तुझे खाने को किस प्रकार देना ? कहाँ भगवान विराजता है ? कितने गुण सम्पन्न (है), उसकी नजर हुए बिना, नजर पड़े बिना एकाग्र किस प्रकार होगा ? एकाग्र होना, वह चैतन्य के लड्डू का अनुभव है। समझ में आया ? लड़के क्या करें बेचारे ? आहाहा ! अरे ! लड़के कहाँ है ? ऊपर का शरीर देखना छोड़ दे न ! ऊपर का शरीर देखना छोड़ दे। और उसमें राग होता है, उसे देखना भी छोड़ दे और एक समय की अवस्था को देखना छोड़ दे। भगवान अन्दर पूर्णानन्द का नाथ तू विराजमान है। आहाहा ! समझ में आया ?

ऐसा अपना भगवान आत्मा, उसमें व्यवहार से हटकर... व्यवहार को साथ लेकर (नहीं)। समझ में आया ? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, वह प्रवृत्ति भाव है। कुगुरु से निवृत्ति हुई, परन्तु वह निवृत्ति शुभराग है। समझ में आया ? भगवान आत्मा उससे (प्रवृत्ति-निवृत्ति से) हटकर, दूर रहकर अपने में (स्व में) ध्यान करने से **कोई एक वचनों के अगोचर..** वचन क्या कहे ? आम के रस का स्वाद वचन क्या कहे ? देखो !

यह तुम्हारा कथन है या नहीं ? अंग्रेजी पढ़े हो या नहीं ? पढ़ा है या नहीं ? बताओ, लाओ, चित्रामण करके बताओ या भाषा द्वारा बताओ कि हमारा अंग्रेजी का ज्ञान। इस मशीन का, ये बड़े-बड़े यन्त्र चलाते ऐसे चलाना आवें। हजार के वेतनदार, दो हजार के वेतनदार। उसका ऐसा कर दे, उसका ऐसा कर दे। लाओ बताओ वह ज्ञान। कहाँ है वह ? भाई! मुझे खबर पड़ती है परन्तु मैं कैसे बताऊँ ?

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि वचन से कोई अगम्य आनन्द है। दुनिया की कला भी वचन से कह नहीं सकते, दुनिया की कला, तो भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु (के आनन्द को किस प्रकार कहा जा सकता है) ? समझ में आया ? लड्डुओं में तो गुड़, घी इकट्ठे हुए तो भी अन्दर में थोड़ा थोड़ा आकाश रह जाता है। रहता है न ? चूरमे का लड्डू हो और उसमें भी आकाश प्रदेश एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते, ऐसे अन्दर रह जाते हैं। खाली भाग बहुत रहता है।

मुमुक्षु : दबाकर बाँधे तो भी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दबाकर बाँधे तो भी भाग रह जाता है। आहाहा! भाई! यहाँ तो आत्मा की निवृत्ति बतलानी है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ... दबावे तो .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दबावे तो भी अन्दर (खाली) भाग रहता है। यह आत्मा अनन्त गुण की गाँठ है। उसमें बिल्कुल अवकाश नहीं है। एक-दूसरे गुण में नजर करे तो कुछ नहीं दिखता। निविड है। समझ में आया ? भगवान अनन्त गुण की गाँठ (पिण्ड है)। वह गाँठ नहीं बाँधते ? परन्तु उसमें अवकाश होता है। यह मिल की रुई की गाँठ बाँधते हैं न ? मिल कहे ? क्या कहलाता है ? प्रेस। इतनी बड़ी गाँठ। पच्चीस-पचास मण की गाँठ इतने में दस-दस मण की गाँठ बाँधते हैं न लोहे की पत्ती मारकर। तो भी अन्दर उसमें पोलाश है। आकाश का खाली भाग है। भगवान आत्मा अनन्त गुण की गाँठ में एक प्रदेश का अवकाश कहीं खाली नहीं है। ऐसे अनन्त गुण ठसाठस भरे हैं। चिमनभाई!

मुमुक्षु : प्रदेश अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसका स्वरूप ही अलग। परन्तु यहाँ अभेद एकाकार

असंख्य प्रदेश में कोई एक प्रदेश खाली-बाकी है, उसमें अवकाश है, ऐसा नहीं है। ऐसे भगवान आत्मा को एकाकार होने से निबिड प्रभु, उसमें एकाकार होने से **वचनों के अगोचर परम जो दूसरों को नहीं हो सकता, ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है।** उसे (अर्थात् बहिर्लक्ष्यवाले को) संसार उत्पन्न होता है, पुद्गल उत्पन्न होता है; इसे आनन्द उत्पन्न होता है। दो बातें की हैं। समझ में आया? अरे! यह तो कहाँ की बात? परदेश की होगी? स्वदेश की है। कहाँ वह देश होगा और उसमें ऐसा होगा, ऐसा होगा। भगवान तेरा आत्मा-स्वदेश की बात चलती है। अपने स्वदेश में निवास करने से वचन से अगोचर भगवान में आनन्द पड़ा है, उसका परम आनन्द दूसरे को नहीं हो सकता। अर्थात्? अपने स्वरूप में एकाग्र होनेवाले को होता है। दूसरे को ऐसा नहीं होता।

ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है। ओहो! बात आनन्द से ली है, देखो! समझ में आया? अपने भगवान आत्मा को छोड़कर, उससे विरुद्ध भाव / विभावभाव को अपनाने से संसार संग, पुद्गल, परिभ्रमण, चतुरगति नहीं छूटती और भगवान आत्मा पुण्य-पाप की प्रवृत्ति-निवृत्ति के व्यवहार लक्षण से दूर होकर अपने शुद्धस्वभाव में ध्यान होकर, उसका अर्थ समीप होकर, जो स्वभाव से दूर था और विभाव से नजदीक था, वह विभाव से दूर होकर स्वभाव के नजदीक होकर जो अन्तर आनन्द आता है, वह वचन से अगोचर है। समझ में आया? आहाहा!

वे कहते थे। शंकराचार्य थे न? शंकराचार्य। उन शंकराचार्य का एक बड़ा राजा। कौन राजा? पेशवा राजा। ऐसे बैठे थे। पेशवा राजा ऐसे पैर धोता है। बड़ा राजा पैर धोबे, दूध से पैर धोबे, तो राजा को ऐसा हो गया... ओहोहो! ये शंकराचार्य कितने भाग्यशाली कि पेशवा दरबार दूध से पैर धोता है, इन्हें कितना सुख होगा! तो राजा जरा मद हो गया। तो शंकराचार्य कहते हैं कि राजा! तुम पैर धोते हो और मुझे सुख है, ऐसा तुम कहते हो, परन्तु हमारे शास्त्र की कोई सूक्ष्म उलझन हो और पूरा शिष्य मण्डल विचार में पड़ जाए और उसकी खिलवट (हल) लक्ष्य में आ जाए, उस समय जो आनन्द है, वैसा आनन्द-फानन्द (अन्यत्र) है ही नहीं। समझ में आया? शास्त्र का कोई गूढ़ रहस्य समझ में नहीं आ रहा हो, उसकी खिलावट करने पाँच-पच्चीस शिष्य मण्डल विचार में पड़ जाए। कैसे होगा? किस प्रकार निकले? अभी तो परलक्षी अर्थ, हों! वह भी उसके विपरीत ज्ञानवाला।

अरे! पेशवा! उस ज्ञान की खिलावट में जहाँ उसका ख्याल आवे कि यह इसका अर्थ है। उसका उन्हें मजा आता है। तेरा यह मजा कुछ है ही नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, वह मजा भी धूल और दुःखरूप है। समझ में आया? वह तो विकल्प से उसका अर्थ ऐसा है, ऐसा ख्याल में आ गया तो प्रसन्न हो गया। वह तो व्यवहार है, दुःखरूप है, ज़हर-दुःख है। उससे छूटकर भगवान के दरबार में समीप में आया, वहाँ से छूटकर यहाँ समीप में आया, यहाँ से छूटे तो राग का संग (होगा)। दो बात है। समझ में आया? कहो, प्रवीणभाई!

ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है। दूसरे को नहीं हो सकता। अर्थात् उन शंकराचार्य ने कहा, वैसे यह आनन्द है, ऐसा आनन्द दूसरे को नहीं होता। लाख शास्त्र का विचार करके मस्तिष्क में कोई खिलावट आवे और कहे कि आहाहा! यह शास्त्र का अर्थ है। यह सब विकल्प है। समझ में आया? विकल्प में भी ऐसा मजा मानता है तो कहते हैं कि निर्विकल्प आनन्द ऐसा है। ऐसा आनन्द अन्यत्र होता ही नहीं। समझ में आया?

दोहा – ग्रहण त्याग से शून्य जो, निज आतम लवलीन।
योगी को हो ध्यान से, कोइ परमानन्द नवीन।।४७।।

कहो सेठ! पाँच मिले, दस लाख मिले... आहाहा! लापसी रखो। धूल में भी है नहीं, अब सुन न!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इस आनन्द की रुचि होगी तो सब छूट जाएगा। पूरा चक्रवर्ती का राज्य धूल.. धूल.. आहाहा! इन्द्र का राज्य हमारे अमृत के समक्ष सब जहर का निमित्त है। आहाहा! समझ में आया? इसके बिना ऐसे छोड़कर बैठे। क्या छोड़े? धूल? हम त्यागी हुए। परन्तु किसके? किन्तु वस्तु के स्वरूप का भान तो है नहीं। समझ में आया? अन्तर लगनी आनन्द पर लगी नहीं तो यह लगनी कैसे छूटे? फिर कहे कि हमारी (बाहर की लगन) छूट (गयी है)। मिथ्या बात है। समझ में आया?

ग्रहण त्याग से शून्य जो, निज आतम लवलीन। मैं ऐसी दया पालूँ या ऐसी हिंसा न करूँ, इन सब प्रवृत्तियों से, ग्रहण-त्याग से भिन्न। शुभ का ग्रहण और अशुभ के

त्याग से शून्य, ऐसा करूँ, ऐसा उपदेश दूँ या ऐसा लूँ, ये सब विकल्प हैं। उपदेश देने का विकल्प, वह भी प्रवृत्ति राग है। उसमें भी आत्मा का आनन्द और स्वरूप है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

योगी को हो ध्यान से,.. आत्मा में जुड़ान करनेवाला, योग—योग, अन्तर में समीप आनेवाले को जो आनन्द है, वह **कोइ परमानन्द नवीन।** अनन्त काल में नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं। अनन्त काल में नहीं हुआ, ऐसा नवीन आनन्द उसे आता है कि जो आनन्द जन्म-मरण के नाश करने का उपाय है। समझ में आया? ४७ आयेगी। एक घण्टा हो गया। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

उस आनन्द के कार्य को बताते हैं-

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चाऽसौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः।।४८।।

अर्थ - जैसे अग्नि, ईन्धन को जला डालता है, उसी तरह आत्मा में पैदा हुआ परमानन्द, हमेशा से चले आए प्रचुर कर्मों को अर्थात् कर्म-सन्तति को जला डालता है, और आनन्द सहित योगी, बाहिरी दुःखों के-परीषह उपसर्ग सम्बन्धी क्लेशों के अनुभव से रहित हो जाता है। जिससे खेद के (संक्लेश को) प्राप्त नहीं होता।।४८।।

दोहा - निजानंद नित दहत है, कर्मकाष्ठ अधिकाय।
बाह्य दुःख नहिं वेदता, योगी खेद न पाय।।४८।।

प्रवचन नं. ५३ गाथा-४७-४९ बुधवार, दिनाङ्क ०१-०६-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल १३, वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश पूज्यपादस्वामी कृत चलता है। ४७ गाथा हो गयी। अब अन्तिम गाथाएँ हैं। सार में सारतत्त्व कहते हैं। **उस आनन्द के कार्य को बताते हैं-** है न अन्तिम। **कोइ परमानन्द नवीन।**

दोहा – ग्रहण त्याग से शून्य जो, निज आतम लवलीन।
योगी को हो ध्यान से, कोइ परमानन्द नवीन।।४७।।

यह आत्मा अन्तर में अनन्त आनन्द से विराजमान आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द उसका नित्य स्वभाव है। दूसरे अनन्त गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, शान्ति चारित्र, स्वच्छता, विभुता (आदि) परन्तु आनन्द उसका (मुख्य) गुण है। क्योंकि जगत की इच्छा आनन्द और सुखी होने की है, तो आत्मा में आनन्द और सुख पूरे भरे हैं। वह आनन्द बाह्य पदार्थ, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत-कीर्ति, धूल धमाका में कहीं सुख नहीं है। शरीर में सुख नहीं है। यह माँस, हड्डियाँ और चमड़ी है। शरीर में सुख नहीं है।

मुमुक्षु : परन्तु शरीर से तो सुख होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर में सुख नहीं तो शरीर से इसे (आत्मा को) सुख कहाँ से आयेगा ? जिसमें सुख होवे तो (उसमें से) सुख आवे न ! शरीर में सुख नहीं, शरीर से सुख नहीं। पुण्य-पाप के भाव में सुख नहीं, पाप के भाव से सुख नहीं, इसी प्रकार पुण्य में सुख नहीं, पुण्यभाव से सुख नहीं। कहो, समझ में आया ? आत्मा में सुख और आत्मा से सुख। जिसे सुखी होना है, जिसे आनन्द लेना है तो उसे पहले आत्मा को जानना चाहिए।

मुमुक्षु : अनेकान्त होना चाहिए न, किसी को पैसे से सुख, किसी को आत्मा से सुख।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी उसे कभी (पर में सुख नहीं है)। आनन्द आत्मा से है और पर से नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। अनेकान्त ऐसा कहाँ से लाये ? फुदड़ीवाद है ऐसा ? आत्मा में आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द (स्वरूप है) क्योंकि ?-कि परपदार्थ के लक्ष्य से जो दुःख की वृत्तियाँ, लागनियाँ उत्पन्न होती है, वे कृत्रिम हैं। उनके पीछे पूर्ण आनन्द भरा हुआ है, उसका ये विपरीत भाव है। समझ में आया ? दुःख क्या चीज़ है ? दुःख कोई परचीज़ में नहीं है, परचीज़ से नहीं है। दुःख पर दूसरी चीज़ में नहीं है, दूसरी चीज़ से नहीं है और दूसरे में नहीं है। दुःख अपनी पर्याय में-अवस्था में, परचीज़ मुझे ठीक और मुझे अठीक है, ऐसी कल्पना करने से वह दुःखी होता है।

मुमुक्षु : कर्म कहाँ गये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म उनके घर में ही रहे। कर्म फर्म क्या करता है ? समझ में आया ? यह कल्पना करता है कि मुझे शरीर में ठीक है, पैसे में ठीक है, इज्जत में ठीक है, परलोक में ठीक है, निर्धनता में ठीक है,... ठीक है। बस ! इस कल्पना में सुख-दुःख का जाल खड़ा करता है, वही दुःख है। कैसे होगा मनसुखभाई ? इस पैसे-बैसे में सुख नहीं ? ये सब लोग तुम्हें सुखी कहते हैं, लो ! पाँच-पाँच लाख रुपये बारह महीने में आवें, ढ़ेर।

मुमुक्षु : लोग कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं। कौन कहता है ?

यहाँ कहते हैं कि यदि सुख हो... प्राणी को सुख की अभिलाषा है न ? सुख की अभिलाषा है न ? तो सुख को खोजता है न ? तो सुख कहीं होना चाहिए या नहीं ? समझ में आया ? सुख को खोजता है न ? मनसुखभाई ! यह व्यापार करके, यह खजूर का थैला लेकर क्या कहलाता है ? तुम्हारा वह एडन का ? सवा लाख का मेवा का। ऐई ! यह तुम्हारे वृद्ध को पूछता हूँ। उसमें भी सुख के लिए झपट्टा है या नहीं जगत का ? झपट्टा अर्थात् यहाँ से सुख... यहाँ से सुख... यहाँ से सुख... यहाँ से सुख...

मुमुक्षु : झपट्टा नहीं प्रयत्न..

पूज्य गुरुदेवश्री : भले प्रयत्न है परन्तु इसका अर्थ ऐसा हुआ न कि सुख की सत्ता को स्वीकार करता है। सुख है, ऐसा स्वीकार करता है और सुख प्राप्त करने का उपाय करता है दो बातें सिद्ध हुई। सुख है तो सुख की सत्ता है तो सुख खोजता है और कैसे प्राप्त हो, उसका उपाय भी करता है, परन्तु सुख कहाँ है और उसका उपाय क्या है, इसकी खबर नहीं है।

मुमुक्षु : इतने सब चतुर लोग भूले ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चतुर किसे कहना ? समझ में आया ? सुख की खोज तो है या नहीं ? प्राणी, छोटा बालक हो, तब से (उसे ऐसा लगता है कि) पढ़कर सुखी होंगे, पश्चात् नौकरी करके सुखी होंगे। सुख की इच्छा तो है न ? क्यों ? रविभाई ! पढ़कर भले दुःख में हैरान हो परन्तु उसे इच्छा तो सुख की है या नहीं ?

मुमुक्षु : पढ़ने में हैरान तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हैरान ही होता है, वहाँ क्या है ? परन्तु इतना तो सिद्ध होता है कि आत्मा का सुख की खोज करता है। सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है तो इसका अर्थ हुआ कि सुख की सत्ता का स्वीकार करता है। परन्तु कहाँ है, इसकी खबर नहीं है। समझ में आया ? और सुख का उपाय भी करता है। लाओ, ऐसा लाओ। पैसे मिले, स्त्री मिली, पुत्र हो, यह हो, धूल हो, मकान हो तो उसका उपाय भी करता है, तो उसका सिद्धान्त यह हुआ कि सुख की सत्ता कहीं है और उसका उपाय भी आत्मा करता है परन्तु सुख की सत्ता कहाँ है, इसकी खबर नहीं है। समझ में आया ? कहो, बराबर होगा ? रविभाई ! यह साहित्यकार होशियार व्यक्ति कहलाता है। पढ़ने में सुख है ? तो किसलिए पड़ते हो, इस कमाने में, इस मशीन में, इस टाईल्स की मशीन में, धूल में बढ़े जहाँ, वहाँ कुछ सुख होगा... सुख होगा.. सुख होगा, ऐसी कल्पना करता है। सुख है नहीं। सुख पर में है नहीं, शरीर में है नहीं, पापभाव में है नहीं, पुण्यभाव में है नहीं। पुण्य-पाप के भाव बिना भगवान आत्मा में सुख और आनन्द है।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को तो पुण्य से धर्म होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल धर्म-बर्म नहीं होता वह भी पुण्य से दुःखी होता है। समझ में आया ? पंचाध्यायी में तो कहते हैं कि राग आता है तो जैसे पूरे शरीर में वा होवे और दुःखी होता है न ? वा.. वा.. समझे ? सन्धिवा। ऐसा आघात होता है। इसी प्रकार राग आत्मा के एक-एक अवयव को घात करता है। आघात, कंपकंपी छूटती है। समझ में आया ? शुभाशुभराग दुःख है, दुःख है। सम्यग्दृष्टि को भी कँपने जैसा दुःख होता है। वह आनन्द कहाँ ? मेरी चीज़ में आनन्द कहाँ और यह क्या ? तो मुमुक्षु को... मुमुक्षु शब्द बाद में आयेगा ४९ में आयेगा। समझ में आया ?

मुमुक्षु का अर्थ पहले आ गया है। जिसे सुख की शोध है, तो यथार्थ में मुमुक्षु उसे कहते हैं कि सच्चे सुख की शोध हो। मोहनभाई ! तो सच्चा सुख है कहाँ ? है, वहाँ से मिलेगा या नहीं हो, वहाँ से मिलेगा ? हरिभाई ! तो किसमें है अब ?

मुमुक्षु : सुख से भरपूर समुद्र है न !

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान का। क्या कहा ? कल लड़के ने नहीं कहा ? ज्ञान का मैं समुद्र हूँ, सुख से मैं भरपूर हूँ। यह भाषा नहीं, यह तो भाव (भासित होना चाहिए) । आत्मा में ऐसा विश्वास रुचि हो जाए कि मेरा आनन्द मेरे अतिरिक्त, मेरी सत्ता के अतिरिक्त, मेरे अस्तित्व के अतिरिक्त कहीं आनन्द नहीं है। मेरा आनन्द मेरे पास, मेरा आनन्द (मेरे पास है), मैं ही आनन्दस्वरूप हूँ। ऐसी दृष्टि हो जाना, इसका नाम अन्तर सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ?

सत्यदृष्टिवन्त को अर्थात् मुमुक्षु को अपना आनन्द अपने में है, पुण्य-पाप में नहीं, संयोग में नहीं, ऐसे अन्तर आनन्द में रुचि हो जाती है, तो आनन्द प्रगट करने अन्तर में विशेष प्रयत्न करता है। जहाँ आनन्द देखे, वहाँ विशेष प्रयत्न करता है। जिसकी आवश्यकता जाने, वहाँ आत्मा का वीर्य स्फुरित हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया ? देखो न ! यह पुण्य-पाप और बाहर के फल में (सुख) मानता है तो मर जाए, शरीर में जीर्ण हो जाए, क्षय हो जाए, खबर पड़े कि डॉक्टर इनकार करता है, अब मत करो परन्तु थोड़ा-थोड़ा करके। लड़के छोटे हैं, इसलिए कुछ इकट्ठा कर लूँ। शरीर को खोकर झपट्टे मारता है। खबर है कि यह अभी चार-छह महीने यदि भटकेगा तो यह शरीर हैरान हो जाएगा। मोहनभाई ! परन्तु थोड़ा करने को प्रयत्न करता है क्योंकि उसकी जरूरत मानता है, वहाँ वीर्य की स्फुरणा हुए बिना नहीं रहती।

इसी प्रकार भगवान आत्मा पहली चोट में मेरा आनन्द मेरे आत्मा में है। समझ में आया ? आत्मा में आनन्द है। यह पहले कह गये न ? **ग्रहण त्याग से शून्य जो,..** पुण्य की प्रवृत्ति और पाप की निवृत्ति से भगवान शून्य है। **निज आतम लवलीन।** धर्मी, आत्मा में आनन्द देखता है। आत्मा में आनन्द है, विश्रामधाम है, स्थिर होने की जगह है, शान्ति का सागर आत्मा है। आहाहा ! समझ में आया ? सर्वत्र से उड़ा देना ? यह... खजूर का थैला और यह सब मेवा का... बारह महीने पाँच-पाँच लाख, दस-दस लाख का फायदा हो। सुखी है या नहीं ?

मुमुक्षु : फिर कहाँ रखना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में। आहाहा !

अरे! काल ऐसा! अनन्त काल में मुश्किल से थोड़ा ५०, ६०, ७० वर्ष मिले। आत्मा का हित करने के लिए काल, हों! भव मिला भव का अभाव करने के लिए, तो कहते हैं कि मुमुक्षुओं को अपने आत्मा में आनन्द है, वही धर्म हुआ। मेरा धर्म मुझमें है। पुण्य-पाप में नहीं, शरीर की क्रिया में नहीं, वर्तमान एक समय की अवस्था परलक्ष्य में है, वह भी नहीं। मेरा अतीन्द्रिय आनन्द अन्दर में है। उसकी अन्तर में दृष्टि करना। समझ में आया?

कहीं लिखा है न? सेठिया ने पहला शब्द लिखा है न 'गुणीजन अन्तःतत्त्व ध्याय, चैतन्यसूर्य उग्यौ जी...' सेठिया सरदारशहरवाले। उनका लड़का था। छोटा लड़का गुजर गया। मुर्दा पड़ा था। उसकी माता को कहा - क्यों बेटा? रोना है? पिताजी! मैं कहूँ ऐसे गायन गाओ। मुर्दा पड़ा है, हों! ऐई! मनसुखभाई! ऐसे गृहस्थ व्यक्ति है, बड़ी बिल्डिंग है, पैसा है, पाँच-सात लाख रुपये हैं, पाँच लड़के हैं। लड़के का लड़का बड़ा होशियार है। लड़के का लड़का मर गया है। उसकी माँ को कहते हैं, क्यों बेटा? क्या है? रोना है? 'गुणीजन अन्तःतत्त्व ध्याय, समकित सूर्य उग्यौ जी। म्हारा ज्ञान...' वे कहें मेरा पेट, कहते हैं न? यह रोती हैं न महिलाएँ? मेरा पेट कहकर रोती हैं न बाद में? न्यालभाई! ऐई! मनसुखभाई! यह नहीं कहती महिलाएँ? मेरा पेट। लड़का मर गया। मेरा पेट। अब कहाँ तेरा पेट था? धूल भी नहीं, सुन न! म्हारा ज्ञान, म्हारा ज्ञान... ऐसा, लो! 'गुणीजन अन्तःतत्त्व ध्याय, समकित सूर्य उग्यौ जी। म्हारा ज्ञान..., म्हारा ज्ञान'। कहो, समझ में आया?

धर्मी जीव को भगवान आत्मा में ऐसी लगन लगती है कि मैं आनन्द और मैं चैतन्य की मूर्ति हूँ। समझ में आया? ऐसा योगी आत्मा में एकाग्र (होता है)। अपने में आनन्द की रुचि करके, अपने शुद्धस्वरूप में एकाग्र होता है, तो कोई नवीन परमानन्द समय-समय में उत्पन्न होता है। समझ में आया? आहाहा! उसे यह लक्ष्मी बढ़ती जाती है या नहीं? पाँच लाख और दस लाख और बीस लाख और धूल लाख। ऐसा इकट्ठा होता है या नहीं? कहाँ गये? ऐसे जँचता है, मलूकचन्दभाई!

मुमुक्षु : इसे कहाँ इकट्ठा होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसके लड़के का है, वह इसका कहलाये न। वह तो जोश चढ़े, जोश चढ़े। पूनमचन्द मलूकचन्द ऐसा कहलाये या नहीं?

मुमुक्षु : उसमें भी मलूकचन्दभाई को क्या आया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका पिता हूँ मैं।

मुमुक्षु : परन्तु उसे कुर्सी में बैठावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बैठावे। लड़का होवे तो बैठावे। अरे! धूल में भी सुख नहीं है। सुन! आहाहा! प्रभु! तेरे पास, प्रभु! तेरे पास अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। तू कहाँ सुख की शोध करता है ? जहाँ नहीं, वहाँ खोजता है और जहाँ है, वहाँ खोजता नहीं। सुख की सत्ता खोजता है तो आत्मा में सत्ता है और खोजता है तो राग का, विकल्प का उपाय बाहर में करता है। तो उपाय ऐसा नहीं है। सत्ता में आनन्द है, ऐसी सत्ता की श्रद्धा करके, अन्तर में खोजने का प्रयत्न करना, वह इसका उपाय है। कहो, पण्डितजी! यह है। अन्यत्र कहीं तीन काल, तीन लोक में नहीं है। ओहोहो! कस्तूरी मृग के पेट में है। मृग कस्तूरी आती है। पेट में है, खोजता है बाहर, ढूँढ़ता है बाहर। भगवान! तुझे धर्म करना है या नहीं ? सुखी होना है या नहीं ?

मुमुक्षु : सुख की शोध में दौड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर में दौड़ा-दौड़ करता है। ....'सूयगडांग' में ऐसा एक श्लोक आता है। बेचारा वेग में जाए,... कोई नहीं। दूसरा कोई सामने, पुकार करे। ऐई! इस ओर जाओगे नहीं। तो उससे डरता है और जो वह शिकारी होता है, उसकी ओर दौड़ा जाता है, उसकी ओर दौड़ा जाता है। समझ में आया ?

इसी प्रकार सन्त पुकार करते हैं कि ऐई! आत्मा! राग और द्वेष की जाल बिछी है, उसमें मत जा भगवान! उसमें मत जा। समझ में आया ? (इसे ऐसा लगता है कि) ऐसा होगा या नहीं ? ऐसा होगा या नहीं ? ये कहते हैं ऐसा होगा या नहीं ? आत्मा में आनन्द होगा या नहीं ? इस राग-द्वेष की जाल में दुःख होगा या नहीं ? शंका करता है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा में जो आनन्द है, उसकी अन्तर्दृष्टि करना, रुचि करना और पुण्य-पाप में, पर में सुख नहीं है, ऐसी रुचि छोड़ने का नाम प्रथम सम्यग्दर्शन धर्म है और उसे आनन्द की क्षण-क्षण में वृद्धि होती है।

अब यहाँ कहते हैं कि **आनन्द के कार्य को बताते हैं-** आत्मा में आनन्द है,

उसकी दृष्टि करता है, श्रद्धा करता है, लीन होता है तो आनन्द होता है, तो आनन्द होने में कितने प्रकार के कार्य होते हैं ? आनन्द में कितने प्रकार के कार्य होते हैं ? उस आनन्द के कार्य को दिखाते हैं। समझ में आया ?

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चाऽसौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः।।४८।।

जैसे अग्नि,.. अग्नि का दृष्टान्त दिया। **ईन्धन को जला डालता है,..** अग्नि ईंधन को सुलगाती है। एक बात। और अग्नि अनाज को पकाकर स्वादिष्ट कर देती है। अग्नि ईंधन को सुलगाती है और अग्नि अनाज को पकाकर स्वादिष्ट कर देती है और अग्नि अन्धकार का नाश करती है, प्रकाश करती है। अन्धकार का नाश करती है और प्रकाश करती है। समझ में आया ? इसी प्रकार भगवान आत्मा.. अग्नि का दृष्टान्त दिया है न ! इसी प्रकार भगवान आत्मा, अपने में आनन्द है, अपने में-अपनी सत्ता में, अपने अस्तित्व में आनन्द है, ऐसी दृष्टि करके, ऐसे ध्यान अर्थात् एकाग्र होता है तो क्या होता है ?

जैसे ईंधन अग्नि को जलाती है, **उसी तरह आत्मा में पैदा हुआ परमानन्द,..** अग्नि का दृष्टान्त (दिया है)। अग्नि ईंधन को जलाती है। **उसी तरह आत्मा में पैदा हुआ परमानन्द,..** भगवान आत्मा अपने में आनन्द है, ऐसी दृष्टि करके, अपने में आनन्द की प्राप्ति, एकाग्रता की प्राप्ति, धर्म की-शान्ति की प्राप्ति करता है, तो **हमेशा से चले आए प्रचुर कर्मों को..** ईंधन को जलाती है न ? यह **हमेशा से चले आए.. 'अनारतं' 'उद्धं' प्रचुर कर्मों को अर्थात् कर्म-सन्तति को जला डालता है,..** कर्म की सन्तति का नाश कर डालता है। अग्नि ईंधन को जला देती है।

भगवान आत्मा... आहाहा ! यह देह, हड्डियाँ, माँस पिण्ड इसे न देख, भाई ! अन्दर भगवान आत्मा तेरी चीज़ ही आनन्दमय है। ऐसी अन्तर में दृष्टि करके एकाग्र होना, ऐसा जो आत्मा से उत्पन्न हुआ परमानन्द, वह **हमेशा से चले आए..** कायम है न ? हमेशा से चले आए **प्रचुर कर्मों.. 'उद्धं..' 'उद्धं..' 'उद्धं..' प्रचुर कर्मों.. 'उद्धं..'** है न ? महाकर्म। ऐसे कर्मरूपी सन्तति **'अनारतं'** निरन्तर। निरन्तर न ? निरन्तर कर्म ईंधन जो आता है, निरन्तर कर्म ईंधन आता है। अपने आत्मा में धर्मी जीव, धर्म आनन्द की प्राप्ति

करके, उस आनन्द का अनुभव करके चले आए कर्म के पुंज को-ढेर को निरन्तर... ऐसे कर्म को निरन्तर जैसे आत्मा में एकाग्र होता है, ऐसे निरन्तर कर्म ईंधन को सुलगा देता है। वह आनन्ददशा। देखो! यह निर्जरा। आहाहा! समझ में आया? निर्जरा अर्थात् दो अपवास कर डाले, धूल कर डाली, उससे निर्जरा-बिर्जरा नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

यह तो आत्मा में आनन्द है, उसकी चोट जहाँ अन्दर में लगी है। आत्मा में आनन्द है ऐसी लीनता हुई तो यहाँ आनन्द का प्रवाह चला। वहाँ कर्म का प्रवाह चला था, उसका नाश हुआ। समझ में आया? जैसे अग्नि अनाज को पकाकर स्वादिष्ट बनाती है, उसी प्रकार भगवान आत्मा अपने में एकाग्र होकर आनन्द के स्वाद को प्रगट करता है। समझ में आया? ध्यानाग्नि। ध्यानाग्नि कर्म को सुलगाती है। निरन्तर आनेवाले को जलाती है। निमित्त का नाश होता है, विभाव का नाश होता है, उसके साथ कर्म का भी नाश होता है और ध्यानाग्नि... भगवान आत्मा की जो ध्यानाग्नि लगी तो जैसे अग्नि अनाज को पकाकर स्वादिष्ट बनाती है, वैसे भगवान आत्मा अपने में एकाग्र होकर स्वादिष्ट आनन्द का अनुभव करता है। समझ में आया? निर्जरा होती है और आत्मा के आनन्द की पुष्टि होती है, ऐसा कहते हैं, लो! आहाहा! इसमें कहाँ अब ढूँढ़ना? चिमनभाई! बँगले में, पैसे में, कारखाने में?

यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य-पाप का भाव उत्पन्न होता है, उसमें खोजता नहीं। है नहीं तो क्या खोजता है? समझ में आया? शुभ-अशुभभाव होता है—दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप के विकल्प में सुख नहीं तो तुझे सुख कहाँ खोजना है? आहाहा! पापभाव में तो सुख है नहीं। धर्म नहीं कहो या सुख नहीं कहो। आहाहा! तेरा धर्म, वस्तुस्वभाव वह धर्म। भगवान आत्मा का स्वभाव ही धर्म अर्थात् आनन्द है। अतीन्द्रिय आनन्द ही उसका स्वभाव है। प्रभु! तेरे आनन्द के स्वाद में ध्यानाग्नि हो तो आनन्द का स्वाद विशेष आयेगा। समझ में आया? आर्तध्यान और रौद्रध्यान में मात्र दुःख होगा। पैसे की चिन्ता, ऐसे राग उत्पन्न हो, ऐसे उत्पन्न हो, लक्षण हो, धूल हो.. उससे कुछ हुआ नहीं। उससे होता नहीं। कल्पना करता है। और यह तो एकाग्र होता है, इसलिए आनन्द का स्वाद आये बिना नहीं रहता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

बाहर की कल्पना करे तो ऐसा होवे, न होवे, वह तो पर के आधीन है। ऐसा है, ऐसा

है, ऐसे पैसे का ब्याज उपजाना, फिर आठ लड़के हैं तो आठ बंगले दो-दो लाख के बनाऊँ। सोलह लाख तो उसमें गये। मनसुखभाई! इन चार भाईयों ने चार अलग बँगले बनाये हैं न? और एक पुराना पड़ा होगा ऐसा का ऐसा। एक पुराना था। उसमें लड़के अधिक हों तो आठ बंगले। समझे न? और उसे पायखाना। हर बँगले में पायखाना, हर बँगले में स्नान का। क्या कहलाता है स्नान का? बाथरूम। प्रत्येक बँगले में एक-एक पलंग और तीन-तीन, चार-चार पलंग। कोई मेहमान आवे तो उनका पलंग अलग, इनके पलंग अलग, ऊपर हवा, और पंखा, और खाट डालकर ऊपर मच्छरदानी ढँककर रखे। बँगला मानो... आहाहा!

मुमुक्षु : अरे! भगवान।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे भगवान! परन्तु वहाँ तुम्हारे भाई को पूछो, अरे! भगवान! करता है। समझ में आया?

भगवान! कल्पना कर तो यहीं का यहीं। तेरी उस कल्पना से उसमें हुआ नहीं और कल्पना से तुझे सुख हुआ नहीं। कल्पना से दु:ख होता है। आहाहा! बाहर में कहाँ सुख है कि तेरी कल्पना सुखरूप हो जाए। आहाहा! दृष्टि की गुलाँट खा। एक मेरे आत्मा के अतिरिक्त बाहर के किसी पदार्थ और विकल्प में तीन काल तीन लोक में सुख-आनन्द नहीं है। दृष्टि में ऐसी, पर से गुलाँट खाकर चैतन्य में दृष्टि लगा दे। भगवान वहाँ तेरा आनन्द है। उस आनन्द से कर्म का ईंधन नाश होगा।

मुमुक्षु : दूसरा प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा प्रकार आत्मा का स्वाद आयेगा और तीसरा प्रकार जितना अल्पज्ञान और अज्ञान है, उसका नाश हो जाएगा। प्रकाश बढ़ जाएगा। यह निर्जरा की क्रिया है। समझ में आया? इस क्रिया की तो खबर नहीं। क्या क्रिया? और क्या पर्याय? क्या गुण? क्या द्रव्य? और कौन टले? समझ में आया? क्या कहते हैं यह?

कर्म-सन्तति को जला डालता है,.. 'कर्मेन्धनम् अनारतं' एक। **आनन्द सहित योगी,..** दूसरा। उस आनन्द की पुष्टि होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आनन्द की पुष्टि होती है। कर्म ईंधन का नाश हुआ और अपने अन्तर आनन्द में लीन होने से

आनन्द बढ़ गया। **बाहिरी दुःखों के-परीषह उपसर्ग सम्बन्धी..** तीसरी बात। इस आनन्द के कार्य को बताते हैं, आनन्द के कार्य को बताते हैं। समझ में आया? आत्मा के अनुभवरूपी आनन्द का कार्य क्या? समझ में आया? कुछ कार्य तो करना है न उसे? कहते हैं प्रभु! तेरा स्वरूप है, है, तू है। स्वरूप है, तू है। है तो उसमें कोई आनन्द है। आनन्द अतीन्द्रिय है। किस प्रकार? उसकी दृष्टि करने से तुझे खबर पड़ेगी कि यह आत्मा ही आनन्द है। इसमें दुःख नहीं, विकार नहीं, कर्म नहीं, कुछ है नहीं। ऐसे भगवान आत्मा के सम्यग्ज्ञान-दर्शन से, एकाग्रता से कर्म का नाश होता है और निर्जरा होती है। एक कार्य।

दूसरा **आनन्द सहित योगी,..** यह आनन्द बढ़ गया, पुष्टि हो गयी। समझ में आया? यह शुद्धि बढ़ी, यह विशेष निर्जरा। वह कर्म की निर्जरा और शुद्धि की वृद्धि, वह भावनिर्जरा। आनन्द में एकाग्र होता है, शुद्धि बढ़ी, वह भावनिर्जरा। समझ में आया? **बाहिरी दुःखों के..** बाहर कोई कष्ट का प्रसंग हो। **दुःखों के-परीषह उपसर्ग सम्बन्धी क्लेशों..** उसमें आत्मा अचेतन है, ऐसा लिखा है न? भाई! अचेतन है '**बहिर्दुःखेषु अचेतनः**' उन्हें चेतता नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं? भगवान आत्मा अपने अतीन्द्रिय आनन्द में दृष्टि करके, सत्स्वरूप है, ऐसी दृष्टि करके आनन्द में लीन होने से निर्जरा हुई, यह मुक्ति नगरी की बात है। बड़ी नगरी हो तो देखने जाते हैं या नहीं? पैसा खर्च करके, रतजगा करके, घोड़ा-गाड़ी लेकर, मोटरगाड़ी लेकर घूमने जाते हैं। पाँच-पच्चीस रुपये खर्च करे, अच्छा तालाब हो, वह देखने जाए। जाता है या नहीं हैरान-हैरान होने?

मुमुक्षु : आनन्दनगर बसाया है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम्हारे आनन्दनगर है न वहाँ?

मुमुक्षु : ... बसाते हैं। आनन्द करने के लिए शंभु इकट्ठा करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बड़ा शंभु इकट्ठा... वह आनन्दनगर बाहर में नहीं, भगवान! आनन्दनगर तुझमें है। आत्मा अनन्त गुण के समाज से भरपूर है। खबर नहीं कि मैं कौन हूँ। समझ में आया? देह, हड्डियों से पार प्रभु आत्मा अनन्त आनन्द का कन्द है। कहते हैं कि बर्फ की शिला हो, उस पर सोने से बहुत गर्मी हो तो ठण्डी हो जाती है। बहुत गर्मी हो, उसमें ऐसा जला हो। अग्नि से सुलगा नहीं, हों! अग्नि से सुलगे तो चमड़ी निकल

जाए। बहुत गर्मी हो और फिर थोड़ी देर ठण्डी.. ठण्डी.. ठण्डी.. तो वह पत्थर की शिला रूपी है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की शिला है। आकुलता, पुण्य-पाप की आकुलता, दाह-बाह, वह अन्दर में एकाकार होकर सोवे तो उस क्लेश का नाश होता है, आनन्द की प्राप्ति होती है, कर्म का अभाव होता है, आनन्द की पुष्टि होती है और बाहर दुःखों का अलक्ष्य (हो जाता है।) मूल तो ऐसा कहना है। समझ में आया? है न?

'**बहिर्दुःखेषु अचेतनः**' बाहर प्रतिकूलता का लक्ष्य ही नहीं रहता। शरीर में रोग है या नहीं? आत्मा के आनन्द में एकाग्रता, रुचि जम गयी। मैं आनन्द हूँ, ऐसा सम्यग्दर्शन -ज्ञान हुआ और उस आनन्द में लीन होता है। धर्मध्यान, उसका नाम धर्म है। तब '**बहिर्दुःखेषु अचेतनः**' बाहर की प्रतिकूलता या अनुकूलता का उसे अनुभव ही नहीं है, लक्ष्य भी नहीं है। '**अचेतनः**' अजागृत, असंवेदन। अचेतन '**अचेतनोऽसंवेदनः**' संस्कृत में लिखा है। देखो! '**अचेतनोऽसंवेदनः**' लिखा है। पण्डितजी ने। समझ में आया? आहाहा!

शरीर में फोड़ा हुआ हो, बुखार ५-६-७ डिग्री हो परन्तु धर्मी जीव को बिच्छु का डंक हो। देखो! यह सिंह काटता है। देखो यह सिंहनी इनकी माता है, उनके ये पुत्र थे। उस माता को बाद में कषाय हो गयी तो मरकर सिंहनी हो गयी। उनके पुत्र ने दीक्षा ली है। सगा पुत्र, हों! वह माँ मरकर सिंहनी हुई है। ऐसे देखो तो ध्यान में लवलीन हैं। उस दुःख का अचेतन है। क्या कहा? अचेतन है। दुःख की जागृति नहीं है, दुःख का ख्याल (नहीं) है। ऐई! लोग ऐसा माने कि अर..र..! कितने दुःखी, अरे सुन तो सही, तुझे खबर नहीं। भगवान आत्मा अपने अतीन्द्रिय पुंज में जहाँ पड़ा, अतीन्द्रिय आनन्दपुंज में पड़ा, वहाँ दुःख का अचेतन है। बाहर के संयोग का जागृत भाव ही उड़ गया है। अचेतन, असंवेदन है। राग के दुःख का वेदन नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो जरा दुःख हो तो ऐं.. ऐं.. रो-रो करता है।

मुमुक्षु : लक्ष्य वहाँ जाए...

पूज्य गुरुदेवश्री : लक्ष्य वहाँ चला गया। पचास लाख, दो करोड़, पाँच लाख गये हों तो ऐ.. ऐ.. मेरे गये। भाई! आये समाते हैं, गये नहीं समाते। और निवृत्त बनिया बातें करें। ऐई! ऐसा जहाँ थोड़ा जाए, दो करोड़ थे, उसमें से थोड़े गये तो ऊं.. ऊं.. करने लगे।

मुमुक्षु : वापस अधिक आये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल अब, आवे तो भी क्या? उसके साथ कहाँ सम्बन्ध है? समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द लक्ष्मी का भण्डार पड़ा है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द लक्ष्मी का भण्डार आत्मा है। भाई! तुझे खबर नहीं। उस लक्ष्मी का भण्डार जहाँ एकाग्रता से खोलता है, तो कहते हैं कि बाहर के दु:ख का लक्ष्य ही नहीं रहता। आहाहा! लक्ष्मी निकालते समय कैसी धूप लगती है, ऐसा इसे ख्याल रहता है इसे? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सन्दूक में से पैसा निकाले न, पहले तो रोकड़-नगद थे न। अभी तुम्हारे कागज हो गये। पहले तो नगद-नगद (चाँदी के सिक्के) थैली की थैली हजार-हजार चाँदी के रुपये। दो लाख की थैलियाँ आती थीं। दामनगर में। अकेली थैली हजार-हजार की एक-एक थैली। वे लोग ऐसे नौकरों को वहाँ अन्दर नहीं जाने दे। नौकर उठाकर बाहर तक रखे। फिर अन्दर कहाँ रखे, वे घर के लड़के उठायें।

मुमुक्षु : दूसरे को बतलावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे को बतलावे नहीं। क्योंकि पहले रोकड़ रुपये ही थे। यह तो अब कागज के हो गये हैं। समझ में आया? फिर लड़के ने लिखा था उसके पिता को कि बापू! महीने में दो सौ रुपये भेजना। जेब खर्च के। यह भोजन के तो तुम देते हो परन्तु जेब खर्च के। हम गरीब घर में नहीं अवतरे हैं और तुम्हें न पोसाता हो... काका और वे इकट्ठे थे। काका को न पोसाता हो तो अपने खाते में लेकर भेजना। हम गरीब घर में नहीं पैदा हुए हैं और जब वह पैसा रखने आवे, तब हमारी कमर भारी लगती है, भाई! उस समय तो पचास-पचास हजार, लाख-लाख की अकेली थैलियाँ ही थी न! अन्दर भण्डार में रखने जाए तो घर के लड़के उठा-उठाकर रखने जाए। नौकर को अन्दर जाने न दे। नौकर फिर लूट चलावे तो। इसलिए लिखा उसने कि बापू! जब पैसे रखने जाते थे, तब हमारी कमर में भार लगता है, हों!

मुमुक्षु : यह पाठ रुचे ऐसा है लड़को को।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ कहाँ एक भी लड़का नहीं है।

यहाँ तो ऐसा कहना है कि जिसे लक्ष्मीवाला हूँ, उसे कम खर्च में चलता नहीं। चलता नहीं। समझते हो? इसी प्रकार आत्मा में जहाँ लक्ष्मी का भण्डार पड़ा है, निकाल.. निकाल! जितना निकालना हो उतना निकाल। अनन्त केवलज्ञान निकले तो भी उसमें से पूरा नहीं होता। आहाहा! अरे रे! इसे विश्वास कहाँ है? आत्मा कौन है? कैसा है, कैसे पड़ा है? आनन्द निकाल, अन्दर आत्मा में से निकाल। खान में से निकाल। समझ में आया? भगवान आत्मा...

कहते हैं, आनन्द के कार्य की बात चलती है। क्या कहते हैं? यह लिखा है न **आनन्द के कार्य को बताते हैं–** उसमें है न? कार्य को बताते हैं। गजब बात.. ओहोहो! समझ में आया?

बाहर उपसर्ग, शरीर में रोग, लक्ष्मी का जाना, मृत्यु का आना। ...मृत्यु-छूटने का काल। धर्मात्मा अपने ज्ञानानन्द में जहाँ लीन है, तो कहते हैं कि बाहर का दुःख अचेतन है। बाहर के दुःख का असंवेदन है। संवेदन है नहीं। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहती। अपने आनन्द की एकाग्रता में बाहर का दुःख और यह दो कहाँ से रहे? आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। कहो, ...भाई! गजब बात भाई! यह बाहर का तो सब फूं.. होकर उड़ा देते हैं लोग। आहाहा! आठ वर्ष का बालक गरीब हो, एक हरिजन का लड़का हो और आत्मा का भान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, जंगल में बैठा हो। शरीर काला-कुबड़ा हो, बाहर में ऊपर से काँटे गिरते हों। समझ में आया? यह कैसे आया? किसी का शरीर देखकर कोई महासन्त भी हों। उनके योग्य पंचम गुणस्थान हो। ध्यान में हो। बाहर में कोई आकर लकड़ी मारे। उस दुःख का अचेतन है। बाहर के संयोग का वेदन नहीं है। आहाहा! पंचम गुणस्थानवाले भी अपने ध्यान में जब हैं, तब कहते हैं कि ध्यान की उत्पत्ति, कर्म का नाश, ज्ञान का आधार, आनन्द की पुष्टि, दुःख का वेदन। समझ में आया? कितना कार्य आत्मा के आनन्द की दृष्टि और एकाग्रता होने से होता है। आहाहा!

उपसर्ग सम्बन्धी क्लेश.. बाघ आवे और खाता हो। देखो, अग्नि पड़ी है। देखो! गजसुकुमार... गजसुकुमार.. अग्नि पड़ी है.. स्यालिया खाता है। दुःख का असंवेदन है।

संयोग का अचेतन है। अचेतन है। जागृत है नहीं। जागृति इस ओर है, वहाँ कहाँ जागृति? आहाहा! **जिससे खेद के (संक्लेश को) प्राप्त नहीं होता।** लो! समझ में आया? कोष्ठक में डाल दिया। .... **(संक्लेश को) प्राप्त नहीं होता।** यह बाहर डालना चाहिए। खेद को अर्थात् संक्लेश को प्राप्त नहीं होता। '**न खिद्यते न संक्लेशं याति।**' ऐसा है न? यह टीका थोड़ी भारी है। पहले... इसमें टीका नहीं थी न! आशाधरजी ने गजब टीका की है। मुनि का आश्रय लेकर।

भगवान आत्मा, आहाहा! यह किसी के साथ प्रीति की बात करता हो तो बात करते-करते क्या दुःख हुआ और अन्दर में क्या हुआ, इसका ख्याल भी नहीं रहता परन्तु प्रीति की बात में पड़े हो। बड़े लड़के का विवाह। एक करोड़पति की कन्या लेकर आता हो.. ओहोहो! भूल जाए, रोग भूल जाए।

मुमुक्षु : उपयोग वहाँ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : ....भाई, एक व्यक्ति की बात करते थे। न्याय से कि एक सेठ था, फिर उसका लड़का था। उस लड़के को स्वयं को रोग हुआ। ५-६ डिग्री बुखार, ऐसा। आहाहा! ऐसा किया करे। उसमें लड़का १०-१५ वर्ष पहले चला गया था और एकदम कोई पाँच-पचास लाख रोकड़ लेकर आया और मनुष्य पहला आया। जाओ पिताजी को खबर दो कि मैं आया हूँ। ...कौन आया है? मेरा लखु! अरे! लखु, यह लक्ष्मी लेकर लखु आया। अकेला लखु नहीं आया। आहाहा! समझ में आया? यह सोने की सोना मोहर लेकर अन्दर आया है। और लोन तो कितना लाया। कितना पैसा। हैं! मैं सामने आऊँ, बापू! तुम रहने दो, शोर मचाने का कहाँ गया तेरा? वह लक्ष्य भूल गया। उसके लक्ष्य में चढ़ा हुआ उपयोग यह लक्ष्य भूल गया। भूल गया। इसी प्रकार अपने आनन्द में लक्ष्य में चढ़ा, बाहर के दुःख का लक्ष्य भूल गया। समझ में आया? एक दृष्टान्त दूसरा था। एक लड़का बहुत बीमार था। लड़का लक्ष्मी और सब लेकर आनेवाला था। इसलिए उसका पिता कहे कि सामने जाएँ कि वहाँ उतरेगा। अब वह साथ में ही था। उसे खबर नहीं कि यह उतरा है। कोई बाहर में साथ में स्वयं एक रूम में, दूसरे रूम में उसका पुत्र और उसमें रोवे और रात के बारह बजे। इसके पिता को सोना था। नींद आती नहीं। अरे! अन्दर कौन है यह? नींद नहीं आने देता। वहाँ उसके लड़को पीड़ा.. पीड़ा.. पीड़ा.. उसे

खबर नहीं कि यह मेरा लड़का है। सामने देखे नहीं। दूसरा बीच में यह था, वहाँ उतर गया। कौन है यह ? नींद ही नहीं आने देता। कि यह तो अमुक गाँव का लड़का है। कौन ? तुम्हारा लड़का। भूल गया। रतजगा में इकट्ठा मिल गया। ऐसे सोने को कहता था न तू। बेटा! तुझे ऐसा है ? आहाहा! मैं तो तेरे सामने आया। दूसरे स्टेशन में उतार गया। आहाहा! अब वह कहे, कौन है यह ? लगन लगी कि अरे! यह तो तेरा पुत्र लखु जिसे लेने आया था, वह। मनसुखभाई! भूल जाए या नहीं ? रतजगा भूल गया। बापू सो जाओ। नहीं, नहीं अब नहीं। अरे बापू! तुम्हें ठीक नहीं और मैं सोऊँ। अरे! खबर पड़ी की यह तो मेरा पुत्र है। समझ में आया ? भूल गया वह सब।

इसी प्रकार भगवान आत्मा का मिलाप करने प्रभु आत्मा जाता है, और आनन्द की खान में जहाँ अन्दर नजर पड़ती है तो शरीर के दुःख आदि को भूल जाता है। समझ में आया ? खबर नहीं क्या है ? यह मेरे शरीर को ऐसा... मुझे ऐसा.. आहाहा! चिमनभाई! आहाहा! **क्लेशों के अनुभव से रहित हो जाता है। जिससे खेद के (संक्लेश को) प्राप्त नहीं होता।**

दोहा – निजानंद नित दहत है, कर्मकाष्ठ अधिकाय।
बाह्य दुःख नहिं वेदता, योगी खेद न पाय।।४८।।

निजानंद नित दहत है,.. भगवान निजानन्द प्रभु! समझ में आया ? निज आनन्द। अपना आनन्द अपने में है। सत्यरूप से है। अपना आनन्द अपने में है। सत्य सूर्य प्रभु आत्मा है। ऐसे आनन्द की दृष्टि जहाँ हुई और उसमें लीन हुआ तो **नित दहत है,..** अन्वयार्थ है न यह। कर्म के ईंधन को नित्य सुलगाता है। नित्य लकड़ियाँ सुलगाता है। कर्म का ईंधन सुलगकर राख हो जाता है। यह निर्जरा, यह क्रियाकाण्ड, अपवास किये, धूल की, निर्जरा-फिर्जरा होती नहीं, ऐसा कहते हैं। इसमें होती है, ऐसा लिखा है। समझ में आया ?

कर्मकाष्ठ अधिकाय। कर्म की लकड़ियाँ। ईंधन नहीं। बहुत को, '**उद्धं**'। वह भी नाश करता है, देखो! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि बहुत कर्म होवें तो बाधक हैं और पराधीन करते हैं, ऐसा नहीं - ऐसा कहा है। '**उद्धं**' कहा है न, '**उद्धं**' पाठ में है। '**उद्धं प्रभुतं**' यह तो प्रचुर ज्ञान लिया था न ११वीं गाथा में। वह यहाँ लिया है। प्रभुतं, देखो न!

अभूतकर्म, जोरदार कर्म। जोरदार किसे कहते हैं ? उस अर्थ में उल्टा लिखा है। जब तक जोरदार कर्म है तो प्रभाव... धूल में भी नहीं है। तू उसके वश हो जाता है, बस इतना है। ...तो प्रभुत कर्म का भी नाश हो जाता है। निर्जरा हो जाती है। ऐसे निर्जरा हो जाती है। ऐसे उपवास किये, ऐसा किया, काय-क्लेश और दुःख होता है। वर्षीतप में निर्जरा हुई। धूल में भी नहीं होती। सुन तो सही! आनन्द का घर तो देखा नहीं। समझ में आया ? आनन्द का स्थान परमात्मा ऐसा अभेद अपना स्वरूप है, उस पर तो दृष्टि दी नहीं। तुझे कहाँ से निर्जरा होगी ? काल तेरा इतना गया। मुश्किल से मनुष्यपना मिला था, वह गँवाया। **बाह्य दुःख नहिं वेदता,** लो, बाह्य दुःख के लक्षण नहीं। **योगी खेद न पाय।** बाहर के दुःख का ख्याल ही नहीं।

इसलिए

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।४९।।

अर्थ – अविद्या को दूर करनेवाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है। सो मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलाषियों) को उसी के विषय में पूछना चाहिए, उसी की वांछा करनी चाहिए और उसे ही अनुभव में लाना चाहिए।

विशदार्थ – वह आनन्द स्वभावशाली, महान उत्कृष्ट, विभ्रम को नष्ट करनेवाली, स्वार्थ को प्रकाशन करनेवाली, अथवा इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य ऐसी ज्योति है। मोक्ष की इच्छा रखनेवालों को चाहिए कि वे गुरु आदिकों से उसी के विषय में पूछ-ताछ करें तथा उसी को चाहें एवं उसी का अनुभव करें।।४९।।

दोहा – पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति ज्ञानमय सार।
मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार।।४९।।

गाथा - ४९ पर प्रवचन

४९

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।

इसलिए.. इस कारण से ऐसा कहते हैं।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।४९।।

वजन यहाँ है **'मुमुक्षुभिः'** यहाँ वजन है। मोक्ष के अभिलाषी को। इतना शब्द पहला है। जिसे अपने आत्मा के बन्धन से छूटने की भावना है। समझ में आया? बन्धन करने की भावना है, वह मुमुक्षु नहीं है। उसकी तो बात क्या कहें? मुझे पुण्य बाँधना है, पुण्य से मुझे स्वर्ग मिलेगा। वह मुमुक्षु नहीं है। समझ में आया? मुमुक्षु। समझ में आया? **'मुमुक्षुभिः'** है न अन्दर? संस्कृत में पड़ा है। मूल पाठ में है।

मुमुक्षु : मूल में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल में है और संस्कृत में भी है। **'मुमुक्षुभिर्गुर्वादिभ्योऽनुयोक्तव्यम्।'** अर्थात् क्या? **'अनुयोक्तव्यम्'** पूछना। **'अनुयोक्तव्यम्'** लिखा है। शब्द कठिन है। क्या कहते हैं? मुमुक्षु पहली जवाबदारी शर्त तो, पहली शर्त यह कि जिसे अपने आत्मा की पूर्णानन्द की प्राप्ति की अभिलाषा है, यह पहले निर्णय कर, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अपना आत्मा पूर्णानन्द की प्राप्ति करे, ऐसा मोक्ष, ऐसी अभिलाषा है? या कोई बन्ध की अभिलाषा है?

मुमुक्षु : बन्ध की अभिलाषा...

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध की अभिलाषा (कि) पुण्य होवे तो ठीक पड़े, फिर स्वर्ग मिले, फिर संयोग मिले, ये सब पुण्य के अभिलाषी हैं।

मुमुक्षु : भगवान के पास तो जाया जाए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के पास तो कोई धूल में भी नहीं जा सकता। भगवान के पास यहाँ मुमुक्षु हो तो आत्मा के पास जा सकता है। उसका अभिलाषी होवे तो

मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा के पास जा सकता है... ओहोहो! इतने-इतने उगे, उसमें से रस झरता है, यह तो पूरा मधुछत्ता। आनन्द का मधुछत्ता है। समझ में आया? उसका विश्वास इसे नहीं आता। आनन्द का मधुछत्ता। जितना एकाग्र हो, उतना आनन्द तुझे झरेगा। ऐसे मुमुक्षु जीव कि जिसे अपने पूर्णानन्द की प्राप्ति करनी है। दूसरा कोई बन्धभाव, विकल्पभाव का आदर नहीं है। आहाहा!

ऐसे मुमुक्षु भी। क्या कहते हैं। **अविद्या को दूर करनेवाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है।** कौन? आत्मा। है न? **मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलाषियों).. अविद्या को दूर करनेवाली..** क्या कहते हैं? यह भी कार्य बताते हैं। कार्य बताया न? यह.. पर का हो गया.. पर का हो गया, स्वाद आया, लकड़ी का नाश किया, अज्ञान का नाश किया, यह यहाँ लिया। समझ में आया? यह चैतन्य ज्योति ऐसी है कि अज्ञान का नाश करनेवाली है। दूसरा कोई अज्ञान का नाश करनेवाली चीज़ नहीं है। भगवान चैतन्यज्योति, ज्ञानज्योति सूर्य एक चैतन्यसूर्य अपना, उसमें अविद्या को नाश करने की ताकत है। कोई दया, दान, विकल्प, शुभराग करने से अज्ञान का नाश होता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! कथन पद्धति अविद्या को दूर करनेवाली। कौन? **महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति...** समझ में आया? परम ज्ञानमय।

भगवान चैतन्यस्वरूप महिमावन्त प्रभु! उस चैतन्यज्योति का स्वीकार, वही चैतन्यज्योति अज्ञान का नाश करने की ताकत रखती है। दूसरी कोई अज्ञान का नाश करनेवाली चीज़ नहीं है। समझ में आया? कोई शुभ-अशुभभाव तो नहीं, संयोग भी नहीं, ये देव-गुरु-शास्त्र में भी अज्ञान का नाश करने की ताकत नहीं। ऐसा कहते हैं। भाव किसका? आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव किसका जगा है?

मुमुक्षु : बिना पूछे...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पूछने का अर्थ भाव जगा, इसलिए वहाँ ज्ञान में उसे यह दशा होती ही है।

अविद्याभिदुरं ज्योति परं ज्ञानमयं महत् एक पद की व्याख्या की, देखो! भगवान चैतन्य प्रभु, जिसमें शरीर-कर्म तो नहीं परन्तु जिसमें पुण्य-पाप का विकल्प भी नहीं, ऐसी परम.. चैतन्यज्योति प्रभु आत्मा की सत्ता का जहाँ स्वीकार हुआ, वह चैतन्यज्योति अज्ञान का नाश करने की ताकत रखती है। आहाहा! अज्ञान कहो या मिथ्यात्व कहो। भ्रमणा। वह भ्रमणा (कि) पुण्य में सुख है, ठीक है, वासना ठीक है, पाप में मजा है, बाहर में ठीक, अनुकूल सामग्रियाँ, सब भ्रमणा। धर्म का नाश करनेवाली परम महत् ज्योति चैतन्य है। चैतन्य ज्योति का जहाँ स्वीकार हुआ तो चैतन्य ज्योति अज्ञान का नाश हुआ, उसमें ताकत है। दूसरे में ताकत नहीं। विशेष लेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५४ गाथा-४९-५० गुरुवार, दिनाङ्क ०२-०६-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल १४, वीर संवत् २४९२

पूज्यपादस्वामी कृत इष्टोपदेश शास्त्र है, इसकी ४९वीं गाथा है।

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।४९।।

बहुत संक्षिप्त में (बात करते हैं)। यह आत्म चैतन्यज्योति कैसी है? यह आत्मा चैतन्यज्योति है। ज्ञानज्योति-चैतन्यज्योति है। यह अग्नि की ज्योति कहते हैं न? अग्नि की ज्योति तो जड़ है। उसकी-जड़ की पर्याय है। वह अचेतनज्योति है। अग्नि की पर्याय अचेतनज्योति है। वह परमाणुस्कंध की पर्याय है। दिखती है वह। वह जीव नहीं है। उसका-अग्नि का शरीर दिखता है न? वह तो अचेतनज्योति है। तो कहते हैं कि भगवान चैतन्य ज्ञानमय उत्कृष्ट ज्योति है। कैसी है? **अविद्या को दूर करनेवाली..** भगवान ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रतीति करने से वह ज्ञानज्योति अज्ञान का नाश करनेवाली है।

मुमुक्षु : अनादि की है, क्यों नहीं देखी?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसने नहीं देखा। ज्ञानज्योति है, वैसा स्वीकार नहीं किया। समझ

में आया ? यह ज्ञानज्योति है, यह ज्ञानज्योति है-ऐसा स्वीकार नहीं किया। समझ में आया ? राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीरादि का स्वीकार किया। ज्ञानज्योति यह है, चैतन्यमूर्ति है - ऐसा स्वीकार करने से ज्ञानज्योति अज्ञान का नाश करनेवाली है। समझ में आया ? यह ज्ञानज्योति ज्ञानप्रकाश करनेवाली है। अज्ञान का नाश करनेवाली है, मिथ्यात्व का नाश करनेवाली है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करनेवाली यह आत्मज्योति है। देखो! कैसी भाषा ली है। समझ में आया ? बात तो करेंगे कि दोनों बातें तो है, व्यवहार है - ऐसा समझना। गुरु से होता है, यह व्यवहार से कथन है, ऐसा समझना। यह अन्त में आयेगा। निश्चय-व्यवहार की कथनी, दो प्रकार की इसमें कही है। उसमें व्यवहार को व्यवहार समझना; निश्चय को निश्चय समझना। समझ में आया ?

यहाँ तो अभी तो निश्चय की बात करते हैं। भगवान आत्मा ज्ञान चैतन्य उत्कृष्ट ज्ञानमय, उत्कृष्ट ज्योति, वह अज्ञान का नाश करनेवाली है। कोई कहे, ऐसी ज्योति है तो अज्ञान का नाश क्यों नहीं हुआ ? परन्तु यह ज्योति है - ऐसा स्वीकार कहाँ किया है ? समझ में आया ? यह ज्ञानमय ज्योति है। इसमें विकार, शरीर कुछ नहीं है, ऐसी ज्योति का स्वीकार किये बिना, वह ज्ञानज्योति अज्ञान का नाश करने की ताकत कैसे करे ? कहो, समझ में आया ? बहुत संक्षिप्त शब्दों में... लो, लाख बात बहुत की हो और ऐई... ! शास्त्र में ऐसा पठन-पाठन और वाँचन और....

यह भगवान चैतन्यज्योति है, यह ज्ञानमय उत्कृष्ट ज्योति है। जगत की ज्योति का भी ज्योति स्वयं प्रकाशक है। प्रकाशक का भी प्रकाशक। प्रकाश का भी प्रकाश कहा था न ? 32 में। आया था न ? यह प्रकाश, इसका प्रकाशक। अग्नि, वह प्रकाश है। अग्नि को कुछ खबर नहीं कि मैं प्रकाश हूँ। उसका भी प्रकाशक चैतन्यज्योति है। ऐसे स्वभाव का स्वीकार (होना नहीं)। पहले तो ऐसा स्वीकार होना चाहिए न ? है, वह तो है ही, परन्तु यह है और दूसरा है नहीं, ऐसा स्वीकार करे तो ज्ञानज्योति अज्ञान का नाश करने की ताकत रखती है। दूसरा कोई क्रियाकाण्ड करे, उसे अज्ञान नाश हो, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? कि भाई! दया, दान, व्रत पाले, भक्ति करे, पूजा करे और यात्रा लाख-करोड़ करे तो अज्ञान का नाश हो, ऐसा नहीं है। ऐसा है ही नहीं। वह तो पुण्य बन्ध का कारण है।

यहाँ तो मोक्ष के अभिलाषी की बात करते हैं न? **सो मुमुक्षुओं..** देखो! **(मोक्षाभिलाषियों) को..** जिसे कर्मबन्धन से रहित होना है। जिसे कर्मबन्धन से रहित होना है और पूर्णानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष की जिसे अभिलाषा है, उसे **उसी के विषय में पूछना चाहिए,..** मोक्ष का अभिलाषी प्राणी है। जिसे अपने बन्धन छूटना अबन्ध परिणाम प्रगट करना है। अबन्ध परिणाम का मोक्ष। अबन्ध परिणाम अर्थात् मोक्ष। ऐसे मोक्ष की जिसे अभिलाषा है, ऐसे मुमुक्षु को **उसी के विषय में पूछना चाहिए,..** आत्मा के विषय में पूछना चाहिए।

मुमुक्षु : कर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई काम नहीं। कर्म-फर्म इसमें है नहीं तो उसका क्या काम है? ऐसा कहते हैं, लो! समझ में आया? आगे विस्तार से कहेंगे। शास्त्र कहता है तो हम श्रद्धा करते हैं, वह भले हो, परन्तु संक्षेप में तो यह बात समझनी चाहिए। समझ में आया?

जिसे आत्मा परमानन्द मुक्ति की पूर्णानन्द दशा की प्राप्ति की अभिलाषा है अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा है, अर्थात् बन्धन से छूटने की भावना है, उसे आत्मा सम्बन्धी प्रश्न करना चाहिए। लो! समझ में आया? **उसी के विषय में पूछना चाहिए,..** कि आत्मा क्या है? किस प्रकार प्राप्त होता है? क्या चीज़ है? कैसी सम्पदा है? उस सम्बन्धी प्रश्न करना। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : प्रश्न कैसे करना, यह सिखाते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यह प्रश्न आत्मा सम्बन्धी। पहले शर्त कही न? कि **(मोक्षाभिलाषियों) को..** ऐसी पहले शर्त की। जिसे अपना आत्मा बन्धन से छूटने का अभिप्राय है, जिज्ञासा है, मोक्ष अभिलाषी है, उसे ही आत्मा सम्बन्धी (प्रश्न पूछना)। क्योंकि आत्मा ही परमानन्द को प्राप्त कर सकता है। **उसी के विषय में पूछना चाहिए,..** सब दूसरी बात पूछने की अपेक्षा यह बात करना।

मुमुक्षु : गुरु होने से पहले शिष्य कैसे होना, यह सिखलाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : शिष्य मोक्षाभिलाषी होवे तो उसे इस प्रकार पूछना, ऐसा कहते हैं। अपने बन्धन से छूटना है या बन्धन में रहना है? पहले इतनी शर्त है। आत्मा अनादि

से निमित्त से बन्धन में तो है। निमित्त से। भाव से विकल्प में एकत्व (तो चलता है), तो उससे छूटने का जिसका आशय है, उसका नाम आत्मा क्या है? मैं किससे छूटूँ और किससे मेरी मुक्ति होगी? ऐसे आत्मा सम्बन्धी प्रश्न पूछना चाहिए। कहो, समझ में आया? वे कहते हैं, भाई! हमें पैसा कैसे मिले? ऐई! चिमनभाई! पैसा कैसे बना रहे? जलवाय अर्थात्? मिले हैं, उनकी रक्षा कैसे हो? देखो न! कल एक मोटर आयी थी न, तो वहाँ दर्शन किये, यहाँ दर्शन किये, यहाँ उठ-बैठ करके किये। मुम्बई के कच्छी थे। फिर वीरपुर गये। कैसा कहलाता है वह?

मुमुक्षु : जलाराम, भगत की जगह।

पूज्य गुरुदेवश्री : जलाराम कहाँ गये? कोई कहे वहाँ जाते हैं। यह गजब भाई! सेठ ने पूछा था। तुमने पूछा था न? सेठ! कहाँ रहते हो? क्या नाम? मुम्बई, अमुक भाग में। तो फिर कहे कि अब वीरपुर जाते हैं। ओहोहो! भगवान के पास गये, यहाँ भी वन्दन किया, वहाँ भी चलो।

मुमुक्षु : जो कोई देते होंगे, ऐनी मेडाये मेहरबानी करेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : किया, धूल में। आता है ऐसा सुना है। उसमें श्वेताम्बर में भी आता है। वह वनस्पति आती है न, संजीवनी। संजीवनी वनस्पति। आती है न?

मुमुक्षु : बैल ने खायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : बैल ने खायी। अब दृष्टान्त में भी दूसरी बात भी आती है। हमने तो बहुत बार सुना है। एक वन में संजीवनी औषधि थी। अपने बनाया है न स्तुति में।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह संजीवनी औषधि होती है, तो कोई कहे कि भाई! यह बैल हमारा पति होओ। बैल खोजा, अब उसे क्या करना? उसे संजीवनी औषधि खिला देना। परन्तु इस जंगल में संजीवनी औषधि कौन सी है, यह हमें खबर नहीं पड़े तो क्या करना? इसमें लाखों वनस्पति है, तो उसमें से (एकाध) संजीवनी होगी। सब खिलाओ उसमें संजीवनी आ जाएगी, परन्तु उसमें मरजीवनी आ जाएगी तो? कहो, ठीक। यह आता है न? भाई! चेतनजी! यह हेमचन्द्राचार्य का वह सब आता है। वह सब गड़बड़।

वे लोग कहते हैं कि अपने बैल करो, सब वनस्पति तो है परन्तु अपने को खबर नहीं। तब विद्याधर खड़ा नहीं रहता। विद्याधर ने कहा कि तेरे बैल को मनुष्य बनाना हो तो यहाँ संजीवनी औषधि है। परन्तु कहाँ है? मुझे समय नहीं, ऐसा कहकर चला गया। तो कहे- सब खिलाओ। परन्तु कौन सी खिलानी? उसमें मरजीवनी आ गयी तो मर जाएगा।

मुमुक्षु : मृत्यु की भी होती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : होती है। होती है या नहीं अन्दर? जहरीली, बहुत जहरीली। तुरन्त मार डाले। ऐसा है नहीं। समझ में आया? और दूसरा एक दृष्टान्त शास्त्र में दिया है। उसका जहाज समुद्र में जा रहा था। पश्चात् कहता है-हे भगवान! हे ब्रह्मा! हे विष्णु! हे अम्बाजी! हे सिखोतेर! हे अमुक! सबके नाम लिये कदाचित् कोई आवे और तिरा दे। सबके नाम लिये। उसमें कोई-कोई आकर तिरा देगा। ऐसा होगा यहाँ? मूढ़ है, कहते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : इसमें कौन तिरावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा तिरा दे। समझ में आया? तारनेवाला तिराता है और तिरनेवाला तैरता है। तारनेवाला तिराता है। जिसे तिरने का उपाय हाथ लगा है, वह तिरने का उपाय बताता है और उसे समझकर तिरनेवाला तैर जाता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मुमुक्षु : स्वयं तिरता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं तिरता है, ऐसा ही कहते हैं न।

मुमुक्षु : कोई तिरानेवाला हो, तब तो कोई दरिद्र रहे नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ईश्वरादि कोई है? अथवा यदि गुरु तिरा दे तो एक गुरु ही सबको तिरा दे। फिर दूसरे की आवश्यकता रही नहीं। दूसरे गुरु की आवश्यकता नहीं पड़े और दूसरे देव की भी आवश्यकता नहीं पड़े। ऐसा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि तेरा आत्मा ही शुद्ध भगवान ज्ञानज्योति है। यदि तुझे मोक्ष की अभिलाषा होवे तो उस सम्बन्धी के ही प्रश्न पूछना। जगत की कोई लप हो, हम अपुत्र हैं तो पुत्र दो, पैसा, इज्जत, कीर्ति ऐसा.. ऐसा.. हम नुकसान में हैं तो कैसे अब कैसे निकलना? हमारे पास एकान्त में बहुत आते हैं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर में नाम बड़ा प्रसिद्ध हो गया। यहाँ बाहर में देखे तो मानो बड़ा मानधाता जैसा लगता था। अमलदार अधिकारी जैसा बड़ा बाहर का दिखाव था। थोड़ा काम है, कहता है। मैंने कहा क्या काम होगा ? होगा कुछ काम। दिखाव अच्छा, ऐसे कोट-बोट पहने हुए। बड़ा अधिकारी-अमलदार जैसा होशियार, मानो पाँच सौ, हजार का वेतन, ऐसा लगता था। क्या काम है ? एकान्त में गया तो कहे, मैं बहुत कर्जे में हूँ, मुझे कुछ (दे दो)। मैंने कहा, हमारे पास कुछ नहीं है। तो फिर कहा-नाम सुना है। नाम इतना बड़ा था न कि मैंने भगवान.. भगवान.. भगवान.. भगवान.. भगवान.. भगवान.. सब किया। लक्ष्मी का कर्जा था। कर्जा समझे न ? परन्तु भगवान आये नहीं। फिर मैंने लक्ष्मी का नाम लिया। लक्ष्मी.. लक्ष्मी.. लक्ष्मी.. लक्ष्मी.. आठ दिन तक। फिर आवाज आयी। क्या ? कहा कानजीस्वामी के पास जा। यह तो गजब। अरे! चिमनभाई! यह देखो न! आज लकड़ी बदली है। वह लकड़ी कल टूट गयी थी। यह दूसरी चार-पाँच पड़ी है न ? उसमें से यह नयी निकाली है, हों!

मुमुक्षु : उसे मन्त्रना। उसने कहा यह बात तो सच्ची न।

पूज्य गुरुदेव : अब वह कहता था। ऐसे देखो तो तुम्हें यह वह कर डाले ऐसा। परन्तु अब अन्दर में कोई बहुत प्रकार से खोटा किया हो और पूरा पड़े नहीं। लड़की-लड़के के विवाह तो फिर इज्जत प्रमाण करना पड़े। चिमनभाई! बाहर में ढोंग तो करना पड़े। अन्दर में होवे कर्जा। मैंने जब लक्ष्मी.. लक्ष्मी.. लक्ष्मी.. जप जपे। भगवान का नाम जपा परन्तु कुछ आया नहीं। परन्तु आठ दिन जहाँ लक्ष्मी.. लक्ष्मी.. लक्ष्मी.. लक्ष्मी.. ऐसा किया। देवी, हों! कि जाओ कानजीस्वामी के पास, वे तुम्हें बतायेंगे। ओये..! बापू! यह तो कैसा ?

मुमुक्षु : वह बताया या नहीं बताया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, फिर कहे, देव का नाम लिया था। उसने कहा। परन्तु कौन से देव ? हमारे देव तो यह एक सीमन्धर भगवान हैं। हमारे देव सीमन्धर भगवान और हमारे गुरु कुन्दकुन्दाचार्य हैं। ऐसा कुछ बताया था ? खबर नहीं, भूल गया हूँ। कुछ नाम बताया

था। कानजीस्वामी अमुक देव का नाम बतायेंगे। देव तो यह हमारे भगवान हैं। सीमन्धर भगवान विराजते हैं, वे हमारे देव हैं। कुन्दकुन्दाचार्य हमारे गुरु हैं। दो में से (एक का) नाम बताया था? और हम तो यहाँ आत्मा की बात करते हैं। बेचारा चला गया। क्या करे? आहाहा! ऐसे तो कितने ही व्यक्तिगत पत्र आते हैं, हों! एक पाँच हजार भेजो महाराज! महाराज! पाँच हजार भेजो। आपके गृहस्थ करोड़पति बहुत आते हैं। और फिर मैं सब पूरा कर जाऊँगा। यहाँ मानों फालतू धन्धा चलता होगा। आहाहा! उस बेचारे के पत्र व्यर्थ में जाते हैं, पैसे व्यर्थ में जाते हैं।

यहाँ तो कहते हैं, आत्मा सम्बन्धी पूछना। आहाहा! समझ में आया? पुण्य कैसे होगा? ऐसा भी नहीं पूछना। आहाहा! हमें स्वर्ग कैसे मिले, ऐसा भी नहीं। हम यहाँ से स्वर्ग में जाकर भगवान के पास किस प्रकार जा सकेंगे? ऐसा नहीं (पूछना)। हम यहाँ से सीधे महाविदेहक्षेत्र में जन्म लेंगे या नहीं? महाराज! तो वहाँ भगवान विराजते हैं। ऐसा नहीं पूछना। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जहाँ भगवान विराजते हैं, वहाँ जन्म लें तो तुरन्त.. परन्तु वहाँ जन्म लेकर... वहाँ कहाँ है? आत्मा के भान बिना जन्म तो वहाँ अनन्त बार लिए। भगवान कहीं दे देते थे?

मुमुक्षु : वहाँ से नरक में भी जाते हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : नरक में तो तैंतीस सागर में जाते हैं।

मुमुक्षु : यहाँ से तो वहाँ कोई जाए नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ से तो कोई तैंतीस सागर भी नहीं जाएगा, हों! वहाँ से तो अभी तैंतीस सागर जाते हैं। यहाँ से अभी कोई तैंतीस सागर तक नहीं जाता, तो उसमें क्या है? लोग कहे, वहाँ गये, कितने ही श्रीमद् को सिद्ध करते हैं। यहाँ से महाविदेहक्षेत्र में जन्मे। अरे! रहने दे तू। महाविदेह में जन्मे, वह मिथ्यादृष्टि जन्मता है। मनुष्य मरकर मनुष्य होवे, वह तो मिथ्यादृष्टि मनुष्य होता है। सम्यग्दृष्टि मरकर वहाँ (नहीं जाता)। देवचन्दजी को कितने ही कहते हैं, वहाँ केवल (ज्ञान) प्राप्त हुए। अरे! रहने दे, ऐसी बातें गप्प में जाती हैं। समझ में आया? महाविदेह में जन्मूँ तो मुझे जल्दी लाभ होगा। यह पूछना नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि प्राणी...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मनुष्य मरकर मनुष्य हो, वह तो मिथ्यादृष्टि होता है। मनुष्य मरकर सम्यग्दृष्टि मनुष्य महाविदेह में नहीं जाता, वह तो स्वर्ग में जाता है। यहाँ तो कहते हैं कि पूछना हो तो आत्मा की बात पूछ। महाविदेह में क्यों उत्पन्न हुए, अमुक और... यह सब बात तू छोड़ दे। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मकल्याण कैसे हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, यह प्रश्न कर। मेरा आत्मा ज्ञानज्योति, चैतन्यमूर्ति, वह क्या है? कैसे प्राप्त हो? यह बात पूछ।

उसी की वांछा करनी चाहिए.. प्रीति करनी चाहिए, अभिलाषा करनी चाहिए। ऐसा पूछना और उसकी अभिलाषा करनी चाहिए। दूसरी कोई अभिलाषा नहीं करना। आत्मा आनन्दमूर्ति, परमात्मस्वरूप की अभिलाषा के अतिरिक्त, उसकी प्रीति के अतिरिक्त दूसरी कोई अभिलाषा, प्रीति और वांछना नहीं करना। कहो, अन्तिम गजब श्लोक ले लिया। देखो! समझ में आया?

और उसे ही अनुभव में लाना चाहिए। और भगवान आत्मा ज्ञानज्योति चैतन्यबिम्ब जो आत्मस्वरूप, उसके सम्बन्ध में पूछना, उस सम्बन्धी अभिलाषा करना, उस सम्बन्धी प्रीति करना। वह आत्मा कौन, उसकी वांछा करना और पश्चात् उस आत्मा में स्थिर होने का अनुभव करना। समझ में आया? भगवान आत्मा चैतन्यज्योत चमकता सूर्य प्रभु! देहदेवालय में (विराजमान है)। यह देह, देवालय है। इसमें परमात्मा चैतन्य प्रभु सूर्य प्रभु विराजमान है। सूर्य देवता होता है, हों! सूर्य देवता होते हैं न कितनेक। समझ में आया?

और उसे ही अनुभव में लाना चाहिए। उसे अनुभव में लाना चाहिए। दया, दान और व्रत को अनुभव में लाना और ऐसा करना, यह बात छोड़ दे। यहाँ तो व्यवहार की बात ही पूछी नहीं, भाई! लो, ओहोहो!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह पूछने में यह पूछना है कि यह आत्मा कौन? पुण्य

कैसे हो और व्रत कैसे हो-ऐसा नहीं, ऐसा। समझ में आया? पूछने में इतनी शर्त। आत्मा के अतिरिक्त बात नहीं।

भगवान आत्मा चैतन्य ज्योत, उसका बोलना। उसमें शब्द आता है। समाधिशतक में कहीं आता है.. और योगसार में तो अमितगति आचार्य के बहुत बोल आते हैं। वह तो ग्यारह बोल आते हैं। यह तो समाधिशतक में आत्मा सम्बन्धी है, ऐसा बोल है। योगसार अमितगति आचार्य में बहुत बोल हैं और समाधिशतक में ग्यारह बोल हैं। योगसार, योगसार। किसमें है? कहीं लिखे हैं? अनुभव में लाना चाहिए, यह अन्तिम बात है। पूछने में यह, अभिलाषा में यह, अनुभव में भी यही, तीन बातें ली हैं। शुरुआत में पूछना तो आत्मा सम्बन्धी, अभिलाषा करना तो आत्मा सम्बन्धी परन्तु पूछकर आत्मा सम्बन्धी की अभिलाषा करना और अनुभव भी आत्मा सम्बन्धी करना। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यज्योत विराजमान प्रभु! समझ में आया? उस चैतन्यसूर्य का देवालय यह शरीर। चैतन्यसूर्य का देवालय। चोटिला के पास है। सूर्य का ये काठी लोग बहुत मानते हैं। सूर्य को काठी लोग बहुत मानते हैं। कहाँ होगा वापस? योगसार अमितगति, यह ४९ है और वह भी ४९ है। ४९ गाथा है। समाधिशतक की ५३वीं गाथा है। '**तत् ब्रूयात्**' आदि। इसमें सब लिखा है। कितनी कही? ५३, देखो! यह लिखा योगसार निर्जरा अधिकार ४९वीं, पृष्ठ ११४। सब लिखा है, हों!

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥५३॥

इस आत्मस्वरूप का कथन करें, और दूसरों को बतलावें... आत्मा की बात दूसरे को बतावे और कथन करे। समझ में आया? पूजा, भक्ति, व्रत यह बात तो पुण्य है। यह बात गौण कर दे। तू इसकी बात मूल कर। **और उस आत्मस्वरूप को दूसरे आत्मानुभवी पुरुषों से विशेष ज्ञानियों से पूछे।** देखो! ...धर्मात्मा को, ज्ञानी को आत्मा की बात पूछ। आत्मा की बात पूछ। आत्मा कौन है? परमात्मा कौन है? उसका स्वरूप क्या है? समझ में आया? **उस आत्मा की इच्छा करे, उसकी प्राप्ति को इष्ट बनावे।** लो! उस आत्मा की प्राप्ति किस प्रकार हो, उसे इष्ट बनावे। **और उस आत्मस्वरूप की भावना में सावधान हो आगे बढ़ावे...** देखो! यहाँ भी शब्द है। '**अविद्यामयं रुपम त्वक्त्वा**' यह

अज्ञानमय सब छोड़कर '**विद्यामयम व्रजेत... विद्यामयम व्रजेत**' ज्ञानमय भगवान आत्मा अंगीकार होगा। लो, यह समाधिशतक इनका है न? यहाँ है देखो! योगसार अमितगति (आचार्य)।

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयम्
पृच्छयं श्रवयं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयम्।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयम्
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम्॥४९॥

जो पुरुष विद्वान है, धर्मी है। उन्हें वही पदार्थ निश्चल मन से पढ़ने योग्य है। निश्चल मन से पढ़ने योग्य है। भगवान आनन्दकन्द आत्मा शुद्ध, वही पढ़ने योग्य है। लो, इस संसार का पढ़ने योग्य नहीं है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : तो भी पढ़े बिना कहाँ रहा जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो मोह के कारण।

मन से पढ़ने योग्य है। ध्यान करने योग्य है। यह भगवान ज्ञानमूर्ति, इसका ही ध्यान करने योग्य है। **आराधने योग्य है।** वह सेवा करने योग्य है। चिदानन्द भगवान अन्तर एकाग्र होकर आराधने योग्य है। **पूछने योग्य है।** उसके विषय में पूछना। **सुनने योग्य है।** इस आत्मा की बात सुनना, दूसरी बात नहीं। आहाहा! परन्तु अभी तो पूजा, भक्ति, व्रत की बात चले तो गलगलिया हो जाए। आहाहा!

मुमुक्षु : उसमें तो समझ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें क्या समझना था? वह भगवान की भक्ति... आहाहा! धम-धम.. पूजा हो, विशाल शोभायात्रा निकले, रथयात्रा निकले, गजरथ निकले, उसमें समझ में आये कि इसमें पुण्य है और कुछ करते हैं।

मुमुक्षु : कितने अधिक लोग भाग लेते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भाग लेते हैं, उसमें पुण्य है। उसमें आत्मा कहाँ आया? समझ में आया? ऐई! वजुभाई!

सुनने योग्य है। भगवान आत्मा... आत्मा ही उसे कहते हैं कि ज्ञानज्योति, वह आत्मा। पुण्य-पाप, राग, शरीर, वाणी वह आत्मा नहीं। आत्मा सम्बन्धी (बात सुनना)। यहाँ योगसार कर्ता अमितगति आचार्य हैं। समाधिशतक कर्ता पूज्यपादस्वामी हैं। सबकी एक ही बात है। **सुनने योग्य है।** भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यद्रव्य, वही सुनने योग्य है। **अभ्यास करने योग्य है।** वह अभ्यास करनेयोग्य है। दूसरा संस्कृत और व्याकरण छोड़कर यह करनेयोग्य है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : आये अब ऐसे अर्थ बहुत पढ़कर मर जाते हैं ऐसे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो इस कारण से करे, झट समझ में आये वह। हेतु तो वहाँ रखते हैं।

स्पर्श करनेयोग्य है। समझ में आया? **उपार्जन करनेयोग्य है।** अभ्यास बाद में। आत्मा ही उपार्जन करनेयोग्य है। पैसा उपार्जन करते हैं न? पुण्य उपार्जन करनेयोग्य नहीं, आत्मा उपार्जन करनेयोग्य है। आहाहा! पैसे का उपार्जन करना, ज्ञान उपार्जन करना, पुण्य उपार्जन करने का यहाँ इनकार करते हैं। **जाननेयोग्य है, कहनेयोग्य है।** कहनेयोग्य तो आत्मा ही कहनेयोग्य है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ चैतन्य निर्वाण प्रभु, वह पूर्णानन्द से विराजमान है, ऐसा कहनेयोग्य है। **प्रार्थनेयोग्य है।** प्रार्थना करनी तो आत्मा की प्रार्थना करनी। ऐई! समझ में आया?

मुमुक्षु : गुरु सिखाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिखता है परन्तु किसके लिए कहते हैं यह? तेरा आत्मा तुझे प्रार्थना करनेयोग्य है।

शिक्षा के योग्य है। उस आत्मा की शिक्षा देना। यह शिक्षा है, दूसरी शिक्षा नहीं। आहाहा! **देखनेयोग्य है।** देखनेयोग्य आत्मा ही है। जाननेयोग्य कहा, देखनेयोग्य कहा। **स्पर्श करनेयोग्य है।** लो! **इसी से सदा आत्मा स्थिर बना रहे।** आत्मा अन्तर में एकाग्र रह सके, ऐसे तुझे ये तेरह बोल करना। समझ में आया? कहो, रतिभाई! यह सब कब करना?

लड़के को पढ़ाना न यह! आहाहा! गजब, तेरह बोल हैं, तेरह। यहाँ तो कहते हैं, यही अनुभव में लेने योग्य है।

विशदार्थ – वह आनन्द स्वभावशाली,.. ज्योति। अब इतना मिलाया। पहले ज्ञानज्योति कहा था न? ज्ञान प्रभु के साथ आनन्द स्वभाववाली ज्योति। इतना मिलाया। आत्मा ज्ञानज्योति है। कैसी? आनन्दस्वभाववाली ज्ञानज्योति है। आहाहा! **आनन्द स्वभावशाली,..** एक बात। **महान उत्कृष्ट,..** दो बात। यह ज्ञानज्योति भगवान पुण्य-पाप के रागरहित, कर्म-शरीररहित, उसे ही आत्मा कहते हैं। आत्मा ज्ञानज्योति, आनन्दस्वभाववाली ज्योति है, एक बात। **महान उत्कृष्ट,..** जगत में इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट कौन है? समझ में आया? लोकालोक को जाननेवाली चैतन्यज्योति, वही महान उत्कृष्ट है। इसके सिवाय कोई उत्कृष्ट-ऊँची चीज़ नहीं है।

विभ्रम को नष्ट करनेवाली,.. है। लो! यह अविद्या का कहा। समझ में आया? भगवान आत्मा चैतन्य आत्मस्वरूपी आत्मा है। रागस्वरूप, कर्मस्वरूप, शरीरस्वरूप कहीं आत्मा नहीं है। ऐसी आत्मज्योति आनन्दस्वभाववाली है, उसका स्वीकार कर। वह है, ऐसा स्वीकार करने से **विभ्रम को नष्ट करनेवाली,..** है। वही विभ्रम अर्थात् मिथ्यात्व को नाश करनेवाली आत्मज्योति है। समझ में आया? तो कहे, आत्मज्योति ऐसी है, वह तो है, परन्तु है, ऐसा स्वीकार कहाँ किया है? मैं ऐसा हूँ - ऐसा कहाँ माना है? मैं रागवाला हूँ, पुण्यवाला हूँ, कर्मवाला हूँ, मैं शरीरवाला हूँ, ऐसा माना है, तो आत्मज्योति ऐसी है, ऐसा माना कहाँ है। समझ में आया? आहाहा!

विभ्रम को नष्ट करनेवाली,.. भ्रमणा का नाश करनेवाली भगवान चैतन्य ज्योति है। समझ में आया? आहाहा! पहले तो ६०-६० वर्ष के और ७० वर्ष के बेचारों को मिलता भी नहीं था। अभी तो लड़के को भी ऐसे आँख फिराकर देखे तो सही, माँगे तो सही, प्रयत्न तो करे कि यह क्या है? समझ में आया? विचारे तो सही कि यह क्या कहते हैं? **विभ्रम को नष्ट करनेवाली,..** तीन (बोल हुए)

स्वार्थ को प्रकाशन करनेवाली,.. भगवान चैतन्य ज्योति प्रभु, आनन्दस्वभाववाली महान उत्कृष्ट और भ्रम को नाश करनेवाली और स्वार्थ को प्रकाशित करनेवाली। उसको

(विभ्रम को) नाश करनेवाली और स्वार्थ को प्रकाश करनेवाली। स्व पदार्थ को प्रकाश करनेवाली है। भ्रम को नाश करनेवाली—व्यय। भगवान आत्मा कैसा है? उसे प्रकाश उत्पन्न करनेवाली। यह सम्यग्ज्ञान, दर्शन को उत्पन्न करनेवाली आत्मज्योति है। समझ में आया? इससे आत्मज्ञान और आत्मदर्शनज्योति प्रगट होती है। दूसरे से प्रगट नहीं होती। आहाहा! गजब! शास्त्र पढ़ने से प्रगट नहीं होती। यह तो इनकार किया है, देखो!

स्वार्थ को प्रकाशन करनेवाली,.. भगवान आत्मा चैतन्य ज्योति प्रभु आनन्द स्वभाववाला तत्त्व, वही महान उत्कृष्ट, वही विभ्रम का नाश (करनेवाला) और अपना निज स्व-अर्थ स्वभाव प्रकाशन करनेवाली। विभ्रम का नाश करनेवाली और स्व-अर्थ को प्रकाशित करनेवाली। अस्ति-नास्ति हुआ या नहीं? भ्रम का नाश हुआ परन्तु प्रकाशित क्या करती है? अपना शुद्ध चिदानन्दस्वरूप का प्रकाश करनेवाली आत्मज्योति है। वह प्रकाश करनेवाली दूसरी कोई ज्योति नहीं है।

अथवा.. ओहोहो! कितने बोल रखे हैं इसमें! सब भुक्का उड़ा दिया है। व्यवहार से प्रकाश करनेवाली और... यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहाररूपी अज्ञान को नाश करनेवाली है। समझ में आया? और अपनी निश्चयज्योति चैतन्य चमत्कार विराजमान भगवान है, उसमें अपने स्वरूप का प्रकाश करनेवाली वह ज्योति है। समझ में आया? इस मोक्षमार्ग को प्रकाशित करनेवाली आत्मज्योति है, ऐसा कहते हैं। बन्धनभाव का नाश करनेवाली और मोक्षमार्ग की पर्याय को उत्पन्न करनेवाली आत्मज्योति है। वस्तु-पदार्थ वह है।

अथवा इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य.. इन्द्रादि द्वारा पूज्य। इन्द्र भी जिसे पूज्य मानते हैं। इन्द्र, गणधर भी चैतन्यज्योति को पूज्य स्वीकार करते हैं। आहाहा! समझ में आया? इस पुण्यभाव को, व्यवहारभाव को पूज्य स्वीकार नहीं करते, ऐसा कहते हैं। **इन्द्रादिकों के द्वारा..** गणधरों द्वारा, सन्तों द्वारा। इन्द्रादि किसलिए लिया? कि बड़ी ऋद्धिधारी इन्द्र आदि... समझ में आया? '**इन्द्रादिनाम पूज्यम**' है न? '**इन्द्रादिनाम पूज्यम**' महा तीन ज्ञान के धनी। जो अर्धलोक का स्वामी, अर्धलोक दक्षिणार्ध का स्वामी शकेन्द्र, उत्तरार्ध का स्वामी ईशान इन्द्र, ऐसे इन्द्रों को उसके वैभव की अपेक्षा भी यह चैतन्यज्योति पूज्य है। समझ में आया? इन्द्रों को भी वह वैभव पूज्य नहीं, वैभव आदरणीय नहीं। ओहो! इन्द्रों

को जहाँ भगवान की प्रतिमा है। समझ में आया? जन्मते हैं तो पहले उसे पूज्य कहते हैं। परन्तु यह तो कहते हैं कि वह तो व्यवहार पूज्य भगवान है। निश्चय में पूज्य चैतन्य ज्योति भगवान जलहल ज्योति प्रभु, वही इन्द्रादिकों द्वारा पूज्य है। **ऐसी ज्योति है।** ऐसी चैतन्य भगवान चैतन्य ज्योति है। आहाहा! कितनी महिमा करनी इसकी, कहते हैं।

मोक्ष की इच्छा रखनेवालों को.. यह शर्त। जिसे बन्धन से छूटना हो, (उसके लिए यह बात है)। पुण्य बँधेगा, फिर उससे स्वर्ग में जाया जाएगा, पश्चात् वहाँ लक्ष्मी मिलेगी, एक भव वहाँ सुख मिलेगा और फिर मुक्ति में जाऊँगा। पहले पुण्य के सुख तो स्वर्ग में भोग लें, ऐसा कितने ही कहते हैं। उसे मोक्ष की अभिलाषा नहीं है। **मोक्ष की इच्छा रखनेवालों को चाहिए कि वे गुरु आदिकों से उसी के विषय में पूछ-ताछ करें.. गुरु आदिकों से..** ऐसा है न? समझ में आया? **'मुमुक्षुभिर्गुर्वादिभ्योऽनुयोक्तव्यम्।'** गुरु हो, अपने से विशेष ज्ञानी हो, सर्वज्ञ परमेश्वर हो, चार ज्ञान के धनी गणधर आदि हो, तीन ज्ञान के धनी गृहस्थ भी हो, समझ में आया? **उसी के विषय में पूछ-ताछ करें..** पूछताछ करें। हिन्दी में ऐसा है। अपने पूछपाछ करे, ऐसा है, नहीं? पूछपरछ करे। यहाँ पूछताछ करे, यह क्या है? अजितकुमारजी! पूछताछ। यह लिखा है न! पूछताछ करे। अपने पूछपरछ करे।

आत्मा सम्बन्धी पूछताछ, दूसरी बात नहीं। महिलाएँ निवृत्त हो तब लगे सब घर की। पानी के ये कलशे, अमुक का यह हुआ, अमुक का यह हुआ, घर में बेढ़ा कठिन, यह लगा न, कहते हैं, अब व्यर्थ की पाप कथा छोड़ न। ये मुम्बईवाले निवृत्त होकर सब वहाँ की लगाते हैं। ऐ.. चिमनभाई! सब इकट्ठे होकर क्या लगाते हैं? वहाँ ऐसा था और वहाँ ऐसा था और वहाँ ऐसा था। मुम्बई में ऐसा था और वहाँ फिर ऐसा हुआ... वहाँ फिर ऐसा हुआ... धूल होकर ऐसा हुआ, लो!

मुमुक्षु : किसी की समृद्धि की महिमा करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। अरे! उसको ऐसा मिल गया, दो करोड़ हो गये, उसको एक करोड़ हो गये, उसके पचास लाख मिल गये। हमारे भी हमारी शक्ति प्रमाण हमें भी ठीक है। मलूकचन्दभाई! आहाहा! क्या यह सब पुथली है न? पुथली। अरे! भगवान तेरी लगा

न प्रभु! अन्दर चैतन्य भगवान विराजमान है। जिसकी पूर्ण बात केवलज्ञानी भी नहीं कर सकते। ऐसी चीज़ तेरे पास है, तू ही है। उसकी लगा न, उसके प्रश्न पूछ न, उसकी बात कर न।

मुमुक्षु : ...यह पूछना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही पूछना और यही समझना। यह पूछने का यह, ठीक। पहले में पहला यह प्रश्न पूछना। व्यवहार बताया है या नहीं? व्यवहार नहीं बताया? पूछने का व्यवहार है। निश्चय करना अपने में है। अधिकार पूरा करते हुए यह आगे यह कहेंगे। '**सम्यग्व्यवहारनिश्चयाभ्यामधीत्य पठित्वा**' ऐसा कहेंगे। अन्तिम (५० वीं) गाथा में है न भाई! व्यवहार की बात आयी नहीं? पूछना, यह व्यवहार हुआ। जिसे पूछना है, वह पर है, वह भी व्यवहार हुआ न? व्यवहार है, ऐसा जानना। पूछना यह कि आत्मा क्या है, प्रभु? आत्मा कैसा है? समझ में आया?

उसी के विषय में पूछताछ करें तथा उसी को चाहें एवं.. अथवा प्रीति करे। आत्मा आनन्दमूर्ति की प्रीति करे, दूसरी सब प्रीति छोड़ दे। जिसकी प्रीति हो, उसकी चाहना होती है। जिसकी प्रीति नहीं, उसकी चाहना भी नहीं। समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है। पुण्य-पाप की प्रीति, निमित्त की प्रीति छोड़कर उस स्वभाव की प्रीति करे। उसकी प्रीति करे, वह उसकी चाहना करे। समझ में आया? आहाहा! बहुत संक्षिप्त में इष्ट उपदेश। इष्ट अर्थात् सुख का उपदेश, ऐसा आगे कहेंगे। इष्ट अर्थात् सुख, ऐसा लिया है न? इष्ट अर्थात् सुख। '**सत्कारणत्वान्मोक्षस्त-दुपायत्वाच्च स्वात्मध्यानम्**' ऐसा आगे कहेंगे (५० वीं गाथा की संस्कृत टीका में)। आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु! आनन्दस्वरूप है, इसे कैसे जँचे? आहाहा! भाई! तेरी आनन्द की खान का स्वामी एक बार हो। एक बार हो जा। निकाल.. निकाल.. निकाल.. निकाल.. आनन्द निकाल.. निकाल.. निकाल.. आनन्द। इसके मामा की खान इसे मिलेगी न? तो सौ वर्ष तक निकाले तो भी कम नहीं पड़े। यह तो अनन्त काल निकाले तो भी कम न पड़े। आहाहा! समझ में आया? यह शान्तिलाल, इसके मामा का लड़का है न? लाख रुपये प्रतिदिन की आमदनी। एक दिन के एक लाख... एक दिन के एक

लाख। धूल के। सौ वर्ष तक कम नहीं पड़े, कहते हैं परन्तु किसका जोश करता है ? सुन न! यह भगवान की खान ऐसी है कि अनन्त काल व्यतीत हो जाए तो भी कम न पड़े। आहाहा! ऐसी खान प्राप्त कर ले कि जिससे तेरा दरिद्रपना नाश हो जाए। आहाहा! समझ में आया ? वह बात जहाँ सुने नहीं, वहाँ गलगलिया हो जाता है। हें! एक लाख की आमदनी! दस-दस लाख के मकान! धूल में भी नहीं, सब होली सुलगती है। कषाय की अग्नि से जले-भुने... ये जले-भुने जीते हैं। आहाहा! चिमनभाई!

मुमुक्षु : यह चाबुक मारने को याद करते हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ सब बैठे हैं न! सब पैसेवाले बैठे हैं। जले-भुने जीते हैं। ऐ.. चम्पकभाई!

मुमुक्षु : तो ऐसा मानना न कि पैसे रहित वे अधिक जले-भुने हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उनके लिए जले-भुने किसने कहा ? आत्मा के भान बिना जले-भुने हैं। समझ में आया ? सब सुलगे हुए ही हैं। जिसने आत्मा की भावना छोड़कर, दूसरी भावना की है, वे सब जले-भुने और सुलगे हैं। साधु होकर भी पुण्य की भावना, राग की भावना (करते हैं).. समझ में आया ? वे मिथ्यात्व से जले, सुलगे मुर्दे हो गये हैं। अपने चैतन्यप्राण को जलाते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हर्ष सन्निपात। हर्ष सन्निपात समझते हो ? रोग नहीं आता ? त्रिदोष। त्रिदोष नहीं आते ? वात-पित्त-कफ का। दाँत निकालता है, नहीं ? वह रोग आता है न ? त्रिदोष होते हैं न ? त्रिदोष नहीं समझते ? सन्निपात। त्रिदोष का अर्थ वात-पित्त-कफ तीनों बिगड़ जाए, उसे सन्निपात कहते हैं। एकदम अन्दर तीनों हो जाए। इसी प्रकार यहाँ मिथ्यात्व, अव्रत और अज्ञान एकदम होवे तो इसे सन्निपात हो जाता है, इसे सन्निपात हो गया है।

मुमुक्षु : यही सन्निपात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही सन्निपात है। मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्या अज्ञान और राग-द्वेष, यही सन्निपात है। ऐसे सन्निपाति को कौन सुखी कहे ? वह तो दाँत निकाले

(हंसे)। उसे यहाँ हर्ष सन्निपात कहते हैं। कौन सुखी है?

यहाँ तो कहते हैं कि **उसी को चाहें..** भगवान आत्मा, उसकी माला पढ़े-गिने। माला अर्थात् अन्दर में प्रीति करके उसकी रुचि करे। समझ में आया?

एवं उसी का अनुभव करें। यह अन्तिम। उसका अनुभव करे। भाई! सार में सार। सर्वज्ञपरमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव भगवान के ज्ञान में एक समय में आत्मा ऐसा देखा, ऐसा आया, ऐसा है, ऐसी चीज़ का तू अनुभव कर। ऐसी चीज़ को पूछो, उसकी श्रद्धा करो, उसकी प्रीति करो, उसकी चाहना करो, उसका मनन करो, उसका अभ्यास करो, उसका अनुभव करो। इसका नाम इष्टोपदेश है। समझ में आया?

दोहा – पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति ज्ञानमय सार।
मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार।।४९।।

यह श्लोक किसने किये होंगे? शीतलप्रसाद के हैं ये? **पूज्य अविद्या-दूर यह,..** उसमें है सही, हों! शीतलप्रसाद ने। पूज्य। कौन? ज्योति। ज्ञानमय ज्योति पूज्य है और ज्ञानमय ज्योति सार है।

मुमुक्षु : इसमें लिखा है शीतलप्रसाद की...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ उनके शब्द हैं। इसमें हैं।

मुमुक्षु : ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उनके शब्द हैं। लिखा है।

यह पूज्य कौन है? यह ज्योति। ज्ञानमय ज्योति पूज्य है और सार है, अविद्या दूर करने की ताकत रखती है। भगवान चैतन्यज्योति में अज्ञान का नाश करने की ताकत है। ज्ञानमय सार। प्रकाश कहा न? प्रकाश कहा न? प्रकाश करनेवाली है और अज्ञान का नाश करनेवाली है। प्रकाश करनेवाली है। अपना स्वरूप बतानेवाली है, और अज्ञान का नाश करनेवाली है।

मोक्षार्थी.. अहो! मोक्ष के अर्थियों! अरे! मोक्ष के प्रयोजनवालों! पूछो.. **पूछो चहो,..** यह अभिलाष का अर्थ किया। प्रीति। और **अनुभव करो..** उसका अनुभव करो। **विचार।** समझ में आया? यह ४९ गाथा (पूरी) हुई। ५०-५१ दो बाकी हैं।

इस प्रकार शिष्य को विस्तार के साथ समझाकर आचार्य अब परम करुणा से उस कहे हुए अर्थस्वरूप को संक्षेप के साथ शिष्य के मन में बैठाने की इच्छा से कहते हैं कि 'हे सुमते-अच्छी बुद्धिवाले! बहुत कहने से क्या? हेय-उपादेय तत्त्वों को संक्षेप में भी बुद्धिमानों के हृदयों में उतारा जा सकता है। उन्हें साररूप में बतलाया जा सकता है।'

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।५०।।

अर्थ - 'जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है,' बस इतना ही तत्त्व के कथन का सार है, इसी में सब कुछ आ गया। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसी का विस्तार है।

विशदार्थ - 'जीव' शरीरादिक से भिन्न है, 'शरीरादिक' जीव से भिन्न है, बस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्व का सम्पूर्णरूप से ग्रहण (निर्णय) हो जाय। और जो कुछ इस तत्त्व-संग्रह के सिवाय भेद-प्रभेद आदिक विस्तार में सुनने की रुचि-इच्छा रखनेवाले शिष्यों के लिए आचार्यों ने कहा है, वह सब इसी का विस्तार है। इसी एक बात को 'जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है' समझाने के लिए ही कहा गया है। जो विस्तार किया है। उसको भी हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।।५०।।

दोहा - जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार।
अन्य कछू व्याख्यान जो, याही का विसतार।।५०।।

गाथा - ५० पर प्रवचन

इस प्रकार शिष्य को विस्तार के साथ समझाकर.. इस प्रकार शिष्य को विस्तार से समझाकर। अभी तक ४९ आयी न? व्याख्यान भी ५३ रिकॉर्ड हो गये, कहते हैं। ओहोहो! यह ५४वाँ है। बहुत व्याख्यान हो गये। ३२ गाथा में ३३ व्याख्यान हो गये। यह २४ दिन में २० हो गये।

शिष्य को विस्तार के साथ समझाकर.. विस्तार से समझाकर। देखो! पहली बात यह ली है। आगे भी लेंगे कि विस्तार से समझाया है तो हम श्रद्धा में अभिनन्दन देते हैं। उसे अभिनन्दन देते हैं। विस्तार से समझाया, उसे हम अभिनन्दन करते हैं परन्तु पहले उसका सार कहना। **समझाकर आचार्य अब परम करुणा से..** बहुत संक्षिप्त में परम करुणा से। **उस कहे हुए अर्थस्वरूप को..** कहे हुए आत्मस्वरूप को। अर्थस्वरूप कहो या आत्मस्वरूप कहो। **संक्षेप के साथ..** संक्षिप्त में। **शिष्य के मन में बैठाने की इच्छा से..** शिष्य के मन में बैठाने की इच्छा है। बैठालने अर्थात् हिन्दी भाषा है। '**तन्मनसि संस्थापयितुकामः**' संस्कृत है न? '**तन्मनसि संस्थापयितुकामः**' आचार्य, शिष्य के हृदय में संस्थापित करने के इच्छुक।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हुआ न, व्यवहार हुआ न! नहीं हुआ? व्यवहार कहा न, यह व्यवहार। व्यवहार अर्थात् जाननेयोग्य। पश्चात् दो कहेंगे - निश्चय-व्यवहार दोनों आयेंगे अभी। क्या कहते हैं?

कहते हैं '**परमकरुणया संगृह्य तन्मनसि संस्थापयितुकामः**' शिष्य के हृदय में यह आत्मा की बात संक्षिप्त में (कहते हैं)। पहले विस्तार तो किया। अब उसका सार कहकर समझाने के इच्छुक उससे कहते हैं।

'**हे सुमते!**.. भाषा देखो! तू ऐसा मोक्षार्थी होकर सुनने आया है, आत्मा का अर्थी होकर सुनने आया है और आत्मा आदि तेरे प्रश्न में.. '**हे सुमते-अच्छी बुद्धिवाले!** देखो! '**हे सुमते किं कार्यं बहुनोक्तेन**' हे सुमति! बहुत कहने से क्या? हे भाई! हे सुमति! अच्छी बुद्धिवाले! तुझे आत्मा की ही अभिलाषा है तो हम कहते हैं कि **बहुत कहने से क्या?**.. बहुत कहने से क्या? **हेय-उपादेय तत्त्वों को..** एकदम बात ले ली। छोड़नेयोग्य और आदरनेयोग्य दो बात है। बस, लाख बात की बात और करोड़ बात की बात। हेय-छोड़नेयोग्य कौन और आदरनेयोग्य कौन?

हेय-उपादेय तत्त्वों को संक्षेप में भी.. क्या कहते हैं? विस्तार से तो कहा, परन्तु **संक्षेप में भी बुद्धिमानों के हृदयों में उतारा जा सकता है।** ऐसा। विस्तार से

तो कहा। समझ में आया? परन्तु हेय-उपादेय—छोड़नेयोग्य रागादि सब, उपादेय करनेयोग्य मात्र शुद्ध भगवान, दो की बात। **संक्षेप में भी.. संक्षेप में भी..** विस्तार से तो कहा हुआ है, इस कारण से संक्षेप में भी, संक्षेप में भी **बुद्धिमानों के हृदयों में..** इतनी शर्त। **बुद्धिमानों के हृदयों में..** जिनके प्रज्ञा चक्षु खिले हैं। है न? '**प्राज्ञचेतसि**' अन्दर यह है न? '**प्राज्ञचेतसि**' संस्कृत में पड़ा है। '**प्राज्ञचेतसि**' संस्कृत में पड़ा है। शब्द बहुत गजब रखे हैं। '**प्राज्ञचेतसि**' '**प्राज्ञचेतसि**' बुद्धिमानों का हृदय। '**प्राज्ञ**'—प्रज्ञा जिनके हृदय में (खिली है), ऐसे प्रज्ञावाले हृदय को संक्षेप में भी कहा जा सकता है। विस्तार से तो कहा, परन्तु प्राज्ञ हृदयवाले को संक्षेप में भी कह सकते हैं। समझ में आया? पेगड़े पग और ब्रह्म उपदेश, कहते हैं न लोग?

मुमुक्षु : संक्षिप्त में यह गाथा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह गाथा बहुत संक्षिप्त में कहते हैं। विस्तार से कहा, बाद में ऐसा कहेंगे, अभिनन्दन है। उसे भी हम अभिनन्दन करते हैं। विस्तार से कहा, उसे भी हम अभिनन्दन करते हैं परन्तु संक्षेप में भी हेय-उपादेय की बात संक्षेप में भी प्राज्ञ बुद्धिवन्त को कह सकते हैं। कही जा सके ऐसी भी एक पद्धति है।

बुद्धिमानों के हृदयों में उतारा जा सकता है। उतारा जा सकता है। वह उतारने के योग्य है और इसलिए प्राज्ञ कहा। प्राज्ञ है, वह समझने के योग्य है। उसे विस्तार से न कहो, तो भी थोड़े सार में समझा सकते हैं।

मुमुक्षु : .... उतारा जा सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उतारा जा सकता है न! वह उतारनेयोग्य अन्दर है न! उतारा जा सकता है, यह व्यवहार आया। उतरता है, यह निश्चय आया।

उन्हें साररूप में बतलाया जा सकता है। देखो! समझ में आया? **उन्हें साररूप में बतलाया जा सकता है।** देखो! संक्षिप्त गाथा। **जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।** ओहोहो!

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।५०।।

क्या कहा? देखो! यह **'जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है,' बस इतना ही तत्त्व के कथन का सार है,..** मात्र ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा भिन्न है और पुद्गल तथा पुद्गल के निमित्त से हुए रागादि सब भिन्न हैं। बस, एक ओर भगवान—एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। प्राज्ञवन्त शिष्यों को हृदय में बहुत संक्षिप्त में उतारने के अभिलाषी। बहुत संक्षिप्त में यह कहते हैं। भगवान आत्मा चैतन्य ज्योति ज्ञायक स्वरूप आत्माराम, उससे पुद्गल भिन्न है। कर्म-शरीर, पुण्य-पाप के विकल्प सब कर्म पुद्गल में आ गये।

मुमुक्षु : क्षीर नीरवत्।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सब भिन्न हैं। भगवान आत्मा से, आनन्दमूर्ति प्रभु से यह सुख-दुःख की कल्पना शरीर, कर्म आदि सब भगवान आत्मा से भिन्न है। **बस इतना ही तत्त्व के कथन का सार है,..** आहाहा! लो, ओहो! यह चौदह पूर्व और बारह अंग (आ गये)। भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु, जिसे आत्मा कहते हैं, वह तो अनाकुल आनन्दमय आत्मा है और उसमें राग आदि विकल्प उठता है, वह तो विकार, पुद्गल है। शरीर पुद्गल है, कर्म पुद्गल है। **इसी में सब कुछ आ गया। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब (इन दो का) इसी का विस्तार है।** लो, यह सब इसका ही विस्तार है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५५ गाथा-५० शुक्रवार, दिनाङ्क ०३-०६-१९६६
ज्येष्ठ शुक्ल १५, वीर संवत् २४९२

कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले संवत् ४९ में हुए, उनके पश्चात् ये पूज्यपादस्वामी हुए हैं। इन्होंने यह 'इष्टोपदेश' - इष्ट अर्थात् आत्मा का मोक्षस्वरूप और उसका उपाय आत्मध्यान। इष्ट अर्थात् आत्मा का पूर्ण आनन्दस्वरूप मोक्ष और उसका उपाय अर्थात् (ये) दोनों आये—मार्ग और मार्ग का फल। समझ में आया? उसकी संक्षिप्त में बहुत बात हुई। अब ५० (वीं गाथा में) उसका सार कहते हैं।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।५०।।

इसका **विशदार्थ – 'जीव' शरीरादिक से भिन्न है,..** यह आत्मा, शरीर से भिन्न है। शरीर अकेला नहीं; शरीर आदि। शरीर, कर्म, वाणी, मन, पुण्य-पाप, ये सब पुद्गलजन्य पुद्गल हैं; इनसे आत्मा भिन्न है और **'शरीरादिक' जीव से भिन्न है..** ये राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीर इस आत्मा से भिन्न है। बस, कहते हैं इतने में पूरे शास्त्र का सार आ जाता है। समझ में आया?

बस, इतना ही कहना है.. बस, इतना ही कहना है कि यह भगवान आत्मा शुद्ध भूतार्थ है। अन्दर भूतार्थ शब्द है, भाई! सत्यार्थ शब्द रखा है न?

यह भगवान आत्मा भूतार्थ, सत्यार्थ, एकस्वरूप अखण्डानन्द प्रभु; इस शरीर और राग के भिन्न कहने पर और आत्मा से वे रागादि भिन्न कहने पर, ग्रहण क्या होता है? निर्णय क्या होता है? **कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्व का सम्पूर्णरूप से ग्रहण (निर्णय) हो जाय।** देखो! इतने में भगवान आत्मा ज्ञानानन्द अनन्त गुण सम्पन्न भूतार्थ, सत्वस्तु, सत्यवस्तु है, वह रागादि से, पुद्गल से भिन्न है और रागादि, पुद्गल, वे आत्मा से भिन्न है। इतना कहने में भूतार्थ ऐसा जो आत्मा, उसका ग्रहण, ज्ञान, निर्णय, अनुभव हो जाता है। समझ में आया? क्यों?—कि आत्मा में, आत्मा पर से भिन्न है, ऐसा होने पर और आत्मा स्वयं पर से भिन्न और आत्मा से वे भिन्न, ऐसे अन्तर में नजर पड़ने पर। ऐसे अन्तर में भिन्न भासित होने पर, भूतार्थ भगवान आत्मा जो ज्ञेय होनेयोग्य है, जो ज्ञान में प्रमेय होनेयोग्य है। समझ में आया? ज्ञान में वह प्रमेय होने के योग्य है।

मुमुक्षु : वह अर्थात् कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा। आत्मा में प्रमेय नाम का गुण है, उस गुण का गुण...

मुमुक्षु : गुण का गुण होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण का गुण अर्थात् गुण का लाभ। समझ में आया? यह प्रमेयत्व नाम का गुण है। कहते हैं कि यह आत्मा पर से भिन्न है और ये शरीरादि आत्मा से भिन्न हैं। ऐसा कहने पर आत्मा भूतार्थ, उसके अनन्त गुणों में प्रमेयत्व नाम का एक गुण

है। उस गुणी को ग्रहण करने पर, वह प्रमेयत्वगुण है, उसके कारण अनन्त गुण उसके ज्ञान में प्रमेय हो जाते हैं। समझ में आया? यह और उसमें न ज्ञात हो, ऐसा ऊपर आया। आत्मा ज्ञात होता है या नहीं? यहाँ तो कहते हैं, ग्रहण हो सकता है। समझ में आया? कल अस्तित्व आया था। ऐई! आज और यह प्रमेयत्व आया है।

मुमुक्षु : ऐसे रोज दो-दो बोल आते जाएँ तो हमारी प्रवेशिका दृढ़ होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो एक सवेरे लड़कों के साथ यह चला था, भाई! आत्मा की लगायी। यहाँ कहाँ हमारे (दूसरी बात है)?

मुमुक्षु : प्रवेशिका के रोजाना दो-दो बोल आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किसे खबर है, क्या आवे? कब आवे?

यहाँ तो आत्मा, वस्तु आत्मा है, उसे यहाँ भगवान पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि हमने उसे जहाँ पुद्गल से भिन्न कहा और पुद्गल से आत्मा को भिन्न कहा, इसीलिए आत्मा त्रिकाल भूतार्थ ज्ञायकस्वभाव है। वह ज्ञान में ग्रहण हो सके, ऐसी उसकी ताकत है। आहाहा! सेठ! आहाहा! वह न ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। जहाँ भिन्न कहा। राग-द्वेष, विकल्प से, पुद्गल से, सब पुद्गल से भिन्न कहा और आत्मा से उन्हें भिन्न कहा। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीर से आत्मा भिन्न और आत्मा से रागादि पुद्गल भिन्न। इतना कहने पर, ऐसा कहने पर, आत्मा सच्चिदानन्द सत् स्वरूप सत्यार्थ, भूतार्थ, त्रिकाल ज्ञायक, उसका अस्तित्व, उसकी मौजूदगी। यहाँ भूतार्थ में अस्तित्व, सत्यार्थपना और आया अस्तित्व। ऐई! तुम्हारा। समझ में आया? वे कहे - एक अस्तित्व आया। क्या कहा? जैन सिद्धान्त प्रवेशिका। बोले थे न कुछ? जैन सिद्धान्त प्रवेशिका आ गयी। यह तो प्रवेशिका, आत्मा में यह प्रवेशिका आती है। समझ में आया?

भगवान आत्मा.. बहुत ही संक्षिप्त में आचार्य महाराज ने संक्षिप्त में सार कहा है। समझ में आया? तत्त्व संग्रह। भगवान आत्मा पुण्य-पाप, शरीरादि से भिन्न कहने पर इस आत्मा से वह पुद्गल भिन्न कहने पर, भगवान भूतार्थ सत्यार्थ दृष्टि में-निर्णय में आ गया। समझ में आया? अर्थात् उस आत्मा का पर से भिन्नपना और आत्मा से उसका भिन्नपना अन्तर में भासित होने पर तत्त्व का संग्रह हो गया। ज्ञायकभाव का ज्ञान होकर उसमें आनन्द

है, वह भी उसके ज्ञान में आकर, उसमें प्रमेयत्व है; इसलिए ज्ञान में प्रमेयपना भासित होकर... समझ में आया ? उसमें अकार्यकारण नाम का गुण है, इसलिए उसके गुणी में ऐसा भासित हुआ कि यह आत्मा किसी का कार्य नहीं और यह आत्मा किसी का कारण नहीं। समझ में आया ? आहाहा !

आत्मा का यह गुण है, आत्मा का यह गुण है, जिसमें परमेश्वर गुण पड़ा है। प्रभुता गुण है, वह प्रमेय होने के योग्य है। समझ में आया ? आत्मभगवान परमेश्वर पूर्ण ईश्वर, अनन्त गुण की ईश्वरता सम्पन्न प्रभु आत्मा, एक प्रभुत्व नाम का गुण भी उस अनन्त गुण में परमेश्वरता व्याप्त है। समझ में आया ? ऐसे परमेश्वरस्वरूप भगवान भिन्न कहने पर उसका निर्णय ज्ञान में आ गया। कि अहो ! यह आत्मा अनन्त-अनन्त प्रभुता, प्रमेयता आदि गुणों से भरपूर पदार्थ है। ऐसे दृष्टि में भूतार्थ से उसका भान हो गया। जो अनन्त काल में हुआ नहीं था, उस स्व को ज्ञेय बनाकर, स्व को प्रमेय बनाकर प्रमाणज्ञान में यह प्रमेय पूर्ण है, ऐसा उसका निर्णय और ग्रहण हो जाता है। चिमनभाई ! सूक्ष्म भी बहुत सूक्ष्म। सूक्ष्म भी बहुत संक्षिप्त और बहुत सरस। इसने कभी स्व को प्रमेय बनाया नहीं। समझ में आया ? आहाहा !

इन जगत के पदार्थों को देखने में प्रयास करता है या नहीं ? तो कहते हैं कि वे पदार्थ तो तुझसे भिन्न हैं। इस राग को देखने में प्रयास करता है तो राग तो तुझसे भिन्न है। शरीर को देखने प्रयास करता है तो शरीर तो तुझसे भिन्न है। उससे तू भिन्न है, उसे देखने को मन्थन कभी किया ? समझ में आया ? यह मशीन का ज्ञान और धूल का ज्ञान, अमुक का ज्ञान, वकालात का ज्ञान, डॉक्टर (का ज्ञान) सबको प्रमेय बनाया परन्तु स्वयं प्रमेयगुण इसमें है, उसे प्रमेय बनाया नहीं। समझ में आया ? परन्तु इतना कहने पर इसे यदि भेद हो जाए। क्योंकि यह भेदज्ञान कहा है। भगवान आत्मा इन रागादि से भिन्न अर्थात् उनका वर्तमान ज्ञान, उसके पूर्ण ज्ञेय की ओर ढलने पर, उसके अनन्त गुणरूप एक आत्मा, उसके ज्ञान का प्रमेय होकर सच्चा प्रमाणज्ञान होता है। समझ में आया ?

आत्मा में आनन्द है, वह राग से जहाँ भिन्न और स्वयं से रागादि भिन्न, ऐसा जहाँ कहा, वहाँ उसका अर्थ यह हुआ कि भगवान भूतार्थ आनन्दस्वभाव से भरपूर है। अतीन्द्रिय आनन्द से भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप है। ऐसा सत्यार्थ, भूतार्थ, सच्चा, सत्यस्वरूप है,

ऐसा उस ओर पर से भिन्न लक्ष्य करने पर, अपनी ओर लक्ष्य में जाने पर वह भगवान पूरा ज्ञान में ग्रहण और निर्णय हो जाता है। पाठ में दो लिये हैं, हों! ग्रहण और निर्णय। संस्कृत में। यह तो फिर इन्होंने और कोष्टक में डाला है। नहीं तो वहाँ तो दो हैं। '**सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः**' ऐसा। ज्ञान और निर्णय, जानना और निर्णय दोनों हो जाते हैं। ग्रहण का अर्थ फिर इन्होंने किया। समझ में आया? नहीं तो ग्रहण और निर्णय...

इस आत्मा से रागादि भिन्न, इसलिए उन्हें देखना नहीं रहा। उनसे आत्मा भिन्न उसे देखना रहा। समझ में आया? उसे देखने पर उससे भिन्न ऐसे राग, विकल्प, शरीर का लक्ष्य छोड़कर... क्योंकि इससे वे भिन्न, उनसे यह भिन्न है। अब मेरा स्वरूप उनसे भिन्न है, तो उन्हें देखना नहीं रहा। समझ में आया? क्योंकि देखनेवाले को जाने बिना यह चीज़ क्या है, वह व्यवहार से भी नहीं जाना जा सकता। क्या कहा, समझ में आया इसमें? इन दो का निर्णय वापस सत्यार्थ आत्मा का निर्णय एक ही लिया है, भाई! यहाँ से लिया है। क्योंकि दो भले कहा, परन्तु दो का वापस यह जाना। यह तो ठीक, यह भिन्न है, उससे यह भिन्न, इतनी बात। परन्तु अब इसमें से छाँटना क्या? इसमें से निकालना क्या? इसका निचोड़ क्या?

मैं आत्मा। इससे वे भिन्न। ऐसे भिन्न, तो भिन्न अर्थात् कौन? – कि आत्मा। अर्थात् भूतार्थ ज्ञायक अनन्त गुणसम्पन्न। जिसमें वर्तमान ज्ञान, उसका ज्ञान करने पर, वह प्रमेय होकर पूरा द्रव्य उसके ज्ञान में ज्ञात होता है और पूरे द्रव्य का उसे निर्णय हो जाता है और पूरे द्रव्य में ऐसा हो जाता है कि स्थिर होनेयोग्य यह है, रमनेयोग्य यह है – ऐसा निर्णय हो जाता है। आहाहा! समझ में आया? पश्चात् इस राग में रमनेयोग्य नहीं है। जिसमें मैं नहीं और मुझमें वह नहीं, पश्चात् राग दया, दान, व्रत में रमने जैसा है, यह बात नहीं रहती। समझ में आया इसमें? धन्धे के कारण इसमें मुश्किल से कभी ऐसी बात आवे, उसमें सिर घूम जाता है। सूर्यकान्त! समझ में आया? आहाहा! वह तेरा घर नहीं। उस घर से तेरा घर भिन्न। तेरे घर से वे दूसरे के घर भिन्न। इसलिए इसे मेरा घर कौन? उसे देखना रहा।

मुमुक्षु : वास्तु कराते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह घर का वास्तु चलता है, देखो न यह। समझ में आया?

भाई! तू कहाँ है? तू कहाँ है? कितना है? कैसा है? मैं भगवान आत्मा रागादि से भिन्न हूँ, ऐसा वह ज्ञायक पुकारता है। यहाँ तो अभी ऐसा कहते हैं। क्या कहते हैं? उस ज्ञायक पर नजर जाने से, विकार और पर से भिन्न ऐसी नजर जाने पर, उस ज्ञायक में ऐसी सामर्थ्य है, उसमें एक-एक गुण की ऐसी सामर्थ्य है कि उसकी श्रद्धा में आ सके, ज्ञान में आ सके, उसका आनन्द प्रमेय हो सके, उसका कर्तापना पर में नहीं-ऐसा ज्ञान में आ सके, अपने गुण की दशा का कार्य कर सके, ऐसे गुण को प्रमेयरूप से कर सके। ऐसा एक-एक आत्मा, भगवान आत्मा विराजमान, उस भूतार्थ का निर्णय और ग्रहण हो सकता है। समझ में आया?

इसमें कोई ऐसा कहे कि आत्मा ज्ञात नहीं होता। तो कहते हैं कि ज्ञात नहीं होता, ऐसा उसमें गुण नहीं है। ज्ञात नहीं होता, ऐसा कहनेवाला प्रमेय होने का गुण है, उसका निषेध करता है और सब गुण प्रमेय होने के योग्य है, उसका निषेध करता है अर्थात् आत्मा नहीं है, ऐसा निषेध करता है। न्याय समझ में आता है? मैं मुझे ज्ञात नहीं होता, ऐसा कहने से भगवान आत्मा... यहाँ आचार्य बहुत ही संक्षिप्त में संग्रहते हैं कि पर से भिन्न, ऐसे ज्ञात होने के योग्य तू है और तुझसे रागादि भिन्न, ऐसा तुझे तेरे जानपने में पर भिन्न है, ऐसा ज्ञात होने योग्य वे हैं। समझ में आया?

तू भगवान आत्मा, मैं मुझे ज्ञात न होऊँ। तो कहते हैं मैं ऐसी उसकी सत्ता है। मैं सत्ता मुझे न ज्ञात हो, इसका अर्थ कि उसमें प्रमेयपना अस्तिपने के गुण के साथ, अस्तिपने में भी प्रमेयपना व्याप्त है, इसलिए अस्तित्व का भाव वह नहीं ज्ञात होता, ऐसा कहनेवाला, अपने अस्तित्व का निषेध करता है। समझ में आया?

कहते हैं, यह भगवान आत्मा ऐसे निराला किया। कि भाई! ये काँच के टुकड़े और यह हीरा यह... समझ में आया? एक ओर काँच के लाख टुकड़े तथा एक ओर हीरा। वह हीरा काँच के टुकड़ों से भिन्न और उस हीरा से काँच के टुकड़े भिन्न। कहो, समझ में आया? अब भिन्न हुए, वहाँ नजर कहाँ गयी? जो जाननेवाला है, उस पर नजर गयी। वह कहाँ जाननेवाला है यहाँ? समझ में आया? पुण्य और पाप, शरीर, वाणी वे कहीं जाननेवाले नहीं हैं। वे तो ज्ञात होनेयोग्य हैं। परन्तु कब? कि स्व ज्ञात होने योग्य है, ऐसी दृष्टि हुई

(तब)। यह आत्मा ज्ञात होनेयोग्य है, आत्मा श्रद्धा के योग्य है, आत्मा स्थिरता के योग्य है, आत्मा आनन्द प्रगट कर सके और पूर्णानन्द की मुक्ति प्राप्त करे, ऐसी योग्यता आत्मा में है। समझ में आया? जहाँ ऐसे आत्मा पर नजर पड़ी... यह टुकड़ा, वह हीरा नहीं और हीरा, वह काँच का टुकड़ा नहीं; इसी प्रकार भगवान चैतन्य हीरा, वह विकार और पुद्गल नहीं। वह विकार, पुद्गल में जाता है और वह विकार तथा पुद्गल, वे आत्मा नहीं। तब अब नजर कहाँ गयी? देखनेवाले में गयी। वह कहाँ देखना रहा? वह तो व्यवहार से देखनेयोग्य है। रागादि तो व्यवहार से देखनेयोग्य है। कब? कि आत्मा ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द प्रभु आत्मा आनन्दकन्द है, ऐसा उसे प्रमेय बनाकर ज्ञान हुआ, तब रागादि वह व्यवहार से जाननेयोग्य हुए। ओहोहो! यह व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा आया या नहीं? भाई। आहाहा! गजब शैली! वस्तु के स्वरूप की शैली ही ऐसी है। चारों ओर से सत्य ही खड़ा होता है। कहो, रतिभाई!

मुमुक्षु : इतने में यह समाहित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समाहित है। इस इष्टोपदेश का पूरा विस्तार करके हमें यह कहना है। यह तो फिर शिष्य के लिए बहुत विस्तार कर गये। यह भी कहेंगे कि विस्तार किया, वह (भी) अभिनन्दनीय है। समझ में आया? आहाहा!

तेरा भगवान तत्त्व, महिमावाला पदार्थ है। प्रभु! वह प्रभुता प्रमेय हो सके, ऐसी तुझमें सामर्थ्य है। पामरता प्रमेयरूप हो, ऐसी सामर्थ्य तुझमें नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आत्मा रागरूप है, ऐसा प्रमेय हो—ऐसा तो तुझमें नहीं। वजुभाई! आत्मा शरीररूप है, ऐसा आत्मा प्रमेय हो, ज्ञान में ज्ञात हो—ऐसा तो नहीं परन्तु आत्मा अल्पज्ञ है, ऐसा ज्ञात हो—ऐसा वह आत्मा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ '**भूतार्थस्य संग्रहः**' (कहा है)। ज्ञानमूर्ति, सर्वज्ञमूर्ति आत्मा है, सर्वज्ञस्वरूप आत्मा है, अनन्त आनन्दस्वरूप आत्मा है, अनन्त बलस्वरूप आत्मा है। अनन्त-अनन्त स्वच्छता और प्रत्यक्ष स्वसंवेदन हो, स्वसंवेदन हो, प्रत्यक्ष होने के योग्य है। समझ में आया? वह परोक्ष रहने के योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

आत्मा माना कब कहलाये? कि पर से भिन्न, इसलिए उसका ज्ञान पहले करना नहीं। यह सत् पर से भिन्न, उससे भिन्न। ऐसा जहाँ आत्मा के अनन्त गुणरूप का ज्ञान होने

पर उसके प्रत्येक गुण का स्वरूप अभेद दृष्टि में आ गया। अर्थात् गुण के गुण का लाभ क्या है ? यह भी उसकी श्रद्धा होने पर आ गया कि इस प्रमेयगुण का लाभ यह है कि ज्ञान में यह ज्ञात होवे ही। यह प्रमेयगुण का लाभ है कि उसका आनन्द है, वह उसके ज्ञान में ज्ञात हो। उसके प्रभुत्व प्रमेयगुण का लाभ कि उसमें प्रभुत्व, परमेश्वरता है, उसके ज्ञान में ज्ञात हो। समझ में आया ? लो, और दूसरे प्रकार से यह आया। प्रवीणभाई ! आहाहा !

कहीं मूल बात है, इस चैतन्य का इसने मन्थन किया ही नहीं। मर गया सब कर-करके। ऐसे देख-देखकर। परन्तु यह भिन्न है, उसे देख और तुझसे भिन्न को देखने जाता है, वहाँ यह पूरा रह जाता है। आहाहा ! समझ में आया ? तुझसे भिन्न को देखने जाने पर भिन्न रह जाता है और यह सत्य इसका दिखायी नहीं देता। तुझे सत्य देखे बिना पर सच्चा व्यवहाररूप से भी दिखेगा नहीं। आहाहा ! कहो, हरिभाई ! क्या ऐसी बात होगी ? गजब यह अगम-निगम की बात ! बापू ! तू अगम-निगम का नाथ है। समझ में आया ? ओहो.. !

भगवान आत्मा राग, पुण्य-पाप के भाव से भिन्न और आत्मा से वे भिन्न, यह पूरे तत्त्व के संग्रह का सार है, ऐसा भान होने पर, ऐसा भान होने पर उस आत्मा में अनन्त गुण का स्वपना-उसका मैं स्वामी हूँ, ऐसा उसका गुण है, यह भान हो जाता है परन्तु मैं राग का, शरीर का, मकान का मालिक हूँ, यह बात उसकी दृष्टि में, आत्मा माननेवाले को रहती नहीं है। पण्डितजी ! आहाहा ! भगवान आत्मा अपने अनन्त गुण के स्व का स्वामी है, ऐसे पर से भिन्न का भान होने पर, वह आत्मा अपने अनन्त गुण की लक्ष्मी का (स्वामी हुआ)। यहाँ मुक्ति की लक्ष्मी कहेंगे, हों ! आगे। आगे कहीं लेंगे। सम्पत्तिरूप मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है। उस ओर पीछे है। **सम्पत्तिरूप मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।**

दूसरी लाईन है। **वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनन्त ज्ञानादि गुणों को और सम्पत्तिरूप मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।** चिमनभाई, उस ओर पीछे के पृष्ठ पर है। इस धूल की लक्ष्मी नहीं, परन्तु अपनी लक्ष्मी, ऐसा कहते हैं। देखो ! है ? कथन की पद्धति ऐसी है कि ऐसा बहुत संक्षिप्त (कहते हैं)। भगवान आत्मा अपने अनन्त गुण सम्पन्न को जहाँ एक बार लक्ष्य में, श्रद्धा में लिया, तब वह आत्मा अपने गुण का और पर्याय का स्वामी है, ऐसा उसमें गुण है, परन्तु उसमें ऐसा गुण नहीं कि दया, दान, व्यवहार हो, उसका स्वामी हो या शरीर लक्ष्मी का स्वामी हो, ऐसा उसका गुण नहीं है।

मुमुक्षु : तीन काल में नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, तीन काल में नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

पुद्गल से भिन्न कहने पर पुद्गल का स्वामी है, ऐसा इसमें है नहीं। व्यवहार दया, दान के विकल्पों से, पुद्गल से भिन्न कहने पर वह भगवान आत्मा व्यवहार का स्वामी है, यह उसमें गुण नहीं है। आहाहा! उसमें यह गुण है नहीं। समझ में आया?

कहते हैं वह वस्तु, वह सत्यार्थ आत्मरूप भगवान, पूरा आत्मरूप। है न? **तत्त्व का सम्पूर्णरूप से ग्रहण (निर्णय) हो जाय।** यह भाषा है। है न? देखो! '**असौ विधीयते आत्मनस्तत्वस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन**' देखो! क्या कहा? सम्पूर्णरूप से। भगवान आत्मा के जितने गुण हैं, उनके सम्पूर्णरूप से उनका निर्णय ज्ञान में आ जाता है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा में जितने गुण हैं, आत्मा तो द्रव्य हुआ, परन्तु उसके गुण तो अनन्त हैं, अनन्त-अनन्त हैं। आकाश के प्रदेश से भी अनन्त गुणे गुण आत्मा में हैं। समझ में आया? आकाश, आकाश, खाली ऐसे-ऐसे चला जाए, उसके प्रदेश की संख्या से आत्मा में एक जीव में उसकी अपेक्षा अनन्तगुणे गुण संख्या से हैं। '**सामस्त्येन**' **सम्पूर्णरूप से ग्रहण (निर्णय) हो जाय।** समझ में आया?

पर से भिन्न और मुझसे वे भिन्न। बस, वहाँ इसे आत्मा '**सामस्त्येन**' सभी गुण सम्पन्न, उसका उसके ज्ञान में ग्रहण और निर्णय हो जाता है। आहाहा! जरा सूक्ष्म पड़े, मस्तिष्क दे तो काम आवे ऐसा है। यह बात थोड़े दूसरे प्रकार की आ गयी है। ऐई! कहाँ गये? हमारे वे?

मुमुक्षु : गले उतारी....

पूज्य गुरुदेवश्री : गला भी चौड़ा हो, वह उतरे या...? आहाहा!

अरे! भाई! तूने कभी तेरी दरकार नहीं की। तू कितना गुण से? और उन-उन गुण के गुण क्या? उन-उन गुण के गुण अर्थात् कार्य, ऐसा। भाई! गुण का गुण क्या? '**सामस्त्येन**' भगवान आत्मा पर से भिन्न, आत्मा से वे रागादि भिन्न, ऐसे नजर पड़ने पर सत्यार्थ, भूतार्थस्वरूप जाननेवाले को जानने में समस्तरूप, उसका निर्णय और ज्ञान हो जाता है। आहाहा! अनन्त गुणों का ज्ञान, उस गुण का कार्य क्या? ज्ञान का कार्य जानना, श्रद्धा का

कार्य श्रद्धा करना, आनन्द का कार्य प्रगट आनन्द आना, स्वच्छता का कार्य स्वच्छतारूप से परिणमना। समझ में आया ? प्रकाश नामक गुण का कार्य आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाना, प्रत्यक्ष आत्मा का होना, ऐसे '**सामस्त्येन**' गुणों का निर्णय और ज्ञान हो जाता है। ओहोहो! समझ में आया इसमें ? चिमनभाई! यह दूसरे प्रकार का आया तुम्हारे वास्तु में।

वस्तु को वास्तु कहते हैं। वस्तु में बसे हुए अनन्त गुण, उसे वस्तु कहते हैं। वस्तु क्यों कहते हैं ? आत्मा को वस्तु क्यों कहते हैं ? '**सामस्त्येन**' शब्द लिया है न ? वह वस्तु आत्मा में अनन्त गुण बसते हैं, इसलिए वस्तु कहते हैं। पण्डितजी! आहाहा! यह गोम्मटसार में है। वस्तु आत्मा। अनन्त गुण बसे, उसे वस्तु कहते हैं। वह वस्तु, अनन्त गुणोंसहित वस्तु, रागादि से भिन्न नजर करने पर, इनसे भिन्न उसकी नजर नहीं अब। इससे पुद्गल आदि, रागादि भिन्न, ऐसा नहीं। परन्तु रागादि से, विकल्प से भगवान भिन्न, ऐसी अन्तर नजर करने पर भूतार्थ के समस्त गुणों का निर्णय और ज्ञान उसकी पर्याय में आ जाता है। आहाहा!

दूसरी भाषा में कहा कि उसका निर्णय होने पर समस्त और **सम्पूर्णरूप से..** जितने गुण हैं, उनकी निर्मल दशा का प्रगटपना, उसके निर्णय और ज्ञान में वर्तमान प्रगट-व्यक्त हो जाता है। समझ में आया ? गजब बात, भाई! इतना आत्मा! मुझे तो एक बीड़ी में खो गया। सेठ! एक पाँच-पचास लाख मिले तो उसमें खो गया, डूब गया। आहाहा! और पैसा, मेरे स्त्री, मेरे पुत्र, मेरे राग, मेरे पाक, मेरे अंग सुन्दर, मेरे अंग ऐसे कोमल, अरे! परन्तु तेरे नहीं और यह कहाँ लगा ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : लड़के किसके गिनना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उनके, उनके। कहा न ? भिन्न कहा न! किसके लड़के होंगे ?

मुमुक्षु : भिन्न होवे तो फिर क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ देखना, ऐसा कहते हैं।

जो आत्मा से भिन्न हैं, उन्हें देखकर तुझे क्या काम है ? समझ में आया ? उनसे तो तुझे कुछ कार्य होता नहीं। भिन्न से तुझमें कार्य होता नहीं, तो उन्हें देखकर तुझे क्या काम है ? उनसे काम तो लेना नहीं। समझ में आया ? तुझसे, भिन्न से काम लेना तो बन नहीं सकता। राग से भी आत्मा कुछ काम नहीं ले सकता। शरीर से भी कुछ काम नहीं ले

सकता। आत्मा के गुण के कार्य के लिए परपदार्थ का राग दया, दान द्वारा भी आत्मा का कुछ कार्य नहीं हो सकता। आहाहा! भिन्न का भिन्न से भिन्न में काम नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा अपनी वस्तु में पर से भिन्न है, ऐसा जानने पर, अपना भूतार्थ अर्थात् सत्यस्वरूप, उसमें बसे हुए अनन्त गुण उनका सम्पूर्ण, उनके ज्ञान में, उनके निर्णय में, उनके ज्ञान की प्रमाणता में, सब प्रमाणपना आ जाता है। आहाहा! समझ में आया? कहो, धीरुभाई! समझ में आया या नहीं इसमें? यह ऐसा सूक्ष्म! कहते हैं। परन्तु तू कितना सूक्ष्म भगवान है? राग से काम नहीं ले सकता इतना। शरीर से तो काम नहीं ले सकता। वह तो पर, मिट्टी, धूल है। आहाहा! पुद्गल कहो, यहाँ कहा है, ऐसा कहो न! यहाँ पुद्गल कहा। तो पुद्गल से आत्मा कार्य कर सके, पुद्गल से काम ले सके, ऐसा आत्मा में नहीं है। क्योंकि वे भिन्न हैं। दया, दान, व्रत के परिणाम भी पुद्गल हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं। उनसे आत्मा काम ले सके, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा! अब इसे स्त्री, पुत्र ठीक हो, खाने का ठीक हो, मकान ठीक हो, सोने का ठीक हो तो फिर कुछ ध्यान-ब्यान हो सके। मूढ़ है, कहते हैं। सेठ! समतौलता किसकी? तुझमें या पर में? पर की समतौलता वह तुझमें कहाँ है? त्रम्बकभाई!

मुमुक्षु : पर की समतौलता होवे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसे घर में पर की समतौलता? वह उसके घर में रही। वह यहाँ कहाँ काम आती है। पर की समतौलता यहाँ कहाँ काम आवे, ऐसी है?

मुमुक्षु : परन्तु पर की समतौलता का अर्थ क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पर की समतौलता अर्थात् क्या? उसकी व्यवस्था प्रमाण उसकी पर्याय चलती है। समझ में आया? परपदार्थ की उसकी व्यवस्था की अवस्था उसके कारण से क्रमसर चलती है। वह व्यवस्था तुझे किस काम की? तुझे कार्यगत क्या है? उससे तेरा क्या कार्य सिद्ध होता है? समझ में आया इसमें? मुकुन्दभाई! क्या है यह? मार डाला यह सब... यह हम बढ़े, यह हम ऐसे, यह छोटे परन्तु छोटे-बड़े की अवस्था ही पर में है। तुझमें है नहीं। समझ में आया? ऐसा स्वरूप भगवान आत्मा एक समय में एक द्रव्य होने पर भी... भाषा कैसी ली है?

सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्व का सम्पूर्णरूप से ग्रहण (निर्णय) हो जाय। आहाहा! भगवान आत्मा... धीर होकर धीरे से देख तेरा धीरज का रूप। धीरज अर्थात् तेरा शान्तरूप है, ऐसा। समझ में आया? धीर होकर, धीर होकर धीर तेरा स्वरूप, वह धीर ऐसी बुद्धि, धीर प्रेरती उस बुद्धि को अन्तर में प्रेर।

मुमुक्षु : उसका नाम धीर।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका नाम धीर। आहाहा! पुण्य-पाप जो...

मुमुक्षु : जो बुद्धि को प्रेरे।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रेरे। धीर.. धीर.. धी.. धी.. बुद्धि को प्रेरे, वह धीर। अपनी बुद्धि को अन्तर में प्रेरे, वह धीर और वह धीमन्त। वह धीमन्त और वह श्रीमन्त। यह दो आ गये इसमें और। ऐई! यह लोग कहते हैं न कि ये लोग श्रीमन्त हैं और धीमन्त हैं। कहो, कितने ही धीमन्त होते हैं और श्रीमन्त नहीं होते। कितने ही श्रीमन्त होते हैं और धीमन्त नहीं होते। यह तो धीमन्त और श्रीमन्त दोनों आत्मा। समझ में आया? कहीं बुद्धिवाला हो, पैसा न हो। या पैसा पाँच करोड़ हो और बुद्धि समझने जैसी हो। समझने जैसी अर्थात् ठोठ विद्यार्थी जैसी। समझ में आया? और कोई पुण्य के कारण बुद्धिवाला भी हो। परन्तु यहाँ तो धीमन्त और श्रीमन्त एक साथ आत्मा है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, भगवान आत्मा एक समय में.. **सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्व का सम्पूर्णरूप से..** ओहोहो! टीका करनेवाले ने भी कितना कहा है, देखो! क्योंकि दो भिन्न किये हैं न? इसलिए दो भिन्न में सम्पूर्ण इसे ग्रहता है, ऐसा कहते हैं। पण्डितजी! यह दो भिन्न कहे न? यह दो भिन्न कहे, इसलिए इसे पूरा ग्रहण करता है, ऐसा कहते हैं। इसे पूरा ग्रहण करता है, ऐसा कहते हैं। इसे पूरा ग्रहण करता है। अभेद को ग्रहण करता है। आहाहा! कोई मुनि मिले हैं अर्थकार। समझ में आया?

भगवान अनन्त गुण का पुंज, अनन्त गुण की बस्ती का बसनेवाला, उस बस्ती का रखनेवाला आत्मा। वह वस्तु... वस्तु। उस वस्तु को कहते हैं कि पर से भिन्न देखने पर, समस्त गुण जितने बसे हैं, उन सबका निर्णय उसके ज्ञान में आ जाता है। उसे ऐसा नहीं लगता कि अरे! मुझे ज्ञात होता है या नहीं? अरे! यह प्रत्यक्ष होता है या नहीं? अरे! मुझे

भव होंगे या नहीं ? यह भाव उसे नहीं होता। भवरहित भाव को भाने से मुझे भव है, ऐसी शंका ज्ञानी को नहीं होती। आहाहा! पण्डितजी! समझ में आया ?

मुमुक्षु : ज्ञानी को शंका नहीं रहती कि मुझे भव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे भव है ही नहीं, परन्तु भव का कारण राग स्वभाव में नहीं है। मेरा स्वभाव ही मुक्तस्वभाव है। इसलिए आगे मुक्ति लेंगे। समझ में आया ? आहाहा! मुक्ति की सम्पदा, अनन्त गुण की सम्पदा का स्वरूप, ऐसा भगवान आत्मा है, उसे पर से भिन्न, संक्षिप्त में सार में कहने पर इस भगवान आत्मा की अन्तर भिन्नता से भेद करके देखने पर उसे आत्मा का सच्चा भूतार्थ सब गुणस्वरूपसहित का, उसके ज्ञान में निर्णय और ज्ञान हो जाता है। आहाहा! अर्थात् मैं मुझे प्रमेय नहीं हो सकता, यह बात उसे नहीं रहती।

मुमुक्षु : प्रमेय का गुजराती अर्थ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रमेय अर्थात् ज्ञान होनेयोग्य। ज्ञात होनेयोग्य मैं न होऊँ, ऐसा नहीं होता। मैं तो ज्ञात होनेयोग्य ही त्रिकाल हूँ। समझ में आया ? मैं मुझे ज्ञात न होऊँ, ऐसे ज्ञानी को अर्थात् कि आत्मा के जाननेवाले को नहीं रहता। मैं मुझे न श्रद्धूँ, यह श्रद्धा हुई या नहीं ? वह मुझे ज्ञात नहीं होता, ऐसे आत्मा को जानने से यह बात नहीं रहती। समझ में आया ? आत्मा को जानने से मुझे भव होंगे या नहीं ? भगवान के ज्ञान में भव देखे होंगे ? ऐसे आत्मा को जानने पर यह भाव उसे नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया ? अल्प काल में मेरी पूर्ण सम्पदावाली लक्ष्मी, पर्याय में अल्प काल में प्राप्त होगी, ऐसा उसमें गुण है। ऐसे गुणवाले की प्रतीति की है, इससे अल्प काल में मुक्ति और केवलज्ञान को प्राप्त करेगा। ऐसे समस्त गुण के कार्य में इस गुण का कार्य भी आ गया है। आहाहा! समझ में आया ?

मुमुक्षु : वाणी का प्रवाह बराबर आज छूटा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आज फिर सवेरे लड़कों के साथ प्रमेयत्व का (विषय) चला था, तो फिर यहाँ भी यह आया। समझ में आया ?

मुमुक्षु : रोजाना दो-दो बोल आवे तो अच्छा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे कहाँ ? वह तो निकले तो। वह था न ? भरत कहाँ गया ? जमुभाई का। तुम्हारा भरत था। उसे पूछा कि ऐ! प्रमेय हो जाए ? तो कहे - हाँ! फिर और

अन्त में भूल गया। आत्मा नहीं ज्ञात होता... अन्त में कहा था न... आत्मा नहीं ज्ञात होता, इसमें क्या दोष आता है ? वह नहीं बोल सका कि आत्मा नहीं ज्ञात होता, इसमें क्या दोष आता है ? यह तो कहा, प्रमेय से आत्मा ज्ञात हो तो दोष आवे और न ज्ञात हो तो प्रमेय नहीं ज्ञात हो, ऐसा। भरत आया है या नहीं ? ठीक। समझ में आया ? यह तो लड़के भी अन्दर भगवान है न ! उसे कहाँ ? उसकी हड्डियों को न देख, छोटा-बड़ा और काला-सफेद हो मुफ्त का। समझ में आया ? बनिया और यह अमुक है, धूल है। कोई नहीं, वह तो अन्दर आत्मा है। वह आत्मा अखण्डानन्द प्रभु है, उसे देख ! दूसरे का आत्मा तू देख। उसे शरीर द्वारा आत्मा, ऐसा न देख। आहाहा ! समझ में आया ? उसे ऐसा शरीर है, उसे ऐसा राग है, उसे इतने कर्म हैं - ऐसे उसे न देख। क्यों ? - कि राग और शरीर, कर्म से भगवान भिन्न है। तो भिन्न जाननहार दूसरे को भी इस प्रकार से भिन्न जानता है। वह भले भिन्न न जाने। समझ में आया ? परन्तु उसमें भिन्न जानने की सामर्थ्य है, ऐसे आत्मा को तू जान। समझ में आया ? यह गुजराती आया न, गुजराती; इसलिए जरा अधिक स्पष्ट हुआ। उसमें जरा अटकना पड़ता है। यह कहा। अब अन्तिम दिन है न, पश्चात् क्या ! आहाहा !

कैसा कहते हैं ! '**सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात्**' हो जाता है - ऐसा कहते हैं, भाई ! '**स्यात्।**' होता है, होता है। आहाहा ! भगवान आत्मा अपने अनन्त गुणरूप एक, अपने अनन्त गुणरूप एक, ऐसे आत्मा समस्त भूतार्थपना पर से भिन्न करने से। भिन्न कहने से, करने से, वह भगवान भिन्न ज्ञान और निर्णय में आ जाता है। वह कृतकृत हो गया, उसे कुछ बाकी नहीं रहता। समझ में आया ? उसके ख्याल में आ गया कि यह चारित्र भी अल्प काल में स्थिरता को (प्राप्त हो जाएगा)।

सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्व का सम्पूर्णरूप से ग्रहण (निर्णय) हो जाय। यह इतने की व्याख्या चलती है। समझ में आया ? पण्डितजी ! टीका में लिखा है। इतने में तो सब भरा पड़ा है। आहाहा ! भगवान आत्मा... यहाँ तो कहते हैं कि भाई ! यह आत्मा जिसे ज्ञान में आया, उसे यह सर्वज्ञस्वभावी आत्मा सर्वज्ञ होगा ही, ऐसा उसके ज्ञान में निर्णय में आ जाता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : फिर यह संसार का मिथ्या प्रयत्न पुद्गल का.....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके घर में रह गये वे। संसार के प्रयत्न रह गये पुद्गल में,

आत्मा में है नहीं, भगवान आत्मा में है नहीं। भगवान आत्मा एक समय में पुद्गल से भिन्न, इतना कहनेमात्र में, पुद्गल से भिन्न इतना कहनेमात्र से उसका पूरा रूप, अनन्त गुणसहित का प्रभु आत्मा का रूप, उसका निर्णय और ज्ञान में आ जाता है। उसे अब ऐसा नहीं लगता कि ये सब आत्मा सर्वज्ञस्वरूप होंगे या नहीं? सब आत्मा सर्वज्ञस्वरूप है। समझ में आया? मैं सर्वज्ञस्वरूप हूँ, ऐसा निर्णय होने पर अल्प काल में मेरी सर्वज्ञ की व्यक्तता होगी, ऐसा निःसन्देह आत्मा को जानने पर उसमें रूप आ जाता है। कोई कहे कि अपने को खबर नहीं पड़ती (तो कहते हैं), तू आत्मा को नहीं जानता। समझ में आया? वह किस प्रकार ज्ञात हो? सर्वज्ञपद होगा? होगा अर्थात् क्या? है न। समस्त रूप में सर्वज्ञपद तो श्रद्धा में आ गया है। सर्वज्ञपद आत्मा है, वह श्रद्धा में, ज्ञान में आ गया है। प्रमेय होकर ज्ञान आ गया है। वह ऐसा पुकार करता है कि यह सर्वज्ञपद अल्प काल में व्यक्तरूप हो जाएगा। मैं गिरूँगा और फिर भटकूँगा... शास्त्र में आवे, यह बात उसे नहीं रहती। समझ में आया? तुझे आत्मा जँचा और फिर अभी (यह प्रश्न)? कहाँ गिरना है? कहाँ से गिरना है? आत्मा का अभाव हुआ है? गिरना है अर्थात्? आत्मा का अभाव होना है? समझ में आया?

मुमुक्षु : ऐसी जोरदार बात सुनने को नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो सच्ची है एक न्याय से। आहाहा!

प्रभु! तेरी प्रभुता, परमेश्वरता जहाँ अन्दर समस्त गुण में प्रतीति में आयी, तो वह परमेश्वरपना स्वतन्त्ररूप से और पर के आधार बिना, स्वतन्त्ररूप से पर के आधार बिना प्रगट हो, ऐसी उसे आत्मा की प्रतीति होने पर, उसके गुण की, मेरे गुण की दशा के कार्य में किसी का आधार नहीं है। मेरी दशा के कार्य में किसी गुण का, किसी दूसरे का आधार नहीं है। मेरी केवलज्ञान की पर्याय के लिए मुझे मेरा ही आधार है। ऐसे आधार नामक गुण को ले तो प्रतीति की है। कहो, समझ में आया? यह गजब बात भाई! यह नये प्रकार की निकली है, हों! यहाँ तो। यहाँ तो ये शब्द पड़े हैं। देखो न! पूज्यपादस्वामी कहते हैं हम तत्त्व को थोड़े में कहेंगे। ५०वीं गाथा। समझ में आया? ५०वीं गाथा अर्ध सैकड़े की है।

मुमुक्षु : इतने में सब आ गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो न तुम, आता है या नहीं इसमें? तुम इंजीनियर हो। बड़े

इंजीनियर, साढ़े आठ सौ का वेतन और बारह सौ का वेतन सरकार देती थी तो नहीं लिया और फिर इसमें तो पढ़ो। समझ में आया? ऐसा कुछ कोई कहते थे। सरकार कहे, बारह सौ का लो। तो यह कहे नहीं, अब नहीं। फिर भले अभी व्यापार करे। यह मुकुन्दभाई और सब इकट्ठे... कहो, समझ में आया इसमें?

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा के अनन्त गुणों में किस-किस गुण के कार्य, उस-उस गुण को प्रतीति में गुणी को लेने से, उसके अनन्त गुण के कार्य धारावाही परिणमित होंगे और वह परिणमन पूरा होगा, ऐसा निर्णय लेने से आत्मा भूतार्थ श्रद्धा में प्रगट होता है। आहाहा! समझ में आया?

और जो कुछ इस तत्त्व-संग्रह के सिवाय.. लो, यह इतनी सार बात के अतिरिक्त **भेद-प्रभेद आदिक विस्तार में सुनने की रुचि-इच्छा रखनेवाले..** देखो! ऐसा कहा है, हों! वह इच्छा रखनेवाले। हम कहेंगे नहीं, परन्तु वे हैं तो ऐसा कहा। क्या कहते हैं? - कि इसके अतिरिक्त संक्षिप्त में जिसे समझने कि शक्ति आदि न हो, ऐसे जीव शिष्य होवे या **विस्तार में सुनने की रुचि-इच्छा रखनेवाले..** परन्तु सुननेवाले को विस्तार से रुचि और जिज्ञासा है। संक्षिप्त में इतना (कहा) परन्तु मुझे बहुत विस्तार चाहिए, ऐसे रुचिवाले को, यहाँ से लिया, देखो! हम उसे समझावें ऐसे को... **शिष्यों के लिए आचार्यों ने कहा है,...** ऐसे के लिए आचार्यों ने कहा है। आहाहा! ऐसे शिष्यों के लिए आचार्यों ने कहा है। **वह सब इसी का विस्तार है।** कहा है परन्तु इसका विस्तार है।

पुद्गल से आत्मा भिन्न और आत्मा से पुद्गल भिन्न, यह इसका सब विस्तार है। यह सिद्धान्तसूत्र। चार पैसे सेर तो मण का ढाई। फिर उसके पड़खे डालना अर्थात् साढ़े सत्तर सेर, साढ़े अढ़तीस सेर, साढ़े उनचालीस सेर, जितना डालना हो उतना डाल। समझ में आया? फिर विस्तार से समझना हो। परन्तु तुम्हें चार पैसे सेर और मण को ढाई कहते हो। पण्डितजी! समझते हो? चाबी होती है या नहीं? एक सेर के चार पैसे, एक आना तो मण के ढाई रुपया। तो कहे, भाई! पौने उन्नीस का कितना? तो उसे कहे कि यद्यपि यह तो इसमें आ गया परन्तु तुझे भिन्न समझाते हैं। पौने उन्नीस सौ का पौने उन्नीस आने। समझ में आया?

कहते हैं कि **विस्तार में सुनने की रुचि-इच्छा रखनेवाले शिष्यों के लिए आचार्यों ने कहा है,...**

मुमुक्षु : गुरु चाबी तो एक ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके—आत्मा के भेदज्ञान के लिए वस्तु तो यह एक ही है।

मुमुक्षु : मूल तत्त्व यह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल यह है। एक चोट और दो टुकड़े। भगवान आत्मा पुद्गल से भिन्न, बस, ऐसा भिन्न ज्ञान होने पर उसे समस्त आत्मा की ऋद्धि की प्रतीति के कार्य की प्रतीति आ जाती है। गुण की प्रतीति, उसके कार्य की प्रतीति और द्रव्य की प्रतीति सब आ जाती है। बस, यह पूरे चौदह पूर्व का सार यह है, ऐसा कहते हैं।

विस्तार समझना चाहता हो तो **वह सब इसी का विस्तार है।** भेद-प्रभेद। **इसी एक बात को... इसी एक बात को 'जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है'** यह **समझाने के लिए ही कहा गया है।** विस्तार से कहा वह भी इसके लिए कहा है। **जो विस्तार किया है।** वह भी इसके लिये किया है। क्या? इसी बात को कि जीव जुदा और पुद्गल जुदा—यह समझाने के लिये ही कहा गया है। भगवान! तेरे आत्मा से यह पुण्य-पाप का विकल्प भिन्न और पुण्य-पाप के विकल्प से तेरा आत्मा भिन्न है। इसका विस्तार समझाकर यह समझाना है। समझ में आया? फिर शरीर की क्रिया कर सकते हैं या नहीं? दूसरे की दया पाल सकते हैं या नहीं? तुझे भान नहीं, यह कहा न? शरीर आदि परवस्तु, परवस्तु के गुण-पर्याय और द्रव्य का यहाँ काम नहीं, फिर पर को पाल सकता हूँ - यह है कहाँ? समझ में आया? ... पण्डितजी! .... पुद्गल तुझसे भिन्न है, यह कहने पर, पर के काम भिन्न है - यह बात गर्भित में आ गयी। विस्तार किया तो भी यह आया।

मुमुक्षु : प्रभेद में...

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभेद में नहीं। इसी और इसी में आया। समझ में आया? भाई! शरीर के कार्य तेरे नहीं। ऐसा तुझे भिन्न कहने पर वे तेरे काम नहीं-यह इसमें आ गया। विस्तार से समझाते हैं - ऐसा कहते हैं। इस जीव को बचा सकता नहीं, हिंसा कर नहीं सकता, झूठ बोलने की भाषा तेरी नहीं...। यह विस्तार से समझावे तो क्या? बात तो जीव और पुद्गल भिन्न-यह विस्तार इसके लिये है।... इसका नाम इष्टोपदेश है। आत्मा का मोक्ष और मोक्ष का उपाय आत्मा की ओर का ध्यान। पर से लाभ हो - यह इष्टोपदेश नहीं। समझ

में आया ? और जिससे संसार मिले, वह इष्टोपदेश नहीं। निमित्त तो परवस्तु हुई। परवस्तु से लाभ हो तो भिन्न रहा नहीं। समझ में आया ? निमित्त भिन्न, व्यवहार भिन्न पर से आत्मा भिन्न और आत्मा से पर भिन्न - यह बात कहने पर इसमें आ जाता है। क्रमबद्ध भी इसमें आ जाता है। जानने-देखनेवाला भगवान आत्मा जो होता है, उसे व्यवहार से जानता है। तुझमें होता है, उसमें तन्मय होकर तू जान। समझ में आया ? यह बात तो जीव और पुद्गल भिन्न में सब सार संक्षेप में आ जाता है। विस्तार किया समयसार बन्ध अधिकार में (कि) इस जीव को ऐसा होता है। यदि जिलावे तो तू आयुष्य दे सकता है ? ....सब विस्तार किया। समझ में आया ? यह इसमें भरा है। **समझाने के लिए ही कहा गया है-विस्तार किया है।** और आचार्य जरा टीकाकार...

उसको भी हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। अभिनन्दन कहते हैं। विस्तार से कहा हो, किसी की इतनी बुद्धि न हो, (इसलिए) विस्तार से कहा हो, आचार्य अभिनन्दन देते हैं। विस्तार से कहा प्रभु! हमारे हित के लिये (कहा)। अभिनन्दन देते हैं - ऐसा कहकर संक्षिप्त में और विस्तार में दोनों बातों को अनुमोदन दिया है। सार-सार की बात इस ५० गाथा में कही है। लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आचार्य शास्त्र के अध्ययन करने का साक्षात् अथवा परम्परा से होनेवाले फल को बतलाते हैं-

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमतां स्वमताद् वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वेन वा ,
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः।।५१।।

अर्थ - इस प्रकार 'इष्टोपदेश' को भली प्रकार पढ़कर-मनन कर हित-अहित की परीक्षा करने में दक्ष-निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञान से मान और अपमान में समता का विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने, ऐसा होकर नगर अथवा वन में विधिपूर्वक रहता हुआ उपमा रहित मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

विशदार्थ – इष्ट कहते हैं सुख को–मोक्ष को और उसके कारणभूत स्वात्मध्यान को। इस इष्ट का उपदेश यथावत् प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें, इसलिए इस ग्रन्थ को कहते हैं 'इष्टोपदेश'। इसका भली प्रकार व्यवहार और निश्चय से पठन एवं चिन्तन करके हित और अहित की परीक्षा करने में चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त–ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं – इस इष्टोपदेश के अध्ययन–चिन्तन करने से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान से मान–अपमान में राग–द्वेष को न करनेरूप समता का प्रसार कर नगर–ग्रामादिकों में अथवा निर्जन–वन में विधि–पूर्वक ठहरते हुए छोड़ दिया है बाहरी पदार्थों में मैं और मेरेपन का आग्रह अथवा हठाग्रह जिसने, ऐसा वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनन्त ज्ञानादि गुणों को और सम्पत्तिरूप मुक्ति–लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है 'यदा मोहात्प्रजायेते०'।।

जिस समय तपस्वी को मोह के उदय से मोह के कारण राग–द्वेष पैदा होने लगें, उस समय शीघ्र ही अपने में स्थित आत्मा की समता से भावना करे, अथवा स्वस्थ आत्मा की भावना भावे, जिससे क्षणभर में वे राग–द्वेष शान्त हो जावेंगे।।५१।।

दोहा – इष्टरूप उपदेश को, पढ़े सुबुद्धि भव्य।
मान अमान में साम्यता, निज मन से कर्तव्य।।
आग्रह छोड़ स्वग्राम में, वा वन में सु वसेय।
उपमा रहित स्वमोक्षश्री, निजकर सहजहि लेय।।५१।।

प्रवचन नं. ५६ गाथा-५१ रविवार, दिनाङ्क ०५-०६-१९६६
ज्येष्ठ कृष्ण २ (गुजराती), वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश की अन्तिम ५१वीं गाथा है। ५० गाथा हो गयी।

आचार्य शास्त्र के अध्ययन करने का साक्षात् अथवा परम्परा से होनेवाले फल को बतलाते हैं–

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमतां स्वमताद् वितन्य।

मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वेन वा,
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः।।५१।।

क्या कहते हैं ? **'इति इष्टोपदेशं सम्यक्'** नीचे। **इस प्रकार 'इष्टोपदेश' को भली प्रकार पढ़कर-मनन कर..** भले प्रकार से इष्टोपदेश में कहे हुए भाव, भले प्रकार से अन्तर में समझकर **हित-अहित की परीक्षा करने में दक्ष-..** अपना शुद्धस्वरूप, आनन्दस्वरूप, वही अपना हित, आदरणीय है; इसके अतिरिक्त सभी विकल्प आदि अहितकर, हेय है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : कब ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी। कब क्या ? जब से समझ में आया कि यह आत्मा... यह ५०वीं गाथा में आ गया है। जीव और पुद्गल दो में समावेश कर दिया है। भगवान आत्मा अपना अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप रखता है। वही स्वरूप अन्तर में प्रथम उपादेय, हितकर, आश्रय करनेयोग्य है। कहो, समझ में आया ? बाकी व्यवहारनय का विषय, शुभ-अशुभ आदि विकल्प हों, परनिमित्त हों, साक्षात सर्वज्ञदेव परमेश्वर हों, परन्तु वह व्यवहारनय का कथन है, विषय है। वह छोड़नेयोग्य है। समझ में आया ?

भली प्रकार पढ़कर-मनन कर हित-अहित की परीक्षा करने में दक्ष-निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञान से.. यह सार आया। पूरा इष्टोपदेश सुनकर इसे करना क्या ? यह तो नीचे कहेंगे। इष्ट अर्थात् अपना आनन्द; और वह आनन्द तो मोक्ष में है, ऐसा पूर्णानन्द आत्मस्वरूप में आनन्द है, उस ओर का ध्यान करना। उस मोक्ष, सुख और ध्यान—तीनों को यहाँ इष्ट कहा गया है। समझ में आया ? आत्मा सहजानन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसमें से प्रगट मोक्षदशा, जिसमें परम आनन्द है, उसे इष्ट कहते हैं और सुखरूपी मोक्ष को इष्ट कहते हैं और इष्ट अपना आत्मा अखण्ड आनन्दस्वरूप में एकाग्र होकर ध्यान करना, वह इष्ट है। समझ में आया ? दूसरा कोई इष्ट है नहीं।

भव्य अपने आत्म-ज्ञान से.. अपने ज्ञान में मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ, ऐसे शुद्ध आत्मा का आश्रय करके पवित्रता, सम्यग्दर्शन आदि प्रगट किया है, उस ज्ञान से **मान और**

अपमान में समता का विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह... क्या कहते हैं ? विशदार्थ में विशेष कहेंगे। अपना स्वरूप शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है। उसका आश्रय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद जिसने ले लिया है। डालचन्दजी ! धर्म-धर्म।

धर्म का अर्थ, जो धर्मी आत्मा, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द है। उस अतीन्द्रिय आनन्द का आश्रय करके पर्याय में—अवस्था में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अनुभव में लिया है, उसे धर्म और धर्मी कहते हैं। समझ में आया ? कहो, कोमलचन्दजी ! क्या कहते हैं ? इसमें कहीं दूसरी बात नहीं आती।

आत्मा अतीन्द्रिय प्रभु, आनन्द का पिण्ड ऐसा भगवान आत्मा, उसकी परिपूर्ण दशारूपी मोक्ष वह हितकर अथवा इष्ट है और अपने अतीन्द्रिय आनन्द के स्वरूप में सम्हाल करके एकाग्र होना, ध्यान, स्वरूप की एकाग्रता, उसमें आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का सम्यग्दर्शन-ज्ञान में स्वाद आया है, इस कारण से अपनी बाहर की महिमा में उसे मान उत्पन्न नहीं होता और महिमा के खण्डन में उसे अपमान उत्पन्न नहीं होता। इस कारण से। आत्मज्ञान से। इस प्रकार महिमा में अभिमान नहीं होता और खण्डन में दोष नहीं होता, यह तो स्थूल बाहर की बात है, वह चीज़ नहीं। वह तो बाहर में अनादि से किया है। अपने आत्मा के आनन्द के समक्ष समस्त बातें उसे फीकी लगती है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने उस आत्मा को अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप देखा है। ऐसी अपनी दृष्टि से अपने आत्मा को दृश्य अर्थात् दृष्टा से दृश्य करके, ज्ञेय से ज्ञान करके अपने आत्मा में इष्टपना, ध्यानपना, शान्तिपना, आनन्दपना जिसने प्रगट किया है। आहाहा ! समझ में आया ? उस आनन्द के समक्ष **मान और अपमान में समता का विस्तार कर..** चाहे वह पदार्थ अनुकूल हो या महिमा से मिलनेवाली चीज़ हो या महिमा का खण्डन करनेवाली अपमान की चीज़ हो... समझ में आया ? अपना आत्मा आनन्द और वीतरागस्वरूप है, ऐसी दृष्टि और ज्ञान हुआ है। इस कारण से मान-अपमान में समता का विस्तार करता है। राग और विकल्प का विस्तार न करके समता का विस्तार करता है।

'वितन्य' शब्द पड़ा है। पाठ में है न ? **'वितन्य'** पहले शब्द में अन्तिम शब्द है।

है न भाई ? **'वितन्य'** का अर्थ किया है न ? विशेषण, विस्तार। क्या है ? जरा सूक्ष्म बात है। अपना आत्मा.. पूरा शास्त्र समझकर करना क्या ? समझ में आया ? क्या करना ? शास्त्र बनाना ? दुनिया को समझाना ? समझ में आया ? क्या यह शास्त्र समझने का सार है ? समझ में आया ? यहाँ तो कहते हैं कि शास्त्र का सार समझकर, अपना आत्मा ज्ञानानन्द का भान हुआ, उस भान के आनन्द के स्वाद के समक्ष मान-अपमान के काल में अपने स्वभाव सन्मुख की समता का, वीतरागता का विस्तार करते हैं, उसका नाम इष्टोपदेश का फल कहने में आता है। समझ में आया ?

मान और अपमान में समता का विस्तार कर.. क्या कहते हैं ? बाह्य की सामग्री, इन्द्र आकर महिमा करे और साधारण निर्धन आदमी भी अपमान करे। दोनों में मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। अपने अतीन्द्रिय आनन्द की खान का स्वाद लिया है। ऐसे इष्ट का हितकर उपदेश का लाभ अन्तर में प्राप्त किया है, वह अपनी शान्ति का विस्तार करता है। विकल्प का विस्तार छोड़ता है। यह कहते हैं, देखो ! **समता का विस्तार कर..**

मुमुक्षु : मान में तो समता करे या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मान क्या ? पर का मान ? वह तो अभिमान है। क्या है ? उसमें कहाँ समता आयी ? पर का मान क्या ? मान किसे कहते हैं ? समझ में आया ? 'लही भव्यता मोटुं मान, पण अभव्य त्रिभुवन अपमान' जहाँ सर्वज्ञ परमेश्वर की आज्ञा प्रमाण अपने स्वरूप का भान हुआ और सर्वज्ञ ने स्वीकार किया कि यह सम्यग्ज्ञानी बराबर है। कहते हैं कि अब तुझे किसका मान चाहिए ? और सर्वज्ञ की आज्ञा के बाहर जिसने अपने ज्ञानस्वरूप की रुचि, दृष्टि अन्तर (में) की नहीं और मान लिया कि हम धर्मी हैं, दुनिया मान देती है, तो उन भगवान की आज्ञा में अपमान हुआ। तुझे किसका अपमान चाहिए ? 'लही भव्यता मोटुं मान' सर्वज्ञ और सर्वज्ञ की आज्ञा प्रमाण अपना मान हुआ तो कहते हैं कि भगवान का मान हुआ। भगवान ने स्वीकार किया कि यह सम्यग्ज्ञानी है। अब तुझे किसका मान चाहिए ? समझ में आया ? और भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप की दृष्टि और ज्ञान हुआ नहीं और दुनिया तुझे मान दे, वह भगवान से तो तेरा अपमान हुआ है। आहाहा ! कहो, समझ में आया ?

'अभव्य त्रिभुवन अपमान' अपनी स्वरूप दृष्टि, ज्ञानानन्द चैतन्य पुण्य-पाप के विकल्प से पृथक् है, उसका भान नहीं किया और दुनिया सब मान दे तो कहते हैं कि वहाँ तो भगवान की अपमान की आज्ञा है। तेरा स्वीकार नहीं है... दुनिया से क्या लेना है ? समझ में आया ? देखो ! अन्त में यह गाथा रखी है।

मान और अपमान में समता का विस्तार.. इसका अर्थ कि उस समय में अपने शुद्ध चैतन्य भगवान में दृष्टि लगाकर विशेष शान्ति का लाभ लेना चाहिए। समझ में आया ? **छोड़ दिया है आग्रह जिसने..** अरे ! यहाँ जरा अनुकूल है और यहाँ जरा प्रतिकूल है, यह चीज़ ठीक है, यह चीज़ ठीक नहीं। ऐसा मिथ्या आग्रह जिसने छोड़ दिया है। समझ में आया ? यह शरीर ऐसा रहे तो ठीक। यह हवा-पानी, कुछ जंगल में बैठे हों तो ठीक रहे, और गाँव में रहे तो ठीक नहीं, ऐसा जिसने अन्तर में स्वाश्रय के स्वभाव की महत्ता में परपदार्थ की इष्ट-अनिष्टता अथवा ठीक-अठीकता जिसने अन्तर में छोड़ दी है। समझ में आया ?

छोड़ दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर अथवा वन में विधिपूर्वक रहता हुआ.. गाँव में हो या वन में हो, धर्मी को कोई आग्रह नहीं कि मैं जंगल में ही रहूँ। समझ में आया ? वीतरागभाव से रहूँ, ऐसी उसकी दृढ़ता है। समझ में आया ? **नगर अथवा वन में विधिपूर्वक रहता हुआ उपमारहित मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।** आत्मा अपने शुद्ध इष्ट आत्मा आनन्द का स्वाद लेकर इष्टपना प्रगट किया है और उसकी एकाग्रता से वीतरागता का विस्तार किया है, वही अल्प काल में मुक्ति अर्थात् पूर्णानन्द की लक्ष्मी की सम्पदा को प्राप्त करता है। बस, दूसरी कोई बीच की बात ही नहीं है। समझ में आया ? बीच में कोई उपदेश का विकल्प आवे, वह भी बन्ध का कारण है, उससे तुझे बिल्कुल लाभ नहीं है। समझ में आया ? अपनी स्व एकाग्रता में वीतरागता का विस्तार हुआ, वही तेरा इष्ट। उससे ही तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ मुक्ति प्राप्ति में हेतु-फेतु नहीं है।

मुमुक्षु : विधिपूर्वक...

पूज्य गुरुदेवश्री : विधि अर्थात् अपने में एकाग्र रहे, वह विधि। आत्मा की अनुभूति करना, वह विधि है; दूसरी कोई विधि नहीं है।

मुमुक्षु : एकदम अनजान हो, उसे क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना, अनजाने को जानपना करना। कहा न। अनजाना कौन है? चिदानन्दस्वरूप भगवान ज्ञानानन्द से विराजमान है। अपनी चैतन्य ज्योति से आनन्द से भरपूर भगवान है। उसका ज्ञान करके, उसकी दृष्टि करके उसमें एकाग्र होना। करने का कर्तव्य होवे तो यह कर्तव्य है। मार्ग मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति, दोनों कह दिया, भाई! मार्ग और मार्ग का फल। आहाहा!

विशदार्थ – इष्ट कहते हैं सुख को (अर्थात्) मोक्ष को.. यह इष्टोपदेश की व्याख्या करते हैं। **इष्ट कहते हैं सुख को (अर्थात्) मोक्ष को..** मोक्ष कहो या सुख कहो। परमानन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति, वही सुख और वही मुक्ति। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का धाम प्रभु है, उसका आश्रय करके, पूर्ण एकाग्र होकर, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्ण पर्याय की प्राप्ति करना, इसका नाम मुक्ति है। समझ में आया? (इष्ट किसे कहते हैं?) इष्ट मोक्ष को, सुख को (कहते हैं)। इष्ट। **उसके कारणभूत स्वात्मध्यान को।** भाषा देखो! समझ में आया?

भगवान आत्मा शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्दकन्द का ध्यान, एकाग्रता वही इष्ट है। बीच में विकल्प आदि उठते हैं, वे इष्ट नहीं हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कोमलचन्दजी! क्या कहते हैं? मन्दिर बनाना, ऐसा करना, उपदेश देना, समझ में आया? भगवान ने इष्ट के दो अर्थ किये हैं। एक मुक्तिरूपी पूर्णानन्द की शुद्धि की प्राप्ति, वह इष्ट। दूसरा इष्ट यह की कि अपने आत्मा का अन्तर एकाग्र ध्यान करना, वह इष्ट। समझ में आया? अपना स्वरूप भगवान आत्मा, उसकी अन्तर में अनुभव में दृष्टि करना, ज्ञान करना और लीनता करना, वही आत्मा को एक ही इष्ट है, दूसरा कोई इष्ट नहीं है। आहाहा!

इष्ट कहते हैं सुख को–मोक्ष को और उसके कारणभूत.. मोक्ष के कारणभूत, भाई! यह तो मोक्ष का कारण तो आत्मा का ध्यान ही कहा। वह व्यवहार मोक्ष का कारण यहाँ कहा नहीं। कारण कहनेमात्र वह है ही नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प मोक्ष का कारण है ही नहीं। स्वात्मा का ध्यान करना, वह एक ही मोक्ष का कारण है। तीन काल-तीन लोक में मोक्षमार्ग दो है ही नहीं। यह तो कल बहुत आ गया है। समझ में आया?

मुमुक्षु : वह तो दोपहर को आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दोपहर को आया था न परन्तु...

देखो! बहुत संक्षिप्त में। भगवान आत्मा पूर्ण वीतरागस्वरूप से भरपूर है। जिसमें विकल्प जो, तीर्थंकरगोत्र बँधे, ऐसा विकल्प उठता है, वह भी अनिष्ट है। अरे! भाई! जिससे तीर्थंकरगोत्र बँधे, ऐसा भाव अनिष्ट है क्योंकि वह जहर है, दुःख है, अनिष्ट है, अहितकर है। समझ में आया? एक ही इष्टकारी भगवान त्रिलोकनाथ की वाणी में ऐसा आया कि तेरी चीज़ पूर्णानन्द पुण्य-पाप के विकल्प से रहित, ऐसी चीज़ में एकाकार होकर, दृष्टि लगाकर ज्ञेय बनाकर स्थिरता करना, वह आत्मध्यान एक ही इष्ट है। समझ में आया?

यह मोक्ष का **कारणभूत स्वात्मध्यान..** एक शब्द पड़ा है।

मुमुक्षु : व्यवहार की बात बाद में आयेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह व्यवहार की बात विकल्प आवे, वह बन्ध का कारण है। बन्ध का कारण है, व्यवहाररत्नत्रय बन्ध का कारण, बन्ध का कारण पापरूप पतित, निश्चय से पतित होता है तो व्यवहार उत्पन्न होता है। वीतरागमार्ग है, भाई! वीतरागमार्ग है। यह कुछ... समझ में आया? क्या कहते हैं, देखो!

उसके कारणभूत.. किसके कारणभूत? पूर्णानन्दरूपी मुक्ति प्राप्ति का कारण कौन? स्वात्मध्यान। परध्यान नहीं। भगवान का ध्यान भी नहीं। साक्षात् समवसरण में विराजते हैं, उनका ध्यान भी नहीं। वह इष्ट नहीं।

भगवान पूर्णानन्दनाथ निर्वाणनाथ प्रभु, निर्विकल्प सहजानन्द की मूर्ति अपना शुद्धस्वरूप, उसका ध्यान। उस आत्मा को ध्येय बनाकर अन्तर में एकाग्र होना, वह एक ही मोक्ष का उपाय और कारण है, दूसरा कोई मोक्ष का उपाय या कारण नहीं है। भगवान आत्मा शुद्धानन्दस्वरूप में अन्तर में ध्यान-एकाग्रता, वह एक ही संवर और निर्जरा है। दूसरे विकल्प उठते हैं, उसमें किसी चीज़ में संवर और निर्जरा नहीं है। समझ में आया? शास्त्र स्वाध्याय करना, शास्त्रों का उपदेश करना, वह सब विकल्प है, बन्ध का कारण है।

वह संवर-निर्जरा का कारण बिल्कुल नहीं है। धूप-छाया जितना दोनों में अन्तर है। तड़का समझे ? धूप.. धूप..। धूप और छाया। समझ में आया ? क्या कहते हैं ? देखो!

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति की प्राप्ति को भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव मोक्ष कहते हैं। उसका कारण, यह आत्मा का ध्यान का एक ही कारण कहते हैं। दूसरा कोई उपाय और मार्ग नहीं कहते। आहाहा! समझ में आया ? **उसके कारणभूत स्वात्मध्यान को।** इष्ट कहते हैं, ऐसा यहाँ लेना है। मोक्ष के कारणभूत स्वात्मज्ञान को इष्ट कहते हैं। समझ में आया ? वीतरागमार्ग।

कल आया था न ? कि स्वाध्याय, आत्मा का स्वाध्याय वह एक ही स्वाध्याय है। शास्त्र का स्वाध्याय,वह स्वाध्याय है ही नहीं। पद्मनन्दि पंचविंशति में से। भगवान आत्मा निर्विकल्पस्वरूप, वीतरागस्वरूप के आश्रय में एकाग्रता होना, शान्ति से निर्विकारी निर्विकल्प से एकाग्रता होना, उसे ही भगवान के शासन में स्वाध्याय कहने में आया है। समझ में आया ? शास्त्र का स्वाध्याय करते-करते निर्जरा होती है। धूल में भी नहीं होती। ऐ.. कोमलचन्दजी! कठिन बात है, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है।

विकल्प उठता है, वह स्वाध्याय है ही नहीं। परमार्थ स्वाध्याय भगवान आत्मा अन्तर्मुख होकर जितनी एकाग्रता प्रगट करे, उसे ही भगवान मोक्ष का कारण संवर-निर्जरारूप पर्याय गिनने में आयी है। बाकी जितने विकल्प उठते हैं... समझ में आया ? आहाहा! सब इष्ट नहीं है। इष्ट नहीं तो अनिष्ट है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय भी इष्ट नहीं है। अनिष्ट ही है। एक के अतिरिक्त सब अनिष्ट है। फिर चाहे तो भगवान की भक्ति हो, समवसरण की यात्रा हो, समवसरण की यात्रा और, हों! सम्मेदशिखर की एक ओर रहो। कुन्दकुन्दाचार्य समवसरण की यात्रा करने गये थे न! यहाँ से भगवान के पास गये थे। वह विकल्प था।

मुमुक्षु : आप महिमा तो बहुत करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वहाँ गये, यह बताने के लिए। समझ में आया ? बाकी जितना अन्दर स्वाश्रय में पड़ा, उतना ही इष्ट है। आहाहा! गजब बात! समझ में आया ?

मुमुक्षु : नम्बर आवे तब किसी को बाकी रखते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु तो वस्तु रहेगी। वस्तु दूसरी करे तो होगी? कोई दूसरे प्रकार से बनावे तो वस्तु बदल जाएगी?

इस इष्ट का उपदेश यथावत् प्रतिपादन किया है.. इस इष्ट का उपदेश भलीभाँति प्रतिपादन किया है। ५० गाथाओं में। यह तो कितने में? ५६वाँ, ५६वाँ व्याख्यान चलता है। **जिसके द्वारा..** अर्थात् इष्टोपदेश द्वारा। अथवा **जिसमें, इसलिए..** इसमें से कहा हुआ। **कहते हैं 'इष्टोपदेश'। इसका भली प्रकार व्यवहार और निश्चय से पठन एवं चिन्तन करके..** क्या कहते हैं? व्यवहारनय से कहने की पद्धति को व्यवहारनय से जानना। पकड़ना नहीं, ऐसा कहा है, भाई! उसमें व्यवहारनय से कथन आया हो कि गुरु से मिलता है और गुरु से ज्ञान मिलता है। उस व्यवहारनय के कथन को व्यवहार से समझना। यह बात बिल्कुल व्यवहारनय से कथन आया हो तो वह जाननेयोग्य है, (वस्तु) ऐसी नहीं है। देखो! पूरा गोम्मटसार आ गया।

अपने स्वभाव का पुरुषार्थ करता है, तब कर्म में कर्म के कारण से क्षयोपशम उसमें उसके कारण से होता है। यहाँ उसकी अपेक्षा है ही नहीं कि कर्म का क्षयोपशम होवे तो अपने में आनन्द की, शान्ति की प्राप्ति हो, ऐसी अपेक्षा स्वरूप की निरपेक्षदृष्टि, ज्ञान और वीतरागता में पर की अपेक्षा बिल्कुल नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय की भी अपेक्षा नहीं है। समझ में आया? भगवान आत्मा निरालम्बी प्रभु की पर्याय में पर के अवलम्बन बिना एकाग्रता होना, वह निश्चय है। बीच में व्यवहार आया कि गुरु से समझना, ऐसी भाषा-व्यवहार आया तो व्यवहार से कथन आवे, उसे निश्चय नहीं मान लेना। समझ में आया?

व्यवहार के उपदेश को व्यवहाररूप से कहने में आता है, ऐसी पद्धति जान लेना। निश्चय के स्व-आश्रय की बात चलती है, वह यथार्थ है-ऐसा जान लेना। समझ में आया? 'कछवी जीव वलियो कछवी कम्मवलियो' यह अन्दर आया था। वह तो व्यवहार की बात हुई। कम्मवलियो अर्थात् तेरा उल्टा पुरुषार्थ था, तो तूने कर्म पर जोर दिया। तेरा सीधा पुरुषार्थ होवे तो आत्मा पर जोर दिया। मूल बात तेरी है, दूसरी कोई बात है नहीं। समझ में आया? व्यवहारनय का या पराश्रय का कथन हो तो ऐसा समझना कि यह व्यवहार का कथन है, जाननेयोग्य है, आदरनेयोग्य नहीं। देखो!

व्यवहार और निश्चय से पठन एवं चिन्तन करके हित और अहित की परीक्षा करने में चतुर ऐसे भव्य प्राणी,.. भव्य शब्द चाहिए। उसमें भव्य जैसा हो गया। यहाँ तो कहेंगे, देखो! व्यवहार-निश्चय का, जो कुछ निमित्त का उपदेश हो, व्यवहार का उपदेश हो तो जानना कि ऐसी एक पद्धति व्यवहार से कहने की है, आदर करने की चीज़ नहीं। समझ में आया? गुरु के चरण-कमल की पूजा से सम्यग्ज्ञान होता है, ऐसा आया था। उसमें आया था? तो उसका अर्थ ऐसा समझना कि उसका निमित्त कौन था? अपने स्वरूप की प्राप्ति के काल में निमित्त कौन था, उसका व्यवहार से ज्ञान कराया है? उससे आत्मा की प्राप्ति होती है, ऐसा समझना नहीं। दिव्यध्वनि से आत्मा समझ में आता है, ऐसा कथन आता है। ....अन्दर बहुत बार आया था, तो ऐसा जानना कि वह तो व्यवहार की पद्धति, कथन की रीति है। समझ में आया? अपना आत्मा अपने स्वरूप का आश्रय करके, निर्विकल्प दृष्टि-ज्ञान-आनन्द प्रगट करता है, उसमें निमित्त की तो अपेक्षा नहीं परन्तु निमित्त की ओर के लक्ष्य में जो विकल्प आया था, उसमें भी जिसका लक्ष्य और अपेक्षा नहीं है, ऐसे निश्चय के स्वरूप को निश्चयरूप से जानना। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....उपदेश हट जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ हट नहीं जाता। जहाँ है, वहाँ रहता है। हटे कौन? रहे कौन और जाए कौन? उससे तेरा लक्ष्य टूटा तो तेरी निरपेक्ष दृष्टि अन्तर में हुई, वह निश्चय। व्यवहार से कहने में आया वह तो ज्ञान कराया, वह कोई वस्तुस्थिति ऐसी नहीं कि पर से समझ जाए और गुरु की सेवा करे, इसलिए प्राप्त हो जाए। यह वीतरागमार्ग है, भाई! समझ में आया?

हित और अहित की परीक्षा करने में चतुर.. देखो! जो विकल्प उठता है, वह अहित है। आहाहा! भगवान आत्मा अपने शुद्ध आत्मा में एकाकार ध्यान करना, वही एक हित है। बाकी सब उपदेश आदि के जो विकल्प उठते हैं, वे सब अहित हैं, ऐसा यथार्थ भान करना चाहिए। समझ में आया? पहले बात की थी। (संवत्) १९८२ के वर्ष में। कितने वर्ष हुए? ४०। तिरे वह तारे। ऐसा शब्द था। दूसरे एक वकील ने कहा कि तारे वह तिरे, ऐसा लिखो। बहुत अच्छा, भाई! धूल जैसा बुद्धिमान है। ४० वर्ष पहले की बात है।

(संवत्) १९८२। समझ में आया? चालीस वर्ष हुए न? वढ़वाण में चातुर्मास था। तिरे वह तारे। यह तो साधारण है न? तिरे वह तारे। निमित्तरूप से तिरे तो वह तिरता है, वहाँ अन्य निमित्त कहलाता है। तिरे वह तारे। परन्तु यह क्या तुझे? इतना कहना था। बोर्ड पर लिखा था... भाई! हलवाई वहाँ वकील था। महाराज! इसकी अपेक्षा ऐसा लिखना चाहिए, हों! कि तारे वह तिरे। कहा, कितने को खोजने जाना? कितने को खोजने जाना? आत्मा खोजना कि कोई समझनेवाला है या नहीं उसे खोजना? क्या करना है तुम्हारे? तारे वह तिरे। दुनिया को बहुतों को तारे वह तिरे। अरे! मूढ़ है, ऐसा है ही नहीं।

मुमुक्षु : कितने को तारे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ संख्या होगी? कि इतने को तारे। क्या करना? स्वयं को तारे, अपने को तारे तो इसकी मुक्ति हो जाएगी। आहाहा! समझ में आया? मार्ग का स्वरूप जैसा है, वैसा न समझे तो अन्दर मिथ्यात्व का शल्य रह जाता है और वह शल्य इसे मार्ग खोजने में विघ्न करता है। आहाहा! असत् बुद्धि है। आहाहा! प्रभु!

हित और अहित की परीक्षा करने में चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त -ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं.. यह तो भव्य की व्याख्या की, भाई! भव्य कौन? जिसकी अनन्त ज्ञानादि प्रगट होने की योग्यता है, वह भव्य। बस, इतना। भव्य किसे कहते हैं? भव्य किसे कहते हैं? कि जिसे अनन्त ज्ञानादि प्रगट होने की योग्यता है। इतनी बात है। यहाँ शब्दार्थ बराबर नहीं किया है। पाठ में ऐसा है। '**भव्योऽनन्तज्ञानाद्यद्या-विर्भावयोग्यो**' संस्कृत है। इसकी जगह थोड़ा आड़ा-टेढ़ा कर दिया है। वास्तव में तो चाहिए कि भव्य प्राणी कैसा है? कि अनन्त ज्ञानादि प्रगट होने की जिसमें योग्यता है। बस, इतना।

इस इष्टोपदेश के अध्ययन.. ऐसा भव्य प्राणी, ऐसा भव्य प्राणी **इष्टोपदेश के अध्ययन-चिन्तन करने से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान..** देखो! इष्टोपदेश कहने का आशय यह था कि अन्तर आत्मा का ध्यान करके आत्मज्ञान प्रगट कर। आत्मज्ञान प्रगट किया। **आत्मज्ञान से मान-अपमान में राग-द्वेष को न करनेरूप समता का प्रसार कर..** पूर्ण आनन्द ज्ञातादृष्टा, अपने स्वरूप को प्रगट करके, ज्ञातादृष्टारूप से ज्ञातादृष्टापने का

विस्तार करके अर्थात् वीतरागभाव की शान्ति का विस्तार करके, **मान-अपमान में राग-द्वेष को न करनेरूप समता का प्रसार कर नगर-ग्रामादिकों में..** श्रावक या मनुष्य ग्रामादिक में हो, कदाचित् गाँव में हो **अथवा निर्जन-वन में..** हो। जहाँ कोई जन नहीं, ऐसे वन में हो। **विधि-पूर्वक ठहरते हुए..** अपनी वीतरागता प्रगट करना, वह **विधि-पूर्वक ठहरते हुए..** चाहे वह नगर में हो, या जंगल में हो। अपने स्व-आश्रय की विधि जो वीतरागता प्रगट करना, उस विधिपूर्वक स्थिर हो। किसी से राग उत्पन्न हो और हट जाए, ऐसी चीज़ में स्थिर नहीं हो। बहुत संक्षिप्त कहा है, हों! बहुत संक्षिप्त कहा है।

किसी भी संयोग में उसे ऐसा न लग जाए कि यह ठीक है, यह ठीक नहीं। यह आग्रह मिथ्या है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? गाँव हो या वन हो। ओहोहो! मुनि वन में बसते हैं परन्तु कहते हैं कि उन्हें ऐसा आग्रह नहीं कि यह होवे तो ठीक और यह न होवे तो (अठीक), यह तो आग्रह हो गया। परक्षेत्र का आग्रह हुआ। समझ में आया? जहाँ अपनी स्व-आश्रय की वृद्धि, अपने भाव में हो, वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव संयोग, सज्जन वन में हो या जन में हो... समझ में आया? जन में अर्थात् जहाँ लोग हों वहाँ। अपनी वीतरागता की पर्याय वृद्धि हो, ऐसी विधि करना। उस विधि का विस्तार करना। ...बढ़े या घटे या... ऐसा उसमें आग्रह करना नहीं, ऐसा कहते हैं। यह विस्तार से तुझे समझाना है। ऐई..!

विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड़ दिया है बाहरी पदार्थों में मैं और मेरेपन का आग्रह.. ऐसा होवे तो ठीक। क्या परद्रव्य ऐसा होवे तो ठीक के आग्रह का क्या अर्थ है तुझे? समझ में आया? शरीर जरा ठीक रहे तो ठीक, ऐसा बराबर पालथी लगा सके, ऐसा शरीर होवे तो ठीक। जहाँ भूमि अच्छी हो तो वहाँ धूल में पैर ऐसे रहें। कठिन चीज़ में पैर न रहें। समझ में आया? ....करने की चीज़ है न? तो ध्यान करने में ऐसा हो तो ठीक, ऐसा आग्रह छोड़ दे। परपदार्थ ऐसे हों या न हों, तुझे क्या काम है? वीतरागभाव।

बाहरी पदार्थों में मैं और मेरेपन.. वह मैं, ऐसा। वह मैं और वे मेरे। समझ में आया? वह मैं और वे मेरे। दोनों पारस्परिक। उसका आग्रह-इतना होवे तो ठीक। इतना मुझे अनुकूल है। इतना मुझे अनुकूल है। इतना मुझे प्रतिकूल है, ऐसा आग्रह छोड़ दे। बाहर की कोई चीज़ अनुकूल-प्रतिकूल है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पर्यूषण का समय

हो और दो-दो हजार, पाँच-पाँच हजार लोग इकट्ठे हों और कण्ठ बैठ जाए तो कण्ठ ठीक होवे तो ठीक, ऐसा लगता है या नहीं ? ऐसा कहते हैं।

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्णानन्द प्रभु नाथ वीतरागी स्वरूपी चैतन्यपिण्ड को आत्मा कहते हैं। पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति विकल्प आदि सब बन्ध का कारण है। ....देने का विकल्प भी बन्ध का कारण है। उससे रहित भगवान आत्मा, उसकी एकाग्रता के ध्यान में समता का विस्तार करना। बाहर की चीज़ ऐसी होवे या न होवे, ऐसा हठाग्रह छोड़ देना। तेरी अनुकूलता से ध्यान होता होगा! वह उसमें मदद करती होगी।

मुमुक्षु : ऐसा करना... ऐसा एकान्त में बैठना

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार के कथन हैं। कहा न ? व्यवहार के कथन को व्यवहाररूप से जानना। दोनों बातें ले ली थी। रत्नकरण्डश्रावकाचार नहीं आता ? ऐसे बाँधना, बाल बाँधना, वस्त्र बाँधना। वह सब व्यवहार के कथन को व्यवहार से जानना। वह सब इसमें आ जाता है। परमार्थ से नहीं। समझ में आया ? इसीलिए तो टीकाकार ने यह दोनों डाले हैं। एक मुनि मिले हैं। निश्चय-व्यवहार, व्यवहार का ज्ञान जानना। हठ नहीं। ऐसा होवे तो मुझे ध्यान होगा। तू अन्दर में एकाग्र होगा तो तुझे ध्यान होगा। इतना व्यवहार को जानना। उस समय ऐसा व्यवहार किसी को होता है। किसी को ऐसा होता है। समझ में आया ?

भगवान चिदानन्दमूर्ति निर्लेप, निर्दोष राग, शरीर से भिन्न (चैतन्य गोला विराजमान है)। बस, उसका आश्रय करके एकाग्र होना, उसी में आत्मा का हित है। बाकी सब अहितकर है। समझ में आया ? **और मेरेपन का आग्रह अथवा हठाग्रह जिसने ऐसा वीतराग होता हुआ..** आहाहा! एक ही बात। चाहे वह अनुकूल, प्रतिकूल जगत के, वह तो ज्ञेय हैं परचीज़ तो ज्ञेय है। ऐसा होवे तो ठीक, ऐसा न होवे तो ठीक, ऐसी ज्ञेय में छाप लगायी है ? समझ में आया ? यह तो दुराग्रह है उसे छोड़ दे। मात्र भगवान को ज्ञान में ज्ञेय बनाकर एकाकार ध्यान में आनन्द का स्वाद लेना, उसमें ही तेरा हित है। समझ में आया ? उपदेश देना, वह अहित है, ऐसा कहते हैं। सुनायी देता है या नहीं ? कान-बान में कैसा

है ? तीस वर्ष पहले एक जंगल में हम दो बैठे थे। महाराज! तुम सब बातें, उपदेश ऐसा करते हो परन्तु भूखे पेट में अनाज पड़े बिना धर्म.. धर्म.. ? उस जागनाथ के जंगल में। तब कोई मकान नहीं था। मात्र जंगल था। खेत था। अब तो मकान हो गये। वह तुरन्त ही छोड़ दिया। उस समय ही छोड़ दिया। पहले आहार मिले, फिर आहार पचे, फिर धर्म करना। पचने के बाद दस्त जाने के बाद धर्म करना है। दस्त जाने के बाद फिर पेट खाली हो, फिर आहार करना, तुझे धर्म करना कब है ? (संवत्) १९९० के वर्ष की बात है। समझ में आया ? धूल में यह कहते हैं। पेट में अनाज हो या न हो, उसके साथ आत्मा की एकाग्रता को क्या सम्बन्ध है ?

यहाँ तो कहते हैं कि देव-गुरु-सर्वज्ञ सामने विराजमान हों और उनका श्रवण करता हो, ऐसे विकल्प की भी आत्मा की एकाग्रता में बिल्कुल अपेक्षा नहीं रखता। समझ में आया ? मार्ग तो ऐसा है। समझ में आया ? कोमलचन्दजी! इसमें थोड़ी गड़बड़ करे तो श्रद्धा विपरीत हो जाएगी, ऐसा कहते हैं।

ऐसा वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनन्त ज्ञानादि गुणों को.. यह तो एक ही शब्द है। यह तो दो भिन्न किये हैं। ऐसी **सम्पत्तिरूप..** पाठ में एक ही है। अनुपम और अनन्त ज्ञानादि गुण भगवान आत्मा की पर्याय में **सम्पत्तिरूप मुक्ति**-देखो! यह सम्पत्तिरूप मुक्ति। जिसमें अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द की पर्याय प्रगट हुई। **सम्पत्तिरूप मुक्ति-लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।** लाख बात दुनिया की हो। उसमें ऐसा आया कि 'लाख बात की बात निश्चय उर लाओ' है या नहीं ? भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द का नाथ, उसका अन्तर एकाग्र होकर ध्यान करना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आत्मा का ध्यान ही है। विकल्पमात्र आत्मा में तीर्थंकरगोत्र का बन्ध करनेवाला विकल्प भी स्वयं को अहितकर है। समझ में आया ? अहितकर है। तीर्थंकर प्रकृति बँधे तो भी ? बँधे उसमें तो भव हो गया। समझ में आया ?

कहते हैं कि **प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है..** देखो! समाधितन्त्र का श्लोक लिया है। **जिस समय तपस्वी को मोह के उदय से मोह के कारण राग-द्वेष पैदा होने लगें, उस समय शीघ्र ही अपने में स्थित आत्मा की समता से भावना करे,..**

देखो! विकल्प होने के समय अपने स्वरूप में भरा है, देखो! स्वस्थ। यह आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु भरपूर है, उसमें दृष्टि लगा दे, विकल्प नहीं रहेंगे। समझ में आया? **शीघ्र ही अपने में स्थित आत्मा की समता से.. अपने में स्थित..** अर्थात् आत्मस्वरूप। आत्मा का स्वरूप आनन्द, ज्ञान आदि अपने में स्थित है। वे बाहर नहीं हैं। स्व में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द वह अपने में स्थित है, उसमें ध्यान लगा दे। समझ में आया?

मुमुक्षु : राग-द्वेष हो तब?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे राग-द्वेष हों तब। भाषा कैसे कहलाये? राग-द्वेष उत्पन्न हुए हों, तब कहाँ करे? वह तो हो गया। परन्ते उसे राग-द्वेष होने के काल में अर्थात् राग-द्वेष उत्पन्न जिसे नहीं करना है, वह अपने स्वरूप में आनन्द भरा है, उसका ध्यान कर ले। आहाहा! **अपने में स्थित आत्मा की समता से भावना करे, अथवा स्वस्थ आत्मा की भावना भावे,..** स्व-अस्थ। स्व में अस्थ। भगवान आत्मा में स्व। रहा हुआ अनन्त चतुष्टय। त्रिकाल ज्ञानदर्शन आनन्द अपने में ध्रुवरूप रहे हैं, उनकी भावना भावे, उनकी एकाग्रतारूपी भावना भावे। भावना अर्थात् कल्पना नहीं, चिन्ता नहीं। **जिससे क्षणभर में वे राग-द्वेष शान्त हो जावेंगे।** लो!

दोहा – इष्टरूप उपदेश को, पढ़े सुबुद्धि भव्य।
मान अमान में साम्यता, निज मन से कर्तव्य।।
आग्रह छोड़ स्वग्राम में, वा वन में सु वसेय।
उपमा रहित स्वमोक्षश्री, निजकर सहजहि लेय।।५१।।

हाथ में मोक्ष ले, ऐसा कहते हैं। जिसने अपने आनन्दकन्द भगवान का ध्यान किया, वह ध्यान ही एकाग्रता और वही मोक्ष का मार्ग है। उसने मोक्षरूपी लक्ष्मी हाथ में कर ली है। अर्थात् अभेद दशा प्रगट हो गयी है।

आगे इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार पण्डित आशाधरजी कहते हैं कि–

विनयेन्दु–मुने–र्वाक्यादभ–व्यानु–ग्रह–हेतुना।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता।।१।।

अर्थ – विनयचंद्र नामक मुनि के वाक्यों का सहारा लेकर भव्य प्राणियों के उपकार के लिए मुझ आशाधर पण्डित ने यह 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ की टीका की है।

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दोर्मुनीन्द्रा,
दजनि विनयचंद्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसंदर्भगर्भाः,
शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः।।२।।

अर्थ – सागरचन्द्र नामक मुनीन्द्र से विनयचंद्र हुए जो कि उपशम की (शांति की) मानो मूर्ति ही थे तथा सज्जन पुरुषरूपी चकोरों के लिए चन्द्रमा समान थे और पवित्र चारित्रवाले जिन मुनि के अमृतमयी तथा जिनमें अनेक शास्त्रों की रचनाएँ समाई हुई हैं, ऐसे उनके वचन जगत को तृप्ति व प्रसन्नता करनेवाले हैं।

जयंति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनाङ्घ्रयः।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहंति यदाश्रिताः।।३।।

अर्थ – जगद्वंद्य श्रीमान नेमिनाथ जिनभगवान के चरणकमल जयवन्त रहें, जिनके आश्रय में रहनेवाली धूली भी राजाओं के मस्तक पर जा बैठती है।

इस प्रकार श्री पूज्यपादस्वामी के द्वारा बनाया हुआ 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ समाप्त हुआ।

आगे इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार पण्डित आशाधरजी कहते हैं कि– लो! यह सब व्याख्यान में आ गया।

विनयेन्दु–मुने–र्वाक्यादभ–व्यानु–ग्रह–हेतुना।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता।।१।।

उस काल में विनयचन्द्र नामक कोई मुनि हो गये हैं। कितने वर्ष हुए? ६००-७०० वर्ष हुए होंगे। उन **विनयचंद्र नामक मुनि के वाक्यों का सहारा लेकर भव्य प्राणियों के उपकार के लिए..** ओहोहो! इनके कोई मुनि होंगे। उनके शब्दों का भाव.. बहुत महिमा करते हैं। **मुझ आशाधर पण्डित ने.. 'धीमता'** कहा न? **'धीमता'** अर्थात् पण्डित **यह 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ की टीका की है।**

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दोर्मुनीन्द्रा,
दजनि विनयचंद्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसंदर्भगर्भाः,
शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः।।२।।

उस काल में सागरचन्द्र नामक कोई दिगम्बर मुनि हुए हैं। पण्डित आशाधर के काल में। उनके शिष्य **विनयचंद्र हुए..** उपशम की मूर्ति। आहाहा! मानो उपशम की मूर्ति सन्त। स्थिर हो गए बिम्ब। जैसे शीतल बर्फ की शीतल शिला। ऐसा भगवान आत्मा। पुण्य-पाप के विकल्प से रहित शीतल शिला प्रभु आत्मा। शीतल शिला। अन्तर में एकाकार होकर मुनि मानो शान्त की मूर्ति हों। देखो! पण्डित आशाधरजी महिमा करते हैं। उस समय कोई मुनि होंगे।

तथा सज्जन पुरुषरूपी चकारों के लिए चन्द्रमा समान थे.. लो। सज्जन पुरुष के चकोर ऐसे पक्षी के लिए चन्द्रमा के समान, **और पवित्र चारित्रवाले जिन मुनि के अमृतमयी..** देखो! पवित्र चारित्रवाले और जो मुनि के अमृतमय **तथा जिनमें अनेक शास्त्रों की रचनाएँ समाई हुई हैं,..** वाक्यों की बात करते हैं, हों! **उनके वचन जगत को तृप्ति व प्रसन्नता करनेवाले हैं।**

मुमुक्षु : ....शास्त्र समाहित हो गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र समाहित हो गये हैं। उनके कथन में शास्त्र हैं। ....शास्त्र ....मुनि किसे कहें? आहाहा! जिन्हें उपशमरस अन्दर में ढल गया है। 'उपशम रस बरसे रे प्रभु तेरे नयन में...' शान्त.. शान्त.. शान्त.. पुण्य-पाप के विकल्प का भी कोलाहल जिसमें छूट गया है। ऐसे भगवान आत्मा मुनि, शान्त चारित्र-पवित्रतावाले, अमृतमय

जिनकी वाणी-वचन, अनेक शास्त्रों की रचना, उस वाणी में अनेक शास्त्र समाहित हो गये हैं। मुनि के एक शब्द में अनेक शास्त्र समाहित हो गये हैं। ज्ञानी के एक शब्द में अनन्त आगम बसते हैं, श्रीमद् कहते हैं। आहाहा!

ऐसे उनके वचन जगत को तृप्ति व प्रसन्नता करनेवाले हैं। जगत् को तृप्त करते हैं। यह तो आज पूरा करना था न? वापस कल दूसरा शुरु करना है इसलिए।

जयंति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनाङ्घ्रयः।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहंति यदाश्रिताः।।३।।

जगद्वंद्य श्रीमान नेमिनाथ.. भगवान। देव को याद करते हैं। **जिनभगवान के चरणकमल जयवन्त रहें,..** परमात्मा की पर्याय निर्मल जयवन्त रहे। **जिनके आश्रय में रहनेवाली धूली भी राजाओं के मस्तक पर जा बैठती है।** आहाहा! जहाँ परमानन्दरूपी मुक्ति की पर्याय केवलज्ञान प्रगट हुई, कहते हैं कि उसके नीचे धूली, उस पैर के नीचे रही हुई धूल, इन्द्रों के मस्तक के मुकुट पर धूली चढ़ती है।

मुमुक्षु : व्यवहार आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार है न, जाननेयोग्य है। जाननेयोग्य है, आदरनेयोग्य नहीं। समझ में आया? 'जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही'। समझना व्यवहार से। आदरणीय बिल्कुल नहीं। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान का पुण्य भी इतना है कि जिनके पैर के नीचे रही हुई धूल, इन्द्र के मुकुट पर वह धूल जाती है। वह मुकुट नीचे करे, वहाँ धूल उसे छूती है, ऐसा कहते हैं। धूल उड़कर वहाँ चिपकती है। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने स्वरूप की एकाग्रता होकर जहाँ सिद्ध है वहाँ आत्मा विराजमान हो जाएगा, ऐसा अन्त में कहते हैं, लो। धूल जहाँ जाए, यह आत्मा वहाँ पूर्णानन्द में प्राप्त हो जाएगा। ऐसा इष्टोपदेश के फलरूप यह सार इन्होंने कहा है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

-: प्रकाशक :-
श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विले पार्ला, मुंबई